



ज्ञानामृत-भाग २

मंगलाचरण

अनादिनिधन मूलमंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

१. गणधरवल्लय मंत्र (प्राकृत)

(श्री गौतम स्वामी विरचित)

१. णमो जिणाणं।	कुसलाणं।	३४. णमो खेल्लोसहिपत्ताणं।
२. णमो ओहिजिणाणं।	१८. णमो विउव्व-इड्ढि-पत्ताणं।	३५. णमो जल्लोसहि पत्ताणं।
३. णमो परमोहिजिणाणं।	१९. णमो विज्जाहराणं।	३६. णमो विप्पोसहिपत्ताणं।
४. णमो सव्वोहिजिणाणं।	२०. णमो चारणाणं।	३७. णमो सव्वोसहिपत्ताणं।
५. णमो अणंतोहिजिणाणं।	२१. णमो पण्णसमणाणं।	३८. णमो मणबलीणं।
६. णमो कोट्टबुद्धीणं।	२२. णमो आगासगामीणं।	३९. णमो वचिबलीणं।
७. णमो बीजबुद्धीणं।	२३. णमो आसीविसाणं।	४०. णमो कायबलीणं।
८. णमो पादाणुसारीणं।	२४. णमो दिट्ठिविसाणं।	४१. णमो खीरसवीणं।
९. णमो संभिण्णसोदाराणं।	२५. णमो उग्गतवाणं।	४२. णमो सप्पिसवीणं।
१०. णमो सयंबुद्धाणं।	२६. णमो दित्ततवाणं।	४३. णमो महुरसवीणं।
११. णमो पत्तेयबुद्धाणं।	२७. णमो तत्ततवाणं।	४४. णमो अमियसवीणं।
१२. णमो बोहियबुद्धाणं।	२८. णमो महातवाणं।	४५. णमो अक्खीणमहाणसाणं।
१३. णमो उज्जुमदीणं।	२९. णमो घोरतवाणं।	४६. णमो वड्डुमाणाणं।
१४. णमो विउलमदीणं।	३०. णमो घोरगुणाणं।	४७. णमो सिद्धायदणाणं।
१५. णमो दसपुव्वीणं।	३१. णमो घोर परक्कमाणां।	४८. णमो भयवदो महदिमहावीर-
१६. णमो चउदसपुव्वीणं।	३२. णमो घोरगुण-बंधयारीणं।	वड्डुमाण-बुद्धरिसीणो चेदि।
१७. णमो अट्ठंग-महा-णिमित्त-	३३. णमो आमोसहिपत्ताणं।	

जस्संतियं धम्मपहं णियच्छे, तस्संतियं वेणइयं पउंजे।

काएण वाचा मणसा वि णिच्चं, सक्कारए तं सिरपंचमेण॥१॥

गणधरवल्लय मंत्र का पद्यानुवाद

-शंभु छंद-

मैं नमूँ जिनों को जो अर्हन्, अवधीजिन मुनि को नमूँ नमूँ।
परमावधि जिन को नमूँ तथा, सर्वावधि जिन को नमूँ नमूँ॥
मैं नमूँ अनन्तावधि जिन को, अरु कोष्ठबुद्धि युत साधु नमूँ।
मैं नमूँ बीजबुद्धियुत मुनि, पादानुसारियुत साधु नमूँ॥१॥

संभिन्नश्रोतयुत साधु नमूँ, मैं स्वयंबुद्ध मुनिराज नमूँ।
प्रत्येक बुद्ध ऋषिराज नमूँ, पुनि बोधित बुद्ध मुनीश नमूँ॥
ऋजुमतिमनपर्यय साधु नमूँ, मैं विपुलमतीयुत साधु नमूँ।
मैं नमूँ अभिन्न सुदशपूर्वी, चौदशपूर्वी मुनिराज नमूँ॥२॥

अष्टांगमहानिमित्तकुशली, नमूँ नमूँ विक्रियाऋद्धि प्राप्त।
विद्याधरऋषि को नमूँ नमूँ, मैं संयत चारणऋद्धि प्राप्त॥
मैं प्रज्ञाश्रमण मुनीश नमूँ, आकाशगामि मुनिराज नमूँ।
आशीविषयुत ऋषिराज नमूँ, दृष्टीविषयुत मुनिराज नमूँ॥३॥

मैं उग्र तपस्वी नमूँ दीप्ततपि, नमूँ तप्ततपसाधु नमूँ।
मैं नमूँ महातपधारी को, अरु घोरतपोयुत साधु नमूँ॥
मैं नमूँ घोरगुणयुत साधु, मैं घोरपराक्रम साधु नमूँ।
मैं नमूँ घोरगुणब्रह्मचारि, आमौषधि प्राप्त मुनीश नमूँ॥४॥

क्ष्वेलौषधि प्राप्त मुनीश नमूँ, जल्लौषधि प्राप्त मुनीश नमूँ।
विप्रुष औषधियुत साधु नमूँ, सर्वौषधि प्राप्त मुनीश नमूँ॥
मैं नमूँ मनोबलि मुनिवर को, मैं वचनबली ऋद्धीश नमूँ।
मैं कायबली मुनिनाथ नमूँ, मैं क्षीरस्त्रावी साधु नमूँ॥५॥

मैं घृतस्त्रावी मुनिराज नमूँ, मैं मधुस्त्रावी मुनिराज नमूँ।
मैं अमृतस्त्रावी साधु नमूँ, अक्षीणमहानस साधु नमूँ॥
मैं वर्धमान ऋद्धीश नमूँ, मैं सिद्धायतन समस्त नमूँ।
मैं भगवन् महति महावीर, श्री वर्धमान बुद्धर्षि नमूँ॥६॥

शेर छंद-

जिसके निकट में धर्मपथ को प्राप्त किया हूँ।
उनके निकट ही विनयवृत्ति धार रहा हूँ॥
नित काय से, वचन से और मन से उन्हीं को।
पंचांग नमस्कार करूँ भक्ति भाव सों॥७॥

दोहा-

श्री गौतम गणधर रचित, मंत्र सु अड्डतालीस।
गणिनी 'ज्ञानमती' किया, पद्य नमाकर शीश॥८॥
श्री गणधर गुरुदेव को, नमूँ नमूँ शत बार।
सर्व ऋद्धि सिद्धी सहित, पाऊँ निजपद सार॥९॥

२. अनादिनिधन जैनधर्म

नमो नमः सत्त्वहितंकराय, वीराय भव्याम्बुजभास्कराय।

अनंतलोकाय सुरार्चिताय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय।।

जैनधर्म के ग्रंथों में लोक को — संसार को अनादिनिधन माना है। जैसे कि —

‘लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।’^१

इसी लोक में मध्यलोक में “जम्बूद्वीप” नाम से प्रथम द्वीप है। इसके अन्तर्गत भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता रहता है। प्रथमतः काल के अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी नाम से दो भेद हैं। उनमें प्रत्येक के अर्थात् अवसर्पिणी के सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा ये छह भेद हैं तथा उत्सर्पिणी काल के भी अतिदुःषमा, दुःषमा, दुःषमासुषमा, सुषमादुःषमा, सुषमा और सुषमासुषमा ये छह भेद हैं।

वर्तमान की अवसर्पिणी काल में तृतीय काल के अंत में पल्य का आठवाँ भाग अवशिष्ट रहने पर चौदह कुलकर उत्पन्न हुये हैं। उनके नाम क्रमशः प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचंद्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराय^२ हैं।

इनमें से अंतिम कुलकर नाभिराय से प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव उत्पन्न हुए हैं।

चौबीस तीर्थंकरों के नाम —

श्री ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंतनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी। इस भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुये इन चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार हो, ये ज्ञानरूपी फरसे से भव्य जीवों के संसाररूपी वृक्ष को छेदने वाले हैं।^३

आगे आने वाले उत्सर्पिणी के चतुर्थकाल में जो चौबीस तीर्थंकर होवेंगे, उनके नाम निम्न प्रकार हैं —

श्री महापद्म, सुरदेव, सुपार्श्व, स्वयंप्रभ, सर्वप्रभ, देवपुत्र, कुलपुत्र, उदंकनाथ, प्रोष्ठिलनाथ, जयकीर्ति, मुनिसुव्रत, अरनाथ, अपापनाथ, निष्कषायनाथ, विपुलनाथ, निर्मलनाथ, चित्रगुप्त, समाधिगुप्त, स्वयंभूनाथ, अनिवृत्तिनाथ, जयनाथ, विमलनाथ, देवपाल और अनंतवीर्य ये चौबीस तीर्थंकर होवेंगे^४। इनमें से राजा श्रेणिक जो कि भगवान् महावीर के समय उन्हीं के समवसरण में मुख्य श्रोता हुए हैं ये आगे प्रथम तीर्थंकर ‘महापद्म’ होंगे।^५

वर्तमान में अवसर्पिणी का पाँचवाँ ‘दुःषमा’ नाम का काल चल रहा है। इस अवसर्पिणी का ‘हुंडावसर्पिणी’ भी नाम है। इसमें कुछ अघटित घटनाएँ हुई हैं।

इस वर्तमान अवसर्पिणी से पूर्व जो उत्सर्पिणी काल हो चुका है, उसमें भी चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं। उनके नाम क्रमशः —

१. त्रिलोकसार गाथा ४। २. त्रिलोकसार गाथा ७९२-७९३। ३. तिलोयपण्णत्ति अ. ४, पृ. २०६। ४. तिलोयपण्णत्ति अ. ४, पृ. ३५०। ५. त्रिलोकसार एवं तिलोयपण्णत्ति अ. ४, पृ. ३५१।

श्रीनिर्वाण, सागरनाथ, महासाधु, विमलनाथ, श्रीधरनाथ, सुदत्तनाथ, अमलप्रभनाथ, उद्धरनाथ, अंगिरनाथ, सन्मतिनाथ, सिंधुनाथ, कुसुमाञ्जलिनाथ, शिवगणनाथ, उत्साहनाथ, ज्ञानेश्वर, परमेश्वर, विमलेश्वर, यशोधर, कृष्णमतिनाथ, ज्ञानमतिनाथ, शुद्धमतिनाथ, श्रीभद्रनाथ, अतिक्रांतनाथ और शान्तनाथ ये भूतकालीन तीर्थंकर हो चुके हैं।

अधिकतम तीर्थंकर संख्या —

मध्यलोक में ढाई द्वीप में एक सौ सत्तर कर्मभूमियाँ मानी हैं। उनमें से एक सौ साठ विदेहक्षेत्र की हैं और पाँच भरतक्षेत्र तथा पाँच ऐरावत क्षेत्र की, ऐसे १७० कर्मभूमि हैं। इन्हीं में से एक कर्मभूमि जम्बूद्वीप के दक्षिण में स्थित भरतक्षेत्र में है जिसके आर्यखंड की कर्मभूमि में हम और आप रह रहे हैं। “इस प्रकार सब १७० कर्मभूमियों में अधिकतम १७० तीर्थंकर एक साथ हो सकते हैं और कम से कम २० होते हैं।”^१ जो कि आजकल — वर्तमान में विदेहक्षेत्र में श्रीसीमंधर, श्रीयुगमंधर आदि नाम वाले हैं, इन बीस तीर्थंकरों के नाम प्रसिद्ध हैं।

वैदिक ग्रंथों में भी चौदह कुलकरों से मिलते-जुलते नाम वाले अवतार माने हैं। जैसे कि मनुस्मृति में कहा है —

कुलादिबीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः।
चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोऽय प्रसेनजित्॥
मरुदेवश्च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेजीत उरक्रमः^२॥२॥

कुल के आदि बीजभूत प्रथम विमलवाहन, दूसरे चक्षुष्मान्, तीसरे यशस्वी, चतुर्थ अभिचंद्र, पाँचवें प्रसेनजित् छठे मरुदेव और सातवें नाभिराज भरतक्षेत्र में ये कुलोत्तम — कुलकर हुए हैं। इसी में से सातवें कुलकर नाभिराज से मरुदेवी के गर्भ में आठवें अवतार ऋषभदेव हुए हैं।

भागवत् में भी ऋषभदेव को आठवाँ अवतार माना है —

“भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमंथिनां शुक्लया तनुवावतार।^३

यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्रीभगवान् महाराज नाभिराज को प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर सन्यासी और ऊर्ध्वचेता मुनियों का धर्म प्रगट करने के लिए शुद्धसत्त्वमय विग्रह-शरीर से प्रगट हुये।

वायुपुराण में भी कहा है —

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं, मेरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्याथ भरतं, पुत्रं प्राप्ताज्यमास्थितः॥

१. तित्थयरसयल चककी सट्टिसयं पुह वरेण अवरेष। वीसं वीसं सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो॥६८१॥ (त्रिलोकसार)

२. मनुस्मृति। ३. भागवत स्कंध ५, अ. ३।

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं, भरताय न्यवेदयत्।

तस्माद् भारतं वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।।^१

अभिप्राय यह है कि नाभिराजा की पत्नी मरुदेवी ने ऋषभ पुत्र को जन्म दिया। ऋषभदेव ने सौ पुत्रों में अग्रणी भरत को जन्म दिया और भरत का राज्याभिषेक कर उन्हें हिमाचल से लेकर दक्षिण तक राज्य देकर स्वयं दीक्षा ले ली। इन्हीं भरत सम्राट के नाम से यह देश “भारत” कहलाया है।

अन्य भी प्रमाण वैदिक ग्रंथों के देखे जाते हैं—

“येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद् येनेदं वर्षं भारत-मिति व्यपदिशन्ति।”^२

“ऋषभाद् भरतो भरतेन चिरकालं धर्मेण पालितत्वादिदं भारतं वर्षमभूत्।।”^३

ऋग्वेद आदि वेदों में भी ऋषभदेव को तो माना ही है, कहीं-कहीं चौबीस तीर्थकरों को भी स्वीकार किया है। यथा—

“ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशतितीर्थकरान् ऋषभाद्यान वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये।”^४

ॐ तीन लोक में प्रतिष्ठित ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमानपर्यंत चौबीस तीर्थकरों की और सिद्धों की मैं शरण लेता हूँ।

अन्यत्र भी—

“ॐ नमो अर्हतो ऋषभाय।”^५

बौद्धदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य धर्मकीर्ति लिखते हैं—

“ऋषभो वर्धमानश्च तावादौ यस्य स ऋषभवर्धमानादिः दिगंबरानां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति।”^६

इससे स्पष्ट है कि आठवीं शताब्दी में भी जैनेतर विद्वान् जैनधर्म के प्रथम उपदेशक भगवान् ऋषभदेव को और अंतिम उपदेशक सर्वज्ञ वर्धमान भगवान् को मानते थे।

इन सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म के प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव को सभी ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है और बौद्धग्रंथ में जैन के प्रथम तीर्थकर ही कह दिया है तथा इन्हीं के प्रथम पुत्र भरत के नाम से इस देश का “भारत” नाम स्वीकार किया है।

जैनधर्म स्वतंत्र है—

यह जैन एक स्वतंत्र धर्म है न कि किसी धर्म की शाखा, इसके लिए भी प्रबल प्रमाण हैं।

षट्दर्शन के नामों में—

जैना मीमांसका बौद्धाः, शैवा वैशेषिका अपि।

नैयायिकाश्च मुख्यानि, दर्शनानीह सन्ति षट्।।^७

जैन, मीमांसक, बौद्ध, शैव, वैशेषिक और नैयायिक ये छह प्रमुख दर्शन इस देश में हैं।

वायुपुराण में भी लिखा है—

उपासनाविधिश्चोक्तः कर्मसंशुद्धिचेतसाम्।

ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च, सौरं शाक्तं तथार्हतम्।।

१. वायुपुराण ३१, ५०५२। २. भागवत स्कंध, अ. ४। ३. नृसिंहपुराण ३०-७। ४. ऋग्वेद। ५. यजुर्वेद। ६. न्यायबिंदु ३/१३१, पृ. १२६। ७. शारदीयाख्य नाममाला, १४७

षट्दर्शनानि चोक्तानि, स्वभावनियतानि च।

एतदन्यच्च विविधं, पुराणेषु निरूपितम्॥

इन छहों दर्शन वालों की उपासना विधि भी स्वतंत्र हैं और ये छहों दर्शन स्वभाव से निश्चित — स्वतंत्र हैं। अतएव इस जैनधर्म को किसी धर्म की शाखा नहीं माना जा सकता।

जैनधर्म में असंख्यात तीर्थकर —

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि “ये अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल अनंत होते रहते हैं। असंख्यातों अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी के बीत जाने पर एक ‘हुण्डावसर्पिणी’ काल आता है।”^१ इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी में चौबीस-चौबीस तीर्थकर होने से असंख्यातों चौबीसी हो चुकी हैं अतः ‘भगवान महावीर स्वामी जैनधर्म के संस्थापक हैं’ यह कथन कथमपि उचित नहीं है।

सिंधु सभ्यता में जैनधर्म —

सिंधु घाटी की सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध ‘हड़प्पा’ एवं ‘मोहनजोदड़ो’ नामक स्थलों पर उत्खनन से प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों का सूक्ष्म अध्ययन कर पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सिद्ध कर दिया है कि उस समय श्रमण संस्कृति — जैनसंस्कृति का व्यापक प्रभाव था। जैनों के आराध्य देव की मूर्ति भी उसकी मुद्राओं — सीलों पर उत्कीर्णित मिली हैं।

इसी उत्खनन में लगभग तीन हजार ई. पू. की एक मानवमूर्ति मिली है, जिसे विद्वानों ने प्रथम तीर्थकर श्रीऋषभदेव के पिता अंतिम कुलकर नाभिराय की मूर्ति माना है। यह मूर्ति उस समय की है कि जब उन्होंने अपने पुत्र ऋषभदेव को अपना राजमुकुट पहनाकर स्वयं दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया था। श्रीमद्भागवत में इसका स्पष्ट उल्लेख आता है —

‘विदितानुरागमहापौर-प्रकृतिजनपदो राजा नाभिराजात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य सह मरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन महिमानमवाप्त।’^२

अर्थ — नाभिराज ने अपने पुत्र ऋषभदेव को राज्य देकर मरुदेवी के साथ तपपूर्वक वैराग्य — दीक्षा समाधि को धारण कर महिमा को प्राप्त किया।

इस उद्धरण से भी भगवान ऋषभदेव अतीव प्राचीन सिद्ध होते हैं पुनः उनका जैनधर्म भी अति प्राचीन सिद्ध हो ही जाता है।

जैनधर्म की व्याख्या —

जो कर्म शत्रुओं को जीत लेते हैं वे ‘जिन’ कहलाते हैं। यथा ‘कर्मारतीन् जयतीति जिनः’ तथा ये जिनदेव जिनके आराध्य देव हैं वे “जैन” कहलाते हैं — “जिनो देवतास्येति जैनः”।

धर्म की व्युत्पत्ति है — ‘उत्तमे सुखे धरतीति धर्मः’ जो प्राणियों को स्वर्ग-मोक्षरूप उत्तम सुख में ले जाकर धरे — पहुँचावे, वही सर्वोत्तम धर्म है और वह धर्म अहिंसामय ही है।

श्री गौतमस्वामी — इन्द्रभूति गणधर देव ने कहा है —

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते।

धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः॥१॥

धर्मात्रास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां धर्मस्य मूलं दया।

धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म! मां पालय* ॥२॥

धर्म सम्पूर्ण सुखों की खान है और हितकारी है, विद्वान् जन धर्म का संचय करते हैं, धर्म से ही मोक्ष सुख प्राप्त होता है ऐसे धर्म के लिए मेरा नमस्कार हो। संसारी जीवों के लिए धर्म से बढ़कर अन्य कोई मित्र नहीं है, धर्म का मूल दया है, ऐसे धर्म को मैं अपने हृदय में नित्य ही धारण करता हूँ। हे धर्म! तुम मेरी नित्य ही रक्षा करो।

अन्यत्र भी —

‘अहिंसा परमोधर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।’

अहिंसा सर्वश्रेष्ठ परम धर्म है और जहाँ धर्म है, वहाँ सर्व प्रकार से जय होती है।

पाँच अणुव्रत —

इस अहिंसा धर्म के पालन हेतु श्रावक-गृहस्थ के लिए पाँच अणुव्रत माने हैं — अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणुव्रत।

संकल्पपूर्वक — अभिप्रायपूर्वक — जानबूझकर दो इंद्रिय आदि त्रसजीवों को नहीं मारना अहिंसाणुव्रत है।

हिंसा के चार भेद हैं — संकल्पी हिंसा, आरंभी हिंसा, उद्योगिनी हिंसा और विरोधिनी हिंसा। अभिप्रायपूर्वक जीवों की हिंसा संकल्पी हिंसा है। गृहस्थाश्रम में चूल्हा जलाना, पानी भरना आदि कार्यों में जो हिंसा होती है वह आरंभी हिंसा है। व्यापार में जो यत्किंचित् हिंसा होती है वह उद्योगिनी हिंसा है और धर्म, देश, धर्मायतन आदि की रक्षा के लिए जो युद्ध में हिंसा होती है वह विरोधिनी हिंसा है। इन चारों ही हिंसा में गृहस्थ लोग मात्र संकल्पी हिंसा का ही त्याग कर सकते हैं, शेष तीनों हिंसा से सावधानी और विवेक अवश्य रखते हैं इसीलिए यह व्रत श्रावकों का ‘अहिंसाणुव्रत’ कहलाता है।

ऐसे ही स्थूलरूप से झूठ का त्याग करना सत्याणुव्रत है। इस व्रती को ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए कि जिससे धर्म की हानि हो या किसी पर विपत्ति आ जावे अथवा किसी जीव का घात हो जावे।

पर के धन की चोरी का त्याग करना अचौर्याणुव्रत है।

परस्त्री सेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। स्त्रियों के लिए परपुरुष का त्याग करना होता है जैसे कि सती सीता ने अपने इस ब्रह्मचर्याणुव्रत — शीलव्रत के प्रभाव से अग्नि को जल बना दिया था।

अपने धन-धान्य का परिमाण करके इच्छाओं को सीमित करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। इन पाँचों व्रतों के पालन करने वाले अणुव्रती कहलाते हैं।

ये अणुव्रती गृहस्थ इस भव में सदा सुखी एवं यशस्वी होते हैं और परभव में नियम से स्वर्ग के वैभव को प्राप्त करते हैं।

पाँच महाव्रत —

जो महापुरुष हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों का पूर्णरूपेण त्याग कर देते हैं वे महाव्रती कहलाते हैं। वे महामुनि, महासाधु, महर्षि, दिगम्बर मुनि आदि कहलाते हैं।

युग की आदि में अयोध्या में भगवान् ऋषभदेव जन्मे थे। ये इक्ष्वाकुवंशीय कहलाये थे। इन भगवान् ने कल्पवृक्ष के अभाव में प्रजा के लिए असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट् क्रियाओं का

उपदेश देकर जीने की कला सिखाई। विदेहक्षेत्र के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्ण व्यवस्था बनाई। महामंडलीक राजा बनाकर पुनः उनके आश्रित अनेक राजा-महाराजा बनाकर 'राजनीति' का उपदेश दिया। अनन्तर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षमार्ग का उपदेश दिया।

जब भगवान ऋषभदेव दीक्षा के सन्मुख हुए, तब अपने बड़े पुत्र भरत को राज्य देकर दीक्षा ली। आगे भरत चक्रवर्ती ने अपने बड़े पुत्र 'अर्ककीर्ति' को राज्य देकर जैनेश्वरी दीक्षा ली। अर्ककीर्ति ने अपने पुत्र 'स्मितयश' को राज्य सौंपकर मुनिपद धारण किया। इसी तरह इस इक्ष्वाकुवंश में अनेकों राजा अपने-अपने पुत्रों को राज्य दे-देकर दीक्षा ले-लेकर मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं। यह परम्परा चौदह लाख राजाओं तक अविच्छिन्न चलती रही है ऐसा हरिवंश पुराण^१ में लिखा है।

तात्पर्य यह समझना कि चतुर्थकाल में तो यह जैनधर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों तक में विस्तार को प्राप्त था। पंचमकाल में भी दक्षिण में मैसूर आदि में जैन राजा होते रहे थे।

आज यह जैनधर्म वैश्यों में सिमट कर रह गया है।

जैन धर्म है जाति नहीं —

जैन धर्म है, जाति नहीं है। जाति, गोत्र और धर्म इन तीनों को समझना अति आवश्यक है। वर्तमान में जैनधर्मानुयायियों में चौरासी जातियाँ सुनी जाती हैं। अग्रवाल, पोरवाड़, खंडेलवाल, पद्मावती पुरवाल, परवार, लमेचू, चतुर्थ, पंचम, बघेरवाल, शेतवाल आदि। गोत्रों में प्रत्येक जाति के गोत्र अलग-अलग हैं। जैसे कि अग्रवाल में गोयल, सिंगल, मित्तल आदि। खण्डेलवाल में सेठी, रांवका, गंगवाल आदि।

अतएव जाति और गोत्र अलग हैं तथा धर्म अलग है। फिर भी कुछ व्यवस्था की दृष्टि से 'जनगणना' में जाति के कालम में जैन लिखाना आवश्यक हो गया है।

मेरा तो यही कहना है कि सभी जैनकुल में जन्मे लोगों को अपने नाम के साथ 'जैन' लगाना अति आवश्यक है। प्रायः मारवाड़ में और दक्षिण में श्रावक नाम के साथ गोत्र लगाते हैं 'जैन' नहीं लगाते हैं तो जैन जनगणना में जैन अतीव अल्प दिखते हैं।

एक बार तीर्थंकर पत्रिका में छपा था —

जैन जो 'जैन' नहीं लिखते, उनकी संख्या एक करोड़ चौदह लाख है।

ऐसे जैन, जो अपने नाम के साथ 'जैन' शब्द का प्रयोग नहीं करते, प्रादेशिक उपनाम लिखते हैं, कोई आंचलिक भाषा बोलते हैं तथा सामान्यतः काश्तकार — खेती करने वाले हैं, संख्या में एक करोड़ चौदह लाख हैं। ये पूरे देश में फैले हुए हैं और किस्म-किस्म के उपनामों से पहचाने जाते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार ये महाराष्ट्र में १५ लाख, बिहार, बंगाल, उड़ीसा में ३५ लाख, कर्नाटक में १५ लाख, गुजरात में १२ लाख, तमिलनाडु में २ लाख, मध्यप्रदेश में १५ लाख, राजस्थान में १० लाख तथा अन्य राज्यों में १० लाख हैं।

इसलिए नाम के साथ 'जैन' लगाना चाहिए। जैसे कि — कैलाशचंद जैन, गोयल। हीरालाल जैन, गंगवाल आदि।

णमोकार महामंत्र —

जैनधर्म का अनादिनिधन अपराजित महामंत्र णमोकार मंत्र है। इस महामंत्र का हमेशा जाप्य करते रहना चाहिए। प्रत्येक जैनमंदिर के मुख्यद्वार के ऊपर व शिखर पर बड़े-बड़े अक्षरों में इसे लिखना चाहिए या पत्थर पर उत्कीर्ण कराकर लगा देना चाहिए, जिससे कि दूर से ही 'यह जैन मंदिर है' ऐसी पहचान हो जावे।

प्रत्येक जैन श्रावक को अपने मकान, दुकान, कार्यालय तथा अन्य सभी प्रतिष्ठानों के मुख्यद्वार के ऊपर इस णमोकार मंत्र को अवश्य लिखना चाहिए। इससे 'जैनत्व' की पहचान तो है ही, साथ ही भूत, प्रेत, चोर, डाकू, सर्प, बिच्छू आदि से भी सुरक्षा होगी और यह महामंत्र रक्षामंत्र होने से 'कवच' का काम करेगा।

इस प्रकार जैनधर्म को अनादिनिधन — शाश्वत सार्वभौम धर्म मानकर इसकी छत्रछाया में आकर सर्व जीवों पर दया भाव रखते हुए प्राणीमात्र में परस्पर में सौहार्द भाव धारण कर अपने मनुष्य जन्म को सार्थक करो, यही मंगलकामना है।

**जिनप्रतिमा विराजमान करने का फल**

कुंतुंभरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पिलहेइ सो णरो तित्थयरपुण्णं॥४८१॥
जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं।
णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वणिणउं सयलं॥४८२॥

— आचार्य वसुनन्दि

कुंस्तुवरखण्डमात्रं यो निर्माप्य जिनालयम्।
स्थापयेत्प्रतिमां स स्यात् त्रैलोक्यस्तुतिगोचरः॥२४५॥
यस्तु निर्मापयेत्तुङ्गं जिनं चैत्रं मनोहरम्।
वक्तुं तस्य फलं शक्तः कथं सर्वविदोऽखिलम्॥२४६॥

— आचार्य गुणभद्र

अर्थ—जो मनुष्य कुंथुम्भरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापन करता है, वह तीर्थंकर पद पाने के योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदि से संयुक्त जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करने के लिए कौन समर्थ हो सकता है।

तीर्थकर, चक्रवर्ती और कामदेव पद के धारी

३. श्री शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ भगवान

(जिनकी जन्मभूमि-हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर तीनों भगवान की 31-31 फुट उत्तुंग प्रतिमाएँ विराजमान हैं)

वर्तमान चौबीसी के सोलहवें तीर्थकर भगवान शांतिनाथ, सत्रहवें तीर्थकर भगवान कुंथुनाथ एवं अट्ठारहवें तीर्थकर भगवान अरहनाथ के गर्भ-जन्म-तप और ज्ञान ये चार-चार कल्याणक हस्तिनापुर की पावन धरती पर हुए तथा सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये तीनों ही महापुरुष तीर्थकर होने के साथ ही साथ चक्रवर्ती और कामदेवपद के भी धारी हुए हैं। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

भगवान शांतिनाथ का जीवन परिचय —

कुरुजांगल देश की हस्तिनापुर राजधानी में कुरुवंशी राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ऐरावती था। भगवान शांतिनाथ के गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही इन्द्र की आज्ञा से हस्तिनापुर नगर में माता के आंगन में रत्नों की वर्षा होने लगी और श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ माता की सेवा में तत्पर हो गईं। भादों वदी सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में रानी ने गर्भ धारण किया। उस समय स्वर्ग से देवों ने आकर तीर्थकर महापुरुष का गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की।

नव मास व्यतीत होने के बाद रानी ऐरादेवी ने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल के समय तीन लोक के नाथ ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया। उसी समय चार प्रकार के देवों के यहाँ स्वयं ही बिना बजाये शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घण्टानाद होने लगे। सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़कर इन्द्राणी और असंख्य देवगणों सहित नगर में आया तथा भगवान को सुमेरुपर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव मनाया। अभिषेक के अनन्तर भगवान को अनेकों वस्त्रालंकारों से विभूषित करके उनका “शांतिनाथ” यह नाम रखा। इस प्रकार भगवान को हस्तिनापुर वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर पुनरपि यहाँ जन्मकल्याणक महोत्सव मनाकर आनंद नामक नाटक करके अपने-अपने स्थान पर चले गये।

भगवान की आयु एक लाख वर्ष की थी, शरीर चालीस धनुष ऊँचा था, सुवर्ण के समान कांति थी, ध्वजा, तोरण, शंख, चक्र आदि एक हजार आठ शुभ चिन्ह उनके शरीर में थे। उन्हीं विश्वसेन की यशस्वती रानी के चक्रायुध नाम का एक पुत्र हुआ। देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए भगवान शांतिनाथ अपने छोटे भाई चक्रायुध के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। भगवान की यौवन अवस्था आने पर उनके पिता ने कुल, रूप, अवस्था, शील, कांति आदि से विभूषित अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

इस तरह भगवान के जब कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब महाराज विश्वसेन ने उन्हें अपना राज्य समर्पण कर दिया। क्रम से उत्तमोत्तम भोगों का अनुभव करते हुए जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये, तब उनकी आयुधशाला में चक्रवर्ती के वैभव को प्रगट करने वाला चक्ररत्न उत्पन्न हो गया। इस प्रकार चक्र को आदि लेकर चौदह रत्न और नवनिधियाँ प्रगट हो गईं। इन चौदह रत्नों में चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे, काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रकट हुए थे, पुरोहित, सेनापति, स्थपति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे और स्त्री, गज तथा अश्व विजयार्थ पर्वत

पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ भी पुण्य से प्रेरित हुए इन्द्रों के द्वारा नदी और सागर के समागम पर लाकर दी गई थीं।

चक्ररत्न के प्रकट होने के बाद भगवान ने विधिवत् दिग्विजय करके छह खण्ड को जीतकर इस भरतक्षेत्र में एकछत्र शासन किया था। जहाँ पर स्वयं भगवान शांतिनाथ इस पृथ्वी पर प्रजा का पालन करने वाले थे, वहाँ के सुख और सौभाग्य का क्या वर्णन किया जा सकता है? इस प्रकार चक्रवर्ती के साम्राज्य में भगवान की छ्यानवे हजार रानियाँ थीं। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा करते थे और बत्तीस यक्ष हमेशा चामरों को दुराया करते थे। चक्रवर्तियों के साढ़े तीन करोड़ बंधु कुल होता है। अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, तीन करोड़ उत्तम वीर, अनेकों करोड़ विद्याधर और अठासी हजार म्लेच्छ राजा होते हैं। छ्यानवे करोड़ ग्राम, पचहत्तर हजार नगर, सोलह हजार खेत, चौबीस हजार कर्वट, चार हजार मटंब और अड़तालीस हजार पत्तन होते हैं इत्यादि अनेकों वैभव होते हैं।

स्त्री, पुरोहित, सेनापति, स्थपति, गृहपति, गज और अश्व ये सात जीवित रत्न हैं एवं छत्र, असि, दण्ड, चक्र, काकिणी, चिंतामणि और चर्म ये सात रत्न निर्जीव होते हैं।

काल, महाकाल, पाण्डु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न ये नौ निधियाँ हैं। ये क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्यों, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य, आभरण और रत्नसमूहों को दिया करती हैं।

दिव्यपुर, रत्न, निधि, सैन्य, भोजन, भाजन, शय्या, आसन, वाहन और नाट्य ये चक्रवर्तियों के दशांग भोग होते हैं।

इस प्रकार संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियों से वेष्टित भगवान शांतिनाथ चक्रवर्ती के साम्राज्य को प्राप्त कर दश प्रकार के भोगों का उपभोग करते हुए सुख से काल व्यतीत कर रहे थे। भगवान शांतिनाथ तीर्थंकर और चक्रवर्ती होने के साथ-साथ कामदेव पद के धारक भी थे।

जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष साम्राज्यपद में व्यतीत हो गये, तब एक समय अलंकारगृह के भीतर अलंकार धारण करते हुए उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई दिये। उसी समय उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्व जन्म का स्मरण भी हो गया। तब भगवान संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप का विचार करते हुए विरक्त हो गये। उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर अनेकों स्तुतियों से स्तुति पूजा की अनन्तर सौधर्म आदि इन्द्र सभी देवगणों के साथ उपस्थित हो गये। भगवान ने नारायण नाम के पुत्र का राज्याभिषेक करके सभी कुटुम्बियों को यथायोग्य उपदेश दिया।

अनन्तर इन्द्र ने भगवान का दीक्षाभिषेक करके “सर्वार्थसिद्धि” नाम की पालकी में विराजमान करके हस्तिनापुर नगर के सहस्राम्र वन में प्रवेश किया। उसी समय ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर भगवान ने पंचमुष्टि लोच करके ‘ॐ नमः सिद्धेभ्यः’ कहते हुए स्वयं जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके ध्यान में स्थिर होते ही मनःपर्ययज्ञान प्राप्त कर लिया।

मंदिरपुर के राजा सुमित्र ने भगवान शांतिनाथ को खीर का आहार देकर पंचाश्वर्य वैभव को प्राप्त किया। इस प्रकार अनुक्रम से तपश्चरण करते हुए भगवान के सोलह वर्ष व्यतीत हो गये।

भगवान शांतिनाथ सहस्राम्रवन में नंदावर्त वृक्ष के नीचे पर्यकासन से स्थित हो गये और पौष शुक्ल दशमी के दिन अन्तर्मुहूर्त में दशवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का नाशकर बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण,

दर्शनावरण और अन्तराय का सर्वथा अभाव करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवलज्ञान से विभूषित हो गये और उन्हें एक समय में ही सम्पूर्ण लोकालोक स्पष्ट दिखने लगा। पहले भगवान ने चक्ररत्न से छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर साम्राज्यपद प्राप्त किया था, अब भगवान ने ध्यानचक्र से विश्व में एकछत्र राज्य करने वाले मोहराज को जीतकर केवलज्ञानरूपी साम्राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने दिव्य समवसरण की रचना कर दी।

यह समवसरण पृथ्वीतल से पाँच हजार धनुष ऊँचा था, इस पृथ्वीतल से एक हाथ ऊँचाई से ही इसकी सीढ़ियाँ प्रारंभ हो गई थीं। ये सीढ़ियाँ एक-एक हाथ की थीं और बीस हजार प्रमाण थीं। यह समवसरण गोलाकार रहता है। इसमें सबसे पहले धूलिसाल के बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तंभ हैं, मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर हैं, पुनः प्रथमभूमि — चैत्यप्रासादभूमि है। इसके बाद निर्मल जल से भरी परिखा है, फिर पुष्पवाटिका (लतावन) हैं उसके आगे पहला कोट है, उसके आगे दोनों ओर से दो-दो नाट्यशालाएँ हैं, उसके आगे दूसरा अशोक, आम्र, चंपक और सप्तपर्ण का वन है, जिसका नाम उपवनभूमि है। उसके आगे वेदिका है, तदनन्तर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं, फिर दूसरा कोट है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है, उसके बाद स्तूप, स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं, फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाएँ हैं। इस प्रकार इस समवसरण में आठ भूमियाँ हैं, चार परकोटे हैं और पाँच वेदियाँ हैं। तदनन्तर पीठिका है। इस पीठिका में तीन कटनी हैं उन पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ हैं। प्रथम कटनी पर धर्मचक्र हैं, द्वितीय कटनी पर आठ महाध्वजाएँ एवं तीसरी कटनी पर गंधकुटी है। इसके अग्रभाग पर कमलासन पर चार अंगुल अधर ही अर्हन्त देव विराजमान रहते हैं। भगवान पूर्व या उत्तर की ओर मुँह कर स्थित रहते हैं फिर भी अतिशय विशेष से चारों दिशाओं में ही भगवान का मुँह दिखता रहता है। समवसरण में चारों ओर प्रदक्षिणा के क्रम से पहले कोठे में गणधर और मुनिगण, दूसरे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे में आर्यिकाएँ और श्राविकाएँ, चौथे में ज्योतिषी देवांगनाएँ, पाँचवें में व्यन्तर देवांगनाएँ, छठे में भवनवासी देवांगनाएँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तर देव, नवमें में ज्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में चक्रवर्ती आदि मनुष्य और बारहवें में पशु बैठते हैं।

भगवान के समवसरण में चक्रायुध को आदि लेकर छत्तीस गणधर थे। बासठ हजार मुनिगण, साठ हजार तीन सौ आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यातों तिर्यच थे। इस प्रकार बारह गणों के साथ-साथ भगवान ने बहुत काल तक धर्म का उपदेश दिया।

जब भगवान की आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिखर पर आये और विहार बंद कर अचल योग में विराजमान हो गये। ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन भगवान चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा चारों अघातिया कर्मों का नाश कर एक समय में लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हो गये। वे नित्य, निरंजन, कृतकृत्य सिद्ध हो गये। उसी समय इन्द्रादि चार प्रकार के देवों ने आकर निर्वाणकल्याणक की पूजा की और अंतिम संस्कार करके भस्म से अपने ललाट आदि उत्तमांगों को पवित्र कर स्व-स्व स्थान को चले गये।

ये शांतिनाथ भगवान तीर्थकर होने से बारहवें भव पूर्व राजा श्रीषेण थे और मुनि को आहारदान देने के प्रभाव से भोगभूमि में गये थे, फिर देव हुए, फिर विद्याधर हुए, फिर देव हुए, फिर बलभद्र हुए, फिर देव हुए, फिर वज्रायुध चक्रवर्ती हुए, उस भव में इन्होंने दीक्षा ली थी और एक वर्ष का योग धारण कर खड़े हो गये थे, तब इनके शरीर पर लताएँ चढ़ गई थीं, सर्पों ने वामी बना ली थी, पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे और ये

वज्रायुध मुनिराज ध्यान में लीन रहे थे, अनन्तर अहमिन्द्र हुए, फिर मेघरथ राजा हुए, उस भव में इन्होंने दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण करते हुए सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन किया था और उसके प्रभाव से तीर्थकर प्रकृति का बंध कर लिया था, फिर वहाँ से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, फिर वहाँ से आकर जगत को शांति प्रदान करने वाले सोलहवें तीर्थकर, बारहवें कामदेव और पंचम चक्रवर्ती ऐसे शांतिनाथ भगवान हुए।

उत्तरपुराण में श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि इस संसार में अन्य लोगों की बात जाने दीजिए, श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र को छोड़कर भगवान तीर्थकरों में ऐसा कौन है जिसने पूर्व के बारह भवों में से प्रत्येक भव में बहुत भारी वृद्धि प्राप्त की हो? इसलिए हे विद्वान् लोगों! यदि तुम शांति चाहते हो तो सबसे उत्तम और सबका भला करने वाले श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र का निरन्तर ध्यान करते रहो। यही कारण है कि आज भी भव्यजीव शांति की प्राप्ति के लिए श्री शांतिनाथ भगवान की आराधना करते हैं।

पुष्पदंत तीर्थकर से लेकर सात तीर्थकरों तक उनके तीर्थकाल में धर्म की व्युच्छिन्ति हुई अतः धर्मनाथ तीर्थकर के बाद पौन पल्य कम तीन सागर तक धर्म की परम्परा अव्युच्छिन्नरूप से चलती रही। अनन्तर पाव पल्यकाल तक इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में धर्म का विच्छेद हो गया अर्थात् हुण्डावसर्पिणी के दोष से उस पाव पल्य प्रमाणकाल तक दीक्षा लेने वालों का अभाव हो जाने से धर्मरूपी सूर्य अस्त हो गया था, उस समय शांतिनाथ ने जन्म लिया था। तब से आज तक धर्म परम्परा अविच्छिन्नरूप से चली आ रही है। इसलिए उत्तरपुराण में श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि —

“भोगभूमि आदि कारणों से नष्ट हुआ मोक्षमार्ग यद्यपि ऋषभनाथ आदि तीर्थकरों के द्वारा पुनः-पुनः दिखलाया गया था तो भी उसे प्रसिद्ध अवधि के अन्त तक ले जाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सका, तदनन्तर जो शांतिनाथ भगवान ने मोक्षमार्ग प्रगट किया, वही आज तक अखण्डरूप से बाधा रहित चला आ रहा है। इसलिए इस युग के आद्य गुरु श्री शांतिनाथ भगवान ही हैं क्योंकि उनके पहले जो पन्द्रह तीर्थकरों ने मोक्षमार्ग चलाया था, वह बीच-बीच में विनष्ट होता जाता था।”

इस प्रकार से इस हस्तिनापुर नगरी में भगवान शांतिनाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ऐसे चार कल्याणक हुए हैं यह बात स्पष्ट है तथा शांतिनाथ ने आम्रवन में दीक्षा ली एवं आम्रवन में ही उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। ऐसा कथन तिलोयपण्णत्ति एवं उत्तरपुराण दोनों ही ग्रंथों में स्पष्ट है इसलिए यह हस्तिनापुर नगरी भगवान शांतिनाथ के चार कल्याणकों से पवित्र हो चुकी है।

जिनके शरीर की ऊँचाई एक सौ साठ हाथ थी, जो पंचम चक्रवर्ती थे और बारहवें कामदेव पद के धारी थे, जिनके हिरण का चिन्ह था, जो भादों वदी सप्तमी को माता के गर्भ में आये, ज्येष्ठ वदी चौदस को जन्म लिया और ज्येष्ठ वदी चौदस को ही दीक्षा ग्रहण किया, पौष शुक्ला दशमी के दिन केवलज्ञानी हुए पुनः ज्येष्ठ वदी चौदस को मुक्तिधाम को प्राप्त हुए, ऐसे शांतिनाथ भगवान सदैव हम सबको शांति प्रदान करें।

तीर्थकर श्री कुंथुनाथ भगवान

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में कुरुवंशी काश्यप गोत्रीय महाराज सूरसेन राज्य करते थे, उनकी पट्टरानी का नाम श्रीकांता था। उस पतिव्रता देवी ने देवों के द्वारा की हुई रत्नवृष्टि आदि पूजा प्राप्त की थी। श्रावण कृष्ण दशमी के दिन रानी ने सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र को गर्भ में धारण किया, उस समय इन्द्रों ने

आकर भगवान का गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा करके स्वस्थान को चले गये। क्रम से नवमास व्यतीत हो जाने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन पुत्ररत्न को जन्म दिया, उसी समय इन्द्रादि सभी देवगण आये और बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर महामहिम जन्माभिषेक महोत्सव करके, अलंकारों से अलंकृत किया एवं बालक का नाम “कुंथुनाथ” रखा। वापस लाकर माता-पिता को सौंपकर देवगण स्वस्थान को चले गये। पंचानवे हजार वर्ष की इनकी आयु थी, पैंतीस धनुष ऊँचा शरीर था और तपाये हुए स्वर्ण के समान शरीर की कांति थी। ये तेरहवें कामदेव पद के धारक थे।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार काल के बीत जाने पर उन्हें राज्य प्राप्त हुआ और इतना ही काल बीत जाने पर उन्हें वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन चक्रवर्ती की लक्ष्मी मिली। इस प्रकार वे बाधारहित, निरन्तर दश प्रकार के भोगों का उपभोग करते थे, सारा वैभव शांतिनाथ भगवान के समान ही था। चक्रवर्ती पद के साम्राज्य का उपभोग करते हुए भगवान के तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष व्यतीत हो गये।

किसी समय भगवान को पूर्वभव का स्मरण हो जाने से आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और वे भोगों से विरक्त हो गये, उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर प्रभु का स्तवन- पूजन किया। उन्होंने अपने पुत्र को राज्यभार देकर इन्द्रों द्वारा किया हुआ दीक्षाकल्याणक उत्सव प्राप्त किया। देवों द्वारा लाई गई ‘विजया’ नाम की पालकी पर सवार होकर भगवान सहेतुक वन में पहुँचे, वहाँ तेला का नियम लेकर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृत्तिका नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। उसी समय प्रभु को मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन हस्तिनापुर के धर्ममित्र राजा ने भगवान को आहारदान देकर पंचाश्चर्य को प्राप्त किया। इस प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए प्रभु के सोलह वर्ष बीत गये।

किसी दिन भगवान तेला का नियम लेकर तप करने के लिए वन में तिलक वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वहाँ चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय देवों ने समवसरण की रचना की और केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की। भगवान के समवसरण में स्वयंभू को आदि लेकर पैंतीस गणधर, साठ हजार मुनिराज, साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यच थे। भगवान दिव्यध्वनि के द्वारा चिरकाल तक धर्मोपदेश देते हुए विहार करते रहे। भगवान का केवलीकाल तेईस हजार सात सौ चौंतीस वर्ष का था।

जब भगवान की आयु एक मास की शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिखर पर पहुँचे और प्रतिमायोग धारण कर लिया, वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग में समस्त कर्मों से रहित, नित्य, निरंजन, सिद्धपद को प्राप्त हो गये। ये कुंथुनाथ भगवान तीर्थकर होने के तीसरे भव पहले सिंहस्थ राजा थे, मुनि अवस्था में सोलहकारण भावनाओं के प्रभाव से तीर्थकर प्रकृति का बंध कर लिया, पुनः सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से आकर कुंथुनाथ नाम के सत्रहवें तीर्थकर, छठे चक्रवर्ती और तेरहवें कामदेव पद के धारक हुए हैं।

तिलोयपण्णत्ति और उत्तरपुराण के अनुसार इन भगवान के भी गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चारों कल्याणक हस्तिनापुर में ही हुए हैं। भगवान का गर्भकल्याणक श्रावण कृष्णा दशमी को हुआ, दीक्षाकल्याणक चैत्र शुक्ला तृतीया को हुआ तथा जन्म, केवलज्ञान और मोक्षकल्याणक वैशाख शुक्ला प्रतिपदा को हुआ है। भगवान के शरीर की ऊँचाई १४० हाथ प्रमाण थी, बकरे का चिन्ह था, ऐसे सत्रहवें तीर्थकर कुंथुनाथ भगवान हम और आपको शाश्वत सुख प्रदान करें।

तीर्थकर श्री अरनाथ भगवान्

इसी हस्तिनापुर नगरी में सोमवंश में उत्पन्न हुए राजा सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी मित्रसेना नाम की रानी थी। रानी ने फाल्गुन कृष्णा तृतीया के दिन गर्भ में अहमिन्द्र के जीव को धारण किया, उसी समय देवों ने आकर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया। रात्री मित्रसेना ने नवमास के बाद मगसिर शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवों ने बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव करके भगवान् का अरनाथ नाम रखा। भगवान् की आयु चौरासी हजार वर्ष की थी, १२० हाथ ऊँचा शरीर था, सुवर्ण के समान शरीर की कांति थी।

भगवान् के कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर उन्हें मण्डलेश्वर के योग्य राज्य पद प्राप्त हुआ, इसके बाद इतना ही काल बीत जाने पर चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ। इस तरह भोग भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया, तब शरद ऋतु के मेघों का अकस्मात् विलय होना देखकर भगवान् को वैराग्य हो गया। लौकांतिक देवों द्वारा स्तुत्य भगवान् अपने अरविंद कुमार को राज्य देकर देवों द्वारा उठाई हुई वैजयंती नाम की पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में पहुँचे। तेली का नियम कर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में भगवान् ने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। पारणा के दिन चक्रपुर नगर के अपराजित राजा ने भगवान् को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किया था।

जब भगवान् के छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बीत गये, तब वे कार्तिक शुक्ला दशमी के दिन आम्रवन के नीचे तेली का नियम लेकर विराजमान हुए और घातिया कर्मों का नाश कर केवली बन गये। देवों ने आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान की पूजा की। भगवान् के तीस गणधर, पचास हजार मुनिराज, साठ हजार आर्यिकाएँ, एक लाख साठ हजार श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यातोर्तिर्यच थे। इस तरह बारह सभाओं से घिरे हुए भगवान् अरनाथ ने बीस हजार नौ सौ चौरासी वर्ष तक केवली अवस्था में व्यतीत किए।

जब एक माह की आयु शेष रही, तब भगवान् सम्मेदशिखर पर जाकर प्रतिमायोग से स्थित हो गये। चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्वभाग में सम्पूर्ण कर्मों से रहित अशरीरी होकर सिद्ध पद को प्राप्त हो गये। ये अठारहवें तीर्थकर अरनाथ सातवें चक्रवर्ती और चौदहवें कामदेव पद के धारक थे। तीर्थकर से पूर्व तीसरे भव में ये भगवान् धनपति नाम के राजा थे, दीक्षा लेकर सोलहकारण भावनाओं के बल से तीर्थकर प्रकृति का बंध कर लिया था, पुनः जयंत विमान में अहमिन्द्र हुए, वहाँ से आकर अरनाथ तीर्थकर हुए हैं। इनका मत्स्य का चिन्ह था।

इन अरनाथ ने भी गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान इन चारों कल्याणकों को हस्तिनापुर नगर में ही प्राप्त किया है। इनको मुक्त हुए लगभग सौ अरब, पैंसठ लाख, छ्यासी हजार पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। ये अठारहवें तीर्थकर अरनाथ भगवान् तथा हस्तिनापुर में जन्मे ये तीर्थकरत्रय भगवान् विश्व में शांति की स्थापना करें, यही प्रार्थना है।



४. चौबीस तीर्थकर जीवन दर्शन

प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेव का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — अयोध्या (उत्तर प्रदेश)

पिता — महाराज नाभिराय

वर्ण — क्षत्रिय

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

आयु — चौरासी लाख पूर्व वर्ष

गर्भ — आषाढ़ कृ.२

तप — चैत्र कृ.९

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — प्रयाग-सिद्धार्थवन, वट वृक्ष (अक्षयवट)

प्रथम आहार — हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस द्वारा (इक्षुरस)

केवलज्ञान — फाल्गुन कृ.११

मोक्षस्थल — कैलाश पर्वत

मुनि — चौरासी हजार

आर्यिका — तीन लाख पचास हजार

श्राविका — पांच लाख

यक्षी — चक्रेश्वरी देवी

माता — महारानी मरुदेवी

वंश — इक्ष्वाकु

चिन्ह — बैल

अवगाहना — दो हजार हाथ

जन्म — चैत्र कृ.९

मोक्ष — माघ कृ.१४

समवसरण में गणधर — श्री वृषभसेन आदि ८४

गणिनी — आर्यिका ब्राह्मी

श्रावक — तीन लाख

जिनशासन यक्ष — गोमुख देव

भगवान ऋषभदेव वर्तमान वीर नि.सं.२५३८ से ३९४९८ वर्ष कम, सौ लाख करोड़ सागर अर्थात् एक कोड़ाकोड़ी सागर वर्ष पहले मोक्ष गए हैं। इससे चौरासी लाख पूर्व वर्ष पहले जन्में हैं।

दूसरे तीर्थकर भगवान अजितनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — अयोध्या (उत्तर प्रदेश)

पिता — महाराज जितशत्रु

वर्ण — क्षत्रिय

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

आयु — बहत्तर लाख पूर्व वर्ष

गर्भ — ज्येष्ठ कृ. अमावस्या

तप — माघ शु. ९

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं सप्तपर्ण वृक्ष

प्रथम आहार — साकेतनगरी के राजा ब्रह्म द्वारा (खीर)

माता — महारानी विजया

वंश — इक्ष्वाकु

चिन्ह — हाथी

अवगाहना — अट्टारह सौ हाथ

जन्म — माघ शु. १०

केवलज्ञान — पौष शु.११

मोक्ष — चैत्र शु.५

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री सिंहसेन आदि ९०

मुनि — एक लाख

गणिनी — आर्यिका प्रकुब्जा

आर्यिका — तीन लाख बीस हजार

श्रावक — तीन लाख

श्राविका — पांच लाख

जिनशासन यक्ष — महायक्ष देव

यक्षी — रोहिणी देवी

भगवान अजितनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ३९४९८ वर्ष कम पचास लाख करोड़ सागर पहले मोक्ष गए हैं।

तीसरे तीर्थकर भगवान संभवनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — श्रावस्ती (जिला-बहराइच) उत्तर प्रदेश

पिता — महाराज दृढराज

माता — महारानी सुषेणा

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — इक्ष्वाकु

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

चिन्ह — घोड़ा

आयु — साठ लाख पूर्व वर्ष

अवगाहना — सोलह सौ हाथ

गर्भ — फाल्गुन शु.८

जन्म — कार्तिक शु. १५

तप — मगसिर शु.१५

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं शाल्मलि वृक्ष

प्रथम आहार — श्रावस्ती के राजा सुरेन्द्रदत्त द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — कार्तिक कृ.४

मोक्ष — चैत्र शु.६

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री चारुषेण आदि १०५

मुनि — दो लाख

गणिनी — आर्यिका धर्मार्या

आर्यिका — तीन लाख बीस हजार

श्रावक — तीन लाख

श्राविका — पांच लाख

जिनशासन यक्ष — त्रिमुखदेव

यक्षी — प्रज्ञप्तिदेवी

भगवान संभवनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ३९४९८ वर्ष कम, बीस लाख करोड़ सागर पहले मोक्ष गए हैं।

चौथे तीर्थकर भगवान अभिनंदननाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — अयोध्या (उत्तर प्रदेश)

पिता — महाराज स्वयंवरराज

माता — महारानी सिद्धार्था

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — इक्ष्वाकु

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

चिन्ह — बंदर

आयु — पचास लाख पूर्व वर्ष

अवगाहना — चौदह सौ हाथ

गर्भ — वैशाख शु. ६

जन्म — माघ शु. १२

तप — माघ शु. १२

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं असन वृक्ष

प्रथम आहार — साकेत नगरी के राजा इन्द्रदत्त द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — पौष शु. १४

मोक्ष — वैशाख शु. ६

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री वज्रनाभि आदि १०३

मुनि — तीन लाख

गणिनी — आर्यिका मेरुषेणा

आर्यिका — तीन लाख तीस हजार छह सौ

श्रावक — तीन लाख

श्राविका — पांच लाख

जिनशासन यक्ष — यक्षेश्वर देव

यक्षी — वज्रशृंखला देवी

भगवान अभिनंदननाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ३९४९८ वर्ष कम, दस लाख करोड़ सागर पहले मोक्ष गए हैं।

पाँचवें तीर्थकर भगवान सुमतिनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — अयोध्या (उत्तर प्रदेश)

पिता — महाराज मेघरथ

माता — महारानी सुमंगला देवी

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — इक्ष्वाकु

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

चिन्ह — चकवा

आयु — चालीस लाख पूर्व वर्ष

अवगाहना — बारह सौ हाथ

गर्भ — श्रावण शु. २

जन्म — चैत्र शु. ११

तप — वैशाख शु. ९

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं प्रियंगुवृक्ष

प्रथम आहार—सौमनस नगर के राजा पद्म द्वारा (खीर)

केवलज्ञान—चैत्र शु.११

मोक्ष—चैत्र शु.११

मोक्षस्थल—सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर—श्री अमर आदि ११६

मुनि—तीन लाख बीस हजार

गणिनी—आर्यिका अनंतमती

आर्यिका—तीन लाख तीस हजार

श्रावक—तीन लाख

श्राविका—पांच लाख

जिनशासन यक्ष—तुंबुरू देव

यक्षी—पुरुषदत्ता देवी

भगवान सुमतिनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ३९४९८ वर्ष कम, एक लाख करोड़ सागर पहले मोक्ष गए हैं।

छठे तीर्थकर भगवान पद्मप्रभ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि—कौशाम्बी (जिला-कौशाम्बी) उत्तर प्रदेश

पिता—महाराजा धरणराज

माता—महारानी सुसीमा

वर्ण—क्षत्रिय

वंश—इक्ष्वाकु

देहवर्ण—पद्मरागमणि सदृश

चिन्ह—लाल कमल

आयु—तीस लाख पूर्व वर्ष

अवगाहना—एक हजार हाथ

गर्भ—माघ कृ.६

जन्म—कार्तिक कृ. १३

तप—कार्तिक कृ.१३

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष—मनोहर वन (प्रभाषगिरि) एवं प्रियंगुवृक्ष

प्रथम आहार—वर्द्धमान नगर के राजा सोमदत्त द्वारा (खीर)

केवलज्ञान—चैत्र शु.१५

मोक्ष—फाल्गुन कृ.४

मोक्षस्थल—सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर—श्री वज्रचामर आदि ११०

मुनि—तीन लाख तीस हजार

गणिनी—आर्यिका रतिषेणा

आर्यिका—चार लाख तीस हजार

श्रावक—तीन लाख

श्राविका—पांच लाख

जिनशासन यक्ष—कुसुमदेव

यक्षी—मनोवेगा देवी

भगवान पद्मप्रभ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ३९४९८ वर्ष कम बीस लाख करोड़ सागर पहले मोक्ष गए हैं।

सातवें तीर्थकर भगवान सुपाश्वर्नाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

पिता — महाराजा सुप्रतिष्ठ

वर्ण — क्षत्रिय

देहवर्ण — मरकतमणि सम (हरा)

आयु — बीस लाख पूर्व वर्ष

गर्भ — भाद्रपद शु. ६

तप — ज्येष्ठ शु. १२

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं शिरीष वृक्ष

प्रथम आहार — सोमखेट नगर के राजा महेन्द्रदत्त द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — फाल्गुन कृ. ६

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

मुनि — तीन लाख

आर्थिका — तीन लाख तीस हजार

श्राविका — पांच लाख

यक्षी — काली देवी

माता — महारानी पृथ्वीषेणा

वंश — इक्ष्वाकु

चिन्ह — स्वस्तिक

अवगाहना — आठ सौ हाथ

जन्म — ज्येष्ठ शु. १२

मोक्ष — फाल्गुन कृ. ७

समवसरण में गणधर — श्रीबल आदि ९५

गणिनी — आर्थिका मीनार्था

श्रावक — तीन लाख

जिनशासन यक्ष — वरनंदिदेव

भगवान सुपाश्वर्नाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ३९४९८ वर्ष कम दस हजार करोड़ सागर पहले मोक्ष गए हैं।

आठवें तीर्थकर भगवान चन्द्रप्रभु का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — चन्द्रपुरी (जिला-बनारस) उत्तर प्रदेश

पिता — महाराजा महासेन

वर्ण — क्षत्रिय

देहवर्ण — कुंदपुष्प सम श्वेत

आयु — दस लाख पूर्व वर्ष

गर्भ — चैत्र कृ. ५

तप — पौष कृ. ११

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सर्वर्तुकवन एवं नागवृक्ष

प्रथम आहार — नलिन नगर के राजा सोमदत्त द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — फाल्गुन कृ. ७

माता — महारानी लक्ष्मणा

वंश — इक्ष्वाकु

चिन्ह — चन्द्रमा

अवगाहना — छह सौ हाथ

जन्म — पौष कृ. ११

मोक्ष — फाल्गुन कृ. ७

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

मुनि — ढाई लाख

आर्यिका — तीन लाख अस्सी हजार

श्राविका — पांच लाख

यक्षी — ज्वालामालिनी देवी

समवसरण में गणधर — श्री श्रीदत्त आदि ९३

गणिनी — आर्यिका वरुणा

श्रावक — तीन लाख

जिनशासन यक्ष — विजयदेव

भगवान चन्द्रप्रभु वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ३९४९८ वर्ष कम सौ करोड़ सागर पहले मोक्ष गए हैं।

नवमें तीर्थकर भगवान पुष्पदन्तनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — काकन्दी (उत्तर प्रदेश)

पिता — महाराजा सुग्रीव

वर्ण — क्षत्रिय

देहवर्ण — कुंदपुष्प सम श्वेत

आयु — दो लाख पूर्व वर्ष

गर्भ — फाल्गुन कृ.९

तप — मगसिर शु. १

माता — महारानी जयरामा

वंश — इक्ष्वाकु

चिन्ह — मगर

अवगाहना — चार सौ हाथ

जन्म — मगसिर शु.१

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — पुष्पकवन एवं नागवृक्ष

प्रथम आहार — शैलपुर के राजा पुष्पमित्र द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — कार्तिक शु.२

मोक्ष — भाद्रपद शु.८

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री विदर्भ आदि ८८

मुनि — दो लाख

गणिनी — आर्यिका घोषार्या

आर्यिका — तीन लाख अस्सी हजार

श्रावक — दो लाख

श्राविका — पांच लाख

जिनशासन यक्ष — अजित देव

यक्षी — महाकाली देवी

भगवान पुष्पदन्तनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ३९४९८ वर्ष कम दस करोड़ सागर पहले मोक्ष गए हैं।

दसवें तीर्थकर भगवान शीतलनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — भद्रपुरी

पिता — महाराजा दृढरथ

वर्ण — क्षत्रिय

माता — महारानी सुनन्दा

वंश — इक्ष्वाकु

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

आयु — एक लाख पूर्व वर्ष

गर्भ — चैत्र कृ. ८

तप — माघ कृ. १२

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं बेलवृक्ष

प्रथम आहार — अरिष्ट नगर के राजा पुनर्वसु द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — पौष कृ. १४

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

मुनि — एक लाख

आर्यिका — तीन लाख अस्सी हजार

श्राविका — तीन लाख

यक्षी — मानवी देवी

चिन्ह — श्रीवृक्ष (कल्पवृक्ष)

अवगाहना — तीन सौ साठ हाथ

जन्म — माघ कृ. १२

मोक्ष — आश्विन शु. ८

समवसरण में गणधर — श्री अनगार आदि ८१

गणिनी — आर्यिका धरणा

श्रावक — दो लाख

जिनशासन यक्ष — ब्रह्मेश्वर देव

भगवान शीतलनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ३९४९८ वर्ष कम एक करोड़ सागर पहले मोक्ष गए हैं।

ग्यारहवें तीर्थकर भगवान श्रेयांसनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — सिंहपुरी (जिला-वाराणसी) उत्तर प्रदेश

पिता — महाराजा विष्णुमित्र

वर्ण — क्षत्रिय

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

आयु — चौरासी लाख वर्ष

गर्भ — ज्येष्ठ कृ. ६

तप — फाल्गुन कृ. ११

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — मनोहर उद्यान एवं तुंबुरू वृक्ष

प्रथम आहार — सिद्धार्थ नगर के राजा नंद द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — माघ कृ. अमावस

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

मुनि — चौरासी हजार

आर्यिका — एक लाख बीस हजार

श्राविका — चार लाख

यक्षी — गौरी देवी

माता — महारानी नन्दा

वंश — इक्ष्वाकु

चिन्ह — गैंडा

अवगाहना — तीन सौ बीस हाथ

जन्म — फाल्गुन कृ. ११

मोक्ष — श्रावण शु. १५

समवसरण में गणधर — श्री कुन्थु आदि ७७

गणिनी — आर्यिका धारणा

श्रावक — दो लाख

जिनशासन यक्ष — कुमार देव

भगवान श्रेयांसनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३४ से १०० सागर ६५,८६,५३४ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

बारहवें तीर्थकर भगवान वासुपूज्य का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — चंपापुर (जि.-भागलपुर) बिहार

पिता — महाराजा वसुपूज्य

माता — महारानी जयावती

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — इक्ष्वाकु

देहवर्ण — पद्मरागमणि सदृश

चिन्ह — भैंसा

आयु — बहत्तर लाख वर्ष

अवगाहना — दो सौ अस्सी हाथ

गर्भ — आषाढ़ कृ.६

जन्म — फाल्गुन कृ. १४

तप — फाल्गुन कृ.१४

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — मनोहर उद्यान एवं कदंब वृक्ष

प्रथम आहार — महानगर के राजा सुंदर द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — माघ शु.२

मोक्ष — भाद्रपद शु.१४

मोक्षस्थल — चंपापुर (मंदारगिरि)

समवसरण में गणधर — श्री धर्म आदि ६६

मुनि — बहत्तर लाख

गणिनी — आर्यिका सेनार्या

आर्यिका — एक लाख छह हजार

श्रावक — दो लाख

श्राविका — चार लाख

जिनशासन यक्ष — षण्मुख देव

यक्षी — गांधारी देवी

भगवान वासुपूज्य वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से छियालिस सागर ६५,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

तेरहवें तीर्थकर भगवान विमलनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — कांपिल्यपुरी (कंपिलाजी) जि. फर्रुखबाद (उ.प्र.)

पिता — महाराजा कृतवर्मा

माता — महारानी जयश्यामा

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — इक्ष्वाकु

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

चिन्ह — सूकर

आयु — साठ लाख वर्ष

अवगाहना — दो सौ चालीस हाथ

गर्भ — ज्येष्ठ कृ.१०

जन्म — माघ शु. ४

तप — माघ शु. ४

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं जामुन वृक्ष

प्रथम आहार — नंदनपुर के राजा कनकप्रभ द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — माघ शु.६

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

मुनि — अड़सठ हजार

आर्यिका — एक लाख तीन हजार

श्राविका — चार लाख

यक्षी — वैराटी देवी

मोक्ष — आषाढ़ कृ. ८

समवसरण में गणधर — श्रीमंदर आदि ५५

गणिनी — आर्यिका पद्मा

श्रावक — दो लाख

जिनशासन यक्ष — पाताल देव

भगवान विमलनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से सोलह सागर ६५,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

चौदहवें तीर्थकर भगवान अनन्तनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — अयोध्या (उ.प्र.)

पिता — महाराजा सिंहसेन

वर्ण — क्षत्रिय

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

आयु — तीस लाख वर्ष

गर्भ — कार्तिक कृ.१

तप — ज्येष्ठ कृ. १२

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं पीपल वृक्ष

प्रथम आहार — साकेत पुर के राजा विशाख द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — चैत्र कृ. अमावस

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

मुनि — छ्यासठ हजार

आर्यिका — एक लाख आठ हजार

श्राविका — चार लाख

यक्षी — अनंतमती देवी

माता — महारानी जयश्यामा

वंश — इक्ष्वाकु

चिन्ह — सेही

अवगाहना — दो सौ हाथ

जन्म — ज्येष्ठ कृ.१२

मोक्ष — चैत्र कृ. अमावस

समवसरण में गणधर — श्री जय आदि ५०

गणिनी — आर्यिका सर्वश्री

श्रावक — दो लाख

जिनशासन यक्ष — किन्नर देव

भगवान अनन्तनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से सात सागर ६५,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

पन्द्रहवें तीर्थकर भगवान धर्मनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — रत्नपुरी (जिला फैजाबाद) उत्तर प्रदेश

पिता — महाराजा भानुराज

माता — महारानी सुप्रभा

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — इक्ष्वाकु

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

चिन्ह — वज्रदंड

आयु — दस लाख वर्ष

अवगाहना — एक सौ अस्सी हाथ

गर्भ — वैशाख शु. १३

जन्म — माघ शु. १३

तप — माघ शु. १३

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — शालवन एवं सप्तपर्ण

प्रथम आहार — पाटलिपुत्र नगर के राजा धन्यषेण द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — पौष शु. १५

मोक्ष — ज्येष्ठ शु. ४

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री अरिष्टसेन आदि ४३

मुनि — चौंसठ हजार

गणिनी — आर्यिका सुव्रता

आर्यिका — बासठ हजार चार सौ

श्रावक — दो लाख

श्राविका — चार लाख

जिनशासन यक्ष — किंपुरुषदेव

यक्षी — मानसी देवी

भगवान धर्मनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से तीन सागर ६५,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

सोलहवें तीर्थकर भगवान शान्तिनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — हस्तिनापुर (जि. मेरठ) उत्तर प्रदेश

पिता — महाराजा विश्वसेन

माता — महारानी ऐरावती

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — कुरु

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

चिन्ह — हरिण

आयु — एक लाख वर्ष

अवगाहना — एक सौ साठ हाथ

गर्भ — भाद्रपद कृ. ७

जन्म — ज्येष्ठ कृ. १४

तप — ज्येष्ठ कृ. १४

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहस्राम्रवन एवं नंदावर्त वृक्ष

प्रथम आहार — मंदिरपुर के राजा सुमित्र द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — पौष शु. १०

मोक्ष — ज्येष्ठ कृ. १४

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री चक्रायुध आदि ३६ मुनि — बासठ हजार
 गणिनी — आर्यिका हरिषेणा आर्यिका — साठ हजार तीन सौ
 श्रावक — दो लाख श्राविका — चार लाख
 जिनशासन यक्ष — गरुड़देव यक्षी — महामानसी देवी
 भगवान शांतिनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से पौन पल्य ६५,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

सत्रहवें तीर्थकर भगवान कुंथुनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — हस्तिनापुर (जि. मेरठ) उत्तर प्रदेश
 पिता — महाराजा सूरसेन माता — महारानी श्रीकांता
 वर्ण — क्षत्रिय वंश — कुरुवंश
 देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश चिन्ह — बकरा
 आयु — पंचानवे हजार वर्ष अवगाहना — एक सौ चालीस हाथ
 गर्भ — श्रावण कृ. १० जन्म — वैशाख शु. १
 तप — वैशाख शु. १

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं तिलक वृक्ष
 प्रथम आहार — हस्तिनापुर के राजा धर्ममित्र द्वारा (खीर)
 केवलज्ञान — चैत्र शु. ३ मोक्ष — वैशाख शु. १
 मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत
 समवसरण में गणधर — श्री स्वयंभू आदि ३५ मुनि — साठ हजार
 गणिनी — आर्यिका भाविता आर्यिका — साठ हजार तीन सौ पचास
 श्रावक — दो लाख श्राविका — तीन लाख
 जिनशासन यक्ष — गंधर्व देव यक्षी — जया देवी
 भगवान कुंथुनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से पाव पल्य और ६५,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं

अठारहवें तीर्थकर भगवान अरनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — हस्तिनापुर (जिला मेरठ) उत्तर प्रदेश
 पिता — महाराजा सुदर्शन माता — महारानी मित्रसेना
 वर्ण — क्षत्रिय वंश — कुरुवंश
 देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश चिन्ह — मछली
 आयु — चौरासी हजार वर्ष अवगाहना — एक सौ बीस हाथ
 गर्भ — फाल्गुन कृ. ३ जन्म — मगसिर शु. १४

तप — मगसिर शु. १०

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहेतुक वन एवं आम्र वृक्ष

प्रथम आहार — चक्रपुर के राजा अपराजित द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — कार्तिक शु. १२

मोक्ष — चैत्र कृ. अमावस्या

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री कुंभार्य आदि ३०

मुनि — पचास हजार

गणिनी — आर्यिका यक्षिला

आर्यिका — साठ हजार

श्रावक — एक लाख साठ हजार

श्राविका — तीन लाख

जिनशासन यक्ष — महेन्द्र देव

यक्षी — विजया देवी

भगवान अरनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से १० अरब ६५,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

उन्नीसवें तीर्थकर भगवान मल्लिनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — मिथिलानगरी

पिता — महाराजा कुंभराज

माता — महारानी प्रजावती

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — इक्ष्वाकु

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

चिन्ह — कलश

आयु — पचपन हजार वर्ष

अवगाहना — सौ हाथ

गर्भ — चैत्र शु. १

जन्म — मगसिर शु. ११

तप — मगसिर शु. ११

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — श्वेतवन एवं अशोक वृक्ष

प्रथम आहार — मिथिला नगरी के राजा नंदिषेण द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — पौष कृ. २

मोक्ष — फाल्गुन शु. ५

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री विशाख आदि २८

मुनि — चालीस हजार

गणिनी — आर्यिका बंधुषेणा

आर्यिका — पचपन हजार

श्रावक — एक लाख

श्राविका — तीन लाख

जिनशासन यक्ष — कुबेर देव

यक्षी — अपराजिता देवी

भगवान मल्लिनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ६५,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

बीसवें तीर्थकर भगवान मुनिसुव्रतनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — राजगृही (जिला नालंदा) बिहार

पिता — महाराजा सुमित्र

माता — महारानी सोमा

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — हरिवंश

देहवर्ण — वैदूर्यमणि सदृश

चिन्ह — कछुआ

आयु — तीस हजार वर्ष

अवगाहना — अस्सी हाथ

गर्भ — श्रावण कृ. २

जन्म — वैशाख कृ. १२

तप — वैशाख कृ. १०

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — नील वन एवं चंपक वृक्ष

प्रथम आहार — राजगृह के राजा वृषभसेन द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — वैशाख कृ. ९

मोक्ष — फाल्गुन कृ. १२

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री मल्लि आदि १८

मुनि — तीस हजार

गणिनी — आर्यिका पुष्पदंता

आर्यिका — पचास हजार

श्रावक — एक लाख

श्राविका — तीन लाख

जिनशासन यक्ष — वरुण देव

यक्षी — बहुरूपिणी देवी

भगवान मुनिसुव्रतनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ११,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

इक्कीसवें तीर्थकर भगवान नमिनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — मिथिलानगरी

पिता — महाराजा विजय

माता — महारानी वप्पिला (वर्मिला)

वर्ण — क्षत्रिय

वंश — इक्ष्वाकु

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

चिन्ह — नीलकमल

आयु — दस हजार वर्ष

अवगाहना — साठ हाथ

गर्भ — आश्विन कृ. २

जन्म — आषाढ़ कृ. १०

तप — आषाढ़ कृ. १०

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — चैत्रवन एवं वकुलवृक्ष

प्रथम आहार — वीरपुर नगर के राजा दत्त द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — मगसिर शु. ११

मोक्ष — वैशाख कृ. १४

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

समवसरण में गणधर — श्री सुप्रभार्य आदि १७ मुनि — बीस हजार
 गणिनी — आर्यिका मंगिनी आर्यिका — पैतालीस हजार
 श्रावक — एक लाख श्राविका — तीन लाख
 जिनशासन यक्ष — श्री विद्युत्प्रभ देव यक्षी — चामुण्डी देवी
 भगवान नमिनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ५,८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

बाइसवें तीर्थकर भगवान नेमिनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — शौरीपुरबटेश्वर (उत्तर प्रदेश)
 पिता — महाराजा समुद्रविजय माता — महारानी शिवादेवी
 वर्ण — क्षत्रिय वंश — हरिवंश
 देहवर्ण — वैदूर्यमणि सदृश चिन्ह — शंख
 आयु — एक हजार वर्ष अवगाहना — चालीस हाथ
 गर्भ — कार्तिक शु. ६ जन्म — श्रावण शु. ६
 तप — श्रावण शु. ६

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — सहस्राम्रवन एवं बांस वृक्ष
 प्रथम आहार — द्वारावती के राजा वरदत्त द्वारा (खीर)
 केवलज्ञान — आश्विन शु. १ मोक्ष — आषाढ़ शु. ७
 मोक्षस्थल — ऊर्जयंतपर्वत (गिरनार)
 समवसरण में गणधर — श्री वरदत्त आदि ११ मुनि — अठारह हजार
 गणिनी — आर्यिका राजीमती (राजुलमती) आर्यिका — चालीस हजार
 श्रावक — एक लाख श्राविका — तीन लाख
 जिनशासन यक्ष — सर्वाण्हदेव यक्षी — कूष्माण्डी देवी
 भगवान नेमिनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से ८६,५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

तेइसवें तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — वाराणसी (उत्तर प्रदेश)
 पिता — महाराजा अश्वसेन माता — महारानी वामादेवी (ब्राह्मी)
 वर्ण — क्षत्रिय वंश — उग्रवंश
 देहवर्ण — मरकतमणि सदृश (हरा) चिन्ह — सर्प
 आयु — सौ वर्ष अवगाहना — नौ हाथ
 गर्भ — वैशाख कृ. २ जन्म — पौष कृ. ११
 तप — पौष कृ. ११ दीक्षा वन एवं वृक्ष — अश्ववन एवं देवदारुवृक्ष
 प्रथम आहार — गुल्मखेट नगर के राजा धन्य द्वारा (खीर)

केवलज्ञान स्थल — अहिच्छत्र

मोक्ष — श्रावण शु. ७

समवसरण में गणधर — श्री स्वयंभू आदि १०

गणिनी — आर्यिका सुलोचना

श्रावक — एक लाख

जिनशासन यक्ष — धरणेन्द्र देव

भगवान् पार्श्वनाथ वर्तमान वीर नि.सं. २५३८ से २७८८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

केवलज्ञान — चैत्र कृ. ४ (१४)

मोक्षस्थल — सम्मेद शिखर पर्वत

मुनि — सोलह हजार

आर्यिका — छत्तीस हजार

श्राविका — तीन लाख

यक्षी — पद्मावती देवी

चौबीसवें तीर्थकर भगवान् महावीर स्वामी का जीवन दर्शन

जन्मभूमि — कुंडलपुर जिला नालन्दा (बिहार)

पिता — महाराजा सिद्धार्थ

वर्ण — क्षत्रिय

देहवर्ण — तप्त स्वर्ण सदृश

आयु — बहत्तर वर्ष

गर्भ — आषाढ़ शु. ६

तप — मगसिर कृ. १०

माता — महारानी प्रियकारिणी (त्रिशला)

वंश — नाथवंश

चिन्ह — सिंह

अवगाहना — सात हाथ (अरत्नि)

जन्म — चैत्र शु. १३

दीक्षा-केवलज्ञान वन एवं वृक्ष — षण्डवन (मनोहरवन) एवं साल वृक्ष

प्रथम आहार — कूल ग्राम के राजा वकुल द्वारा (खीर)

विशेष आहार — कौशाम्बी में महासती चंदना द्वारा (खीर)

केवलज्ञान — वैशाख शु. १० (ऋजुकूला नदी के तट पर)

वीरशासन जयंती — (दिव्यध्वनि दिवस) श्रावण कृ. १ राजगृही

मोक्षकल्याणक — कार्तिक कृ. अमावस्या

समवसरण में गणधर — श्री इन्द्रभूति आदि ११

गणिनी — आर्यिका चन्दना

श्रावक — एक लाख

जिनशासन यक्ष — मातंग देव (गुह्यकदेव)

मोक्ष स्थल — पावापुरी

मुनि — चौदह हजार

आर्यिका — छत्तीस हजार

श्राविका — तीन लाख

यक्षी — सिद्धायिनी देवी

२६११ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर स्वामी का जन्म हुआ। भगवान् महावीर स्वामी वर्तमान वीर नि.सं. से २५३८ वर्ष पहले मोक्ष गए हैं।

विशेष — जिन २४ तीर्थकर भगवन्तों का परिचय आपने पढ़ा, ये वर्तमानकालीन चौबीस तीर्थकर भगवान् हैं। इनका परिचय आप अपने जिनमंदिरों एवं तीर्थक्षेत्रों पर उत्कीर्ण कराकर जनमानस को २४ तीर्थकरों के जीवन से परिचित कराकर महान् पुण्य का संचय कर सकते हैं।

५. भगवान बाहुबली

कृतयुग की आदि में अंतिम कुलकर महाराजा नाभिराज हुए हैं। उनकी महारानी मरुदेवी की पवित्र कुक्षि से इस युग के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ है। वैदिक परम्परा में इन्हें अष्टम अवतार माना गया है। ऋषभदेव के दो रानियाँ थीं — यशस्वती और सुनन्दा। यशस्वती के भरत, वृषभसेन आदि सौ पुत्र हुए और ब्राह्मी नाम की कन्या हुई हैं। सुनन्दा ने बाहुबली नाम के एक पुत्र को और सुन्दरी नाम की कन्या को जन्म दिया। वृषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी इन दोनों पुत्रियों को सर्वप्रथम विद्याभ्यास कराया। दाहिनी तरफ बैठी हुई ब्राह्मी को अपने दाहिने हाथ से 'अ आ ई ई' सिखाई और बायीं तरफ बैठी हुई सुन्दरी को १, २, ३ आदि संख्याएँ लिखकर गणित विद्या सिखाई। ऋषभदेव ने स्वयं ही इन दोनों कन्याओं को सर्व विद्याओं में पारंगत करके साक्षात् सरस्वती का अवतार बना दिया। इसी तरह भरत, बाहुबली आदि एक सौ एक पुत्रों को भी सर्व विद्याओं में, सर्व कलाओं में, सर्व शास्त्रों और शस्त्रों में भी निष्णात बना दिया। ऋषभदेव ने प्रजा को असि, मसि आदि षट् क्रियाओं का उपदेश दिया जिससे प्रजा उन्हें युगादि पुरुष, युगस्रष्टा, विधाता, प्रजापति आदि नामों से पुकारने लगी। किसी समय ऋषभदेव राजपाट से विरक्त हो वन को जाने लगे तब उन्होंने भरत को अयोध्या का राज्य सौंपा और बाहुबली को पोदनपुर का अधिकारी बनाया। इसी तरह अन्य निन्यानवे पुत्रों को भी अन्य देशों का राज्य देकर आप मुनिमार्ग को बतलाने के लिए निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि हो गये।

अनेक वर्षों बाद भरत महाराज के दरबार में एक साथ तीन संदेशवाहक आते हैं। एक कहता है — राजन्! आपके पूज्य पिता ऋषभदेव को केवलज्ञान प्रगट हुआ है। दूसरा कहता है — राजाधिराज! आपकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है पुनः तीसरा समाचार पुत्ररत्न की उत्पत्ति का आता है। इन हर्षवर्धक तीनों समाचारों को एक साथ सुनकर भरतराज मन में विचार करने लगे कि पहले कौन सा उत्सव मनाना चाहिए। पुनः वे सोचते हैं पहले केवलज्ञान उत्सव की पूजा करना अतः वे भगवान ऋषभदेव के समवसरण में पहुँचकर भगवान की पूजा करके दिव्य उपदेश श्रवण करते हैं। उसी समय भरत के तीसरे भाई वृषभसेन आकर दीक्षा लेकर भगवान के प्रथम गणधर हो जाते हैं। बहन ब्राह्मी-सुन्दरी भी आर्थिका दीक्षा लेकर आर्थिकाओं में प्रमुख बन जाती हैं।

भरत महाराज वहाँ से आकर चक्ररत्न की पूजा करके पुत्र जन्म के उत्सव को सम्पन्न करते हैं। पुनः चक्ररत्न को आगे कर दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर देते हैं। दशों दिशाओं के सभी राजाओं को अपने अधीन करके भरत साठ हजार वर्ष बाद अयोध्या में प्रवेश करना चाहते हैं कि इसी समय उनका चक्ररत्न अयोध्या के गोपुर द्वार पर रुक जाता है। जब भरत को पता चलता है कि अभी हमारी दिग्विजय यात्रा अधूरी है, हमारे भाई ही हमारे अधीन नहीं हैं तब वे अपने अनंतविजय आदि अट्टानवे भाइयों के पास दूत भेजते हैं। इस अवसर पर वे सभी भाई भरत की अधीनता स्वीकार न कर पूज्य पिता ऋषभदेव के पास जाकर मुनि बन जाते हैं पुनः भरत बाहुबली के पास भी दूत भेजते हैं किन्तु बाहुबली भी भरत को राजाओं का राजा चक्रवर्ती मानकर अधीनता स्वीकार करना नहीं चाहते हैं। तब दोनों पक्ष में युद्ध का तुमुल बज उठता है, इस दृश्य को देख दोनों पक्ष के मंत्री विचार करते हैं कि यह महायुद्ध महान हिंसा को कराने वाला होगा अतः इन दोनों भाइयों में ही आपस में धर्मयुद्ध क्यों न हो जावे, मंत्रियों की प्रार्थना को स्वीकार कर भरत-बाहुबली के बीच दृष्टि युद्ध, जल युद्ध और मल्ल युद्ध इन तीन युद्धों का निर्णय हो जाता है।

भरत का वर्ण सुवर्ण सदृश है और ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण है। बाहुबली का वर्ण मरकतमणि के समान हरा है और ऊँचाई सवा पाँच सौ धनुष है। दृष्टियुद्ध में दोनों भाई अपलक दृष्टि से एक-दूसरे को देख रहे हैं। कुछ क्षण बाद भरत की पलक झपक जाती है अतः बाहुबली की विजय मान ली जाती है। दोनों भाई सरोवर में उतरकर एक-दूसरे पर जल उछालते हैं। यहाँ भी भरत कद में नीचे होने से व्याकुल हो उठते हैं तब बाहुबली की जीत हो जाती है। ऐसे ही मल्ल युद्ध में भी बाहुबली भरत को उठा लेते हैं। पुनः सोचते हैं बड़े भाई का अविनय करना उचित नहीं है अतः वे उन्हें जमीन पर न पटक कर अपने कंधे पर बिठा लेते हैं। उस समय बाहुबली के पक्ष में जयकारे की ध्वनि होने लगती है और भरत के पक्ष में राजा लोग मस्तक नीचा कर लेते हैं। इधर बाहुबली भरत को अपने कंधे से उतारकर उच्चासन पर बिठा देते हैं। उस समय भरत अपमान से संतप्त हो उठते हैं और अपना चक्ररत्न बाहुबली के ऊपर चला देते हैं। तब सभी जनता के मुख से हाहाकार शब्द निकलने लगते हैं। बड़े-बड़े राजागण कह उठते हैं — राजन्! बस हो, बस हो, आपका यह अतिसाहस बस हो। उधर चक्ररत्न बाहुबली की तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हीं के पास खड़ा रह जाता है।

इस घटना से बाहुबली का हृदय विरक्त हो उठता है। अहो! मेरे बड़े भाई भरत ने यह क्या किया? जब इन्हें मालूम है कि चक्ररत्न अपने स्वजनों का घात नहीं कर सकता, तब पुनः क्रोध के आवेश में आकर यह लोकनिन्द्य कार्य कैसे कर डाला? बाहुबली कहते हैं — हे भाई! जिस नश्वर राज्य के लिए आपने यह साहस किया है वह आप का ही रहे, मैंने जो भी अपराध किया है उसे क्षमा करो, अब मैं जैनेश्वरी दीक्षा लेना चाहता हूँ। भरत का हृदय पानी-पानी हो जाता है, वह पश्चात्ताप करते हुए बार-बार बाहुबली को रोकना चाहते हैं परन्तु बाहुबली अपने बड़े पुत्र महाबली को राज्य देकर वन में जाकर नग्न दिगम्बर दीक्षा लेकर एक वर्ष के उपवास का नियम लेकर एक ही जगह निश्चल खड़े हो जाते हैं। इधर चक्रवर्ती का चक्ररत्न अयोध्या में प्रवेश करता है, भरत का साम्राज्य पद पर अभिषेक होता है। वह चक्रवर्ती इस छह खण्ड पृथ्वी के एकछत्र स्वामी बन जाते हैं।

इधर बाहुबली योग साधना में लीन हैं। सर्पों ने उनके चरणों के निकट वामियाँ बना ली हैं। लताएँ चरणों के आश्रय से उन्हें वेष्टित करती हुई कंधे पर जा पहुँची हैं। बासंती बेल के सफेद-सफेद पुष्प उनके ऊपर पड़ते हुए अतिशय सुन्दर दिख रहे हैं। बाहुबली के ध्यान के प्रभाव से उस वन के क्रूर हिंसक सिंह, व्याघ्र आदि अपनी क्रूरता छोड़कर हरिण, गाय, मोर, नेवला आदि के साथ-साथ घास चरते हैं और क्रीड़ा करते हैं। सर्प भक्ति में विभोर हो नाच रहे हैं। उसी समय मयूर भी अपने पंख फैला कर नाचते हैं। सिंहनी हरिणी के बच्चे को दूध पिलाती है तो गाय शेरनी के बच्चे को दूध पिलाती है। सभी जात विरोधी जीव आपस में परम प्रीति को प्राप्त हो गये हैं। आकाश मार्ग में विद्याधर के विमान रुक जाते हैं, तब वे नीचे आकर बाहुबली महामुनि की भक्ति करके अतिशय पुण्य कमा लेते हैं। कभी-कभी स्वर्ग में देवों के आसन कंपने लगते हैं, तब वे अवधिज्ञान से बाहुबली के ध्यान का माहात्म्य समझकर उस तपोवन में आकर उनकी पूजा करते हैं।

उस समय उनकी ध्यान की मुद्रा को देखकर ऐसा भास होता है कि —

करना नहीं रहा कुछ भी कृतकृत्य प्रभो! भुजलंबित हैं।

नहीं भ्रमण करना जग में अतएव-चरण युग अचलित हैं।

देख चुके सब जग की लीला अंतरंग अब देख रहे।

सुन-सुन करके शांति न पाई अतः विजन^१ में खड़े हुए।।

इस तरह अपनी आत्मा का ध्यान करते हुए उन महामुनि को एक वर्ष पूर्ण हो चुका है, उसी दिन भरतेश्वर आकर उनकी पूजा करते हैं, तब तत्क्षण ही बाहुबली को केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। बाहुबली के मन में कभी-कभी यह विकल्प हो जाया करता था कि “भरत को मुझसे क्लेश हो गया है।” इसी कारण से केवलज्ञान होने में भरत के पूजन की अपेक्षा हुई थी।

केवलज्ञान होने के बाद इंद्र की आज्ञा से कुबेर गंधकुटी की रचना कर देते हैं। बाहुबली भगवान अपने दिव्य उपदेश से असंख्य भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में लगाते हैं अनंतर श्री ऋषभदेव के पहले ही शेष कर्मों का नाश कर अक्षय, अनंत, अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं।

ये बाहुबली इस युग के चौबीस कामदेवों में प्रथम कामदेव हुए हैं और सर्वप्रथम ही मोक्ष गये हैं तथा इनके एक वर्ष के ध्यान की विशेषता भी अपने आप में विलक्षण ही रही है। यही कारण है कि चक्रवर्ती भरत उनके निर्वाण गमन के बाद उन बाहुबली की सवा पाँच सौ धनुष प्रमाण पत्रे की मूर्ति बनवाते हैं। इस इतिहास को आज असंख्य वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

आज से १००० वर्ष पूर्व दक्षिण प्रान्त के गंगवंशी राजा राचमल्ल के प्रधानमंत्री और सेनापति श्रावक शिरोमणि चामुण्डराय हुए हैं। कहा जाता है कि एक दिन जब उन्हें पता चला कि भगवान बाहुबली की मूर्ति के दर्शन हेतु मेरी माता ने दूध का त्याग कर रखा है, तब वे पोदनपुर के लिए प्रस्थान कर देते हैं। मार्ग में श्रवणबेलगोल में पड़ाव डालते हैं। रात्रि में कूष्माण्डिनी देवी के स्वप्न देने पर गुरुदेव आचार्य श्री नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती की आज्ञा से चामुण्डराय ५७ फुट ऊँची इस विशालकाय मूर्ति का निर्माण कराते हैं। ईसवी सन् ९८१ में इस गोम्मटेश बाहुबली मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई है।

बाहुबली का योग

आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव के पुत्र कामदेव बाहुबली द्वितीय होकर भी अद्वितीय थे। उन्होंने एक वर्ष तक योग साधना के द्वारा अनेक ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त करके अपने में ही परम ज्योति स्वरूप केवलज्ञान को प्रगट किया था।

जब महामुनि बाहुबली ध्यान में खड़े थे, तब उनके शरीर पर पूरी वर्षा व्यतीत हो गई, ठण्डी ने बर्फ और तुषार से उनके शरीर को ढक दिया और गर्मी ने भी सूर्य की संतप्त किरणों से उनके शरीर को संतप्त करने में कोई कमी नहीं रखी किन्तु बाहुबली बराबर ३६५ दिन तक निश्चल खड़े रहे। सर्पों ने वामियाँ बना लीं, लताएं उनके शरीर से लिपट गईं और चिड़ियों ने घोंसले बना लिये फिर भी वे आत्मतत्त्व के चिंतन में और परमात्म तत्त्व के ध्यान में स्थिर थे, धर्मध्यान के अंतर्गत पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान के बल से अपनी आत्मा को शुक्लध्यान के सन्मुख ले जाने में तत्पर थे। उनकी मुखमुद्रा उनके मन के आल्हाद को व्यक्त कर रही थी।

हम उनकी मूर्ति को देखकर उनका इतिहास पढ़कर २४ घंटे भी ऐसे निश्चल खड़े होने का अभ्यास करें। नहीं तो एक घंटा भी निश्चल पद्मासन मुद्रा से बैठने का ही अभ्यास करें। इतना भी नहीं कर सकते, तो कम से कम ५ मिनट भी शरीर को निश्चल करें, वाणी से मौन रहें और मन को इधर-उधर जाने से रोकें।

पदस्थध्यान के अंतर्गत “हीं” एक बीजपद है। यह पाँच रंग का है और चौबीस तीर्थंकर का वाचक है। इसके पाँचों वर्णों में मन को घुमावें पुनः किसी एक वर्ण पर मन को रोकें — केन्द्रित करें। इस हीं का

विश्लेषण इस प्रकार है—

“ह्र” पीत वर्ण का है, इसमें स्वर्ण सदृश वर्ण वाले सोलह तीर्थकर स्थित हैं। ‘ई’ हरित है इसमें हरे वर्ण वाले दो तीर्थकर विराजमान हैं। कला “-” लाल वर्ण की है, इसमें लालवर्ण वाले दो तीर्थकर स्थित हैं। नाद—अर्धचंद्राकार श्वेत वर्ण का है, इसमें श्वेतवर्ण वाले दो तीर्थकर स्थित हैं और बिन्दु नीलवर्ण की है, इसमें नील वर्ण वाले दो तीर्थकर स्थित हैं। इसके चारों तरफ किरणें निकल रही हैं। ऐसे इस बीजपद को अपने हृदय में विराजमान करके ऐसा चिंतन करें, इस मंत्र पद की किरणों से मेरा सर्वांग व्याप्त हो रहा है। इस मंत्र का ध्यान करने से तमाम कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

वैदिक परम्परा के अनुसार इन पाँच वर्णों को पाँच तत्त्व रूप से घटित किया जा सकता है। पीतवर्ण पृथ्वीतत्त्व है, हरितवर्ण जलतत्त्व है, लालवर्ण अग्नि तत्त्व है, श्वेतवर्ण वायुतत्त्व है और नीलवर्ण आकाश तत्त्व है। वैसे यह पौद्गलिक शरीर भूतचतुष्टय से बना हुआ है। कोई-कोई इसमें आकाश तत्त्व को भी गर्भित करते हैं तथा अपनी पाँचों इन्द्रियों को इन पाँच तत्त्वों से संबंधित कहते हैं। इन तत्त्वों के दूषित होने से ही शरीर और इन्द्रियों में नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। उन-उन वर्णों के ध्यान से उन-उन संबंधी व्याधियाँ भी नष्ट हो जाती हैं।

इस “ह्रीं” के उन-उन वर्णों में उन्हीं-उन्हीं वर्ण वाले तीर्थकरों के नाममंत्र भी लिखे जाते हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण गुरुओं से समझना चाहिए। ‘ध्यान साधना’ पुस्तक से भी जानकारी ले सकते हैं।

भगवान् बाहुबली का दर्शन करने के लिए और उनका अभिषेक देखने के लिए आप लोग अति उत्सुक रहते हैं। उन्होंने जिस योग साधना के द्वारा आत्मसिद्धि प्राप्त की है, उसका प्रारंभिक किंचित् मात्र अंश यह बीजपद है। इसी प्रकार से ‘ॐ’ ‘अहं’ आदि अनेक बीजपद होते हैं। इनके ध्यान से, चिंतन से अथवा जाप से चिरसंचित पापों का नाश होता है, पुण्य का संचय होता है, अनेक मनोरथ सफल हो जाते हैं। सांसारिक सुख, संतति, संपत्ति की समृद्धि होती है। दुःख, दारिद्र्य, रोग, शोक आदि नष्ट हो जाते हैं। मस्तिष्क का तनाव खत्म होता है। मानसिक शांति होती है और ब्लडप्रेसर, हृदय रोग आदि शांत हो जाते हैं। भूत, व्यंतर आदि के प्रकोप भी शांत हो जाते हैं और परम्परा से यह आत्मा अपने आपको परमात्मा भी बना लेता है अतः यह “ह्रीं” बीजपद रूप एकाक्षरी मंत्र का ध्यान अथवा जाप्य हमें उन महामना बाहुबली के निकट पहुँचाने वाला है, ऐसा दृढ़ विश्वास करके इसका ध्यान करना चाहिए।

क्या बाहुबली के शल्य थी ?

भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में भगवान् बाहुबली के ध्यान के बारे में जैसा वर्णन किया है उसके आधार से उनके शल्य मानना अवर्णवाद है। सो ही देखिए—

“एकल विहारी अवस्था को प्राप्त बाहुबली ने एक वर्ष तक के लिए प्रतिमायोग धारण किया^१। वे रस गौरव, शब्द गौरव और ऋद्धि गौरव इन तीनों से रहित थे, अत्यंत निःशल्य थे^२ और दस धर्मों के द्वारा उन्हें मोक्षमार्ग में अत्यंत दृढ़ता प्राप्त हो गई थी।”

तपश्चरण का बल पाकर उन मुनिराज के योग के निमित्त से होने वाली ऐसी अनेक ऋद्धियाँ प्रगट हो गईं

१. प्रतिमायोगमावर्ष मातस्थे किल संवृतः॥१०६॥ आदिपुराण पर्व ३६R. गौरवैस्त्रिभिरुन्मुक्तः परां निःशल्यतां गतः॥१३७॥

थीं। मतिज्ञान की वृद्धि से कोष्ठ बुद्धि आदि ऋद्धियाँ एवं श्रुतज्ञान की वृद्धि से समस्त अंग पूर्वों के जानने की शक्ति का विस्तार हो गया था। वे अवधिज्ञान में परमावधि को उल्लंघन कर सर्वावधि को और मनःपर्यय में विपुलमति मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त हुए थे।^१

सिद्धान्त ग्रंथ का यह नियम है कि भावलिङ्गी व वृद्धिगत चारित्र वाले मुनि के सर्वावधिज्ञान होता है तथा विपुलमति मनःपर्यय तो वर्द्धमान चारित्र वाले एवं किसी न किसी ऋद्धि से समन्वित मुनि के ही होता है।^२ आगे भगवान जिनसेन सभी प्रकार की ऋद्धियों की प्रगटता मानते हुए कहते हैं। “उनके तप के प्रभाव से आठ प्रकार की विक्रिया ऋद्धि प्रगट हो गई थी। आमशौषधि, जल्लौषधि, क्ष्वेलौषधि आदि औषधि ऋद्धियों के हो जाने से उन मुनिराज की समीपता जगत का उपकार करने वाली थी। यद्यपि वे भोजन नहीं करते थे तथापि शक्तिमात्र से ही उनके रस ऋद्धि प्रगट हुई थी।^३

उनके शरीर पर लतायें चढ़ गई थीं। सर्पों ने वामियाँ बना ली थीं और वे निर्भीक हो क्रीड़ा किया करते थे। परस्पर विरोधी तिर्यच भी क्रूर भाव को छोड़कर शांतचित्त हो गये थे। विद्याधर लोग गति भंग हो जाने से उनका सद्भाव जान लेते थे और विमान से उतरकर ध्यान में स्थित मुनिराज की बार-बार पूजा करते थे। तप की शक्ति के प्रभाव से देवों के आसन भी बार-बार कंपित हो जाते थे जिससे वे मस्तक झुकाकर नमस्कार करते रहते थे।” कभी-कभी क्रीड़ा के लिए आई हुई विद्याधरियाँ उनके सर्व शरीर पर लगी हुई लताओं को हटा जाती थीं।^४

इस प्रकार धारण किए समीचीन धर्मध्यान के बल से जिनके तप की शक्ति उत्पन्न हुई है, ऐसे वे मुनि लेश्या की विशुद्धि को प्राप्त होते हुए शुक्लध्यान के सन्मुख हुए। एक वर्ष का उपवास समाप्त होने पर भरतेश्वर ने आकर जिनकी पूजा की है, ऐसे महामुनि बाहुबलि केवलज्ञान ज्योति को प्राप्त हो गये। यह भरतेश्वर मुझसे संक्लेश को प्राप्त हो गया, यह विचार बाहुबली के हृदय में रहता था इसीलिए केवलज्ञान ने भरत की पूजा की अपेक्षा की थी। प्रसन्नबुद्धि सम्राट भरत ने केवलज्ञान के उदय के पहले और पीछे विधिपूर्वक उनकी पूजा की थी। भरतेश्वर ने केवलज्ञान के पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करने के लिए की थी और केवलज्ञान के बाद जो पूजा की थी वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करने के लिए की थी।^५

इस प्रकार महापुराण के इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान बाहुबली को कोई शल्य नहीं थी। मात्र इतना विकल्प अवश्य था कि “भरत को मेरे द्वारा संक्लेश हो गया है, सो भरत के पूजा करते ही वह दूर हो गया।

१. मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्ध्यादयोऽभवन्। श्रुतज्ञानेन विश्वाङ्गपूर्ववित्त्वादिविस्तरः॥१४६॥

परमावधिमल्लङ्घ्य स सर्वावधिमासदत्। मनःपर्ययबोधे च संप्रापद् विपुलां मतिम्॥१४७॥

२. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ, १

३. विक्रियाऽष्टतयी चित्रं प्रादुरासीत्तपोबलात्।.....॥१५२॥

प्राप्तौषधर्द्धैरस्यासीत् सन्निधिर्जगते हितः। आमर्श क्ष्वेलजल्लाद्यैः प्राणिनामुपकारिणः॥१५३॥

अनाशुषोऽपि तस्यासीद् रसर्द्धिःशक्तिमात्रतः। तपोबल समुद्भूता बलर्द्धिरपि पप्रथे॥१५४॥

४. विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागतः। वल्लीरूद्वेष्ट्यामासुर्मुनेः सर्वाङ्गसंगिनीः॥१८३॥

५. इत्युपाकूटसद्भयनबलोद्भूततपोबलः। स लेश्या शुद्धिमास्कन्दन् शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत्॥१८४॥

वत्सरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः। स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षरम्॥१८५॥

संक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल। हृद्यस्य हार्दं तेनासीत् तत्पूजाऽपेक्षि केवलम्॥१८६॥

केवलार्कौदयात् पाक्च पश्चाच्च विधिवद् व्यधात्। सपर्या भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः॥१८७॥

स्वागःप्रमार्जनार्थेज्या प्राक्तनी भरतेशिनः। पाश्चात्याऽत्यायताऽपीज्या केवलोत्पत्तिमन्वभूत्॥१८८॥

आप जाइये, कहाँ जायेंगे, भरत की भूमि पर ही तो रहेंगे, ऐसे मंत्रियों के द्वारा व्यंगपूर्ण शब्द के कहे जाने पर बाहुबली कुछ क्षुब्ध से हुए और मान कषाय को धारण करते हुए चले गये तथा दीक्षा ले ली। उस समय से लेकर उन के मन में यही शल्य लगी हुई थी कि “मैं भरत की भूमि में खड़ा हूँ अतः उन्हें केवलज्ञान नहीं हो रहा था, तब भरत ने जाकर भगवान वृषभदेव से प्रश्न किया कि बाहुबली को एक वर्ष के लगभग होने पर भी अभी तक केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ है। भगवान ने कहा — भरत! उसके मन में शल्य है अतः तुम जावो और समझाओ कि भला यह पृथ्वी किसकी है? हमारे जैसे तो अनंतों चक्रवर्ती हो चुके हैं, फिर भला यह पृथ्वी मेरी कैसे है? इत्यादि समाधान करने पर बाहुबली की शल्य दूर हुई और उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया।

यह किंवदन्ती महापुराण के आधार से तो गलत है ही, साथ ही सिद्धान्त की दृष्टि से भी बाधित ही है। जैसे कि शल्य तीन होती हैं — माया, मिथ्या और निदान।

माया का अर्थ है वंचना — ठगना, छल, कपटपूर्ण व्यवहार करना। सो तो उन्हें थी नहीं। मिथ्याशल्य — मिथ्यात्व को कहते हैं। मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ, यह विपरीत मानना ही मिथ्यात्व शल्य कही जा सकती है। सो भी बाहुबली के मानना संभव नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि साधु के सर्वावधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और अनेकों ऋद्धियाँ प्रगट नहीं हो सकती थीं। निदान शल्य का अर्थ है आगामी काल में भोगों की वांछा रखते हुए उसी का चिंतन करना। सो भी उन्हें नहीं मानी जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि तत्त्वार्थसूत्र में श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि “निःशल्योव्रती” जो माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्यों से रहित होता है, वही व्रती कहलाता है। पुनः यदि बाहुबली जैसे महामुनि के भी शल्य मान ली जावे तो वे महाव्रती क्या अणुव्रती भी नहीं माने जा सकेंगे। पुनः वे भावलिंगी मुनि नहीं हो सकते और न उनके ऋद्धियों का प्रादुर्भाव माना जा सकता है।

यदि कोई कहे कि पुनः एक वर्ष तक ध्यान करते रहे और केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ, सो भी प्रश्न उचित नहीं प्रतीत होता।

एक वर्ष का ध्यान तो अन्य महामुनियों के भी माना गया है। जैसे कि उत्तरपुराण में भगवान शांतिनाथ के पूर्वभवों में एक उदाहरण आता है —

“वज्रायुध ने विरक्त हो सहस्रायुध को राज्य दिया पुनः क्षेमंकर तीर्थंकर के पास जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और बाद में उन्होंने “सिद्धिगिरि” पर्वत पर जाकर एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके चरणों का आश्रय पाकर बहुत से वमीठे तैयार हो गये। उनके चारों तरफ लगी हुई लतायें भी मुनिराज के पास जा पहुँचीं। इधर वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध ने भी विरक्त हो अपना राज्य शतबली को दिया और दीक्षा ले ली। जब एक वर्ष का योग समाप्त हुआ तब वे अपने पिता वज्रायुध के पास जा पहुँचे। अनंतर पिता-पुत्र दोनों ने चिरकाल तक तपस्या की, पुनः वैभार पर्वत पर पहुँचकर अन्त में सन्यास विधि से मरण कर अहमिन्द्र हो गये।

१. अथ वज्रायुधाधीशो नप्तृकैवल्यदर्शनात्। लब्धबोधिः सहस्रायुधाय राज्यं प्रदाय तत्॥१३१॥
दीक्षां क्षेमंकराख्यान तीर्थंकरुपान्तर्गतः। प्राप्य सिद्धिगिरौ वर्षं प्रतिमायोगमास्थितः॥१३२॥
तस्य पादौ समालम्ब्य वाल्मीकं वह्मर्तत। वर्द्धयन्ति महात्मानः पादलग्नानपि द्विषः॥१३३॥
व्रतिनं तं व्रतत्योऽपि मार्दवं वा समीप्सवः। गाढं रूढाः समासे दुराकण्टमभितस्तनुम्॥१३४॥
किञ्चित्कारणमुद्दिश्य वज्रायुधसुतोऽपि तत्। राज्यं शतबलि न्युच्चैर्निधाय निहतस्पृहः॥१३५॥
संयमं सम्यगादाय मुनीन्द्रात् पिहिताश्रवात्। योगावसाने स प्रापद्वज्रायुधमुनीश्वरम्॥१३६॥
तावुभौ सुचिरं कृत्वा प्रज्यां सह दुःस्वप्नम्।.....॥१४०॥ (उत्तर पुराण पर्व-६३)

यह प्रकरण भगवान शांतिनाथ के पाँचवें भव पूर्व का है। यह घटना पूर्व विदेह क्षेत्र की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेहादि क्षेत्रों में ऐसे-ऐसे महामुनि एक-एक वर्ष का योग लेकर ध्यान किया करते हैं।

भगवान बाहुबली चतुर्थकाल की आदि में क्या तृतीयकाल के अन्त में जन्मे थे और ध्यान में लीन हुए थे तथा मुक्ति भी तृतीय काल के अंत में प्राप्त की थी अतः उनमें एक वर्ष के ध्यान की योग्यता होना कोई बड़ी बात नहीं है, पुनः शल्य थी इसलिए केवलज्ञान नहीं हुआ, यह कथन संगत नहीं प्रतीत होता है।

रविषेणाचार्य ने भी बाहुबली के शल्य का वर्णन नहीं किया है। यथा — “उन्होंने उसी समय सकल भोगों का त्याग किया और निर्वृत्त.....दिगम्बर मुनि हो गये तथा एक वर्ष तक मेरु पर्वत के समान निष्प्रकंप खड़े रहकर प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके पास अनेक वामियाँ लग गईं जिनके बिलों से निकले हुए बड़े-बड़े सांपों और श्यामा आदि की हरी-हरी लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया, इस दशा में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।”

अतएव भगवान बाहुबली के शल्य नहीं थीं।

कोई कहते हैं कि भरत के साथ ब्राह्मी-सुंदरी बहनों ने भी जाकर उन्हें संबोधा जब उनकी शल्य दूर हुई।

यह कथन भी नितांत असंगत है क्योंकि भगवान वृषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद पुरिमतालनगर के स्वामी भरत के छोटे भाई वृषभसेन ने भगवान से दीक्षा ले ली और प्रथम गणधर हो गये। ब्राह्मी ने भी दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रमुख गणिनी पद प्राप्त किया एवं सुंदरी ने भी दीक्षा ले ली।^१

इसके बाद चक्रवर्ती ने घर आकर चक्ररत्न की पूजा करके दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया जहाँ उन्हें साठ हजार वर्ष लग गये। अनंतर आकर बाहुबली के साथ युद्ध हुआ है।

अतः भगवान बाहुबली का आदर्श जीवन महापुराण के आधार से लेना चाहिए। चूँकि यह ग्रंथराज ऋषि प्रणीत होने से “आर्षग्रंथ” माना जाता है।

भगवान बाहुबली की मूर्तियाँ

दक्षिण कर्नाटक में मूडबिद्री के उत्तर में कारकल में एक बाहुबली की प्रतिमा विराजमान हैं जो कि ४१ फुट प्रमाण हैं। इसका निर्माण लगभग सन् १४३२ में हुआ है।

मूडबिद्री से कुछ दूर वेणूर में ३५ फुट ऊँची बाहुबली की प्रतिमा है। इसका निर्माण सन् १६०४ में हुआ है।

मैसूर के पास ‘गोम्मटगिरि’ नामक एक टीले पर १८ फुट ऊँची बाहुबली प्रतिमा है जो कि कुछ वर्ष पूर्व ही उपलब्धि में आई है।

कर्नाटक के बीजापुर जिले के ‘बादामिपर्वत’ शिखर के उत्तरी ढाल पर चार शैल में उत्कीर्ण गुहा-मंदिर हैं। उनमें से चौथे गुहा मंदिर के मण्डप में तीर्थंकर मूर्तियों के मध्य एक भगवान बाहुबली की मूर्ति है। यह ७ फुट ६ इंच है। इस मूर्ति की केशसज्जा दर्शनीय है।

एक कांस्य मूर्ति भगवान बाहुबली की लगभग डेढ़ फुट ऊँची है। जो आज ‘प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय, मुम्बई’ में (क्र. १०५) रखी हुई है।

१. संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वृत्तभूषणः। वर्ष प्रतिमया तस्थौ मेरुवन्निःप्रकम्पकः॥७५॥

वल्मीकविवरोद्यतैरत्युग्रैः स महोरगैः। श्यामादीनां च वल्लीभिः वेष्टितः प्राप केवलम्॥७६॥ (पद्मपुराण, पर्व ४।)

२. महापुराण, पर्व २४।

कालक्रम से तृतीय बाहुबली मूर्ति ऐहोल के इंद्रसभा नामक बत्तीसवें गुहा मंदिर की अर्द्धनिर्मित वीथि में उत्कीर्ण है। बीजापुर जिले के इस राष्ट्रकुलकालीन केन्द्र का निर्माण आठवीं-नवमी शती में हुआ है। इसी गुहा मंदिर में नौवीं-दशवीं शती में जो विविध चित्रांकन प्रस्तुत किये गये हैं उनमें एक बाहुबली का चित्र भी है। बाहुबली का इस रूप में यह प्रथम और संभवतः अंतिम चित्रांकन है। ऐसे ही अन्य स्थानों पर भी बाहुबली की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

उत्तर भारत में भी जूनागढ़ संग्रहालय में एक मूर्ति बाहुबली की है जो नवमी शताब्दी की है, प्रभास पाटन से प्राप्त हुई है। खजुराहो में पार्श्वनाथ मंदिर की बाहरी दक्षिणी दीवार पर बाहुबली की मूर्ति उत्कीर्ण है जो दशवीं शताब्दी की है।

लखनऊ संग्रहालय में एक मूर्ति १०वीं शताब्दी की है, जिसके चरण-मस्तक खण्डित हैं।

देवगढ़ में प्राप्त १०वीं शताब्दी की मूर्ति है जो वहीं के 'साहू जैन संग्रहालय' में रखी है। देवगढ़ में बाहुबली की ६ मूर्तियाँ प्राप्त हैं। बिलहरी (जिला-जबलपुर) म.प्र. से एक शिलापट्ट प्राप्त हुआ है जिस पर बाहुबली का प्रतिबिम्ब उत्कीर्ण है।

बीसवीं शताब्दी में आरा, फिरोजाबाद, धर्मस्थल-कर्नाटक, गोम्मटगिरि-इंदौर, सागर, हस्तिनापुर आदि स्थानों पर बाहुबली की प्रतिमा विराजमान हैं।

भगवान ऋषभदेव के साथ भी बाहुबली-भरत मूर्तियों की परम्परा रही है। देवगढ़ में, खजुराहो में, ग्वालियर की गुफाओं में ऐसी मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं।

एलोरा की गुफाओं में भगवान पार्श्वनाथ और बाहुबली की मूर्तियाँ कई जगह उत्कीर्ण हैं।

कहीं-कहीं पर बाहुबली की मूर्तियों पर लता के साथ-साथ सांप और बिच्छू भी चढ़ते हुए दिखाए गये हैं। कहीं-कहीं पर दो महिलाएँ लता को थामे हुए दिखाई गई हैं। दक्षिण की बाहुबली मूर्तियों में प्रायः सांप की वामियाँ अवश्य रहती हैं।

यद्यपि भगवान बाहुबली तीर्थंकर नहीं थे फिर भी उनकी मूर्तियों का निर्माण, उनकी पूजा की परम्परा अतीव प्राचीन है। यह उनके अप्रतिम त्याग और तपश्चरण का ही प्रभाव है जो कि आज उनकी मूर्ति की स्थापना से दिगम्बरत्व के गौरव को सर्वतोमुखी कर रहा है।



गृहस्थ धर्म भी मुक्ति में हेतु है

सन्तः सर्वसुरा सुरेन्द्रमहितं मुक्तेः परं कारणम्,
रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति कायेसति।
वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया भक्त्यार्पिताज्जायते,
तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः।।

अर्थ—जो रत्नत्रय समस्त देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रों से पूजित है, मुक्ति का अद्वितीय कारण है तथा तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला है, उसे साधुजन शरीर के स्थिर रहने पर ही धारण करते हैं। उस शरीर की स्थिति उत्कृष्ट भक्ति से दिये गये जिन सद्गृहस्थों के अन्न से रहती है उन गुणवान सद्गृहस्थों का धर्म भला किसे न प्रिय होगा? अर्थात् सभी को प्रिय होगा।

—आचार्य पद्मनन्दिदेव

६. मध्यलोक

तीनलोक के मध्य में एक राजू लम्बा, चौड़ा और एक लाख योजन ऊँचा मध्यलोक है। इस मध्यलोक में पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धार पत्थों के रोमों के प्रमाण द्वीप-समुद्रों की संख्या है अर्थात् सभी द्वीप और समुद्र असंख्यात हैं। ये सब गोलाकार हैं इनमें से पहले द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है और अंतिम समुद्र का नाम स्वयंभूरमण समुद्र है। ये सब द्वीप-समुद्र एक दूसरे को वेष्टित किए हुए हैं, वलयाकार (चूड़ी के समान आकार के) हैं। इनमें से जो पहला द्वीप है वह थाली के समान आकार वाला है।

सभी समुद्र चित्रा पृथ्वी को खंडित कर वज्रा पृथ्वी के ऊपर हैं अर्थात् एक हजार योजन गहरे हैं और सभी द्वीप चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित हैं।

प्रथम द्वीप-समुद्र से प्रारम्भ करके सोलह द्वीप और समुद्रों के नाम बताते हैं।

सोलह द्वीप-समुद्र—

१. जम्बूद्वीप	लवणसमुद्र
२. धातकीखण्ड द्वीप	कालोद समुद्र
३. पुष्करवर द्वीप	पुष्करवर समुद्र
४. वारुणीवर द्वीप	वारुणीवर समुद्र
५. क्षीरवर द्वीप	क्षीरवर समुद्र
६. घृतवर द्वीप	घृतवर समुद्र
७. क्षौद्रवर द्वीप	क्षौद्रवर समुद्र
८. नंदीश्वर द्वीप	नंदीश्वर समुद्र
९. अरुणवर द्वीप	अरुणवर समुद्र
१०. अरुणाभास द्वीप	अरुणाभास समुद्र
११. कुण्डलवर द्वीप	कुण्डलवर समुद्र
१२. शंखवर द्वीप	शंखवर समुद्र
१३. रुचकवर द्वीप	रुचकवर समुद्र
१४. भुजगवर द्वीप	भुजगवर समुद्र
१५. कुशवर द्वीप	कुशवर समुद्र
१६. क्रौंचवर द्वीप	क्रौंचवर समुद्र

इस प्रकार सोलह द्वीप और सोलह समुद्रों के नाम बताये हैं। ये सब एक-दूसरे को चारों तरफ से घेरे हुए हैं।

द्वीप-समुद्रों का प्रमाण—इनमें से जम्बूद्वीप का प्रमाण एक लाख^१ योजन है। इसके आगे इस जम्बूद्वीप को वेष्टित किए हुए लवण समुद्र के व्यास का प्रमाण दो लाख योजन है। ऐसे ही आगे के द्वीप और समुद्र पहले-पहले से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

१. यह बड़ा योजन है। इसमें २०० कोश माने गये हैं।

इन बत्तीस द्वीप-समुद्रों के आगे होने वाले असंख्यात द्वीप-समुद्रों के नाम नहीं लिखे जा सकते हैं अतः अन्त के भी सोलह द्वीप और सोलह समुद्रों के नाम शास्त्र में बताये गए हैं।

अंतिम सोलह द्वीप समुद्रों के नाम—इन्हें अन्तिम समुद्र से प्रारम्भ करने पर देखिए—

१. स्वयंभूरमण समुद्र	स्वयंभूरमण द्वीप
२. अहीन्द्रवर समुद्र	अहीन्द्रवर द्वीप
३. देववर समुद्र	देववर द्वीप
४. यक्षवर समुद्र	यक्षवर द्वीप
५. भूतवर समुद्र	भूतवर द्वीप
६. नागवर समुद्र	नागवर द्वीप
७. वैडूर्य समुद्र	वैडूर्य द्वीप
८. वज्रवर समुद्र	वज्रवर द्वीप
९. कांचन समुद्र	कांचन द्वीप
१०. रूप्यवर समुद्र	रूप्यवर द्वीप
११. हिंगुल समुद्र	हिंगुल द्वीप
१२. अंजनवर समुद्र	अंजनवर द्वीप
१३. श्याम समुद्र	श्याम द्वीप
१४. सिंदूर समुद्र	सिंदूर द्वीप
१५. हरितालसमुद्र	हरिताल द्वीप
१६. मनःशिल समुद्र	मनःशिल द्वीप

ये सोलह समुद्र और सोलह द्वीप हैं। अन्त में स्वयम्भूरमण द्वीप है, पुनः उसे वेष्टित कर सबसे अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है।

इसलिए सर्वप्रथम तो द्वीप है और अंत में समुद्र है ऐसा समझना।

इन द्वीपों में किस-किस का जल कैसा है ? सो ही बताते हैं—

द्वीपों में कहां क्या है—प्रथम जम्बूद्वीप में, द्वितीय धातकीखण्ड में और तृतीय पुष्करवरद्वीप के आधे भाग में मनुष्यों का आवास है अर्थात् इन ढाई द्वीपों में भोगभूमि और कर्मभूमियों में मनुष्यों का जन्म होता रहता है। पुष्करवरद्वीप के बीचोंबीच में चूड़ी के समान आकार वाला गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है। इससे परे मनुष्यों का रहना नहीं है।

इससे आगे आधे पुष्करद्वीप में और समस्त असंख्यात द्वीपों में तथा स्वयंभूरमण द्वीप के आधे भाग में तिर्यचों का निवास है। ये तिर्यच भोगभूमिज हैं। युगल ही उत्पन्न होते हैं, एक पल्य की उत्कृष्ट आयु प्राप्त करते हैं और अन्त में मरकर देवगति को प्राप्त कर लेते हैं।

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करार्ध और स्वयंभूरमण नामक जो चार द्वीप हैं उनको छोड़कर शेष असंख्यात द्वीपों में उत्पन्न हुए जो पंचेन्द्रिय संज्ञी, पर्याप्तक तिर्यच जीव हैं वे पल्यप्रमाण आयु से युक्त, दो हजार धनुष ऊँचे, सुकुमार, कोमल अंगो वाले, मंदकषायी, फलभोजी हैं। ये युगल उत्पन्न होकर चतुर्थ भक्त से भोजन करते हैं। ये सब मरकर नियम से सुरलोक में जाते हैं। उनकी उत्पत्ति सर्वदर्शियों द्वारा अन्यत्र नहीं

कही गई है^१।

इसके अनन्तर आधे स्वयंभूरमण द्वीप में और स्वयंभूरमण समुद्र में जो तीर्थच हैं वे कर्मभूमियां कहलाते हैं अर्थात् स्वयंभूरमण द्वीप में भी बीचोंबीच में चूड़ी के समान आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत के सदृश एक पर्वत है उसका नाम स्वयंप्रभ पर्वत है। इस पर्वत से इधर-इधर भोगभूमिज तीर्थच हैं और उसके परे कर्मभूमिज तीर्थच हैं। भोगभूमिज तीर्थचों में विकलत्रय जीव (दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय) नहीं होते हैं।

अकृत्रिम जिनमंदिर—जम्बूद्वीप से लेकर तेरहवें रुचकवर द्वीप तक ही अकृत्रिम, अनादिनिधन जिनमंदिर हैं, आगे नहीं हैं। इन सब मंदिरों की संख्या ४५८ है।

समुद्रों में कहां-कैसा जल है—लवण समुद्र, वारुणीवर समुद्र, घृतवर समुद्र और क्षीरवर समुद्र इन चारों का जल अपने नामों के अनुसार है अर्थात् लवण समुद्र का जल खारा है, वारुणी समुद्र का जल मद्य के समान है, घृतवर समुद्र का जल घी के समान है और क्षीरवर समुद्र का जल दूध के समान है। इसी क्षीरवर समुद्र के जल से तीर्थकरों का जन्माभिषेक होता है।

कालोदधि समुद्र, पुष्करवर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र इन तीनों के जल का स्वाद सामान्य जल के सदृश ही होता है।

शेष सभी समुद्रों का जल इक्षुरस (गन्ने के रस) के समान मधुर है।

लवण समुद्र, कालोदधि और स्वयंभूरमण समुद्र में ही जलचर जीव हैं, अन्य किसी समुद्र में नहीं हैं। इस प्रकार से मध्यलोक का अतिसंक्षिप्त वर्णन किया है।



दिगम्बराचार्य गुरु सबसे बड़े वैद्य हैं

वेज्जादुरभेसज्जापरिचारय संपदा जहारोगं।

गुरुसिस्सरयण साहण संपत्तीए तहा मोक्खो॥

आइरिओ वि य वेज्जो सिस्सो रोगी दु भेसजं चरिया।

खेत बल काल पुरिसं पाऊण सणिं दढं कुज्जा॥

अर्थ—जैसे वैद्य, रोगी, औषधि और परिचारक के संयोग से आरोग्य होता है वैसे ही गुरु, शिष्य, रत्नत्रय और साधन के संयोग से मोक्ष होता है।

आचार्य वैद्य हैं, शिष्य रोगी हैं, औषधि चर्या है। इन्हें तथा क्षेत्र, बल, काल और पुरुष को जानकर धीरे-धीरे इनमें दृढ़ करें।

आचार्य देव वैद्य हैं, शिष्य रोगी हैं, औषधि निर्दोष भिक्षा चर्या है, शीत, उष्ण आदि सहित प्रदेश क्षेत्र हैं, शरीर की सामर्थ्य आदि बल है, वर्षा आदि काल हैं एवं जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद रूप पुरुष होते हैं। इन सभी को जानकर आकुलता के बिना आचार्य शिष्य को चर्यारूपी औषधि का प्रयोग कराये ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वैद्य रोगी को आरोग्य हेतु औषधि प्रयोग कराकर स्वस्थ कर देता है।

—मूलाचार-श्री वट्टकेराचार्य

७. जम्बूद्वीप

प्रश्न—जम्बूद्वीप कहाँ है ?

इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उन सबके बीचोंबीच में यह जंबूद्वीप नाम का द्वीप है।

प्रश्न—यह कैसा है ?

उत्तर—यह थाली के समान गोल है। एक लाख योजन विस्तृत है। इसकी जगती (परकोटा) ८ योजन ऊँची है। नीचे बारह योजन चौड़ी है, घटते-घटते ऊपर में ४ योजन चौड़ी रह गई है।

इस जगती के उपरिम भाग पर ठीक बीच में दिव्य सुवर्णमय वेदिका है। यह दो कोश ऊँची और पांच सौ धनुष चौड़ी है। वेदी के दोनों पार्श्व भागों में उत्तम वापियों से संयुक्त वन खण्ड है। वेदी के अभ्यंतर भाग में महोरग जाति के व्यंतर देवों के नगर हैं। इन व्यंतर नगरों के भवनों में अकृत्रिम जिनमन्दिर शोभित हैं।

प्रश्न—इस परकोटे में कितनी गुफायें हैं ?

उत्तर—इसमें चौदह महागुफायें हैं, जिनसे गंगा-सिंधु आदि चौदह नदियां निकलकर लवण समुद्र में प्रवेश करती हैं।

प्रश्न—इस जगती में कितने द्वार हैं ?

उत्तर—इसमें पूर्व आदि दिशाओं में क्रम से विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित ऐसे चार गोपुर द्वार हैं। ये आठ महायोजन ऊँचे हैं और चार महायोजन विस्तृत हैं। सब गोपुर द्वारों में सिंहासन, तीन छत्र, भामंडल और चामर आदि से युक्त जिनप्रतिमायें स्थित हैं। ये द्वार अपने-अपने नाम के व्यंतर देवों से रक्षित हैं।

प्रश्न—इस जंबूद्वीप में कितने पर्वत हैं ?

उत्तर—इसमें तीन सौ ग्यारह पर्वत हैं। जिनमें १ मेरु, ६ कुलाचल, ४ गजदंत, १६ वक्षार, ३४ विजयार्ध, ३४ वृषभाचल, ४ नाभिगिरि, ४ यमकगिरि, ८ दिग्गजेन्द्र और २०० कांचनगिरि हैं।

प्रश्न—ये सब कहाँ-कहाँ हैं ?

उत्तर—जंबूद्वीप के बीचोंबीच में सुमेरु पर्वत है। इसमें दक्षिण भाग से लेकर पूर्व-पश्चिम लंबे ऐसे हिमवान् आदि ६ कुलाचल हैं। मेरु की विदिशा में ४ गजदंत हैं, विदेहक्षेत्र में १६ वक्षार हैं। ३२ विदेह के मध्य और भरत-ऐरावत क्षेत्र के मध्य ऐसे ३४ विजयार्ध हैं। प्रत्येक छह खण्ड के मध्यम म्लेच्छ खण्ड में ३४ वृषभाचल हैं। हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत इनमें बीचोंबीच में १-१ नाभिगिरि, ऐसे ४ नाभिगिरि हैं। सीता-सीतोदा के प्रारम्भिक मोड़ पर दोनों पार्श्व भाग में ऐसे ४ यमकगिरि हैं। इन दोनों नदियों के आगे विदेहक्षेत्र में मेरु की प्रदक्षिणा के दोनों मोड़ पर आजू-बाजू दोनों तरफ दो-दो पर्वत होने से ४-४ ऐसे ८ दिग्गजेन्द्र हैं। सीता-सीतोदा नदी के १०-१० सरोवरों के दोनों तटों पर ५-५ होने से ऐसे २०० कांचनगिरि हैं।

प्रश्न—इस द्वीप में कितनी नदियां हैं ?

उत्तर—सत्रह लाख बानवे हजार नब्बे नदियां हैं।

प्रश्न—कर्मभूमि कितनी हैं ?

उत्तर—१ भरत की, १ ऐरावत की और ३२ विदेह की, ऐसी ३४ कर्मभूमि हैं।

प्रश्न—भोगभूमि कितनी हैं ?

उत्तर—६ भोगभूमि हैं।

प्रश्न—कितने मुख्य वृक्ष हैं ?

उत्तर—जंबू और शाल्मली ऐसे २ महावृक्ष हैं।

प्रश्न—आर्यखण्ड कितने हैं ?

उत्तर—३४ आर्यखण्ड हैं।

प्रश्न—म्लेच्छ खण्ड कितने हैं।

उत्तर—१७० म्लेच्छ खण्ड हैं।

प्रश्न—कूट कितने हैं ?

उत्तर—५६८ कूट हैं।

प्रश्न—जिनमन्दिर कितने हैं ?

उत्तर—७८ हैं।

प्रश्न—ये कहाँ-कहाँ हैं ?

उत्तर—सुमेरु के १६, गजदंत के ४, जंबू शाल्मली वृक्ष के २, वक्षार के १६, विजयार्ध के ३४ और कुलाचल के ६ ऐसे ७८ होते हैं।

इन जिनचैत्यालयों को मेरा बारम्बार नमस्कार होवे।

प्रश्न—इस जंबूद्वीप के बाहर क्या है ?

उत्तर—इसको चारों तरफ से वेष्टित करके लवणसमुद्र है जो कि २ लाख योजन है। इसके आगे धातकीखण्ड, इसके आगे कालोदधि, इसके बाहर पुष्करार्ध द्वीप आदि ऐसे-ऐसे असंख्यातों द्वीप-समुद्र हैं जो कि पूर्व-पूर्व को वेष्टित किए हुए हैं।

सुमेरुपर्वत

प्रश्न—सुमेरु पर्वत कहाँ है ?

उत्तर—जंबूद्वीप में सात क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इनमें विदेहक्षेत्र बीच में आ जाता है। इस विदेह के ठीक बीच में सुमेरुपर्वत स्थित है।

प्रश्न—जंबूद्वीप कहाँ है ?

उत्तर—इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं जो कि एक दूसरे को वेष्टित किए हुए हैं। इनमें सर्वप्रथम द्वीप का नाम जंबूद्वीप है। इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में ही हम लोग रहते हैं।

प्रश्न—क्या यह सुमेरुपर्वत पृथ्वीतल पर ही है ?

उत्तर—हां, यह पर्वत पृथ्वीतल पर ही है।

प्रश्न—इसकी ऊँचाई और चौड़ाई का प्रमाण क्या है ?

उत्तर—यह पर्वत एक लाख चालीस योजन^१ ऊँचा है। इसकी नींव पृथ्वी के अन्दर १ हजार योजन की है अतः ऊपर में यह ९९००० योजन ऊँचा है इसकी चूलिका ४० योजन प्रमाण है। नींव के तल में इसका विस्तार १००९०^{१०/११} योजन है। पृथ्वी के ऊपर इसका विस्तार १०००० योजन है। आगे घटते-घटते चूलिका

१. यह महायोजन है अतः इसमें १ योजन में २००० कोश माने गये हैं।

के अग्रभाग में इसका विस्तार ४ योजन मात्र रह गया है।

पृथ्वी पर जहां पर इसका विस्तार १०००० योजन है वहीं पर इस पर्वत के चारों ओर में भद्रशाल वन स्थित है। इस भद्रशाल वन में ५०० योजन ऊपर जाकर नंदनवन आता है। यह नंदनवन मेरु के चारों ओर ५०० योजन प्रमाण है अर्थात् मेरु में अंदर भाग में ५०० योजन की कटनी है इसी का नाम नंदनवन है। नंदनवन में ६२५०० योजन ऊपर जाकर सौमनस वन है यह वन भी ५०० योजन विस्तार वाला है। इससे ऊपर ३६००० योजन जाकर पांडुकवन है। यह पांडुकवन नाम की कटनी ४९४ योजन विस्तृत है। इसके ठीक मध्य में ४० योजन ऊँची चूलिका है, जिसका विस्तार पांडुकवन में १२ योजन, मध्य में ८ योजन और अग्रभाग में ४ योजन मात्र है।

इस पर्वत में हानि का क्रम—यह सुमेरु पर्वत पृथ्वीतल पर १०००० योजन विस्तृत है। इसके विस्तार में ११ प्रदेश के ऊपर १ प्रदेश घट गया है। ऐसे ही पांडुकवन तक घटता गया है अर्थात् जैसे ११ प्रदेश ऊपर जाने पर १ प्रदेश घटता है, वैसे ही ११ अंगुल जाने पर १ अंगुल घटा है, ११ हाथ जाने पर १ हाथ घटा है और ११ योजन ऊपर जाने पर १ योजन घट जाता है। इतनी इसमें विशेषता है कि जब नंदनवन की कटनी अन्दर की ओर ५०० योजन प्रमाण की हो गई है तब नंदनवन से ऊपर ११००० योजन तक यह पर्वत समवृत्त रहा है अर्थात् इतने योजन तक ११ प्रदेश पर १ प्रदेश घटने का क्रम नहीं रहा है। ऐसे ही सौमनस वन भी ५०० योजन का होने से उसके ऊपर भी ११००० योजन तक समान रहा है इसके बाद घटने का क्रम बना है।

प्रश्न—इस सुमेरु पर्वत का वर्ण कैसा है ?

उत्तर—यह पर्वत मूल में—नीच में १ हजार योजन प्रमाण वज्रमय है। पृथ्वीतल से लेकर ६१ हजार योजन पर्यन्त उत्तम रत्नमय है अर्थात् नाना रत्नों से निर्मित नाना वर्णमय है। आगे ३८००० योजन तक सुवर्णमय है और इसकी चूलिका नीलमणि से बनी हुई है।

प्रश्न—इस पर्वत में जिनमन्दिर कहां-कहां हैं ?

उत्तर—भद्रशाल वन में चारों ही दिशाओं में चार जिनमन्दिर हैं। नंदनवन में चारों ही दिशाओं में एवं पांडुकवन की चारों ही दिशाओं में चार जिनमन्दिर होने से कुल १६ जिनमन्दिर हो जाते हैं।

भद्रशाल के जिनमन्दिर का विस्तार २०० कोश, लम्बाई ४०० कोश और ऊँचाई ३०० कोश प्रमाण है। यही प्रमाण नंदनवन के चारों चैत्यालयों का है। सौमनवन के मन्दिरों का प्रमाण इनसे आधा है अर्थात् विस्तार १०० कोश, लम्बाई २०० कोश और ऊँचाई १५० कोश है। पांडुकवन के जिनमन्दिर इससे भी अर्धप्रमाण वाले हैं अर्थात् विस्तार ५० कोश, लम्बाई १०० कोश और ऊँचाई ७५ कोश प्रमाण है।

पांडुकवन के जिनमन्दिर के प्रमुख द्वार की ऊँचाई १६ कोश, विस्तार ८ कोश है। मन्दिर के दक्षिण-उत्तर के द्वारों का प्रमाण इससे आधा होता है। ये तीनों ही द्वार दिव्य तोरण स्तम्भों से संयुक्त हैं। ये जिनमन्दिर कुन्दपुष्प सदृश धवल मणियों से निर्मित हैं। इनके दरवाजे कर्केतन आदि मणियों से निर्मित वज्रमयी हैं।

जिनमंदिर के मध्य में स्फटिक मणिमय १०८ उन्नत सिंहासन हैं। उन सिंहासनों पर ५०० धनुष^१ प्रमाण ऊँची १०८ जिनप्रतिमायें विराजमान हैं जो कि अनादि अनिधन हैं, अकृत्रिम हैं, इन जिनप्रतिमाओं में से प्रत्येक जिनप्रतिमा के आजू-बाजू में श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वाण्हयक्ष व सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियां रहती हैं। प्रत्येक जिनप्रतिमा के निकट भृंगार, कलश, दर्पण, चंवर, ध्वजा, बीजना, छत्र और सुप्रतिष्ठ ये ८ मंगलद्रव्य प्रत्येक १०८-१०८ होते हैं। इन जिनमंदिरों में सुवर्ण, मोती आदि की मालाएं लटकती रहती हैं।

१. एक धनुष में ४ हाथ होता है।

धूपघट, मंगलघट आदि के प्रमाण अलग-अलग बताये हुए हैं। इन अकृत्रिम जिनमंदिरों का विस्तृत वर्णन त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थों से समझना चाहिए।

प्रश्न—भद्रशाल, नन्दन आदि को वन संज्ञा क्यों है ?

उत्तर—इन वनों में कर्पूर, तमाल, ताल, कदली, लवंग, दाडिम, पनस, सप्तच्छद, मल्ली, चंपक, नारंगी, मातुलिंग, पुनाग, नाग, कुब्जक, अशोक आदि वृक्ष सुशोभित हो रहे हैं। इन वनों में अनेक पुष्करिणी, वापिका आदि हैं। देवों के क्रीड़ागृह बने हुए हैं और अनेक कूट, देव भवन आदि से रमणीय हैं। वहां पर देवगण, विद्याधर आदि सतत क्रीड़ा किया करते हैं। चारणऋद्धिधारी मुनिगण भी वहां विचरण करते रहते हैं।

प्रश्न—तीर्थकर शिशु का जन्माभिषेक इस पर्वत पर कहां होता है ?

उत्तर—इस पर्वत के पांडुकवन में चारों दिशाओं में तो चार जिनमंदिर हैं और चारों विदिशाओं में चार शिलायें हैं जिनके नाम पांडुकशिला, पांडुकंबला, रक्ता शिला और रक्तकंबला हैं। ईशान दिशा में पांडुकशिला है, आग्नेय दिशा में पांडुकम्बला शिला है, नैऋत्य दिशा में रक्ता शिला है और वायव्य दिशा में रक्तकम्बला है।

पांडुकशिला १०० योजन लम्बी, ५० योजन विस्तृत अर्धचन्द्राकार है। यह ८ योजन ऊंची है ऊपर समवृत्ताकार है और वनवेदी आदि से संयुक्त है। इस शिला के मध्य भाग में उन्नत सिंहासन है। इसके दोनों तरफ एक-एक भद्रासन है। ये सिंहासन ५०० धनुष ऊंचे हैं। धवल छत्र, चामर, घन्टादि मंगलद्रव्यों से संयुक्त हैं और पूर्वाभिमुख हैं। सभी शिलायें इसी प्रकार हैं। मध्यलोक में भरतक्षेत्र में जब तीर्थकर का जन्म होता है तब सौधर्म इन्द्र आदि स्वर्ग से आकर तीर्थकर कुमार को बहुत ही वैभव के साथ ले जाकर मेरु की प्रदक्षिणा देते हुए पांडुक शिला के ऊपर स्थित मध्य के सिंहासन पर शिशु—भगवान को विराजमान करते हैं। सौधर्म इन्द्र दायीं ओर के भद्रासन पर और ईशानेंद्र बायीं ओर के भद्रासन पर स्थित होकर भगवान के जन्माभिषेक की क्रिया सम्पन्न करते हैं।

पांडुकशिला पर भरतक्षेत्र के तीर्थकरों का जन्माभिषेक होता है। पांडुकम्बला शिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थकरों का अभिषेक होता है। रक्ता शिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकरों का एवं रक्तकम्बला शिला पर पूर्व विदेहक्षेत्र के तीर्थकरों का अभिषेक होता है।

आज तक इस जंबूद्वीप के भरत-ऐरावत और पूर्वविदेह-पश्चिम विदेह में अनंतों तीर्थकर हो चुके हैं। उन सभी के जन्माभिषेक का पुण्य अवसर इस सुमेरुपर्वत को ही प्राप्त हुआ है अतएव यह सुमेरुपर्वत महातीर्थ हो चुका है, महान् पवित्रता को प्राप्त है और अपने दर्शन, वंदन करने वालों को भी पवित्र करने वाला है।

यह पर्वत तीनों लोकों और तीनों कालों में सबसे ऊंचा है, इसके समान अन्य कोई पर्वत न हुआ है और न होगा ही। सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषीदेव भी सदा इस पर्वत की प्रदक्षिणा किया करते हैं।

प्रश्न—इस पर्वत का दर्शन आज के युग में हम लोगों को हो सकता है क्या ?

उत्तर—आज के युग में हम लोगों के वहां तक पहुंचने की शक्ति नहीं है। यह पर्वत हमारे यहां से लगभग २० करोड़ मील की दूरी पर है। आज हम और आप इस पर्वत के चैत्यालयों की, उनमें विराजमान जिनप्रतिमाओं की परोक्ष में ही वंदना कर सकते हैं और इन पांडुक आदि शिलाओं की भी परोक्ष में ही वंदना करके महान् पुण्य संचय कर सकते हैं, इसमें किञ्चित् भी संदेह नहीं है।

जम्बूवृक्ष कहां है ?

प्रश्न—जम्बूवृक्ष कहां है ?

उत्तर—यह जम्बूवृक्ष उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि में स्थित है।

प्रश्न—यह उत्तरकुरु भोगभूमि कहां है ?

उत्तर—इस जम्बूवृक्ष में सात क्षेत्र में मध्य के क्षेत्र का नाम विदेह है। यह ३३,६८४ योजन प्रमाण विस्तृत है। इसके बीचोंबीच में सुमेरु पर्वत है। इस सुमेरु पर्वत की विदिशाओं में हाथी दांत के सदृश, अनादिनिधन, महारमणीय गजदन्त नाम से प्रसिद्ध चार पर्वत हैं। तिरछे रूप से लंबे ये चारों पर्वत निषध, नील और मेरु से संलग्न हैं। मेरुपर्वत के ईशान कोण में माल्यवान् पर्वत है, आग्नेय में सौमनस्य, नैऋत्य में विद्युत्प्रभ और वायव्य में गन्धमादन पर्वत है। आग्नेय और नैऋत्य विदिशा के गजदन्त मेरु के पास ५०० योजन ऊंचे हैं, आगे आकर निषध पर्वत के पास ४०० योजन ऊंचे रह गये हैं। ऐसे ही ईशान और वायव्य के गजदन्त पर्वत मेरु के पास ५०० योजन एवं नील पर्वत के पास ५०० योजन ऊंचे हैं। ये चारों पर्वत सर्वत्र ५०० योजन चौड़े हैं। इनकी लम्बाई ३०२०९ $\frac{६}{१९}$ योजन प्रमाण है। माल्यवान् पर्वत पर नवकूट हैं, सौमनस्य पर सात हैं, विद्युत्प्रभ पर नव हैं एवं गन्धमादन पर सात कूट हैं। इन चारों पर्वत पर मेरु के निकट वाले कूट का नाम सिद्धकूट है, उनमें जिनमंदिर हैं, शेष कूटों में देव-देवियों के भवन बने हुए हैं। दोनों गजदन्त से निषध-नील पर्वत के पास का अन्तराल ५३००० योजन है।

मेरु की तलहटी में भद्रसाल वन है। उसके आगे वेदी है। इस भद्रसाल वेदी से निषध पर्वत तक क्षेत्र का विस्तार ११५९२ $\frac{२}{१०}$ योजन है। इसी क्षेत्र का नाम देवकुरु है। ऐसे ही उधर के मेरु पर्वत के उत्तर में नील पर्वत के दक्षिण में और गजदन्तों के पूर्व, पश्चिम में बीच के क्षेत्र का नाम 'उत्तरकुरु' है। इन देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्रों में उत्तम भोगभूमि की रचना है जो कि शाश्वत है। इस उत्तरकुरु में ईशान दिशा में 'जम्बूवृक्ष' है और 'देवकुरु' में नैऋत्यकोण में 'शाल्मलीवृक्ष' है।

प्रश्न—यह जम्बूवृक्ष कैसा है ?

उत्तर—मेरु की ईशान दिशा में ५०० योजन विस्तार वाला एक स्वर्णमय चबूतरा है। इसके मध्य में तीन कटनियां बनी हुई हैं। पहली कटनी १२ योजन, दूसरी ८ योजन, तीसरी ४ योजन की है, इनकी ऊंचाई ८ योजन है। इस स्थल के बहुमध्य भाग में 'जम्बूवृक्ष' है। यह ८ योजन ऊंचा है। इसकी वज्रमय जड़ दो कोस गहरी है। इस वृक्ष का दो कोश मोटा, दो योजन मात्र ऊंचा स्कन्ध है। इस वृक्ष की चारों दिशाओं में चार महाशाखायें हैं। इनमें से प्रत्येक शाखा ६ योजन लम्बी है और इतने मात्र अन्तर से सहित है। इनके सिवाय क्षुद्र शाखायें अनेकों हैं। यह वृक्ष पृथ्वीकायिक है, जामुन के समान इसमें फल लटकते हैं। इसके पत्ते मरकतमणि के बने हुए हैं जो कि हवा के झकोरे से हिलते रहते हैं इसीलिए इसका 'जम्बूवृक्ष' नाम सार्थक है क्योंकि 'जामुन' को संस्कृत में 'जम्बू' कहते हैं।

प्रश्न—इस वृक्ष पर जिनमंदिर कहां है ?

उत्तर—जम्बूवृक्ष की उत्तरी शाखा पर अकृत्रिम जिनमंदिर बना हुआ है। यह मन्दिर १ कोश लम्बा, अर्धकोश चौड़ा और पौन कोश ऊंचा है। इसमें १०८ जिनप्रतिमायें विराजमान हैं। शेष तीन दिशाओं की तीन शाखाओं पर आदर-अनादर नामक व्यंतर देवों के भवन बने हुए हैं।

प्रश्न—जम्बूवृक्ष के परिवार वृक्ष कहां है ?

उत्तर—इस जम्बूवृक्ष के चारों तरफ गोपुर द्वारों से युक्त उत्तम रत्नों से सुशोभित बारह दिव्य वेदियाँ हैं। ये वेदियाँ दो कोश ऊँची और पांच सौ धनुष चौड़ी हैं। इन्हें पद्म वेदिका भी कहते हैं। इन वेदियों के मध्य उपवन खण्ड, वापी, पुष्करिणी, पुष्पलतायें आदि मनोरम स्थल हैं। इन वेदिकाओं के अन्तराल में ही १४०११९ प्रमाण परिवार वृक्ष हैं। ये सभी परिवार वृक्ष अपने मूलवृक्ष से आधे प्रमाण वाले हैं, ये सभी भी अनादिनिधन, महारमणीय, पृथ्वीकायिक रत्नों से निर्मित हैं। इन सबकी उत्तरी शाखा पर भी एक-एक जिनमंदिर है और अन्य शाखाओं के भवनों पर परिवार देव रहते हैं। इस जम्बूवृक्ष के निमित्त से ही इस द्वीप का 'जम्बूद्वीप' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध है।

प्रश्न—यह जम्बूवृक्ष 'उत्तरकुरु' में है। ऐसे ही देवकुरु में शाल्मली वृक्ष है, उसका वर्णन कैसा है ?

उत्तर—उस शाल्मलीवृक्ष का सारा वर्णन जम्बूवृक्ष के सदृश ही है। उस वृक्ष की दक्षिणी शाखा पर जिनमंदिर है। उस वृक्ष के भी इतने ही परिवार वृक्ष हैं, जिन सभी पर जिनमंदिर हैं। उसके मूलवृक्ष की तीन शाखाओं पर वेणु और वेणुधारी नाम के व्यंतर देवों के भवन बने हुए हैं, ये सभी देव सम्यग्दृष्टियों पर प्रेम करने वाले हैं, ऐसा आगम में कहा है।

विदेहक्षेत्र कहां है ?

प्रश्न—विदेहक्षेत्र कहां है ?

उत्तर—थाली के समान गोल और १ लाख योजन विस्तृत इस जम्बूद्वीप में दक्षिण से लेकर उत्तर तक क्रमशः सात क्षेत्र माने गये हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। यह मध्य का विदेहक्षेत्र ३३६८४ योजन प्रमाण विस्तृत है। इसके ठीक बीच में सुदर्शन मेरु पर्वत स्थित है। इस निमित्त विदेहक्षेत्र के पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह ऐसे दो भेद हो जाते हैं। सुदर्शन मेरु की चौड़ाई भूमि पर १०००० योजन है। वहां भूमि पर चारों ही दिशा में भद्रसाल वन है, इस भद्रसाल वन की वेदिका से दक्षिण-उत्तर में तो देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि हैं और पूर्व-पश्चिम में विदेहक्षेत्र हैं। विदेहक्षेत्र के दक्षिण-उत्तर में क्रम से निषध और नील पर्वत स्थित हैं। नीलपर्वत के केसरी नामक सरोवर के दक्षिणद्वार से सीता नामक उत्तम नदी निकलती है। यह पर्वत से नीचे सीता कुण्ड में गिरकर दक्षिण मुख होती हुई दो कोश प्रमाण से मेरु पर्वत को छोड़कर पूर्व की ओर मुड़ जाती है और माल्यवंत गजदन्त पर्वत की दक्षिण मुख वाली गुफा में प्रवेश करके गुफा के बाहर निकलकर कुटिल रूप से मेरु पर्वत के मध्यभाग तक जाकर उसे अपना मध्य प्रदेश करके यह सीता नदी पूर्व विदेह के ठीक बीच में बहती हुई जम्बूद्वीप के अन्त में पूर्व लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। ऐसे ही निषध पर्वत के तिगिञ्च सरोवर के उत्तर द्वार से सीतोदा महानदी निकलती है। यह उत्तर मुख होकर निषध पर्वत से नीचे सीतोदाकुण्ड में गिरकर उसके उत्तर तोरणद्वार से निकलकर मेरु पर्वत से दो कोस इधर ही रहकर पश्चिम में मुड़ जाती है, पुनः कुटिल रूप से बहती हुई विद्युत्प्रभ गजदन्त पर्वत की गुफा द्वार में प्रवेश कर आगे निकलकर मेरु के मध्यभाग को अपना मध्य प्रणिधि बनाकर वह सीतोदा नदी पश्चिम विदेह के मध्य में बहती हुई जम्बूद्वीप के अन्त में पश्चिम लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। इस प्रकार से इन सीता-सीतोदा नदी के निमित्त से उन-उन पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह में भी दक्षिण-उत्तर ऐसे दो-दो भेद हो जाते हैं।

प्रश्न—इस जम्बूद्वीप में कुल विदेह कितने हैं ?

उत्तर—यहां पर कुल विदेह ३२ हैं।

प्रश्न—सो कैसे ?

उत्तर—सुनिये, मेरु पर्वत से पूर्व दिशा में २२००० योजन विस्तृत भद्रसाल वन है। इसकी समाप्ति पर एक तटवेदी है जो बाउन्डीवाल के समान है।

इस वेदिका से आगे २२१२^{७/८} योजन पूर्वापर विस्तृत विदेह देश है। इसके आगे ५०० योजन विस्तृत वक्षार पर्वत है पुनः पूर्ववत् विस्तृत विदेह है पुनः विभंगा नदी है। इसके आगे क्षेत्र है पुनः वक्षार पर्वत है। ऐसे ही क्रम से एक भद्रसाल वेदी, चार वक्षार पर्वत, तीन विभंगा नदियां और पुनः एक वेदी है जिसके बाद देवारण्य-भूतारण्य वन हैं। इस प्रकार से २ वेदी, ४ वक्षार और ३ विभंगा नदियां, इन नव के अंतराल में आठ क्षेत्र हो गये हैं। यह व्यवस्था पूर्व विदेह के सीता नदी के उत्तर ओर की है ऐसे ही सीता नदी के दक्षिण भाग में भी दो तटवेदी, चार वक्षार और तीन विभंगा नदियों से आठ विदेह हो गये हैं। यही व्यवस्था पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के दक्षिण-उत्तर भाग में कही गई है। इसलिए (८+८+८+८=३२) कुल मिलाकर बत्तीस विदेह देश हो जाते हैं।

प्रश्न—इन विदेह क्षेत्रों के नाम क्या हैं ?

उत्तर—सीता नदी के उत्तर भाग के ८ विदेहों के नाम क्रम से कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला और पुष्कलावती है। सीता नदी के दक्षिण भाग के विदेह के नाम—वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, सुरम्यका, रमणीया, मंगलावती हैं। ऐसे पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के दक्षिण भाग में पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंखा, नलिना, कुमुदा और सरिता ये आठ देश हैं। ऐसे ही सीतोदा नदी के उत्तर भाग में वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गंधा, सुगंधा, गंधिला और गंधमालिनी ये आठ क्षेत्र हैं, इस प्रकार से कुल ३२ विदेहक्षेत्र हैं।

प्रश्न—इन विदेह क्षेत्रों में क्या व्यवस्था है ?

उत्तर—इन विदेहों में प्रत्येक में छह खण्ड की व्यवस्था है। प्रत्येक कक्षा आदि क्षेत्र में क्षेत्र विस्तार के सदृश लम्बे विजयार्थ पर्वत हैं अर्थात् २२१२^{२/१९} योजन लम्बे और ५० योजन विस्तृत ३२ विजयार्थ हैं। इन प्रत्येक विजयार्थ के उत्तर-दक्षिण दोनों श्रेणियों में ५५-५५ विद्याधर नगरियां हैं जहां नित्य ही विद्याधर निवास करते हैं।

प्रत्येक क्षेत्र में निषध पर्वत के उत्तर की ओर दो कुण्ड स्थित हैं। इनसे गंगा-सिंधु नामक दो नदियां निकलती हैं जो कि वत्सा आदि क्षेत्र में जाती हुई विजयार्थ के गुफा द्वार से निकलकर वत्सा आदि क्षेत्र में बहती हुई सीता नदी में प्रविष्ट हो जाती हैं। ऐसे नील पर्वत में दक्षिण की ओर दो-दो कुण्ड हैं जिनसे रक्ता-रक्तोदा नदियां निकलकर सीता नदी में मिल जाती हैं। ऐसे ही पश्चिम विदेह में भी दो-दो नदियां सीतोदा नदी में प्रविष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक विदेह में छह-छह खण्ड हो जाते हैं, जिनमें से एक आर्यखण्ड है और पांच म्लेच्छ खण्ड हैं।

प्रश्न—वहां के आर्यखण्ड की व्यवस्था कैसी है ?

उत्तर—प्रत्येक आर्यखण्ड के मध्य में १-१ राजधानी है। उनके क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्ठा, अरिष्टपुरी आदि नाम हैं। ये प्रत्येक नगरियां दक्षिण-उत्तर में बारह योजन लम्बी पूर्व-पश्चिम में नव योजन विस्तृत हैं, सुवर्णमय परकोटे से वेष्टित हैं, ये नगरियां एक हजार गोपुर द्वारों से, पांच सौ अल्प द्वारों से तथा रत्नों के

विचित्र कपाटों वाले सात सौ क्षुद्र द्वारों से युक्त हैं। इनमें एक हजार चतुष्पथ और बारह हजार रथ मार्ग हैं, ये अविनश्वर नगरियां अन्य किसी के द्वारा निर्मित नहीं हैं—अकृत्रिम हैं।

प्रश्न—वहां पर आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता है क्या ?

उत्तर—नहीं, विदेहों में शाश्वत कर्मभूमि है। वहां पर सदा ही चतुर्थकाल की आदि जैसा परिणमन चलता रहता है।

प्रश्न—वहां पर तीर्थंकर आदि महापुरुष कब-कब जन्मते हैं ?

उत्तर—वहां पर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव आदि महापुरुष हमेशा उत्पन्न होते रहते हैं। सीमंधर आदि विहरमाण तीर्थंकर वहां सतत विहार किया करते हैं। ये तीर्थंकर पांच कल्याणक से सहित होते हैं। वहां विदेह क्षेत्रों में कोई-कोई मनुष्य वहीं पर जन्म लेकर गृहस्थावस्था में तीर्थंकर के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति बांधकर दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ऐसे तीन कल्याणक को प्राप्त कर लेते हैं और कोई-कोई यदि मुनि होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं तो उनके ज्ञान और निर्वाण ऐसे दो ही कल्याणक होते हैं। वहां पर प्रत्येक मनुष्य की उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण है और शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ धनुष प्रमाण है।

प्रश्न—वहां पर वर्ण व्यवस्था आदि कैसी है ?

उत्तर—विदेहों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन ही वर्ण होते हैं, ब्राह्मण वर्ण नहीं होता है। वहां पर परचक्र का प्रकोप, अन्याय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ईति, भीति, भूकम्प आदि आतंक नहीं होते हैं। आज भी वहां से मनुष्य कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार से यह विदेहक्षेत्र इसी जम्बूद्वीप में है, पृथ्वीतल पर है और यहां से लगभग ३४ हजार योजन की दूरी पर है ऐसा समझना।

भोगभूमि कहां है ?

प्रश्न—भोगभूमि कहां है ?

उत्तर—इस जम्बूद्वीप में दक्षिण उत्तर चौड़े और पूर्व-पश्चिम लम्बे हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ऐसे छः कुलाचल पर्वत हैं। भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ऐसे सात क्षेत्र हैं। इनमें से प्रथम भरतक्षेत्र और अंतिम ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में कर्मभूमि है। द्वितीय हैमवत क्षेत्र और छठे हैरण्यवत क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि है। तृतीय क्षेत्र हरि और पंचम क्षेत्र रम्यक में मध्यम भोगभूमि है। विदेह के मध्य में सुमेरु पर्वत है। इस सुमेरु की चारों विदिशाओं में एक-एक गजदंत पर्वत है जो कि एक तरफ से सुमेरु का स्पर्श करते हैं और दूसरी तरफ से निषध पर्वत या नील पर्वत से लगे हुए हैं। इस तरह से जो सुमेरु के दक्षिण में क्षेत्र हैं उसका नाम 'देवकुरु' है और सुमेरु से उत्तर में 'उत्तरकुरु' है। इन देवकुरु और उत्तरकुरु में उत्तम भोगभूमि है। इस प्रकार इस जम्बूद्वीप में २ जघन्य, २ मध्यम और २ उत्तम ऐसी छः भोगभूमि हैं।

प्रश्न—इन भोगभूमियों में क्या-क्या चीजें हैं ?

उत्तर—इन भोगभूमियों में दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जिनसे वहां के स्त्री-पुरुष अपने जीवन में सुख के लिए उपयोगी सामग्री प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न—ये दश प्रकार के कल्पवृक्ष कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—ये पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और ज्योतिरंग नाम को धारण करने वाले कल्पवृक्ष अपने नाम के अनुरूप ही सामग्री प्रदान करते हैं। पानांग जाति के कल्पवृक्ष भोगभूमिया मनुष्यों को मधुर सुस्वादु बत्तीस प्रकार के पेय द्रव्य देते हैं। तूर्यांग कल्पवृक्ष उत्तम वीणा आदि वादित्रों को देते हैं। भूषणांग कल्पवृक्ष कंकण आदि भूषणों को, वस्त्रांग कल्पवृक्ष चीनपट्ट आदि वस्त्रों को, भोजनांग कल्पवृक्ष नाना प्रकार के आहार, व्यंजन, खाद्य, स्वाद्य आदि भोज्य पदार्थों को, आलयांग कल्पवृक्ष स्वस्तिक, नंदावर्त आदि सोलह प्रकार के दिव्य भवनों को, दीपांग कल्पवृक्ष शाखा, प्रवाल, फल, फूल और अंकुरादि के द्वारा जलते हुए दीपकों को, भोजनांग कल्पवृक्ष सुवर्ण निर्मित झारी, कलश आदि भाजनों को, मालांग कल्पवृक्ष बेल, तरु और लताओं से उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पों की मालाओं को और ज्योतिरंग कल्पवृक्ष करोड़ों सूर्यों की किरणों के समान होते हुए सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिषी देव विमानों की कांति का संहरण करने वाले प्रकाश को देते हैं। ये सब कल्पवृक्ष न वनस्पति ही हैं और न कोई व्यंतर देव ही हैं। इनकी विशेषता यही है कि ये सब पृथ्वी रूप होते हुए जीवों को उनके पुण्य का फल देते हैं। वहां के मनुष्य कल्पवृक्षों से प्राप्त हुई वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया से बहुत प्रकार के शरीरों को बनाकर अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हैं। यहां के मनुष्य इन्द्र के सदृश सुन्दर और स्त्रियाँ अप्सराओं के सदृश सुन्दर होती हैं।

प्रश्न—भोगभूमि में तिर्यच हैं या नहीं ?

उत्तर—वहां पर पंचेन्द्रिय होते हैं, गाय, सिंह, हाथी, मगर, हरिण, भैंस, बंदर, हंस, कबूतर आदि जीव परस्पर में वैरभाव से रहित होते हैं। वहां के पशु-पक्षी क्रूर परिणामी हिंसक व मांसाहारी नहीं हैं। सभी वहां निसर्गतः उत्पन्न हुई हरी घास खाते हैं।

प्रश्न—इन भोगभूमियों में परिवार व्यवस्था क्या है ?

उत्तर—वहां पर केवल युगल स्त्री, पुरुष ही होते हैं। संतान के जन्मते ही उनके माता-पिता मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे वहां पति-पत्नी के सिवाय अन्य परिवार भेद नहीं दिखता है।

प्रश्न—जघन्य, मध्यम और उत्तम भोगभूमि में क्या अन्तर है ?

उत्तर—जघन्य भोगभूमि में मनुष्यों की आयु एक पल्य है, शरीर की ऊंचाई एक कोस है। मध्यम भोगभूमि में आयु दो पल्य और शरीर की ऊंचाई दो कोश प्रमाण है, उत्तम भोगभूमि में आयु तीन पल्य और शरीर की ऊंचाई तीन कोश प्रमाण है।

प्रश्न—ये भोगभूमि कब तक रहती हैं ?

उत्तर—ये शाश्वत भोगभूमि हैं, हमेशा एक समान ही रहती हैं और अनंतकाल तक ज्यों की त्यों व्यवस्थित रहेंगी।

प्रश्न—पुनः अशाश्वत और परिवर्तनशील भोगभूमि कहां हैं ?

उत्तर—जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता है अतः इन्हीं दोनों में प्रथम काल में उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था है, द्वितीय काल में मध्यम भोगभूमि की एवं तृतीय काल में उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था रहती है, पुनः चतुर्थकाल में कर्मभूमि की व्यवस्था हो जाती है। आज यहां भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में पंचमकाल में कर्मभूमि की व्यवस्था चल रही है इसीलिए इन भोगभूमियों को अशाश्वत कहते हैं। इस प्रकार से जंबूद्वीप में छः शाश्वत भोगभूमि हैं और दो अशाश्वत भोगभूमि तीन काल में आ जाती हैं। धातकीखण्ड में १२ शाश्वत भोगभूमि हैं, पुष्करद्वीप में भी १२ हैं, कुल ढाई द्वीप संबंधी ३०

भोगभूमि शाश्वत हैं। जंबूद्वीप के समान ही धातकीखण्ड में २ भरत, २ ऐरावत ऐसे ही पुष्करार्ध में २ भरत, २ ऐरावत क्षेत्र होने से वहां पर आर्यखण्ड के प्रथम आदि तीन काल में भोगभूमि की व्यवस्था हो जाती है पुनः निसर्गतः वह व्यवस्था समाप्त होकर कर्मभूमि की व्यवस्था बन जाती है।

प्रश्न—ये हैमवत आदि क्षेत्र कितने-कितने बड़े हैं ?

उत्तर—हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र २१०५^{५/१९} योजन है, हरि और रम्यक क्षेत्र ८४२१^{१/१९} योजन है और देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि ११८४२^{१/१९} योजन है। यह योजन दो हजार कोश का है अर्थात् लगभग ४००० मील का है।

प्रश्न—इनमें कौन जन्म लेते हैं ?

उत्तर—जो मनुष्य तिर्यच मंद कषायी हैं, आहारदान देते हैं या अनुमोदना करते हैं इत्यादि शुभ कार्यों से ये भोगभूमि में जन्म ले लेते हैं। इनका अधिक विस्तार आदिपुराण व तिलोपपण्णत्ति आदि से जानना चाहिए।

कर्मभूमि कहां कहां हैं ?

प्रश्न—इस जम्बूद्वीप में कर्मभूमि कहां-कहां हैं ?

उत्तर—इस जम्बूद्वीप में जो सात क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इनमें से भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में चतुर्थ, पंचम और छठे काल में कर्मभूमि की व्यवस्था रहती है।

प्रश्न—भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड में प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल में क्या व्यवस्था होती है?

उत्तर—भरत, ऐरावत क्षेत्र में प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल में उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। इन्हें अशाश्वत भोगभूमि कहते हैं। ऐसे ही यहां आर्यखण्ड में जो कर्मभूमि की व्यवस्था है वह भी अशाश्वत ही है।

प्रश्न—तो फिर शाश्वत कर्मभूमि कहां पर हैं ?

उत्तर—शाश्वत कर्मभूमि विदेहक्षेत्र में रहती हैं।

प्रश्न—विदेहक्षेत्र में कितनी जगह कर्मभूमि हैं ?

उत्तर—विदेहक्षेत्र में बीचोंबीच में सुदर्शनमेरु पर्वत है, जो कि दस हजार योजन विस्तार वाला है। विदेहक्षेत्र का कुल विस्तार ३३६८४^{४/१९} योजन प्रमाण है। मेरु की पूर्वदिशा में पूर्वविदेह और पश्चिम दिशा में पश्चिम विदेह है। पूर्वविदेह के बीच में सीता नदी है। पश्चिम विदेह के बीच में सीतोदा नदी है। इन दोनों नदियों के दक्षिण-उत्तर तट होने से चार विभाग हो जाते हैं। सीता नदी के उत्तर तट में भद्रसालवेदी है, उसके आगे वक्षार पर्वत, उसके आगे विभंगा नदी, उसके आगे वक्षार पर्वत, उसके आगे विभंगा नदी, उसके आगे वक्षार पर्वत, उसके आगे विभंगा नदी, उसके आगे देवारण्य की वेदी है। ऐसे इन नव के अन्तराल में आठ विदेह देश हो जाते हैं। ऐसे ही सीता नदी के दक्षिण तरफ आठ विदेह देश हैं। इसी प्रकार से सीतोदा नदी के दक्षिण-उत्तर में भी आठ-आठ विदेह होने से कुल बत्तीस विदेह हो जाते हैं। प्रत्येक वक्षार पर्वत सुवर्णमय है, ५०० योजन विस्तृत और १६५९२ योजन लम्बे हैं। विभंगा नदियां निषध-नील पर्वत की तलहटी के कुंड से निकलकर सीता-सीतोदा नदी में प्रवेश कर जाती हैं। ये विदेह देश पूर्व-पश्चिम में २२१२^{७/८} योजन विस्तृत हैं और दक्षिण-उत्तर में १६५९२^{२/१९} योजन लंबे हैं। इनके मध्य भाग में ५० योजन

विस्तृत, २२१२ योजन लम्बा विजयार्ध पर्वत है। यह तीन कटनी वाला है, भरतक्षेत्र के विजयार्ध के समान है। इन विजयार्धों पर ९-९ कूट हैं, १-१ में जिनचैत्यालय और प्रत्येक में देवभवन हैं। ऐसे ही वक्षार पर्वत पर भी ४-४ कूट हैं, जिनमें १-१ चैत्यालय हैं और ३-३ देवभवन हैं।

इन विदेहक्षेत्रों में मध्य में विजयार्ध पर्वत है, निषध-नील पर्वत की तलहटी के पास बने हुए कुंडों से गंगा-सिंधु नदियाँ निकलती हैं जो कि विजयार्ध की गुफाओं से बाहर आकर सीता-सीतोदा में प्रवेश कर जाती हैं। इस निमित्त से प्रत्येक क्षेत्र में छह-छह खण्ड हो जाते हैं। इनमें से सीता-सीतोदा नदी के तरफ के मध्य का आर्यखण्ड है, शेष पांच म्लेच्छ खण्ड हैं। इन आर्यखण्डों में कर्मभूमि की व्यवस्था है। वहां पर हमेशा उत्कृष्ट से ५०० धनुष ऊँचे अवगाहना वाले मनुष्य होते हैं। उनकी उत्कृष्ट आयु एक कोटिपूर्व वर्ष की होती है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण ही होते हैं, सतत मोक्षमार्ग चालू रहता है। वहां द्रव्य मिथ्यात्व नहीं है इसलिए कुदेव, कुलिंगी नहीं हैं और न उनके मंदिर ही हैं। इस प्रकार से यहां जम्बूद्वीप में ३२ विदेह हैं। ऐसे ही धातकीखण्ड में ६४ और पुष्करार्ध द्वीप में ६४ होकर १६० विदेह माने हैं। इनमें शाश्वत कर्मभूमि की व्यवस्था है जो कि अनादिनिधन है। हमेशा सीमंधर आदि तीर्थकरों के जन्म होते रहते हैं। इस तरह से जम्बूद्वीप के बत्तीस विदेहों में बत्तीस कर्मभूमि होती हैं।

प्रश्न—अशाश्वत कर्मभूमि कितनी हैं ?

उत्तर—जम्बूद्वीप में अशाश्वत कर्मभूमि दो हैं। एक भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड की, दूसरी ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्ड की। इन आर्यखण्डों में षट्काल परिवर्तन होता रहता है। काल के दो भेद हैं—अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी। अवसर्पिणी के ६ भेद हैं—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमादुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा। ऐसे ही उत्सर्पिणी के भी छह भेद हैं। इसमें दुषमा-दुषमा से शुरू होता है, अवसर्पिणी में आयु, शरीर की ऊँचाई आदि का ह्रास और उत्सर्पिणी में वृद्धि होती जाती है। यहां सुषमासुषमा नाम के प्रथम काल में उत्तम भोगभूमि की, द्वितीय काल में मध्यम भोगभूमि की और तृतीय काल में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था हो जाती है, पुनः चतुर्थकाल में कर्मभूमि की व्यवस्था प्रारंभ होती है। तीर्थकर आदि महापुरुष जन्म लेते हैं। वर्तमान में यहां पर भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में पंचमकाल चल रहा है।

प्रश्न—यह आर्यखण्ड कितना बड़ा है ?

उत्तर—यह भरतक्षेत्र जंबूद्वीप के १९० वें भाग अर्थात् ५२६^{६/१९} योजन प्रमाण है। इसके छह खंड में जो आर्यखंड है उसका प्रमाण लगभग निम्न प्रकार है—

दक्षिण का भरतक्षेत्र २३^{३/१९} योजन का है। पद्म सरोवर की लम्बाई १००० योजन है तथा गंगा सिंधु नदियां ५-५ सौ योजन पर्वत पर पूर्व-पश्चिम बहकर दक्षिण में मुड़ती हैं। यह आर्यखण्ड उत्तर दक्षिण में २३८ योजन चौड़ा है। पूर्व-पश्चिम में १०००+५००+५००=२००० योजन लम्बा है। इनको आपस में गुणा करने से २३८×२०००=४७६००० वर्ग योजन प्रमाण आर्यखण्ड का क्षेत्रफल हो जाता है अथवा ४७६०००×४०००=१९०४०००००० एक अरब नब्बे करोड़ चालीस लाख मील प्रमाण क्षेत्रफल हो जाता है।

इस आर्यखण्ड के मध्य में अयोध्या नगरी है। इस अयोध्या के दक्षिण में ११९ योजन की दूरी पर लवण समुद्र की वेदी है और उत्तर की तरफ इतनी ही दूर पर विजयार्ध पर्वत की वेदिका है। अयोध्या से पूर्व में १००० योजन की दूरी पर गंगा नदी की तट वेदी है अर्थात् आर्यखण्ड की दक्षिण दिशा में लवण समुद्र, उत्तर दिशा में विजयार्ध, पूर्व दिशा में गंगा नदी एवं पश्चिम दिशा में सिंधु नदी है। ये चारों आर्यखण्ड की सीमारूप हैं।

अयोध्या से दक्षिण में लगभग ४,७६००० मील (चार लाख छिहत्तर हजार मील) जाने से लवण समुद्र है और उत्तर में इतना ही जाने से विजयार्ध पर्वत है। उसी प्रकार अयोध्या से पूर्व में ४०,००००० (चालीस लाख) मील दूर गंगा नदी तथा पश्चिम में इतनी ही दूर सिंधु नदी है।

जैनाचार्यों के कथनानुसार आज का सारा विश्व इस आर्यखण्ड में ही है। हम और आप सभी इस आर्यखण्ड के ही भारतवर्ष में रहते हैं। वर्तमान में जो गंगा-सिंधु नदियां दिखती हैं और जो महासमुद्र, हिमालय पर्वत आदि हैं वे सब परिवर्तनशील हैं। अकृत्रिम नदी, समुद्र और पर्वतों से अतिरिक्त ये सभी उपनदी, उपसमुद्र, उपपर्वत आदि हैं। इन सभी विषयों का विशेष विस्तार समझने के लिए तिलायेपण्णत्ति, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थराजवार्तिक, जंबूद्वीपपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए।

पद्म आदि सरोवर कहां हैं ?

प्रश्न—पद्म आदि सरोवर कहां हैं ?

उत्तर—पद्म आदि सरोवर कुलाचलों पर हैं।

प्रश्न—ये कुलाचल कहां पर हैं ?

उत्तर—इसी जम्बूद्वीप में दक्षिण से प्रारंभ कर पूर्व-पश्चिम लम्बे छह पर्वत हैं जिनके हिमवान आदि नाम हैं। इन पर्वतों के निमित्त से ही भरत, हैमवत आदि सात क्षेत्र हो जाते हैं। इन्हीं पर्वतों को कुलपर्वत और कुलाचल भी कहते हैं।

प्रश्न—ये पर्वत कितने-कितने बड़े हैं ?

उत्तर—हिमवान् पर्वत की चौड़ाई का प्रमाण १०५२^{१२/१९} योजन अर्थात् ४२०८४२१^{१/१९} मील प्रमाण है तथा इसकी ऊंचाई १०० योजन (४०००००० मील) प्रमाण है। महाहिमवान् पर्वत की चौड़ाई ४२१०^{१०/१९} योजन (१६८४२१०५^{५/१९} मील) प्रमाण है, इसकी ऊंचाई २०० योजन (८००००० मील) प्रमाण है। निषध पर्वत की चौड़ाई १६८४२^{२/१९} योजन (६७३६८०००^{१/१९} मील) प्रमाण है। इसकी ऊंचाई ४०० योजन (१६००००० मील) है। ऐसे ही निषध के समान नील का विस्तार आदि है। महाहिमवान के समान रुक्मी पर्वत है और हिमवान पर्वत के समान शिखरी पर्वत है।

प्रश्न—इन पर्वतों पर सरोवर कहां पर है ?

उत्तर—हिमवान् पर्वत पर बीचोंबीच में पद्म सरोवर है, यह ५०० योजन चौड़ा है, १००० योजन लंबा है और १० योजन गहरा है, ऐसे ही हिमवान पर्वत पर महापद्म, निषध पर्वत पर तिगिञ्छ, नील पर्वत पर केसरी, रुक्मी पर्वत पर महापुण्डरीक और शिखरी पर्वत पर पुण्डरीक सरोवर हैं। पद्म सरोवर से महापद्म सरोवर दूने विस्तार वाला है और इससे दूने विस्तार वाला तिगिञ्छ सरोवर है। केसरी सरोवर तिगिञ्छ के समान है, महापुण्डरीक सरोवर महापद्म के समान है और पुण्डरीक सरोवर पद्म सरोवर के समान है। इन सरोवरों में पृथ्वीकायिक कमल बने हुए हैं।

प्रश्न—ये कमल कितने-कितने बड़े हैं ?

उत्तर—पद्म सरोवर में बीचोंबीच में एक कमल है। यह एक योजन (४००० मील) विस्तृत है। इसके एक हजार ग्यारह पत्र हैं। इसकी नाल बयालीस कोश ऊंची, एक कोश मोटी है। इसका मृणाल तीन कोश मोटा रूप्यमय—श्वेतवर्ण का है अर्थात् इस कमल की नाल दश योजन तक जल में है और अर्धयोजन प्रमाण

जल के ऊपर में है। इस कमल की कर्णिका आधे योजन ऊंची और पाव योजन चौड़ी है।

इस कर्णिका के ऊपर श्रीदेवी का भवन बना हुआ है। यह भवन एक कोश लंबा, अर्ध कोश चौड़ा और पौन कोश ऊंचा है। इसमें श्रीदेवी निवास करती है। इसकी आयु एक पल्य प्रमाण है।

प्रश्न—क्या इस पद्म सरोवर में इस बड़े कमल से अतिरिक्त भी कमल हैं ?

उत्तर—हां, इस सरोवर में एक लाख चालीस हजार एक सौ पन्द्रह परिवार कमल हैं। इन कमलों का विस्तार आदि मुख्य कमलों से आधा-आधा है। इन सभी कमलों की नाल दश योजन प्रमाण ही है अर्थात् जल के बराबर ही है जल से ऊपर निकली हुई नहीं है। इन कमलों पर भी श्रीदेवी के भवन के प्रमाण से आधे प्रमाण वाले भवन बने हुए हैं। इन सभी भवनों में श्रीदेवी के परिवार देव निवास करते हैं।

प्रश्न—अन्य सरोवरों में भी ऐसे कमल हैं क्या ?

उत्तर—हां, महापद्म सरोवर में इस पद्म सरोवर की अपेक्षा दूने प्रमाण वाले कमल हैं अर्थात् मध्य का कमल दो योजन विस्तृत है और शेष परिवार कमल एक-एक योजन विस्तार वाले हैं। इनकी संख्या भी दूनी है अर्थात् दो लाख अस्सी हजार दो सौ तीस कमल हैं। इस सरोवर के मध्य के कमल में ही देवी का निवास है। ऐसे ही तिगिंछ सरोवर का कमल चार योजन विस्तार वाला है। इसके परिवार कमल दो योजन विस्तार वाले हैं और संख्या में ५,६०,४६० हैं। इस सरोवर के मुख्य कमल में धृति देवी निवास करती है। आगे के केसरी सरोवर में सारी व्यवस्था तिगिंछ के समान है। महापुण्डरीक के कमलों की रचना महापद्म सरोवर के समान है और पुण्डरीक सरोवर के कमल पद्म सरोवर के समान हैं। अन्तर इतना ही है कि इन पर कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवियों का निवास है।

प्रश्न—क्या ये ही देवियां भगवान की माता की सेवा करने के लिए आती हैं ?

उत्तर—हां, ये ही षट् कुलाचल पर रहने वाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की देवियां इन्द्र की आज्ञा से भगवान के गर्भ में आने के छह महीने पहले ही माता की सेवा करने के लिए आ जाती हैं।

प्रश्न—ये श्री आदि देवियां यहीं जम्बूद्वीप के कुलाचलों पर ही रहती हैं कि अन्य कहीं भी ?

उत्तर—जंबूद्वीप में जैसे छह कुल पर्वत हैं वैसे ही धातकीखण्ड में बारह हैं और पुष्करार्ध में भी बारह हैं क्योंकि वहां पर पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड ऐसे दो विभाग हो गये हैं। ऐसे ही पुष्करार्ध में भी दो विभाग हो गए हैं अतः वहां पर हिमवान आदि कुलपर्वत भी पूर्वभाग में छह और पश्चिम भाग में छह होने से बारह हो जाते हैं।

इन पर्वतों पर भी पद्म आदि छह-छह सरोवर हैं और उनमें निवास करने वाली देवियों के नाम भी श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ही हैं। ये सभी देवियां माता की सेवा के लिए आती हैं और बराबर भगवान के जन्म लेने तक पन्द्रह मास तक माता की सेवा में तत्पर रहते हुए अपना परम सौभाग्य समझती हैं। ये देवियां माता से अनेक गूढ़ प्रश्नों को भी करती हैं और माता भी गर्भ के शिशु के प्रभाव से उन सभी प्रश्नों का बहुत ही सुन्दर समाधान देती हैं। प्रायः करके पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसरों पर यह दृश्य दिखाये जाते हैं।

इस प्रकार से यहां संक्षेप में छह कुलाचलों का वर्णन किया गया है।

गंगा आदि नदियां कहां हैं ?

प्रश्न—गंगा आदि महानदियां कहां हैं ?

उत्तर—ये नदियां भरतक्षेत्र आदि क्षेत्रों में बहती हैं। इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि आदि सात क्षेत्र हैं

और हिमवान, महाहिमवान आदि छह पर्वत हैं। इन पर्वतों पर पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह सरोवर हैं। इन छह सरोवर से ही ये गंगादि १४ नदियां निकलती हैं। उनके नाम हैं—गंगा, सिंधु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकांता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला और रक्ता, रक्तोदा।

प्रश्न—किस सरोवर से कौन-कौन सी नदियां निकलती हैं ?

उत्तर—पहले पद्म सरोवर की चारों दिशाओं में चार तोरण द्वार हैं, उनमें से पूर्व तोरण द्वार से गंगा नदी निकलती है। यह नदी निर्गम स्थान में $६\frac{१}{४}$ योजन विस्तृत है और ५०० मील गहरी है। यह गंगा नदी इस पूर्व तोरणद्वार से निकलकर उसी पर्वत पर पूर्व दिशा में ही ५०० योजन तक चली जाती है पुनः दक्षिण की ओर मुड़कर पर्वत पर ही कुछ अधिक ५२३ योजन तक बहती हुई हिमवान् पर्वत के तट पर आ जाती है। उस जगह गोमुखाकार एक जिह्विका बनी हुई है जिसमें प्रवेश कर यह नदी पर्वत से नीचे गिरती है।

नीचे जहाँ गिरती है वहाँ पर तलहटी में पृथ्वी पर एक गोल कुण्ड है जो साठ योजन विस्तार वाला है और दस योजन गहरा है। इस कुण्ड में एक द्वीप है जो आठ योजन विस्तृत है और जल से ऊपर दो कोश तक ऊँचा उठा हुआ है। इस महाद्वीप के मध्य में एक वज्रमय पर्वत है जो कि दस योजन ऊँचा है और मूल में चार योजन विस्तृत है और घटते हुए ऊपर एक योजन का रह गया है। इस पर्वत के ऊपर रत्नों से निर्मित गंगाकूट नाम से प्रसिद्ध एक दिव्य भवन है। उसमें स्वयं गंगादेवी निवास करती हैं।

इस भवन के ऊपर छत पर एक कमलासन बना हुआ है, जिस पर जिनेन्द्रदेव की अकृत्रिम प्रतिमा विराजमान है। इन प्रतिमाजी के मस्तक पर जटाजूट का आकार बना हुआ है।

हिमवान पर्वत के तट पर जो गोमुख के सदृश जिह्विका बनी हुई है उसमें से गंगा नदी गिरती हुई ठीक उस गंगादेवी के भवन की छत पर विराजमान जिनेन्द्र भगवान के मस्तक पर गिरती है जहाँ कि जटाजूट का आकार बना हुआ है। वहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह गंगा नदी जिनेन्द्रदेव का अभिषेक कर रही है। पुनः नीचे तलहटी के कुण्ड में आ जाती है। इस कुण्ड में भी चारों दिशाओं में तोरण द्वार बने हुए हैं। वहाँ से यह नदी दक्षिण तोरणद्वार से निकलकर भरतक्षेत्र में बहती हुई आगे चलकर विजयार्थ पर्वत की गुफा में प्रवेश कर जाती है। इस विजयार्थ पर्वत की गुफा ५० योजन लम्बी है। गुफा में बहती हुई यह नदी आगे गुफा के बाहर निकलकर धनुषाकार होती हुई भरतक्षेत्र में बहकर पूर्व लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। वहाँ पर भी एक तोरणद्वार बना हुआ है जो कि $६२\frac{१}{२}$ योजन चौड़ा है और $९३\frac{३}{४}$ योजन ऊँचा है। उस स्थान पर इस गंगा नदी का विस्तार $६२\frac{१}{२}$ योजन हो गया है और इसकी गहराई एक हजार कोस प्रमाण मानी गई है।

प्रश्न—इस गंगानदी का वर्णन सुना, आगे सिन्धु नदी कहाँ से निकलती है ?

उत्तर—सिंधु नदी इस पद्म सरोवर के पश्चिम द्वार से निकलती है और नीचे सिंधुदेवी के भवन की छत पर विराजमान जिनप्रतिमा का अभिषेक करते हुए ही वह पश्चिम लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। निर्गमस्थान, कुण्ड और प्रवेश स्थान के तोरणद्वार आदि सभी चीजों का वर्णन उपर्युक्त गंगानदी के समान ही है।

ये दोनों नदियां भरतक्षेत्र में बहती हैं। ऐसे ही आगे की दो-दो नदियां आगे-आगे के एक-एक क्षेत्र में बहती हैं।

प्रश्न—सरोवर तो छह ही हैं और नदियां चौदह हैं पुनः एक-एक सरोवर से दो-दो नदियां कैसे निकलती हैं ?

उत्तर—पहले पद्म के उत्तर तोरणद्वार से रोहितास्या नदी निकली है और वह नीचे हैमवत क्षेत्र में स्थित कुण्ड में रोहितास्या देवी के भवन की छत पर स्थित जिनप्रतिमा का अभिषेक करते हुए के सदृश ही वहाँ गिरती है पुनः हैमवत क्षेत्र में बहती हुई पश्चिम लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। ऐसे ही महाहिमवान् पर्वत

के महापद्म सरोवर के दक्षिण तोरणद्वार से रोहित नदी निकलती है। वह नदी भी हैमवत क्षेत्र के कुण्ड में रोहित देवी की छत पर गिरकर वहां क्षेत्र में बहती हुई पूर्वलवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है।

आगे महापद्म सरोवर के उत्तर तोरणद्वार से हरिकांता नदी निकलती है और निषध पर्वत के तिगिंछ सरोवर के दक्षिण तोरणद्वार से हरित नदी निकलती है। ये दोनों नदियां हरिक्षेत्र में बहती हैं। तिगिंछ सरोवर के उत्तर तोरण द्वार से सीतोदा नदी निकलती है एवं नील पर्वत के केसरी सरोवर के दक्षिण तोरणद्वार से सीता नदी निकलती है। ये दोनों नदियां विदेहक्षेत्र में बहती हैं। केसरी सरोवर के उत्तर तोरण द्वार से नरकान्ता नदी निकलती है और रुक्मी पर्वत के महापुण्डरीक सरोवर के दक्षिण तोरणद्वार से नारी नदी निकलती है। ये दोनों नदियां सम्यक् क्षेत्र में बहती हैं। महापुण्डरीक सरोवर के उत्तर दक्षिण तोरण द्वार से सुवर्णकूला नदी निकलती है। ये दोनों नदियां हैरण्यवत क्षेत्र में बहती हैं। आगे पुण्डरीक सरोवर के पूर्व पश्चिम तोरण द्वार से रक्ता-रक्तोदा नदियां निकलती हैं, वे दोनों नदियां ऐरावत क्षेत्र के गुफा द्वार से बाहर आकर ऐरावत क्षेत्र में बहते हुए पूर्व पश्चिम लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं।

इस प्रकार प्रथम पद्म और अन्तिम पुण्डरीक इन दो सरोवरों से तीन-तीन नदियां निकलती हैं तथा शेष चार सरोवरों से दो-दो नदियां निकलती हैं। इस तरह छह सरोवरों से चौदह नदियां निकलती हैं और दो-दो नदियां एक-एक क्षेत्र में बहती हैं।

प्रत्येक नदियों के गिरने के स्थान में नीचे कुण्ड बने हुए हैं और उनमें द्वीपों के मध्य पर्वत के ऊपर अपनी-अपनी नदी के नाम वाली देवियों के भवन बने हुए हैं। प्रत्येक भवन की छत पर कमलासन पर जटाजूट समेत जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा विराजमान हैं। प्रत्येक नदी जिनप्रतिमा का अभिषेक करते हुए के समान वहां कुण्ड में गिरकर आगे क्षेत्र में बहती हुई पूर्व-पश्चिम लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है।

प्रश्न—इन नदियों के तट कैसे हैं ?

उत्तर—इन नदियों के दोनों तट बहुत ही सुन्दर रत्नों से बने हुए हैं, दोनों तटों पर वेदिका (बाउंड्रीवाल) बनी है और उसके बाद सुन्दर-सुन्दर वनखण्ड बने हुए हैं।

प्रश्न—इन नदियों के अतिरिक्त और भी नदियां हैं क्या ?

उत्तर—प्रत्येक नदियों की परिवार नदियां मानी गई हैं, उनका वर्णन इस प्रकार है—गंगा-सिन्धु की परिवार नदियां चौदह-चौदह हजार हैं। रोहित, रोहितास्या की अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार हैं। हरित, हरिकांता की परिवार नदियां ५६-५६ हजार हैं। सीता-सीतोदा की परिवार नदियां ८४-८४ हजार हैं। नारी-नरकांता की परिवार नदियां ५६-५६ हजार हैं। सुवर्णकूला-रूप्यकूला की परिवार नदियां २८-२८ हजार हैं तथा रक्ता-रक्तोदा की परिवार नदियां १४-१४ हजार हैं। यहां की गंगा-सिन्धु की परिवार नदियां म्लेच्छ खण्डों में ही बहती हैं, आर्यखंड में नहीं हैं।

प्रश्न—यहां जो गंगा-सिन्धु नदियां दिख रही हैं यह वो ही हैं क्या ?

उत्तर—नहीं, यहां पर दिख रही गंगा-सिन्धु नदियां कृत्रिम नदियां हैं और ये ऊपर में कही गई गंगा सिन्धु नदियां महानदियां हैं ये अकृत्रिम हैं, अनादिनिधन हैं। भरतक्षेत्र के इस आर्यखण्ड में दक्षिण की तरफ लवण समुद्र है, पूर्व की तरफ गंगा नदी है, पश्चिम की तरफ सिन्धु नदी है और उत्तर की तरफ विजयार्थ पर्वत है अतः ये आर्यखण्ड के मध्य में यत्र-तत्र दिख रही गंगा-सिन्धु नदियां वो नहीं हैं।

श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में पंडित श्री माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य ने भी लिखा है—‘छह खंड वाले भरतक्षेत्र संबंधी आर्यखण्ड के मध्य में जो छोटा सा यह भरत खण्ड (हिन्दुस्तान) है’ इसके उत्तर में हिमालय है और

पश्चिम में सिन्धु नदी तथा पूर्वभाग में गंगा नदी बह रही है। न तो यह हिमालय हिमवान् पर्वत है और न ये क्षुद्र गंगानदी, सिंधुनदी ही महागंगा नदी, महासिंधु नदी हैं किन्तु आर्यखण्ड की अयोध्या नगरी से उत्तर दिशा की ओर लगभग चार सौ सात योजन चलने पर हिमवान् पर्वत मिल सकता है और आर्यखण्ड से पूर्व या दक्षिण की ओर कई सौ योजन चलकर महागंगा नदी मिल सकती है। उससे पहले यहीं बीस, पच्चीस कोस चलकर ही महागंगा नदी नहीं मिल जाती है। यदि कोई मनुष्य विमान द्वारा इतना चल सके तो वह जैन सिद्धान्त के करणानुयोग शास्त्रों के अनुसार गंगा को पा सकता है^१।

इस प्रकार से यहां तक गंगा आदि चौदह महानदियों का वर्णन हुआ है जिसका विस्तार तिलोपपण्णत्ति आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

विजयार्ध पर्वत कहाँ-कहाँ हैं ?

प्रश्न—विजयार्ध पर्वत कहाँ-कहाँ हैं ?

उत्तर—भरतक्षेत्र के बीच में एक विजयार्ध पर्वत है। ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र में एक विजयार्ध पर्वत है तथा बत्तीस विदेहक्षेत्र में बत्तीस, ऐसे ३४ विजयार्ध पर्वत हैं।

प्रश्न—भरतक्षेत्र के विजयार्ध का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—भरतक्षेत्र के बीच में जो विजयार्ध पर्वत है वह पूर्व-पश्चिम लम्बा है। दक्षिण की तरफ इसकी लम्बाई ९७४८^{११/१९} योजन (३८९९४३१५^{११/१९} मील) है। उत्तर की तरफ इसकी लम्बाई १०७२०^{११/१९} योजन (४२८८२३१५^{१५/१९} मील) है। यह पर्वत ५० योजन (२००००० मील) चौड़ा और २५ योजन (१००००० मील) ऊँचा है। उसकी नींव ६^{१/४} योजन है। इस पर्वत के दक्षिण उत्तर दोनों तरफ पृथ्वी से १० योजन (४०००० मील) ऊपर जाकर १० योजन विस्तीर्ण उत्तमश्रेणी है। उनमें दक्षिण श्रेणी में पचास और उत्तर श्रेणी में साठ ऐसी विद्याधरों की ११० नगरियां हैं। उसके ऊपर दोनों तरफ १० योजन जाकर १० योजन विस्तीर्ण श्रेणियाँ हैं। इसमें आभियोग्य जाति के देवों के नगर हैं। इन आभियोग्यपुरों से ५ योजन (२०००० मील) ऊपर जाकर दस योजन (४०००० मील) विस्तीर्ण विजयार्ध पर्वत का उत्तम शिखर है।

उस समभूमि भाग में सुवर्ण मणियों से निर्मित दिव्य नवकूट है। उन कूटों में पूर्व की ओर से सिद्धकूट, भरतकूट, खण्डप्रपात, मणिभद्र, विजयार्ध कुमार, पूर्णभद्र, तिमिस्रगुह, भरतकूट और वैश्रवणकूट ये नवकूट हैं। ये सब ६^{१/४} योजन (२५००० मील) ऊँचे, मूल में इतने ही चौड़े और ऊपर भाग में कुछ अधिक ३ योजन (१२००० मील) चौड़े हैं। सिद्धकूट में जिनभवन हैं एवं शेष कूटों के भवनों में देव-देवियों के निवास हैं।

प्रश्न—इस पर्वत के नीचे से गंगा, सिन्धु नदी निकलती है सो उनकी क्या व्याख्या है ?

उत्तर—इस विजयार्ध पर्वत में ८ योजन (३२००० मील) ऊँची, ५० योजन (२००००० मील) लम्बी और १२ योजन (४८००० मील) विस्तृत दो गुफायें हैं। इन गुफाओं के दिव्य युगल कपाट ८ योजन (३२००० मील) ऊँचे, ६ योजन (२४००० मील) विस्तीर्ण हैं। गंगा, सिन्धु नदियां इन गुफाओं से निकलकर बाहर आकर लवण समुद्र में प्रवेश करती हैं। इन गुफाओं के दरवाजे को चक्रवर्ती अपने दण्डरत्न से खोलते हैं और गुफा के भीतर कांकिणीरत्न से प्रकाश करके सेना सहित उत्तर म्लेच्छों में जाते हैं। चक्रवर्ती द्वारा इस पर्वत तक इधर के तीन खण्ड जीत लेने से आधी विजय हो जाती है अतः इस पर्वत का 'विजयार्ध' यह नाम

सार्थक है। यह पर्वत रजतमयी है अतः इसे रजताचल भी कहते हैं।

बिल्कुल ऐसे ही प्रमाण वाला विजयार्ध पर्वत ऐरात क्षेत्रों के बीचोंबीच में है। वहां की गुफाओं से रक्ता-रक्तोदा नदियाँ निकलती हैं।

प्रश्न—विदेहक्षेत्र के विजयार्ध पर्वतों का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—सुमेरु के पास सीतानदी के उत्तर तट में भद्रसाल से लगाकर कच्छा, सुकच्छा आदि देश हैं। ये प्रत्येक देश पूर्व-पश्चिम २२१२ $\frac{७}{८}$ योजन (८८५१५०० मील) विस्तृत हैं। इनकी दक्षिण उत्तर लम्बाई १६५९२ $\frac{२}{१९}$ योजन प्रमाण है। इन विदेह देशों के बहुमध्य भाग में ५० योजन (२००००० मीटर) चौड़ा और देश के विस्तार समान लम्बा अर्थात् २२१२ $\frac{७}{८}$ योजन लम्बा विजयार्ध पर्वत है। इन विजयार्धों पर भी दोनों पार्श्व भागों में दो-दो श्रेणियां हैं। अंतर इतना ही है कि इनमें विद्याधर श्रेणियों में दोनों तरफ पचपन-पचपन नगरियां हैं। इन विजयार्धों पर भी नव-नव कूट हैं और दो-दो महागुफायें हैं जो पूर्वोक्त प्रमाण वाली हैं। इनमें से दो-दो नदियाँ निकलती हैं जिनके निमित्त से प्रत्येक देश में छह-छह खण्ड हो जाते हैं। जिनमें से एक-एक आर्यखण्ड और पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं।

प्रश्न—इन नदियों के क्या नाम हैं ?

उत्तर—सीता-सीतोदा के दक्षिण तट के देशों में दो-दो नदियाँ हैं उनके गंगा-सिन्धु नाम हैं। नील पर्वत के पास कुण्ड बने हुए हैं। ये नदियाँ उन कुण्डों से निकलकर सीधे दक्षिण दिशा में आती हुई विजयार्ध की गुफा से निकलकर आगे आकर सीता-सीतोदा नदी में मिल जाती हैं। इनके उद्गम स्थान में तोरण द्वार ६ $\frac{१}{४}$ योजन (२५००० मील) चौड़ा है। ऐसे ही सीता-सीतोदा के उत्तर तट में दो-दो नदियाँ हैं उनके नाम रक्ता-रक्तोदा हैं। ये नदियाँ निषध पर्वत के पास के कुण्डों से निकलकर उत्तर दिशा में जाती हुई विजयार्ध पर्वत की गुफा में प्रवेश कर आगे निकल कर सीता-सीतोदा नदियों में मिल जाती हैं। इनके उद्गम—प्रवेश के तोरण द्वार पूर्वोक्त गंगा-सिन्धु के समान हैं।

प्रश्न—जंबूद्वीप में कुल आर्यखण्ड कितने हैं ?

उत्तर—भरत-ऐरावत का एक-एक और विदेह के बत्तीस, ऐसे कुल आर्यखण्ड इस जंबूद्वीप के चौतीस हैं। पूर्वोक्त कच्छा आदि देशों की मुख्य राजधानी इन आर्यखण्डों में ही है। उनके नाम क्षेमा, क्षेमपुरी आदि हैं। भरतक्षेत्र की राजधानी अयोध्या है।

प्रश्न—इस जंबूद्वीप में वृषभाचल पर्वत कितने हैं ?

उत्तर—प्रत्येक क्षेत्र के पांच-पांच म्लेच्छखंडों में मध्य का जो म्लेच्छ खण्ड है वहीं पर वृषभाचल है अतः ये सब वृषभाचल चौतीस हैं। चक्रवर्ती छह खण्ड पृथ्वी पर दिग्विजय प्राप्त करने के बाद इन वृषभाचल पर्वतों पर अपनी प्रशस्ति लिखते हैं।

प्रश्न—इस जंबूद्वीप में अधिक से अधिक कितने तीर्थंकर एक साथ हो सकते हैं ?

उत्तर—अधिक से अधिक तीर्थंकर चौतीस हो सकते हैं और कम से कम चार, जो कि विदेहक्षेत्र में सदा काल विद्यमान रहते हैं सीमंधर, युगमंधर, बाहु और सुबाहु। ये विद्यमान अथवा विहरमाण तीर्थंकर कहलाते हैं। इन सबको मेरा नमस्कार होवे।



८. दिगम्बर जैन मुनि एवं आर्यिकाओं की दिनचर्या

यतियों के मूलगुण —

पंचं य महव्वयाइं, समिदीओ पंच जिणवरुहिट्ठा।

पंचेविंदियरोहा, छप्पि य आवासया लोचो॥२॥

आचेलकमण्हाणं, खिदिसयणमदंतधंसणं चेव।

ठिदिभोयणेयभत्तं, मूलगुणा अट्ठवीसा दु॥३॥

अर्थ — पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण श्री जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिए कहे हैं।

यहाँ श्रमण, यति, मुनि, साधु और अनगार ये सब पर्यायवाची नाम हैं। इन शब्दों से दिगम्बर मुनि विवक्षित हैं। इनके तीन भेद होते हैं — आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन सभी के ये अट्ठाईस मूलगुण होते ही हैं तथा आचार्य और उपाध्याय के ३६ और २५ भी मूलगुण माने हैं जो कि उनके विशेष गुण हैं।

उत्तरगुण — बारह तप और बाईस परीषह ये चौंतीस उत्तर गुण माने गये हैं।

‘मुनिचर्या’ में मुनि एवं आर्यिकाओं के मूलगुणों के अन्तर्गत जो छह आवश्यक क्रियाएँ हैं उनके प्रयोग की विधि का वर्णन किया जा रहा है।

आर्यिकाओं की आवश्यक क्रियायें —

एसो अज्जाणं पि अ, सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।

सव्वहि अहोरत्ते विभासिदव्वो जहाजोगं॥१८३॥

मूलाचार ग्रंथ में पूर्व में जैसी विधि मुनियों के लिए कही गयी है वैसी ही यह समाचारविधि आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र में यथायोग्य करनी चाहिए।

अन्तर इतना ही है कि “जहाजोगं-यथायोग्यं आत्मानुरूपो वृक्ष-मूलादिरहितः। सर्वस्मिन्नहोरात्रे एषोऽपि सामाचारो यथायोग्यमार्यिकाणां आर्यिकाभिर्वा प्रकटयितव्यो विभावयितव्यो वा यथाख्यातः पूर्वस्मिन्निति।”

अपने अनुरूप — वृक्षमूल आदि योगों से रहित पूर्वकथित सर्व ही समाचार विधि अहोरात्र में आर्यिकाओं को भी करनी चाहिए। मूलाचार की इस गाथा से और टीका से स्पष्ट है कि आर्यिकाओं के लिए पूर्वकथित वे ही अट्ठाईस मूलगुण हैं और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तर ग्रहण आदि तथा वे ही औषिक और पदविभागिक सामाचार माने गये हैं जो कि मूलाचार में चार अध्यायों में गाथा १८६ तक वर्णित हैं। मात्र “यथायोग्य” पद से टीकाकार श्री वसुनंदि आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि आर्यिकाओं को वृक्षमूल, आतापन, अभ्रावकाश और प्रतिमायोग आदि उत्तरयोगों को करने का निषेध है। यही कारण है कि आर्यिकाओं के लिए पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् चर्या और क्रियाविधि आदि का कोई ग्रंथ नहीं है।

आचेलक्य मूलगुण में आर्यिकाओं के लिए दो साड़ी का विधान है। यथा —

वस्त्रयुग्मं सुबीभत्सलिंगप्रच्छादनाय च।

आर्याणां संकल्पेन, तृतीये मूलमिष्यते^३॥

पर्यायजन्म असमर्थता के कारण अपने गुप्तांगों को ढकने हेतु आर्यिकाओं के लिए दो वस्त्र (दो साड़ी) का विधान है।

आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज कहते थे कि आर्यिकायें बैठकर करपात्र में आहार लेती हैं और साड़ी पहनती हैं। ये दोनों भी इनके मूलगुण ही हैं।

आर्यिकाओं को दीक्षा देते समय उन्हें अट्टाईस मूलगुण दिये जाते हैं एवं मुनियों की दीक्षाविधि के ही संस्कार किये जाते हैं। यद्यपि छोटे गुणस्थान योग्य संयम न होने से इनके पाँच महाव्रत उपचार से कहे गये हैं फिर भी ग्रंथों में इन्हें संयतिका, महाव्रतिका आदि पदों से कहा गया है। यही कारण है कि इनकी नवधाभक्ति पूजा आदि भी मुनियों के समान ही मानी गई है।

अहोरात्रि के कृतिकर्म —

चत्तारि पडिक्कमणे, किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।

पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोहसा होंति^१॥६०२॥

“चार प्रतिक्रमण के और तीन स्वाध्याय के ऐसे पूर्वाण्ह के सात कृतिकर्म और अपरान्ह के सात कृतिकर्म ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं।” अथवा पश्चिम रात्रि^२ में प्रतिक्रमण के चार, स्वाध्याय के तीन और वंदना के दो, सूर्य उदय होने पर स्वाध्याय के तीन और मध्यान्ह देव वंदना (सामायिक) के दो इस प्रकार पूर्वाण्ह कृतिकर्म के ये चौदह हुए, उसी प्रकार अपरान्ह काल में स्वाध्याय के तीन, प्रतिक्रमण के चार, वंदना के दो, रात्रियोग ग्रहण-विसर्जन में योगभक्ति के दो और पूर्व रात्रि में स्वाध्याय के तीन इस प्रकार अपरान्हिक क्रिया में चौदह कृतिकर्म होते हैं। अहोरात्रि के कुल मिलाकर अट्टाईस कृतिकर्म होते हैं। यहाँ पर गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय का ग्रहण उपलक्षण मात्र है इसलिए सभी क्रियायें इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाती हैं।^३”

अनगारधर्मांमृत में भी कहा है—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वंदनेष्टौ प्रतिक्रमे।

कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः^४॥७५॥

“चार बार के स्वाध्याय के १२, त्रिकाल वंदना के ६, दो बार के प्रतिक्रमण के ८ और रात्रियोग ग्रहण-विसर्जन में योग भक्ति के २, ऐसे २८ कायोत्सर्ग साधु के अहोरात्र विषयक होते हैं।” इनका स्पष्टीकरण यह है कि—

त्रिकाल देववंदना में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति संबंधी दो-दो २×३=६, दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण में, सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति, निष्ठितकरणवीर भक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति इन चार भक्ति संबंधी चार-चार ४×२=८, पूर्वाण्ह, अपरान्ह, पूर्वरात्रिक और अपररात्रिक इन चार कालिक स्वाध्याय में— स्वाध्याय के प्रारम्भ में श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति एवं समाप्ति में श्रुतभक्ति ऐसे तीन-तीन भक्ति सम्बन्धी ४×३=१२, रात्रियोग प्रतिष्ठापन में योगिभक्ति सम्बन्धी एक और निष्ठापन में एक ऐसे २, इस तरह सब मिलकर ६+८+१२+२=२८ कायोत्सर्ग किये जाते हैं। ये कायोत्सर्ग विधिवत् किये जाने से “कृतिकर्म” कहलाते हैं।

क्षुल्लक, ऐलक की आवश्यक क्रियायें —

उद्दिष्ट्यागी क्षुल्लक, ऐलक और अनुमतित्यागी दसवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकों के लिए भी इन्हीं अट्टाईस कायोत्सर्गरूप कृतिकर्म का विधान है। यथा —

१. मूलाचार। २. पश्चिम रात्रि प्रतिक्रमण। “मूलाचार टीका”। ३. मूलाचार गाथा ६०२ की टीका। ४. अनगार धर्मांमृत अध्याय ८।

वन्दना त्रितये काले, प्रतिक्रांते द्वयं तथा।

स्वाध्यायानां चतुष्कं च, योगिभक्तिद्वयं पुनः॥

उत्कृष्टश्रावकेनामूः, कर्तव्या यत्नतोऽन्वहं।

षडष्टौ द्वादश द्वे च, क्रमशोऽमूषु भक्त्यः॥

त्रिकाल वंदना में छह, प्रातःकाल-सायंकाल दोनों समय के प्रतिक्रमण में आठ, चार स्वाध्याय में बारह और योगिभक्ति में दो ऐसी ६+८+१२+२=२८ भक्तियाँ कायोत्सर्ग सहित क्रम से उत्कृष्ट श्रावकों को प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। यही क्रिया क्षुल्लिकाओं के लिए भी समझनी चाहिए।

कृतिकर्म का लक्षण —

सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवपर्यंतः कृतिकर्मेत्युच्यते*।

“सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्त जो विधि है उसे कृतिकर्म कहते हैं।”

दोणदं तु जथाजादं, वारसावत्तमेव य।

चदुस्सिरं तिसुद्धिं च, किदियम्मं पउज्जे*॥६०३॥

“यथाजात मुद्राधारी साधु मन वचन काय की शुद्धि करके दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनतिपूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करें।” अर्थात् किसी भी क्रिया के प्रयोग में पहले प्रतिज्ञा करके भूमि स्पर्शरूप पंचांग नमस्कार किया जाता है, जैसे —

“अथ पौर्वाण्हकस्वाध्यायप्रारंभक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजा-वन्दनास्तवसमेतं श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं” ऐसी प्रतिज्ञा करके पंचांग नमस्कार किया जाता है। पुनः “णमो अरिहंताणं” से लेकर “तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि” पाठ बोला जाता है इसे सामायिक स्तव कहते हैं। इसमें “णमो अरिहंताणं” पाठ प्रारंभ करते समय तीन आवर्त करके एक शिरोनति की जाती है, पुनः पाठ पूरा करके तीन आवर्त एक शिरोनति की जाती है। फिर कायोत्सर्ग करके पंचांग प्रणाम किया जाता है पुनः “थोस्सामि” इत्यादि चतुर्विंशति स्तव के प्रारंभ में तीन आवर्त एक शिरोनति करके पाठ पूरा होने पर तीन आवर्त और एक शिरोनति होती है। इस प्रकार प्रतिज्ञा के अनन्तर प्रणाम और कायोत्सर्ग के अनन्तर प्रणाम ऐसे दो प्रणाम हुए। सामायिक दण्डक के आदि-अन्त में और थोस्सामि स्तव के आदि-अन्त में ऐसे तीन-तीन आवर्त चार बार करने से बारह आवर्त हुए तथा प्रत्येक में एक-एक शिरोनति करने से चार शिरोनति हो गई।

इसी विधि को आचारसार में स्पष्ट किया है। यथा —

क्रियायामस्यां व्युत्सर्गं, भक्तेरस्याः करोम्यहं।

विज्ञाप्येति समुत्थाय गुरुस्तवनपूर्वकम् ॥३५॥

कृत्वा करसरोजातमुकुलालंकृतं निजं।

भाललीलासरः कुर्यात्त्रयावर्ता शिरसो नतिम् ॥३६॥

आद्यस्य दण्डकस्यादौ मंगलादेरयं क्रमः।

तदंगेऽप्यंगव्युत्सर्गः कार्योऽतस्तदनंतरम् ॥३७॥

कुर्यात्तथैव थोस्सामीत्याद्याद्यान्तयोरपि।

इत्यस्मिन् द्वादशावर्ताः शिरोनतिचतुष्टयम् ॥३८॥

इन श्लोकों का पूरा अर्थ ऊपर आ चुका है अतः यहाँ पुनः नहीं दिया है।

नित्यक्रियायें

(दिनचर्या)

अनगार धर्मामृत के आठवें अध्याय में छह आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करके नवमें अध्याय में नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का अथवा इन आवश्यक क्रियाओं के प्रयोग का वर्णन बहुत ही सरल ढंग से किया है। यथा—

अर्धरात्रि के दो घड़ी अनन्तर से अपररात्रिक स्वाध्याय का काल हो जाता है। उस समय पहले “अपररात्रिक” स्वाध्याय करके पुनः सूर्योदय के दो घड़ी शेष रह जाने पर स्वाध्याय समाप्त कर “रात्रिक प्रतिक्रमण” करके रात्रि योग समाप्त कर दें। फिर सूर्योदय के समय से दो घड़ी (४८ मिनट) तक “देव वन्दना” अर्थात् सामायिक करके “गुरुवन्दना” करें। पुनः “पौर्वाण्हिक” स्वाध्याय प्रारंभ करके मध्याह्न के दो घड़ी शेष रहने पर स्वाध्याय समाप्त कर “देव वन्दना” करें। मध्याह्न समय देववन्दना समाप्त कर “गुरु वन्दना” करके “आहार हेतु” जावें। यदि उपवास हो तो उस समय जाप्य या आराधना का चिन्तन करें। आहार से आकर गोचरी प्रतिक्रमण करके व प्रत्याख्यान ग्रहण करके पुनः “अपराण्हिक” स्वाध्याय प्रारंभ कर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले समाप्त कर “दैवसिक-प्रतिक्रमण” करें। पुनः गुरुवन्दना करके रात्रि योग ग्रहण करें तथा सूर्यास्त के अनन्तर “देव वन्दना” — सामायिक करें। रात्रि के दो घड़ी व्यतीत हो जाने पर “पूर्वरात्रिक” स्वाध्याय प्रारंभ करके अर्ध रात्रि के दो घड़ी पहले ही स्वाध्याय समाप्त करके शयन करें। यह अहोरात्र संबंधी क्रियाएँ हुई।

मूलाचार गाथा ६०२ की टीका में भी इन्हीं क्रियाओं का कथन किया गया है।

विशेष — शास्त्रों में मध्याह्न देववन्दना के बाद आहार करने को कहा है किन्तु आजकल प्रातः ९ बजे से ११.३० के बीच में साधुओं के आहार की परम्परा है अतः आहार के बाद मध्याह्न की सामायिक की जाती है।

सर्वप्रथम पिछली रात्रि की क्रियाओं को कहते हैं—

क्लमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया, लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके।

स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिकाशेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत् ॥७॥

योगनिद्रा — धर्मध्यान सहित निद्रा के द्वारा शरीर की थकान को दूर करके अर्थात् ४ घड़ी (९६ मिनट तक) अर्ध रात्रि में नींद लेकर पुनः जागकर अपररात्रिक-वैरात्रिक स्वाध्याय करके ४८ मिनट रात्रि शेष रहने पर स्वाध्याय समापन कर रात्रिक प्रतिक्रमण करके योग भक्ति के द्वारा रात्रि योग का विसर्जन कर दें।

उपर्युक्त कथनानुसार अर्ध रात्रि में मात्र ४ घड़ी शयन करना यह उत्कृष्ट मार्ग है। आजकल मुनि-आर्यिकाएँ पाँच, छह घंटे भी सोते हैं क्योंकि नींद कम लेने से शरीर में थकान बनी रहती है अतः अपने स्वास्थ्य के अनुसार शरीर को स्वस्थ रखते हुए कम से कम निद्रा लेना चाहिए यही अभिप्राय समझना।

साधु वर्ग पिछली रात्रि में उठकर पहले क्या करें?

मुनि या आर्यिका पिछली रात्रि में निद्रा से उठकर नौ बार णमोकार मंत्र का जाप्य करें। अनन्तर लघु

शंका आदि बाधाओं से निवृत्त होकर हाथ, पैर, मुख आदि धोकर अपने आसन पर बैठकर “यत्स्वर्गावतरोत्सवे” आदि सुप्रभात स्तोत्र पढ़ें। पुनः “वैरात्रिक” — पिछली रात्रि का स्वाध्याय करें।

स्वाध्याय करते समय पहले श्री गौतम स्वामी के मुख से प्रगट हुए गणधरवलय मंत्रों को पढ़कर किसी भी ग्रंथ का स्वाध्याय करें।

पिछली रात्रि के स्वाध्याय में सिद्धान्त ग्रंथ की वाचना का निषेध है।

व्योमाचलकुलान्तस्थचारणावधिबोधिनाम् ।

वाचनापररात्रौ तु क्षेत्रशुद्धयुपलंभतः॥७९॥ आचारसार।

आकाशगामी ऋद्धिधारी, अवधिज्ञानी आदि मुनियों के लिए ही क्षेत्र शुद्धि होने से पिछली रात्रि में सिद्धान्त ग्रंथों की वाचना मानी गई है। यही बात धवला पुस्तक ९ में भी पृष्ठ २५४ पर कही गई है अतः आचारसार, मूलाचार, समाधिगतक, आप्तमीमांसा, स्वयंभूस्तोत्र आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करें। कदाचित् प्रकाश की व्यवस्था न हो तो जो रत्नकरण्डश्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र, द्रव्यसंग्रह आदि पाठ मौखिक याद हों उन्हें ही पढ़ लें। अनन्तर स्वाध्याय की निष्ठापना करें। सूर्योदय से दो घड़ी (४८ मिनट) पूर्व तक पिछली रात्रि के स्वाध्याय का काल है।

दिक्शुद्धि कब और कैसे करें?

वैरात्रिक स्वाध्याय के अनन्तर साधु बाहर निकलकर पौर्वाण्हिक स्वाध्याय के लिए दिक्शुद्धि करें। जैसा कि धवला महाशास्त्र में कहा है। यथा — “पच्छिमरत्तियसज्जायं खमाविय बहिं णिक्कलिय पासुगे भूमिपदेसे काओसग्गेण पुव्वाहिमुहो^१।” पश्चिम रात्रि के स्वाध्याय को निष्ठापित करके बाहर निकलकर प्रासुक भूमि प्रदेश में खड़े होकर कायोत्सर्ग मुद्रा से पूर्वाभिमुख होकर दिक्शुद्धि करें ऐसे ही चारों दिशाओं में दिक्शुद्धि की जाती है।

णवसत्तपंचगाहापरिमाणं दिसि विभागसोधीए।

पुव्वण्हे अवरण्हे, पदोसकाले य सज्जाए॥२७३॥ मूलाचार।

उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पूर्वाण्हकाल के स्वाध्याय के लिए दिग्विभाग शुद्धि के निमित्त प्रत्येक दिशा में कायोत्सर्ग से स्थित होकर नव-नव गाथा परिमाण जाप्य करना चाहिए। यह दिक्शुद्धि पिछली रात्रि के स्वाध्याय के बाद की जाती है। ऐसे पूर्वाण्ह स्वाध्याय के बाद अपराण्ह स्वाध्याय हेतु प्रत्येक दिशा में कायोत्सर्ग पूर्वक सात-सात बार णमोकार मंत्र पढ़कर करना चाहिए और पूर्वरत्रिक स्वाध्याय के लिए अपराण्ह स्वाध्याय समापन के बाद प्रत्येक दिशा में पाँच-पाँच गाथा पढ़कर दिक्शुद्धि करनी चाहिए। पश्चिम रात्रिक स्वाध्याय के लिए दिक्शुद्धि का विधान नहीं है क्योंकि उस समय सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ने का निषेध है। उस काल में भी सिद्धान्त ग्रंथों के अधिकारी ऋद्धिधारी मुनि आदि ही हैं, ऐसा आचारसार ग्रन्थ में कहा है। यही पूर्ण विधि आचारसार ग्रंथ अध्याय चतुर्थ में ७३-७४ आदि श्लोकों में दी गई है।

विशेष — यह दिक्शुद्धि का विधान केवल सिद्धान्तग्रंथों के पठन-पाठन के लिए ही है।

इस दिक्शुद्धि के बाद रात्रिक प्रतिक्रमण किया जाता है।

रात्रिक प्रतिक्रमण कब और कैसे करें?

सूर्योदय से दो घड़ी पहले रात्रिक प्रतिक्रमण का काल माना गया है। यह प्रतिक्रमण प्रातःकालीन सामायिक के पहले किया जाता है। यथा —

“पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि” पिछली रात्रि के प्रतिक्रमण में चार भक्ति संबंधी चार कृतिकर्म होते हैं।

अतः दिक्शुद्धि के बाद सभी साधु पश्चिमरात्रि में आचार्य के पास जाकर नमोस्तु करके विनय से बैठकर “जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषाः” इत्यादि बोलते हुए प्रतिक्रमण करें। जैसा कि कहा है —

जो “दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमण” छपा है वही यहाँ पढ़ा जाता है। इसमें “दैवसिकप्रतिक्रमणक्रियायां” के स्थान पर “रात्रिकप्रतिक्रमणक्रियायां” ऐसा बोलें। ऐसे ही “देवसियम्मि” की जगह “राइयम्मि” “देवसियो” की जगह “राइओ” “देवसियस्स” की जगह “राइयस्स” पाठ बोलें। “देवसिओ राइओ” ऐसे दोनों बोलने की आवश्यकता नहीं रहती है।

आजकल मुनिसंघों में प्रायः प्रातः की सामायिक के बाद यह रात्रिक प्रतिक्रमण करते हैं। फिर भी कुछ साधु-साध्वियाँ शास्त्रानुसार पहले प्रतिक्रमण करके सामायिक करते हैं।^१

कायोत्सर्ग का लक्षण—

“एक बार णमोकार मंत्र के पढ़ने में तीन श्वासोच्छ्वास हो जाते हैं। जैसे कि “णमो अरिहंताणं” पद के उच्चारण में श्वास को ऊपर खींचा जाता है और “णमो सिद्धाणं” पद के उच्चारण में श्वास को छोड़ा जाता है। “णमो आइरियाणं” पद के उच्चारण में श्वास को खींचना और “णमो उवज्झायाणं” बोलकर श्वास को छोड़ना पुनः “णमो लोए” पद बोलकर श्वास को खींचा जाता है और “सव्वसाहूणं” बोलते हुए श्वास को छोड़ा जाता है। इस तरह नव बार णमोकार मंत्र के जाप्य में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास हो जाते हैं।”^२

कायोत्सर्ग कब कितने करना ?

“नव बार णमोकार मंत्र के जाप्य को कायोत्सर्ग कहते हैं। यहाँ रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति और चौबीस तीर्थंकर भक्ति के चार कायोत्सर्ग माने गये हैं। अन्त की समाधि भक्ति सर्वदोष विशुद्धि के लिए की जाती है अतः उसके कायोत्सर्ग की गणना नहीं होती है।

रात्रिक प्रतिक्रमण में वीरभक्ति के कायोत्सर्ग में चौवन (५४) श्वासोच्छ्वास कहे गये हैं यद्यपि इसमें दो कायोत्सर्ग हो जाते हैं और वह भी उस “वीरभक्ति” संबंधी एक ही कहलाता है। ऐसे ही दैवसिक प्रतिक्रमण में वीरभक्ति के कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वास माने हैं इसके लिए चार कायोत्सर्ग करना होता है।

मानसिक जप के प्रति अशक्त जीव वाचनिक जाप्य भी करते हैं।

वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे, कार्यो जाप्यः स वाचिकः।

पुण्यं शतगुणं चैतः, सहस्रगुणमाहवेत् ॥२४॥^३

वचन के द्वारा जिसका स्पष्ट उच्चारण हो किन्तु अन्य जन न सुन सकें मात्र अंतरंग में ही उच्चारण हो उसे उपांशु जप कहते हैं और जिसका मात्र मन में ही चिंतवन हो उसे मानसिक जप कहते हैं। उपांशु-वाचिक जप का फल सौ गुणा होता है और मानसिक जप का फल हजार गुणा अधिक होता है।

१. मूलाचार गाथा ६०२ की टीका में। २. मैं स्वयं पहले प्रतिक्रमण करके बाद में सामायिक करती हूँ। ३. अनगारधर्मांमृत अ. ९। ४. अनगारधर्मांमृत अ. ९ श्लोक २४।

रात्रियोग निष्ठापन कब और कैसे करें?

पहले दिन सायंकाल प्रतिक्रमण के बाद जो “रात्रियोग” ग्रहण किया था कि “आज रात्रि में मैं इसी वसतिका में निवास करूंगा।” इसे रात्रियोग प्रतिष्ठापन कहते हैं। इसी रात्रियोग का अब प्रातः रात्रिक-प्रतिक्रमण के बाद समापन करना होता है।

सामायिक कब और कैसे करें?

साधुओं की सामायिक और देववन्दना एक है। विधिवत् देववन्दना करना इसी का नाम सामायिक है। ‘सत्त्वेषु मैत्री’ आदि पाठ पढ़कर जाप्य आदि करके सामायिक करना और देवदर्शन के समय देववन्दना क्रिया करना ऐसा नहीं है, प्रत्युत त्रिकाल सामायिक के समय ही तीन बार देववन्दना का विधान है। उसी को यहां सप्रमाण दिखाया जाता है।

मूलाचार में श्रीकुन्दकुन्ददेव ने अट्ठाईस मूलगुणों का वर्णन करते हुए समता नाम के आवश्यक का लक्षण किया है—

“जीविदमरणे लाभालाभे संजोयविष्यओगे य।

बंधुरिसुहृदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम॥२३॥”

इसकी टीका में श्री वसुनंदि आचार्य ने कहा है—

“सामाइयं णाम-सामायिकं नाम भवति। जीवितमरण-लाभालाभसंयोगविप्रयोगबन्धुरि-सुखदुःखादिषु यदेतत्समत्वं समानपरिणामः त्रिकालदेववन्दनाकरणं च तत्सामायिकं व्रतं भवति।”

अभिप्राय यह है कि जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, बंधु-शत्रु और सुख-दुःख आदि में जो समान परिणाम का होना है और त्रिकाल में देववन्दना करना है वह सामायिक व्रत है।

अन्यत्र सामायिक के नियतकालिक-अनियतकालिक ऐसे दो भेद करके नियतकालिक में त्रिकाल देववन्दना और अनियतकालिक में समताभाव को रखना ऐसा कहा है।

आचारसार ग्रंथ में सामायिक आवश्यक का वर्णन करते हुए सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीवीरनंदि आचार्यदेव ने तीर्थक्षेत्र या जिनमंदिर में जाकर विधिवत् ईयापथशुद्धि और चैत्य-पंचगुरुभक्ति करने का आदेश दिया है।

यहाँ कृतिकर्म का लक्षण बताकर कहा है कि ‘देववन्दना क्रिया में चैत्य-पंचगुरु ये दो भक्तियां की जाती हैं और चतुर्दशी के दिन देववन्दना में चैत्यभक्ति के बाद श्रुतभक्ति करके पंचगुरुभक्ति की जाती है’ इत्यादि।

यही सारी विधि अनगार धर्मावृत्त में कही गई है एवं क्रियाकलाप ग्रंथ में भी छपी हुई है। अनेक प्रमाणों को उद्धृत कर दिगम्बर मुनि ग्रंथ में मैंने स्पष्टीकरण किया है। विशेष जिज्ञासुओं को उन-उन ग्रंथों को देखना चाहिए। यहां संक्षेप में सामायिक और देववन्दना को एक सिद्ध कर उसी की प्रयोग विधि दी जा रही है।

दिनचर्या के प्रकरण में सूर्योदय से लेकर ४८ मिनट तक इस देववन्दना का काल अनगारधर्मावृत्त में कहा है। इसी ग्रंथ की आठवीं अध्याय में ६-६ घड़ी का उत्कृष्ट काल कहा है, एक घड़ी २४ मिनट की होती है^१।

त्रिसंध्यं वन्दने युंज्यात्, चैत्यपंचगुरुस्तुती।

प्रियभक्तिं बृहद्भक्तिष्वन्ते दोषविशुद्ध्ये॥१३॥

तीनों सन्ध्या संबंधी जिनवन्दना में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति पढ़ें तथा बृहद् भक्तियों के अन्त में पाठ की हीनाधिकतारूप दोषों की विशुद्धि के लिए प्रियभक्ति (समाधिभक्ति) करना चाहिए^१।

इस देववन्दना में छह प्रकार का कृतिकर्म भी होता है। यथा —

स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ताः।

द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम् ॥२॥

तथा — “आदाहीणं, पदाहीणं, तिक्खुत्तं, तिऊणदं, चदुस्सिरं वारसावत्तं, चेदि।”

(१) वन्दना करने वाले की स्वाधीनता (२) तीन प्रदक्षिणा (३) तीन भक्ति संबंधी तीन कायोत्सर्ग (४) तीन निषद्या — १. ईर्यापथ कायोत्सर्ग के अनन्तर बैठकर आलोचना करना और चैत्यभक्ति संबंधी क्रिया-विज्ञापन करना २. चैत्यभक्ति के अन्त में बैठकर आलोचना करना और पंचमहागुरुभक्ति संबंधी क्रिया विज्ञापन करना ३. पंचगुरुभक्ति के अन्त में बैठकर आलोचना करना (५) चार शिरोनति (६) बारह आवर्त। यही सब सामायिक विधि में आता है।

वन्दना योग्य मुद्रा —

मुद्रा के चार भेद हैं — जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दना मुद्रा, मुक्ताशुक्तिमुद्रा। इन चारों मुद्राओं का लक्षण क्रम से कहते हैं।

जिनमुद्रा — दोनों पैरों में चार अंगुल प्रमाण अन्तर रखकर और दोनों भुजाओं को नीचे लटकाकर कायोत्सर्गरूप से खड़े होना सो जिनमुद्रा है। **योगमुद्रा** — पद्मासन, पर्यकासन और वीरासन इन तीनों आसनों की गोद में नाभि के समीप दोनों हाथों की हथेलियों को चित रखने को जिनेन्द्रदेव योगमुद्रा कहते हैं। **वन्दना मुद्रा** — दोनों हाथों को मुकुलित कर और कुहनियों को उदर पर रखकर खड़े हुए पुरुष के वन्दना मुद्रा होती है। **मुक्ताशुक्तिमुद्रा** — दोनों हाथों की अंगुलियों को मिलाकर और दोनों कुहनियों को उदर पर रखकर खड़े हुए को आचार्य मुक्ताशुक्तिमुद्रा कहते हैं।

देववन्दना के लिए जिनमंदिर में पहुँचकर हाथ-पैर धोकर ‘निःसहि’ का तीन बार उच्चारण कर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करे। अनन्तर “दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि” इत्यादि स्तोत्र को पढ़ते हुए चैत्यालय की तीन प्रदक्षिणा देवे। पुनः ‘निःसंगोऽहं जिनानां’ इत्यादि दर्शनस्तोत्र पढ़कर यदि खड़े होकर सामायिक करना है तो खड़े होकर “ईर्यापथशुद्धि पाठ” से सामायिक शुरू करें। यदि खड़े होकर सामायिक करने की शक्ति नहीं है तो बैठकर करें।

बैठकर भी देववन्दना करने का विधान —

“साधुः पुनर्वदनां यथोक्तविशेषणविशिष्टः-सपर्यकः सप्रतिलेखन-मुकुलितवत्सोत्संगितकरः कुर्यात् । कया? अशक्त्या। उद्भो यदि वंदितुं न शक्नुयादित्यर्थः^१।”

साधु यदि खड़े होकर वंदना नहीं कर सकते हैं — असमर्थ हैं तो पर्यकासन से बैठकर, पिच्छी लेकर, मुकुलित हाथ जोड़कर वक्षःस्थल के पास रखकर देववन्दना करें।

चैत्यभक्ति में तीन प्रदक्षिणा —

चैत्यभक्ति पढ़ते-पढ़ते भी जिनप्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा देने का विधान है।

दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनंदीश्वरेषु हि।^२

वंद्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्तिं प्रदक्षिणा॥१२॥

चैत्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, योगिभक्ति और नन्दीश्वर भक्ति पढ़ते-पढ़ते मंदिर में, निर्वाणक्षेत्रों में, योगियों की व जिनबिम्बों की प्रदक्षिणा करना चाहिए।

सामायिक से पूर्व दृष्टाष्टक स्तोत्र भी पढ़ें—

सामायिक के लिए श्री जिनमंदिर को जावें। मंदिर का शिखर दिखते ही “दृष्टं जिनेन्द्र भवनं भवतापहारि..” इत्यादि दृष्टाष्टक स्तोत्र को पढ़ते हुए मंदिर के पास पहुँचें अथवा मंदिर के पास पहुँचकर मंदिर की प्रदक्षिणा देते हुए दृष्टाष्टक स्तोत्र पढ़ें।

पुनः उचित स्थान पर पैर धोकर चैत्यालय के अन्दर प्रवेश करें। “निःसही निःसही निःसही” ऐसा उच्चारण करके श्री जिनेन्द्रदेव के मुख को देखकर नमस्कार करके “निःसंगोऽहं जिनानां” इत्यादिरूप से प्रसिद्ध ‘ईर्यापथशुद्धि’ नामक स्तोत्र को पढ़ें। यदि जिनमंदिर की बाहर से प्रदक्षिणा नहीं है तो इसी ‘निःसंगोऽहं’ स्तोत्र को पढ़ते हुए वेदी में विराजमान जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणा दें।

देववंदना (सामायिक)

पुनः जिनेन्द्रदेव के सामने पूर्व या उत्तर मुखकर खड़े होकर या बैठकर “पडिक्कमामि भंते !” यह ईर्यापथशुद्धि का प्रतिक्रमण बोलते हुए सामायिक विधि प्रारंभ करें।

सामायिक का उत्कृष्ट काल ६ घड़ी (२ घंटे २४ मिनट) है। मध्यम काल ४ घड़ी (१ घंटे ३६ मिनट) है और जघन्य काल २ घड़ी (४८मिनट) है।

इस देववंदना में ईर्यापथशुद्धि, चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति को पढ़ने के बाद उपर्युक्त जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट सामायिक के काल में जितना समय शेष रहा हो उतने समय में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ या रूपातीत ध्यान करें अथवा सिद्धचक्र मंत्र, णमोकार मंत्र आदि का मानसिक या उपांशु जाप्य करें।

पुनः यदि गुरु प्रत्यक्ष में हैं तो उनके पास जाकर विधिवत् गुरुवंदना करें और यदि प्रत्यक्ष में नहीं हैं तो परोक्ष में ही लघु तीन भक्तियाँ पढ़कर विधिवत् गुरुवंदना करें।

यह त्रिकाल वंदना की विधि है। इससे अतिरिक्त सम्पूर्ण क्रियाओं के — स्वाध्याय, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि के प्रारंभ में बाहर आने-जाने आदि में गवासन से बैठकर मात्र नमोऽस्तु शब्द बोलकर वंदना करनी चाहिए^१ तथा विशेष कार्यों में कृतिकर्म विधिपूर्वक वंदना करनी चाहिए।

अभिषेक वंदना कब और कैसे करें?

“अहिसेयवंदणासिद्धचेदिपंचगुरुसंतिभत्तीहिं।” सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शांति भक्ति पढ़कर अभिषेक वंदना की जाती है।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि मुनिगण भी जिनेन्द्रदेव का अभिषेक देखते हैं और उस समय भक्ति पाठ भी करते हैं।

विशेष— इस युग के प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज भी बहुत ही भक्ति से पंचामृत अभिषेक देखते थे पुनः आहार के लिए निकलते थे। वर्तमान में कुछ संघों में पूर्वाह्न समय ६-७ बजे स्वाध्याय के पहले ही अभिषेक देखते हैं, कुछ संघों में आहार को उठते समय लगभग ९ बजे अभिषेक देखते हैं।

पूर्वाह्न स्वाध्याय कब और कैसे करें ?

ग्राह्यः प्रगे द्विघटिकादूर्ध्वं स प्राक्तनश्च मध्याह्ने।

क्षम्योऽपराह्णपूर्वापररात्रेष्वपि दिगेष्वेव ॥३॥ (अन. ध.अ. ९)

प्रातःकाल सूर्योदय से दो घड़ी — ४८ मिनट के बाद पौर्वाह्निक स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिए पुनः मध्याह्न के दो घड़ी पहले तक समापन कर देना चाहिए अर्थात् सूर्योदय के दो घड़ी बाद से लेकर मध्याह्न से दो घड़ी पहले तक पूर्वाह्न स्वाध्याय का काल माना गया है।

इसी प्रकार मध्याह्न की दो घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले तक अपराह्न के स्वाध्याय का काल है। रात्रि में सूर्यास्त के दो घड़ी बाद से अर्धरात्रि के दो घड़ी पहले तक पूर्वरात्रिक स्वाध्याय का काल है तथा अर्धरात्रि के दो घड़ी बाद से सूर्योदय के दो घड़ी पहले तक वैरात्रिक स्वाध्याय का काल है। तात्पर्य यह है कि चारों संधि कालों में चार-चार घड़ी का काल स्वाध्याय के लिए अकाल है।

अकाल के और भी भेद हैं यथा — दिक्दाह, बिजली गिरना, वज्रपात होना, इन्द्रधनुष होना, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, दुर्दिन, धूमकेतु, भूकंप, भयंकर मेघ गर्जन, अग्नि लग जाना, कलह आदि हो जाना इत्यादि प्रसंगों में अकाल माना गया है।

इसी प्रकार से अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, आष्टान्हिक पर्व आदि में भी सिद्धान्त ग्रंथों के पढ़ने का निषेध है। यह प्रकरण धवला^१ पुस्तक ९ में व 'दिगम्बर मुनि' पुस्तक में है। सिद्धान्त ग्रंथों को पढ़ने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों की शुद्धि शास्त्रों में कही गई है। इन शुद्धियों का उल्लंघन कर जो अकाल आदि में स्वाध्याय करते हैं उनके ज्ञान की वृद्धि व कर्म निर्जरा आदि के अतिरिक्त ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हो जाता है। जैसा कि कहा है — “द्रव्यादिशुद्ध्या ह्यधीतं शास्त्रं कर्मक्षयाय स्यादन्यथा कर्मबंधायेति भावः^२।”

सिद्धांत ग्रंथ कौन-कौन से हैं ?

गणधरदेव, अभिनवदशपूर्वी आदि महामुनियों द्वारा कथित सूत्रग्रन्थ-सिद्धान्त ग्रंथ हैं। इनके लिए ही द्रव्यादि शुद्धि का विधान है। वर्तमान में षट्खंडागमसूत्र-धवला ग्रंथ, कसायपाहुड़-जयधवला और महाबंध ये ग्रंथ सिद्धान्त ग्रंथ माने जाते हैं अतः इनको अस्वाध्याय काल में नहीं पढ़ना चाहिए। बाकी के आराधनाग्रंथ — भगवतीआराधना आदि, स्तुति ग्रंथ — आप्तमीमांसा आदि, पुराण ग्रंथ आदि अस्वाध्याय काल में पढ़े जा सकते हैं। मुनि और आर्यिकाओं को स्वाध्याय काल में ही सिद्धान्त ग्रंथों को पढ़ना चाहिए ऐसा मूलाचार^३ में कहा है। आगम के अनुसार विनय से पढ़ा गया शास्त्र केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला है।

आहारचर्या कब और कैसे ?

साधु मंदिर में जाकर मध्याह्न देववन्दना और गुरुवन्दना करके आहार को निकलते हैं ऐसा मूलाचार टीका, अनगार धर्मांश आदि में विधान है फिर भी आजकल ९ बजे से लेकर ११ बजे तक के काल में आहार को निकलते हैं। संघ के नायक आचार्य आदि गुरु पहले निकलते हैं उनके पीछे-पीछे क्रम से मुनि, आर्यिकायें, ऐलक, क्षुल्लक और क्षुल्लिकायें निकलते हैं अतः मंदिर में सभी संघ पहुँच जाता है तब मात्र गुरुवन्दना करके भगवान् की सामान्य स्तुति वंदना करके निकलते हैं। मुनिगण बायें हाथ में पिच्छी कमंडलु लेकर दाहिने हाथ की मुद्रा को कंधे पर रखकर निकलते हैं। किसी संघ में मुनिगण दाहिने हाथ में पिच्छी और

१. धवला पुस्तक ९, पृ. २५२ से २५९ तक। २. अनगारधर्मांश अ. ९, श्लोक ४ की टीका। ३. मूलाचार गाथा २७८।

बायें हाथ में कमंडलु लेकर निकलते हैं पुनः दातार के द्वार पर पड़गाहन के बाद बायें हाथ में पिच्छी लेकर दाहिने हाथ की मुद्रा कंधे पर रख लेते हैं।

नवधा भक्ति

१. पड़गाहन करना २. उच्च आसन देना ३. पाद प्रक्षालन करना ४. अष्टद्रव्य से पूजन करना ५. पंचांग नमस्कार करना ६. मनशुद्धि ७. वचनशुद्धि ८. कायशुद्धि और ९. भोजनशुद्धि कहना ये नवधा भक्ति है।

जब श्रावक नवधा भक्ति करके “हे स्वामिन् ! आहार ग्रहण कीजिये।” ऐसी प्रार्थना करके शुद्ध गरम जल से साधु के हाथ धुला देते हैं तब साधु वहीं चौके में पूर्व दिन के ग्रहण किये हुए आहार के त्यागरूप प्रत्याख्यान या उपवास की निष्ठापन क्रिया करते हैं। जैसा कि अनगार धर्माभूत और आचारसार आदि ग्रंथों में लिखा है—

“हेयं-त्याज्यं साधुना निष्ठाप्यमित्यर्थः। किं तत्? प्रत्याख्यानादि प्रत्याख्यानमुपोषितं वा। क्व? अशनादौ-भोजनारंभे। कया? सिद्धभक्त्या। किं विशिष्ट्या? लघ्व्या।”

अर्थ — साधु चौके में भोजन प्रारंभ करते समय लघु सिद्ध भक्ति के द्वारा पूर्व दिन के ग्रहण किये गये प्रत्याख्यान या उपवास का निष्ठापन करें — त्याग कर दें।

(कोई साधु मंदिर में या गुरु के पास ही सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान की निष्ठापना करके आहार को जाते हैं। सो समझ में नहीं आया, ऐसा कहीं आगम में विधान नहीं है।)

पुनः वहीं आहार के अनंतर मुखशुद्धि करके तत्क्षण ही प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेवें। सो ही देखिये —

“आदेयं च-लघ्व्या सिद्धभक्त्या प्रतिष्ठाप्यं साधुना। किं तत् ? प्रत्याख्यानादि। क्व? अंते प्रक्रमाद् भोजनस्यैव प्रांते। कथं? आशु शीघ्रं भोजनानंतरमेव। आचार्यासन्नि-धावेतद्विधेयं।”^{१२}

साधु शीघ्र ही — भोजन के अनंतर ही आचार्य की अनुपस्थिति में — वहीं चौके में ही लघु सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण कर लेवें अर्थात् अगले दिन आहार ग्रहण के पूर्व तक चतुर्विध आहार का त्याग कर दें या अगले दिन उपवास करना है तो उपवास ग्रहण कर लेवें।

पुनः श्रावक के घर से निकलकर साधु अपनी वसतिका में आकर आचार्य के समीप गवासन से बैठकर प्रत्याख्यान ग्रहण करें।

आचार्य के पास में बैठकर साधु लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण करें अनंतर लघु आचार्य भक्ति पढ़कर आचार्य की वंदना करें।

गोचार प्रतिक्रमण कब और कैसे करें?

आचार्यदेव की वंदना के बाद साधुवर्ग गोचार प्रतिक्रमण करें। जिनके घर में आहार हुआ है उनका नाम आदि बताकर आहार में जो कुछ अतिचार आदि लगे हों उनको कहना चाहिए। किन्हीं-किन्हीं संघ में आहार में जो कुछ ग्रहण किया है उन सब वस्तुओं को भी बतलाते हैं यह भी अच्छी परम्परा है। इससे शिष्यों के स्वास्थ्य के अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु की जानकारी हो जाने से गुरु उसे अनुकूल वस्तु लेने व प्रतिकूल वस्तु न लेने आदि की शिक्षा भी देते हैं।

अनगार धर्माभूत में एक प्रश्न हुआ है कि साधु गुरु के परोक्ष में ही चौके में ही प्रत्याख्यान क्यों ले लेते हैं ? उसका समाधान दिया है कि “दैवयोग से यदि कदाचित् गुरु के पास आते समय मार्ग में ही आयु समाप्त हो गई तो प्रत्याख्यान के बिना मृत्यु हो जाने से वह साधु विराधक-

असमाधि से मरण करने वाला हो जावेगा अतः शीघ्र ही प्रत्याख्यान स्वयं ले लेना चाहिए, फिर आकर गुरु के पास भी लेना चाहिए।^१

विशेष ज्ञातव्य — आजकल किन्हीं संघों में साधु आहार के पहले ही गुरु के पास प्रत्याख्यान निष्ठापन की भक्ति पढ़ लेते हैं और गुरु के पास ही प्रत्याख्यान का त्याग करके आहार को जाते हैं। सो यह परम्परा कैसे चालू हुई कौन जाने ? यह आगमोक्त नहीं है। आचारसार में भी लिखा है कि “साधु दातार द्वारा पड़गाहन आदि नवधाभक्ति के पूर्ण हो जाने के बाद ही सिद्धभक्ति करके प्रत्याख्यान का निष्ठापन करे पुनः आहार ग्रहण करे।”^{१२}

क्रियाकलाप में पंडित पन्नालाल जी सोनी ने भी यही विधि लिखी है। यथा — “भोजन के पहले लघु सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान अथवा उपवास का त्याग — निष्ठापन करें और भोजन के बाद शीघ्र ही लघु सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण करें। यह तो आचार्य की असमक्षता में करें। आचार्य के समीप में लघु सिद्धभक्ति, लघु योगिभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान अथवा उपवास धारण करें। अनन्तर लघु आचार्यभक्ति पढ़कर आचार्य की वंदना करें।”^{१३}

मध्याह्न देववन्दना (सामायिक)

११.३० बजे से मध्याह्न सामायिक का काल माना गया है। प्रातःकालीन सामायिक — देववन्दना के सदृश ही जिनमंदिर में जाकर विधिवत् देववन्दना करें। यदि कदाचित् अपनी वसतिका में ही सामायिक करना हो तो भी परोक्ष में ही पूर्ववत् सारी विधि करें।

दैनिक प्रतिक्रमण कब करें?

सूर्यास्त के दो घड़ी (४८मिनट) पहले ही सभी साधु आचार्यश्री के पास उपस्थित होकर ‘नमोऽस्तु’ करके उचित व्यवस्था से बैठकर “जीवे प्रमादजनिताः” आदि पढ़ते हुए दैनिक प्रतिक्रमण करें। जो पिछली रात्रि में रात्रिक प्रतिक्रमण विधि थी वही प्रतिक्रमण यहां पढ़ना है। अन्तर इतना ही है कि इसमें “अथ सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं दैनिकप्रतिक्रमणक्रियायां” बोलना चाहिए।

रात्रियोग प्रतिष्ठापना कब और कैसे?

पुनः सभी साधु रात्रियोग ग्रहण कर लेवें। आर्यिकायें अपनी वसतिका में जाकर ही रात्रियोग ग्रहण करें। इसका मतलब यह है कि — ‘योग-अद्य रात्रावत्र वसत्यां स्थातव्यमिति नियमविशेषः।’ आज रात्रि में हमें इस वसतिका में ही रहना है। इस नियम विशेष का नाम “रात्रियोग” है।

रात्रि में मलमूत्रादि विसर्जन के स्थान को साधु दिन में पहले से ही देखकर निश्चित कर लेते हैं, पुनः बाधा होने पर जा सकते हैं अतः उतनी परिधि खुली रखनी चाहिए।

अपराह्णिक देववन्दना विधि

सूर्यास्त के बाद साधु मंदिर जी में या अपनी वसतिका में ही सायंकालीन सामायिक शुरू करें। इसकी सारी विधि ‘पौर्वाह्निक देववन्दना’ के समान ही है। अन्तर इतना ही है कि “पौर्वाह्निक” के स्थान में ‘अपराह्निक’ बोलें।

पूर्वरात्रिक स्वाध्याय कब करें?

सूर्यास्त के दो घड़ी बाद से पूर्वरात्रिक स्वाध्याय काल शुरू हो जाता है। इस काल को प्रादोषिक काल भी कहते हैं। इस काल में विधिवत् स्वाध्याय करें।

यदि कदाचित् दीपक, विद्युत दीपक आदि प्रकाश की व्यवस्था न हो सके तो जो पाठ मौखिक याद हैं उन्हें पढ़कर उनके अर्थ का चिंतन करते हुए स्वाध्याय पूर्ण निष्ठापनविधि करें। इस स्वाध्याय का काल अर्धरात्रि के दो घड़ी (४८ मिनट) पहले तक माना गया है। फिर भी अपने स्वास्थ्य और शक्ति के अनुसार ही जाएं, पुनः निद्रा ग्रहण करें।

वैरात्रिक या अपररात्रिक स्वाध्याय के लिए दिक्शुद्धि का विधान शास्त्रों में नहीं है अतः इस स्वाध्याय के बाद दिक्शुद्धि नहीं करना है। चूंकि पिछली रात्रि में सिद्धांत ग्रंथ पढ़ने का निषेध है।

इसके बाद एकत्व भावना, वैराग्य भावना आदि का चिंतन करते हुए रात्रि में पाटा, चटाई या घास पर एक पसवाड़े से — एक करवट आदि से सो जावें।

यह पूर्वरात्रिक अनुष्ठान समाप्त हुआ।

इस प्रकार दिगम्बर जैन साधु-साध्वियों की दिनचर्या यहाँ बताई गई है।



जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन का महत्व

जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के दर्शन की भावना करते ही दो उपवास का फल मिल जाता है। चलने की अभिलाषा करते ही तीन उपवास का फल, चलने का आरंभ करते ही चार उपवास का फल, चलते-चलते पाँच उपवास का फल, कुछ दूर चले आने पर बारह उपवास का फल, बीच मार्ग में पहुँच जाने पर पन्द्रह उपवास का फल, मंदिर के शिखर का दर्शन करते ही एक मास के उपवास का फल, मंदिर में प्रवेश करने पर छह मास के उपवास का फल, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का फल, तीन प्रदक्षिणा देने पर सौ वर्ष के उपवास का फल, जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने से हजार वर्ष के उपवास का फल मिलता है। पुनः जिनप्रतिमा के सन्मुख खड़े होकर भावपूर्वक स्तुति करने से अनंत उपवास का फल प्राप्त होता है। यथार्थ में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से बढ़कर और कोई उत्तम पुण्य नहीं है।

—पद्मपुराण, पर्व 32, पृ. 99

९. श्रावक धर्म

(वसुनंदिश्रावकाचार ग्रंथ के आधार से)

जिनेन्द्रदेव के चरणकमल देवेन्द्रों के द्वारा पूज्य हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवन्तों ने केवलज्ञान के द्वारा समस्त तत्त्वार्थों को जान लिया है पुनः भव्य जीवों के लिए श्रावकधर्म व मुनिधर्म का उपदेश दिया है, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करके हम श्रावक धर्म का प्ररूपण करेंगे।

विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर के समवसरण में इन्द्रभूति नामक गौतम गणधर ने श्रेणिक महाराज को जिस प्रकार से श्रावकधर्म का उपदेश दिया है, उसी प्रकार गुरु परम्परा से प्राप्त श्रावकधर्म का वर्णन किया जाता है—

ग्यारह प्रतिमा—देशविरत नामक पंचम गुणस्थान में दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह स्थान (श्रेणी, कक्षा या प्रतिमा) होते हैं अर्थात् देशविरति वाले को श्रावक कहते हैं। ये ग्यारह स्थान चूँकि सम्यक्त्व रहित जीव के नहीं होते हैं अतः सबसे प्रथम सम्यक्त्व का वर्णन किया जाता है।

दर्शनप्रतिमा

सम्यक्त्व—सच्चे आप्त, आगम और तत्त्वों का शंकादि पच्चीस दोष रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित सर्वज्ञ आप्त कहलाते हैं तथा उसी आप्त के वचन प्रमाणभूत आगम हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। उन सबका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। इस सम्यक्त्व के निःशंका, निःकांक्षा आदि आठ अंग हैं।

सम्यग्दर्शन के होने पर संवेग—धर्म में प्रेम, निर्वेग—संसार से वैराग्य, निन्दा—स्वदोषों की आलोचना, गर्हा—गुरु के निकट स्वदोषों का कहना, उपशम—कषायों की मंदता, भक्ति—जिनेन्द्रदेवादि में सच्चा अनुराग, वात्सल्य—धर्मात्मा में प्रेम, अनुकंपा—दया ये आठ गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि श्रावक उदुंबर फल और सातों व्यसनो का त्याग करता है, वह दार्शनिक श्रावक कहलाता है। उदुंबर, बड़, पीपल, कटूमर और पाकर ये पाँचों फल, संधानक—अचार और वृक्षों के फूल ये सब त्रस जीवों से भरे रहते हैं, अतः इनका त्याग करना चाहिए।

जुआ, शराब, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परदारागमन ये सातों व्यसन दुर्गतिगमन के कारणभूत हैं। इन सबमें जुआ खेलना यह सबसे प्रमुख पाप है, लोक में अग्नि, विष, सर्प, चोरादि तो अल्प दुःख देते हैं परन्तु जुआ खेलना मनुष्य को हजारों-लाखों भवों में दुःख को देता है। मद्यपान से मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंद्य कार्य करते हुए परलोक में अनंत दुःखों को भोगता है। मद्य के सदृश मधुसेवन^१ भी अत्यधिक पाप उत्पन्न करता है। बारह गाँव के जलाने से भी अधिक पाप मधुसेवन से होता है। मांस प्रत्यक्ष में ही निंद्य, विष्टा के समान अपवित्र महापाप का कारण है, इसका नाम लेने से भी सभ्यजन भोजन छोड़ देते हैं। वेश्या सेवन भी चांडालादि के जूठन सदृश निंद्य पापों का स्थान है। दयारहित शिकार खेलना भी महापाप है और अनंत दुःखों का कारण है। परधन का हरण, परप्राण के हरण सदृश होने से महापाप है। परस्त्री लंपट भी इस

१. यहाँ मद्यपान नामक द्वितीय व्यसन में मधुपान को ले लिया है।

लोक में निंदा का पात्र होता हुआ परलोक में अनंत दुःखों को पाता है। ये सातों व्यसन नरक के द्वार हैं। एक-एक व्यसन से युधिष्ठिर, यादव, रावण आदि नष्ट हो चुके हैं तब जो सातों में आसक्त हैं, उनका क्या होगा ?

रात्रि भोजन करने वाले मनुष्य के ग्यारह प्रतिमाओं में से पहली प्रतिमा भी नहीं^१ हो सकती है अतः नियम से रात्रि में चतुराहार का त्याग कर देना चाहिए। रात्रि भोजन करने वाले मरकर रात्रिचर, उल्लू, बिलाव आदि जंतु होते हैं और भी अनेकों दुःख उठाते हैं। तत्काल में कीट, पतंग, केश आदि से मिश्रित भोजन के कर लेने से स्वास्थ्य की भी हानि कर लेते हैं अतः पंच उदुंबर फल, सात व्यसन और रात्रि भोजन का त्यागी श्रावक पहली दर्शन प्रतिमाधारी कहलाता है।

इस पहली प्रतिमा के धारी को पानी छानकर पीना, संकल्पी हिंसा का त्याग करना, नित्य जिनेन्द्रदेव का दर्शन करना भी बहुत जरूरी है तथा शुद्ध मर्यादित भोजन करना चाहिए, बाजार का बना हुआ या जिस किसी के हाथ का बना हुआ भोजन, पान जिस पर फफूंदी आ गई हो, ऐसे सड़े-गले आदि पदार्थ, अभक्ष्य पदार्थ, कंद, मूल आदि का भक्षण नहीं करना चाहिए अन्यथा पहली प्रतिमा नहीं रहती है।

व्रत प्रतिमा — दूसरी प्रतिमा में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ऐसे बारह व्रत होते हैं।

त्रस हिंसा नहीं करना और निष्कारण स्थावर हिंसा भी नहीं करना, पहला स्थूल अहिंसाव्रत है। राग-द्वेष से झूठ नहीं बोलना और प्राणियों का घात करने वाला सत्य वचन भी नहीं बोलना स्थूल सत्यव्रत है। कहीं पर पड़ा हुआ, खोया हुआ आदि पराया द्रव्य नहीं लेना स्थूल अचौर्य व्रत है। अष्टमी, चतुर्दशी आदि में स्त्रीसेवन और सदैव अनंग क्रीड़ा का त्याग करने वाला स्थूल^२ ब्रह्मचर्य है। जो धन, धान्य आदि का परिमाण किया जाता है वह पंचम परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। ऐसे उपासकाध्ययन में पाँच अणुव्रतों का लक्षण कहा है।

दिशा, विदिशाओं की मर्यादा करके उसके आगे नहीं जाना दिग्व्रत है। जिस देश में रहते हुए व्रत भंग का कारण उपस्थित हो, उस देश में गमन का त्याग करना दूसरा देशव्रत है। लोहे के शस्त्र, कुदाली आदि नहीं बेचना, झूठी तराजू, झूठे बांटों को नहीं रखना तथा बिल्ली, कुत्ता आदि क्रूर प्राणियों को नहीं पालना अनर्थदण्ड त्यागव्रत है। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडव्रत, ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं।

शारीरिक श्रृंगार, तांबूल, गंध, पुष्पादि का जो परिमाण किया जाता है, वह भोगविरति नामक प्रथम शिक्षाव्रत है। शक्ति अनुसार स्त्रीसेवन, वस्त्र आभूषणों का परिमाण करना — कुछ-कुछ दिनों के लिए त्याग करना परिभोगविरति व्रत है। अतिथि का संविभाग करना — साधुओं को दान देना, यह तीसरा व्रत है। वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर विधिवत् सल्लेखना ग्रहण करना चौथा सल्लेखना व्रत है। इस प्रकार भोगविरति, परिभोगविरति, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत उपासकाध्ययन सूत्र में कहे गये हैं।

इनमें जो एक बार भोगने में आवे, वह वस्तु 'भोग' है और जो बार-बार भोगने में आवे वह 'उपभोग' है। इन दोनों के परिमाण करने से दो व्रत होते हैं। तीसरे शिक्षाव्रत में जो विशेषता है, उसे बताते हैं। उपासकाध्ययन सूत्र में अतिथि संविभाग के पाँच अधिकार बताये गये हैं। पात्रों के भेद, दातार, दानविधान, दातव्य — देने योग्य पदार्थ और दान का फल ये पाँच अधिकार हैं।

पात्र के भेद — उत्तम, मध्यम और जघन्य ये तीन भेद हैं। व्रत, नियम और संयमधारी साधु उत्तम पात्र हैं। ग्यारह प्रतिमाओं में स्थित श्रावक मध्यम पात्र हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पात्र हैं। व्रत, तप

१. एयारसेसु पढमं वि जदो णिसिभोजणं कुणंतस्स। ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तिं परिहरे णियमा॥३१४॥ (वसु.)

२. जब पर्वों में स्वस्त्री का भी त्याग बता दिया है, तो परस्त्री और वेश्या का त्याग तो इस व्रत में स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

और शील से सम्पन्न किन्तु सम्यग्दर्शन से रहित जीव कुपात्र है और व्रत, शील तथा सम्यक्त्व से रहित जीव अपात्र है।

दातार—जिस दातार में श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति ये सात गुण होते हैं, वह दातार प्रशंसनीय है।

दानविधि—पात्र को आते देखकर (१) 'नमोस्तु' अत्र तिष्ठ तिष्ठ कहकर पड़गाहन करना, (२) घर में ले जाकर ऊँचे आसन पर बिठाना, (३) उनके चरण धोना एवं पवित्र पादोदक को शिर में लगाना, (४) पुनः जल, गंध, अक्षत आदि अष्टद्रव्य से पूजा करना, (५) चरणों के सामने पुष्पांजलि क्षेपण कर नमस्कार करना, (६) आर्तारौद्र ध्यान से रहित मन शुद्धि, (७) कर्कश आदि वचन से रहित वचन शुद्धि (८) विनीत अंग सहित काय शुद्धि ऐसे तीनों की शुद्धि कहना और चौदह मल दोष रहित यत्न से शोधकर आहारदान देना यह एषणाशुद्धि है अर्थात् पड़गाहन, उच्च स्थान, चरण प्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मन, वचन, काय और आहार की शुद्धि यह नवधाभक्ति कहलाती है। यही दान की विधि है।

दातव्य—आहार, औषधि, शास्त्र और अभय ये चार प्रकार के दान कहे हैं, यही पात्र के लिए दातव्य हैं। तीन प्रकार के पात्र को यथायोग्य नवधाभक्ति से आहार देना। गूँगे, अंधे, बहरे, रोगी, दरिद्री आदि को करुणाबुद्धि से आहारदान देना यह करुणादान है। उपवास, व्याधि आदि से पीड़ित साधु को निर्दोष औषधि देना और अन्य रोगियों को भी वनस्पतिजन्य औषधि देना औषधिदान है। शास्त्र लिखा या छपाकर देना, जिन वचनों को पढ़ाना शास्त्रदान है। मरण से भयभीत जीवों का नित्य परिलक्षण करना सर्व दानों का शिखामणि अभयदान है।

दान का फल—सम्यग्दृष्टि जीव सुपात्र को दान देता है तो वह स्वर्ग-मोक्ष फल को प्राप्त करता है। भद्र मिथ्यादृष्टि (मंदकषायी) उत्तम पात्र में दान देने से उत्तम भोगभूमि में, मध्यम पात्र को देने से मध्यम भोगभूमि में, जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि में और कुपात्र को दान देने से कुभोगभूमि में जन्म लेता है। अपात्र में दिया गया दान दुःखदायी है, जैसे सर्प को दूध पिलाने से वह विष बन जाता है। दान की अनुमोदना करने से तिर्यच भी उपर्युक्त प्रकार के क्रम से ही फल प्राप्त करते हैं अर्थात् उत्तम पात्र की अनुमोदना से उत्तम भोगभूमि में मनुष्य हो जाते हैं आदि। जिसने पहले मनुष्य की आयु बांध ली है अनंतर सम्यक्त्व ग्रहण करके यदि पात्र में दान देते हैं तो उत्तम भोगभूमि के मनुष्य होते हैं। यदि ऐसा तिर्यच है तो वह भी उत्तम भोगभूमि का तिर्यच होता है। भोगभूमि में दश प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्तम-उत्तम भोग सामग्री मिलती रहती है। अविरत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती जीव तीन प्रकार के पात्रों में दान देने के फल से स्वर्गों में महर्द्धिक देव होते हैं अनंतर यहाँ आकर मंडलीक, महामंडलीक राजा होकर सुखों को भोगकर या तीर्थकर जैसे महान पद को भी प्राप्त कर क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार से अतिथिसंविभाग व्रत का वर्णन हुआ।

सल्लेखना—वस्त्र मात्र परिग्रह के सिवाय सब छोड़कर घर में ही या जिनालय में जाकर गुरु के समीप मन, वचन, काय से सर्व दोषों की आलोचना करके पान^१ के सिवाय तीन प्रकार के आहार का त्याग करना सल्लेखनाव्रत है।

१. अशन, खाद्य, स्वाद्य और पान आहार के चार भेद हैं। पीने योग्य जलादि का नाम पान है।

श्री वसुनंदि आचार्य ने चार शिक्षाव्रतों में ही सल्लेखना को लिया है और इसे उपासकाध्ययन सूत्र के अनुसार बताया है। सल्लेखना को व्रत कहने का अर्थ है कि श्रावक सदैव यह भावना करे कि 'मैं मरण समय अवश्य सल्लेखना करूँगा' तथा अंत समय विधिवत् इस व्रत को पूरा करे। श्री समंतभद्र स्वामी ने अतिथि संविभाग को 'वैयावृत्य' नाम से कहा है और उसमें दान के सिवाय जिन पूजन को भी ले लिया है। कुछ भी हो, इन बारह व्रतों को पालन करने वाला श्रावक नियम से देवगति में ही जाता है, अन्यत्र नहीं जा सकता।

श्रावक के कर्तव्य

श्रावकों को अपनी शक्ति के अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन-विधान करना चाहिए।

विनय — गुरुजनों के प्रति नम्र व्यवहार करना विनय है। उसके पाँच भेद हैं — दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय। ये पाँचों विनय पंचमगति — मोक्षगति के लिए कारण हैं। सम्यक्त्व के गुणों का पालन करना और सम्यक्त्वी का यथायोग्य आदर करना दर्शन विनय है। ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदिक में तथा ज्ञानवान पुरुष के प्रति अनुकूल आचरण करना ज्ञान विनय है। पाँच प्रकार के चारित्र में और चारित्रधारियों में आदर-सत्कार, भक्ति करना चारित्र विनय है। यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकार के संकल्प को छोड़कर तपस्वीजनों का आदरपूर्वक वंदन करना तप विनय है। मन-वचन-काय से प्रत्यक्ष और परोक्ष में गुरुजनों की विनय करना उपचार विनय है।

अशुभ परिणाम को हटाकर, हित, मित, पूज्य कोमल और भक्तिपूर्ण विनीत वचन बोलना, साधु और व्रती श्रावकों की वंदना करना, उन्हें देख उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, उच्चासन देना, आते देख उनके सन्मुख जाना, जाते समय उनके पीछे-पीछे चलना, उनके शरीर का अनुकूल मर्दन करना, समय और उनके मन के अनुकूल प्रवृत्ति करना, संस्तर आदि करना (पाटा, चटाई आदि बिछाना), उपकरण आदि देना, यह सब प्रत्यक्ष उपचार विनय है।

यदि गुरु प्रत्यक्ष में नहीं हैं तो भी उनकी आज्ञा के अनुकूल चलना, परोक्ष में वंदना आदि करना परोक्ष विनय है।

विनय से मनुष्य यशस्वी, सौभाग्यशाली और सर्वत्र आदरणीय होता है। विनय से ही गुरु की कृपा को प्राप्त कर सांसारिक अभ्युदय के साथ-साथ मोक्षपुर को भी प्राप्त कर लेता है। विनय से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। विनय मुक्ति का द्वार है अतः श्रावक को इसे आवश्यक कर्तव्य समझकर नित्यप्रति पालन करना चाहिए।

वैयावृत्य — मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका इस प्रकार से संघ में अतिबाल, अतिवृद्ध, रोग पीड़ित, मनोज्ञ — लोक में प्रभावशाली साधु अथवा श्रावकों का यथायोग्य हाथ, पैर, शिर आदि का दबाना, तेल मर्दन करना, अंग सेकना, उठाना, बिठाना, सेवा शुश्रूषा आदि समयोचित कार्यों द्वारा वैयावृत्ति करना, शरीर के योग्य पथ्य — अन्न जल द्वारा, औषधियों द्वारा, मल मूत्रादि के दूर करने से, शरीर के धोने से, प्रयत्नपूर्वक ग्लानि रहित भाव से वैयावृत्य करना चाहिए। वैयावृत्ति करने वाले श्रावक के द्वारा देह, तप, नियम, संयम, अभयदान आदि दिया जाता है अर्थात् वैयावृत्ति करने से साधु और श्रावकों के उपर्युक्त गुणों से युक्त शरीर की रक्षा होती है अतः मानो उसी वैयावृत्ति करने वालों ने ही यह गुण दिये हैं, ऐसा समझना।

वैय्यावृत्य करने वाले श्रावक के नवीन सदगुणों का प्रादुर्भाव और जिनेन्द्र आज्ञा का परिपालन होता है। वह बिना प्रयत्न के अनेक गुणों को प्राप्त कर जिनशासन का तिलकभूत प्रभावक हो जाता है। सारे विश्व में उसका उज्ज्वल यश फैल जाता है। वह परलोक में रूपवान, तेजस्वी, चिरायुष्क, रोग शोक से रहित, महाबली, पूर्ण प्रतापी हो जाता है। वैय्यावृत्य के प्रभाव से जल्लौषधि, सर्वोषधि, अक्षीणमहानस आदि ऋद्धियाँ भी बिना तपश्चरण के प्रगट हो जाती हैं। अधिक कहने से क्या, वैय्यावृत्य करने से यह जीव तीन लोक में संक्षोभ — हर्ष और आश्चर्यकारी महान तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेता है।

वसुदेव पूर्व भव में वैय्यावृत्य करके महान् बल, शौर्य, तेज को प्राप्त कर कामदेव हुए। द्वारावती में नारायण श्रीकृष्ण ने वैय्यावृत्य करके तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का उपार्जन कर लिया अतः प्रत्येक श्रावक को वैय्यावृत्ति को भी एक आवश्यक कर्तव्य समझकर नित्य ही करना चाहिए और सर्वशक्तिपूर्वक करना चाहिए क्योंकि यह वैय्यावृत्ति तपश्चर्या^१ का हृदय है।

श्रावक के लिए कायक्लेश का उपदेश

एकाशन, उपवास, बेला, तेला, आचाम्ल, निर्विकृति, पाँच उपवास, दस उपवास आदि के द्वारा शरीर को कृश करना तथा मन और इन्द्रियों को वश में करके आत्मा को तप अग्नि में तपाकर शुद्ध निर्मल करना कायक्लेश है। इसी कायक्लेश की सिद्धि के लिए कुछ व्रतों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

पंचमीव्रत — आषाढ़, कार्तिक या फाल्गुन मास में शुक्ला पंचमी के दिन गुरु के पादमूल में विधिवत् व्रत ग्रहण कर उपवास करके जिनपूजन करे। प्रतिमास की शुक्ला पंचमी को उपवास करते हुए पाँच वर्ष और पाँच मास लगातार कर के व्रत का उद्यापन करे। उद्यापन में जिनेन्द्र भगवान की पाँच प्रतिमाएँ बनवाकर, पाँच शास्त्र लिखाकर उनकी प्रतिष्ठा में सभी उपकरण पाँच-पाँच की संख्या में बनवावे और विधिवत् प्रतिष्ठा कराके व्रत पूर्ण करे, यह व्रत पंचमगति को प्राप्त कराने वाला है। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो व्रत को दुगुना करना चाहिए। इसके फलस्वरूप देवेन्द्र, चक्रवर्ती का वैभव प्राप्त कर निर्वाण पद प्राप्त कर लेते हैं।

रोहिणी व्रत — यह व्रत प्रतिमास के रोहिणी नक्षत्र में किया जाता है, व्रत के दिन उपवास करके अभिषेक, पूजन, जाप्य करके जिनालय में पूरा समय बिताना चाहिए। प्रत्येक मास में एक बार रोहिणी नक्षत्र आता है। जिस दिन रोहिणी नक्षत्र का अभाव हो तो गणित के हिसाब के अनुसार कृत्तिका की समाप्ति होने पर रोहिणी के प्रारंभ में व्रत करना चाहिए। मृगशिरा अथवा कृत्तिका को व्रत करना निषिद्ध है। रोहिणी नक्षत्र पंचांग में एक-दो घड़ी भी हो तो भी कर लेना चाहिए, जब तक सूर्योदय काल में रोहिणी मिले तब तक अस्तकालीन नक्षत्र नहीं लेना चाहिए।

इस व्रत के फल से स्त्री या पुरुष कभी भी शोक को नहीं देखता है, वह विपुल भोगों को भोगकर निर्वाण को प्राप्त करता है। यह व्रत तीन वर्ष, पाँच वर्ष या सात वर्ष तक किया जाता है, इस व्रत में वासुपूज्य भगवान की पूजा और जाप्य करना चाहिए। इसके उद्यापन में प्रतिमा वासुपूज्य^२ भगवान की बनवाना चाहिए।

अश्विनी व्रत — प्रत्येक मास में एक दिन अश्विनी नक्षत्र आता है। अश्विनी नक्षत्र में व्रत ग्रहण कर उपवास करना चाहिए। इस प्रकार सत्ताइस अश्विनी नक्षत्र के उपवास करके यह व्रत पूर्ण कर उद्यापन करना

१. वैय्यावृत्यं हि तपसो हृदयं ब्रूते जिनाः, (अनगार धर्मावृत)। २. 'व्रत विधि निर्णय' पुस्तक में इस व्रत में 'ॐ ह्रीं अर्हं श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्राय नमः' जाप्य बताई गई है।

चाहिए। इस व्रत को करने वाला स्वर्ग के सुख भोगकर अक्षय मुक्तिसुख को प्राप्त करता है।

सौख्य संपत्ति व्रत— इस व्रत में प्रतिपदा का एक, द्वितीया के दो, तृतीया के तीन, चतुर्थी के चार, पंचमी के पाँच, षष्ठी के छह, सप्तमी के सात, अष्टमी के आठ, नवमी के नौ, दशमी के दश, एकादशी के ग्यारह, द्वादशी के बारह, त्रयोदशी के तेरह, चतुर्दशी के चौदह और पूर्णमासी के पन्द्रह उपवास करना चाहिए। यह व्रत भी उत्तम-उत्तम सौख्य संपत्ति को देकर अक्षय सौख्य सम्पत्ति को प्राप्त करा देता है। इसमें १२० उपवास होते हैं, अनन्तर उद्यापन करना चाहिए।

विमान पंक्ति व्रत— चारों दिशाओं में स्थित चार श्रेणीबद्ध संबंधी चार एकान्तर उपवास करके, पुनः मध्य में स्थित इन्द्रक विमान संबंधी एक बेला करे। यह विधि तिस्रसठ बार करना चाहिए। व्रत प्रारंभ करने के दिन और समाप्त होने के दिन बेला करे तथा मध्य में बेला करे। इस व्रत के फल से यह जीव देव, मनुष्यों के सुख भोग कर देवेन्द्रों से स्तुति को प्राप्त हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।

विशेष— इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से विमान के तीन भेद हैं, इनमें से इन्द्रक विमान बीच में हैं और श्रेणीबद्ध विमान चारों दिशाओं में श्रेणीरूप में स्थित हैं। ऋतु विमान आदि को लेकर इन्द्रक विमानों की संख्या त्रैसठ है। विमान पंक्ति व्रत में इन्द्रक की चारों दिशाओं में श्रेणीबद्ध विमानों की अपेक्षा चार उपवास, चार पारणाएँ और इन्द्रक की अपेक्षा एक बेला, एक पारणा होती है। इस तरह त्रैसठ इन्द्रक विमानों की चार-चार श्रेणियों की अपेक्षा चार-चार उपवास होने से ये दो सौ बावन उपवास तथा त्रैसठ इन्द्रक संबंधी त्रैसठ बेला होते हैं। त्रैसठ बेला के बाद एक तेला होता है। इस प्रकार उपवास २५२, बेला ६३ और तेला १ सब मिलाकर तीन सौ सोलह स्थान होते हैं अतः इतनी ही पारणाएँ होती हैं। यह व्रत पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के क्रम से होता है चारों दिशाओं के चार उपवास के बाद बेला होता है। इसमें कुल छह सौ सत्तानवे दिन लगते हैं। यह व्रत विमानों की ईश्वरता प्राप्त कराने वाला है अर्थात् इस व्रत का करने वाला मनुष्य विमानों का स्वामी होता है।

व्रतों के अनुष्ठान रूप तप के द्वारा शरीर को कष्ट देना इसलिए उपयोगी है कि शरीर को कष्टसहिष्णु बनाना और शरीर से निर्मम होने का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि शरीर में ममत्व होना ही संसार का मूल कारण है तथा सुखिया जीवन में किया गया तत्व का अभ्यास दुःख के आने पर पलायमान हो जाता है अतः शक्ति के अनुरूप दुःखों को बुलाकर भी आत्मा का अभ्यास करना चाहिए। यह सब तप, अनुष्ठान के निमित्त से ही संभव है अतः ये व्रत बहुत ही महत्वशाली हैं। अनेक लौकिक सुखों को भी प्रदान करते हैं और आत्मशुद्धि में मुख्य कारण हैं।

पूजा विधान

अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और शास्त्र की नाना वैभव से जो अर्चा की जाती है, उसे पूजन-विधान कहते हैं। उस पूजन के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह भेद हैं।

नाम पूजा— अरिहंत आदि का नाम उच्चारण करके जो विशुद्ध प्रदेश में पुष्पक्षेपण किया जाता है वह नाम पूजा है।

स्थापना पूजा— सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना से स्थापना के दो भेद हैं। आकारवान पाषाण आदि की प्रतिमा में अरहंत आदि के गुणों का आरोपण करना सद्भाव स्थापना है और अक्षत आदि में

अपनी बुद्धि से यह अमुक देवता हैं, ऐसा संकल्प करना असद्भाव स्थापना पूजा है इस हुंदावसर्पिणी काल में द्वितीय स्थापना पूजा का निषेध है।

इस स्थापना पूजा में विधिवत् प्रतिमा को बनवाकर प्रतिष्ठा करवाना चाहिए। इसमें जो श्रुतज्ञान के बारह अंग उपांग वाली हैं, सम्यग्दर्शनरूपी तिलक से विभूषित हैं, चारित्ररूप वस्त्र की धारक हैं और चौदह पूर्वरूप आभरणों से मंडित हैं ऐसी श्रुतदेवी की भी मूर्ति स्थापित करना चाहिए या जिनागम को पुस्तकों में लिखवाकर शुभ मुहूर्त में प्रतिष्ठा करना चाहिए। पाँच बातें ज्ञातव्य हैं— प्रतिष्ठा कराने वाला, प्रतिष्ठाचार्य, प्रतिमा, प्रतिष्ठा विधि और प्रतिष्ठा का फल। जिनमंदिर बनवाकर प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराकर विराजमान करना आदि स्थापना पूजा है।

द्रव्य पूजा— जलादि अष्ट द्रव्य से जिनप्रतिमा आदि की पूजा करना द्रव्य पूजा है। इसके तीन भेद हैं— सचित्त, अचित्त और मिश्र। प्रत्यक्ष में उपस्थित जिनेन्द्र भगवान और गुरु आदि की शास्त्रोक्त पूजन करना सचित्त पूजा है। जिन तीर्थंकर आदि के शरीर की और द्रव्य श्रुत — कागज आदि के शास्त्रों की पूजा अचित्त पूजा है और जिसमें दोनों की पूजन हो, वह मिश्रपूजा कहलाती है।

क्षेत्र पूजा— जिन भगवान की जन्मकल्याण भूमि, केवलज्ञानोत्पत्ति भूमि, तीर्थ चिन्ह स्थान, निर्वाण भूमि आदि की शास्त्र विधि के अनुसार पूजा करना क्षेत्र पूजा है।

काल पूजा— जिस दिन तीर्थंकरों के गर्भावतार, जन्माभिषेक, तप, ज्ञान, निर्वाणकल्याणक हुए हैं उस दिन विधिवत् अभिषेक करके संगीत, नाटक आदि पूर्वक उत्सव करना, नंदीश्वर पर्व आदि में पूजन आदि पूर्वक जिनमहिमा करना काल पूजा है।

भाव पूजा— परम भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान के अनंतचतुष्टय आदि गुणों का कीर्तन करके जो त्रिकाल वंदना की जाती है उसे निश्चय से भाव पूजा कहते हैं अथवा पंच नमस्कार मंत्र का जाप करना, स्तोत्रादि करना भाव पूजन है अथवा पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप जो चार प्रकार का ध्यान है उसे भी भाव पूजा कहते हैं। इस प्रकार से संक्षेप से पूजा के छह भेद कहे गये हैं।

इन ५ प्रकार की पूजन के भेदों में श्रावकों के लिए द्रव्य पूजा मुख्य है और साधुओं के लिए भाव पूजा मुख्य है क्योंकि जब तक श्रावक परिग्रह आरंभ का त्यागी नहीं है तब तक उसे अष्टद्रव्य आदि सामग्री को लेकर अभिषेकपूर्वक द्रव्य पूजन का अनुष्ठान करना ही चाहिए। इसी प्रकार स्तोत्र पाठ और महामंत्र का जाप्य भी करना चाहिए और ध्यान के अभ्यास के लिए सामायिक काल में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का अभ्यास भी अवश्य करना चाहिए।

पिंडस्थ ध्यान

पहले भाव पूजा के लक्षण में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत रूप चार प्रकार के ध्यान को करने का उपदेश दिया गया है। उसी में सबसे प्रथम पिंडस्थ ध्यान का वर्णन किया जाता है—

श्वेत किरणों से विस्फुरायमान और अष्ट महाप्रातिहार्यों से संयुक्त जिनरूप-केवलीतुल्य आत्मस्वरूप का जो ध्यान किया जाता है उसे पिंडस्थ ध्यान कहते हैं अथवा अपने नाभिस्थान में मेरु पर्वत की कल्पना करके उसके अधोभाग में अधोलोक का ध्यान करे, नाभिपार्श्ववर्ती द्वितीय तिर्यग विभाग में तिर्यग्लोक का ध्यान करे। नाभि से ऊर्ध्वभाग में ऊर्ध्वलोक का चिंतन करे। स्कंध पर्यंत भाग में कल्प विमानों का, ग्रीवा स्थान पर नव ग्रैवेयकों का, ठोड़ी के स्थान पर नव अनुदिशों का, मुख प्रदेश पर विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि का ध्यान

करे। ललाट प्रदेश में सिद्धशिला, उसके ऊपर उत्तमांग में लोक शिखर के तुल्य सिद्धक्षेत्र को जानना चाहिए। इस प्रकार जो निज देह का ध्यान किया जाता है, उसे भी पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए।

अथवा पिंडस्थ ध्यान में श्री वर्धमान स्वामी द्वारा कही हुई जो पाँच धारणाएँ^१ हैं, उनका वर्णन करते हैं। पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ये पाँच धारणाएँ हैं।

पार्थिवीधारणा^२ — प्रथम ही ध्यानी स्वयंभूरमणपर्यंत जो मध्यलोक है, उस एक राजू प्रमाण क्षीरसमुद्र का चिंतन करे। उस समुद्र के मध्य में जम्बूद्वीप बराबर एक लाख योजन प्रमाण स्वर्ण सदृश पीला एक सहस्र दल वाला कमल है। उस कमल के मध्य मेरु के समान कर्णिका है उस पर श्वेत वर्ण का एक सिंहासन है। उस सिंहासन पर बैठे हुए अपनी आत्मा को ऐसा विचारे कि यह समस्त रागद्वेषादि को क्षय करने में समर्थ है। यह पार्थिवी धारणा हुई।

आग्नेयी धारणा — तत्पश्चात् निश्चल अभ्यास से ध्यानी अपने नाभिमंडल में सोलह ऊँचे-ऊँचे पत्तों वाला एक मनोहर कमल का चिंतन करे, अनन्तर उस कमल के सोलह पत्तों पर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ अं अः' इन अक्षरों का ध्यान करे तथा कर्णिका पर 'ह्रीं' इस महामंत्र का ध्यान करे। अनन्तर सोचे कि महामंत्र के रेफ से मन्द-मन्द धुँएँ के साथ अग्नि की ज्वाला निकल रही है। अनन्तर यह सोचे कि हृदय में अधोमुख वाला आठ पत्ते का कमल है उसके प्रत्येक पत्ते पर क्रम से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म स्थित हैं।

यह नाभिकमल की कर्णिका के 'ह्रीं' की अग्निज्वाला उस हृदयस्थ कमल को जलाने लगी। कमल को जलाकर प्रबल रूप से बढ़ती हुई अग्नि बाहर निकलकर त्रिकोणाकार बन गई और बड़वानल के समान भयंकर होकर औदारिक, तैजस, कार्मण शरीर को भस्म करने लगी। बाह्य में त्रिकोणाकार में 'रं, रं' बीजाक्षर व्याप्त हैं और साधिया का चिन्ह है। यह अग्निमण्डल अन्दर के कमल को और बाह्य में शरीर भस्मसात करके जलाने योग्य पदार्थ का अभाव होने से धीरे-धीरे अपने आप शान्त हो गई। यह आग्नेयी धारणा है।

श्वसना-मारुती धारणा — पुनः वह ध्यानी आकाश में पूर्ण होकर विचरते हुए महावेग वाले ऐसे वायुमंडल का चिंतन करे। वह वायु मण्डल देवों की सेना को चलायमान करता हुआ, मेरु पर्वत को भी कंपाता हुआ, मेघों के समूह को बिखेरता हुआ, समुद्र को क्षुब्ध करता हुआ, लोक के मध्य में दशों दिशाओं में संचरता हुआ, जगत् रूप घर में फैला हुआ पृथ्वीतल में प्रवेश कर रहा है। जो शरीरादि के जलने से भस्म हुई थी उसको इस महावायु ने शीघ्र ही उड़ा दिया पुनः स्थिर होकर शान्त हो गई। यह श्वसना मारुती धारणा है।

वारुणी धारणा — वही पुण्यात्मा ध्यानी इन्द्रधनुष, बिजली, गर्जनादि से भरे मेघों के समूह का चिंतन करे। ये मेघ अमृत से उत्पन्न मोती सदृश बड़ी-बड़ी बिन्दुओं से मूलसाधार वर्षा कर रहे हैं। तत्पश्चात् अर्द्धचन्द्राकार मनोहर अमृतमय जल का प्रवाह शरीर के जलने से उत्पन्न हुए भस्म को प्रक्षालित करके आत्मा को दिव्य निर्मल कर रहा है, ऐसा चिंतन करें। यह जल धारणा या वारुणी धारणा कहलाती है।

तत्त्वरूपवती धारणा — तत्पश्चात् ध्यानी मुनि या श्रावक ऐसा ध्यान करे कि मेरी आत्मा सात धातु रहित पूर्ण चन्द्रमा के समान निर्मल प्रभासहित सर्वज्ञ हो गई है। यह आत्मा अतिशययुक्त सिंहासन पर आरूढ़

१. ज्ञानार्णव में संस्थानविचय नामक धर्मध्यान में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत चार भेद माने हैं। उसके आधार से यहाँ विवेचन है। २. कोई भी श्रावक या साधु प्रसन्नमना होकर एकान्त स्थान में बैठकर सामायिक विधि आदि करके स्थिर चित्त होकर इस पिंडस्थ ध्यान का अभ्यास करे।

कल्याणक में सौधर्म आदि इन्द्रों से पूजित है। तत्पश्चात् आठ कर्मों से रहित स्फुरायमान ज्ञानपुंज स्वरूप पुरुषाकार ऐसी अपनी आत्मा का चिंतन करें। यह तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाला श्रावक निश्चल अभ्यास के द्वारा कुशलता प्राप्त करता हुआ मुनि होकर शुक्लध्यान की सिद्धिपूर्वक मोक्षसुख को अतिशीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। पिंड अर्थात् शरीर में स्थित आत्मा का ध्यान पिंडस्थ ध्यान है। यह धर्मध्यान से अंतिम संस्थानविचय ध्यान का प्रथम भेद है। आज भी इस ध्यान का अभ्यास हो सकता है, ऐसा आचार्यों ने कहा है। यह ध्यान मुख्यरूप से मुनियों को ही होता है, किन्तु गौणरूप से श्रावक भी इसको कर सकते हैं।

प्रारंभ में इन ध्यानों का अभ्यास करने में इनकी भावना मात्र चलती है। धीरे-धीरे बार-बार चिंतन करते-करते वह एकाग्र रूप हो जाता है। वही ध्यान कहलाता है। यदि यह ध्यान एक क्षण के लिए भी एकाग्र स्थिति को प्राप्त करता है, तब भी समझना चाहिए कि असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा हो जाती है। इस ध्यान के प्रभाव से विद्या, मंडल, यंत्र-मंत्र, इंद्रजाल के आश्चर्य, क्रूर मरणादि क्रिया तथा सिंह, सर्प, दैत्य, हस्ती, अष्टपद आदि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं कर सकते हैं तथा शाकिनी, ग्रह, राक्षस, पिशाच, व्यन्तर आदि भी किसी प्रकार की बाधा नहीं कर सकते हैं। इन पाँच धारणाओं के अभ्यास से मन वश में हो जाता है जिससे अनेक कार्य सिद्ध हो जाते हैं, अंतिम सिद्धि तो मुक्तिलक्ष्मी का वश में हो जाना ही है। वह भी परम्परा से प्राप्त हो जाती है।

पदस्थ ध्यान

एक अक्षर को आदि लेकर अनेक प्रकार के पंचपरमेष्ठीवाचक पवित्र मंत्र पदों का उच्चारण करके ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। जैसे 'ॐ', 'अर्हं', 'ॐ नमः', 'अरहंत', 'अर्हं नमः' 'असि आ उसा', ॐ नमः सिद्धेभ्यः', ये मंत्र क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह अक्षर वाले हैं इनका ध्यान करना चाहिए। ॐ ह्रीं नमः, ॐ ह्रीं अर्हं नमः, ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः, 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः' इत्यादि पंचपरमेष्ठी या जिन तीर्थंकर वाचक नाम पदों का ध्यान पदस्थ ध्यान है।

'अर्हं' इस मंत्र का ध्यान समस्त पापरूपी अंधकार को नाश करने वाला है। हृदय कमल में चार पत्र का कमल सोचे, उसकी कर्णिका पर 'अ', पूर्व दिशा के पत्र पर 'सि', दक्षिण दिशा के पत्र पर 'आ', पश्चिम दिशा के पत्र पर 'उ', उत्तर दिशा के पत्र पर 'सा' इन मंत्रों को स्थापित कर ध्यान करे अथवा अष्टदल कमल की कर्णिका पर 'अ', पूर्व दिशा के पत्रों पर 'सि', 'आ, उ, सा' और विदिशाओं के पत्र पर क्रमशः दर्शन का 'द', ज्ञान का 'ज्ञा', चारित्र का 'चा' और तप का 'त' इन अक्षरों को स्थापित कर ध्यान करे। इस प्रकार अष्ट दल वाले कमल को सिर, मुख, कंठ, हृदय और नाभिप्रदेश इन पाँच स्थानों में स्थापन कर ध्यान करना चाहिए।

वर्णमातृका ध्यान—अनादि सिद्धान्त में प्रसिद्ध जो वर्णमातृका—समूह है, यह संपूर्ण शब्दों के रचना की जन्मभूमि है और जगत से वंदनीय है। ध्यान करने वाला पुरुष नाभिमंडल में सोलह दल के कमल का चिंतन करे, उस कमल के प्रत्येक पत्र पर क्रम से अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ अं अः' इन सोलह अक्षरों का चिंतन करे। तत्पश्चात् वह ध्यानी हृदय स्थान में चौबीस दल का कमल सोचे, उसकी कर्णिका पर 'क' और पूर्व दिशा के क्रम से प्रत्येक पत्र पर ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण, त थ द

ध न, प फ ब भ म इन पच्चीस अक्षरों का ध्यान करे, अनंतर आठ पत्रों से विभूषित मुखकमल के प्रत्येक पत्र पर क्रम से 'य र ल व श ष स ह' इन आठ वर्णों का ध्यान करे। इस प्रकार से निरंतर वर्णमातृका का ध्यान करता हुआ योगी भ्रमरहित होकर श्रुतज्ञान रूपी समुद्र के पार को प्राप्त हो जाता है। इन ४९ अक्षरों का ध्यान करते हुए पुरुष कितने ही काल में नष्टादि वस्तु संबंधी ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

इस वर्णमातृका के जाप्य से योगी क्षय रोग, अरुचिपना, अग्निमंदता, कुष्ठ, उदर रोग, कास तथा श्वास रोगों को जीतता है और वचनसिद्धता, महान पुरुषों से पूजा तथा परलोक में उत्तम गति को प्राप्त कर लेता है।

अन्य मंत्रों का ध्यान— 'ह्रीं' यह मंत्रराज है। ॐ इस प्रणव मंत्र का ध्यान समस्त वाङ्मय को प्रकाश करने में दीपक के समान है। नाना दुःखों को शांत करने में महामेघ के समान है। 'अ' इस वर्ण मात्र का पाँच सौ बार जाप करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है। 'सिद्ध' यह मंत्र श्रुतस्कंध का सारभूत है, संपूर्ण क्लेशों को नाशकर मोक्ष पद देने में समर्थ है।

'ॐ ह्रीं नमः' यह त्रैलोक्यवशंकरी विद्या है, इसका एक लाख जाप करने से सभी ममोरथ सिद्ध हो जाते हैं।

रूपस्थ ध्यान— समवसरण के मध्य में स्थित अनंतचतुष्टय और आठ प्रातिहार्यों से संयुक्त अरिहंत भगवान का ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान है अथवा ऐसी ही सर्वशोभा से समन्वित किन्तु समवसरणादि परिवार से सहित और क्षीरसागर के मध्य में स्थित अथवा उत्तम क्षीर वर्ण के समान वर्ण के कमल की कर्णिका के मध्य भाग में स्थित क्षीरसागर के जल की धाराओं के अभिषेक से धवल हो रहा है सर्वांग जिनका, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी का जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत ध्यान— वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से रहित, केवलज्ञान दर्शनस्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठी का या शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है।

इन ध्यानों का अभ्यास करने वाला पुरुष सर्व संकल्प विकल्पों को छोड़कर स्थिरचित्त होकर ध्यान करे। जब तक ध्यान करने का अभ्यास न हो सके, तब तक पदस्थ ध्यान के किसी न किसी मंत्र का अवलंबन लेकर उसका जाप्य करे। महामंत्र णमोकार मंत्र सभी मंत्रों में प्रधान है और जपने वाले के सभी पापों का नाश कर उत्तम-उत्तम सुखों को देने वाला है। अन्य मंत्रों का जाप्य तो गुरुमुख से उसकी विधि समझकर करना चाहिए किन्तु यह णमोकार मंत्र मातृका मंत्र है किसी भी अवस्था में फलदायी ही है।

पूजा का फल

जिनेन्द्र भगवान की विधिवत् महती भक्तिपूर्वक जो पूजा की जाती है, उसका फल अचिन्त्य है जबकि ग्यारह अंग का धारक, देवों में सर्वश्रेष्ठ इंद्र भी सहस्र जिह्वाओं से पूजा के समस्त फल को वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं तब अन्य जन उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं ? फिर भी भव्यजनों को धर्म में अनुराग कराने के लिए यहाँ किंचित् वर्णन किया जाता है—

जिनेन्द्र प्रतिमा का महत्व— जो मनुष्य धनिया के पत्ते के बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा को स्थापित करता है वह तीर्थंकर पद के पाने योग्य पुण्य को प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत जिनेन्द्र भवन बनवाता है, उसके फल का वर्णन कैसे हो सकता है ?

अष्टद्रव्य के चढ़ाने का फल— विधिवत् पूजन करने वाला मनुष्य भगवान के आगे जलधारा चढ़ाता है, वह समस्त पाप मल को धो डालता है। जिनचरण में चंदन के लेप से मनुष्य सौभाग्य से सम्पन्न होता है।

अक्षत से पूजा करने वाला अक्षय नौ निधि, चौदह रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती होता है, सदा रोग, शोकरहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धि से सम्पन्न होकर अंत में अक्षय सुख को प्राप्त कर लेता है। पुष्पों से पूजा करने वाला मनुष्य कमल के समान सुन्दर मुख वाला, तरुणीजनों के नयनों से और पुष्पों की मालाओं से अर्चित कामदेव होता है। नैवेद्य के चढ़ाने से शक्तिमान, कांति और तेज से सम्पन्न, सौन्दर्यरूपी समुद्र की तरंगों से संप्लावित अति सुन्दर होता है। दीपों से पूजन करने वाला केवलज्ञानरूपी प्रदीप के तेज से समस्त तत्त्वों के रहस्य को प्रगट करने वाला होता है। धूप की पूजा से धवलकीर्ति से जगत्त्रय को धवलित करने वाला होता है। फलों से पूजा करने वाला परम निर्वाण सौख्य का भोक्ता होता है।

अन्य उपकरण चढ़ाने का महत्व—जिनमंदिर में घंटा समर्पण करने वाला पुरुष घंटाओं के शब्दों से व्याप्त श्रेष्ठ विमानों में सुर समूह से सेवित, अप्सराओं के मध्य क्रीड़ा करता है। छत्र प्रदान करने से शत्रु रहित होकर पृथ्वी को एकछत्र भोगता है। चमरों के दान से उसके ऊपर देवों द्वारा चमर दुराये जाते हैं। जिनमंदिर में विजय पताकाओं के देने से मनुष्य संग्राम के मध्य विजयी होता है तथा षट्खण्ड का स्वामी होकर यशस्वी होता है।

जिन भगवान के अभिषेक करने के फल से मनुष्य सुदर्शन मेरु के ऊपर क्षीरसागर के जल से सुरेन्द्र प्रमुख देवों के द्वारा भक्ति के साथ अभिषिक्त किया जाता है। अधिक कहने से क्या, तीनों ही लोकों में जो कुछ भी सुख है वह सब जिनपूजा के फल से प्राप्त होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

भावार्थ—यहाँ श्रावकों के अन्य कर्तव्य में विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन बताया गया है। अन्यत्र षट् आवश्यक क्रियाओं में देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान बतलाए हैं। इन सबमें भी देव पूजा का बहुत ही विशेष महत्व है। श्री कुंदकुंददेव ने तो स्पष्ट कह दिया है कि “दाणं पूजा मुखो सावय धम्मो ण सावया तेण विणा” श्रावक धर्म में दान और पूजन ये दो कर्तव्य मुख्य हैं, इनके बिना तो श्रावक ही नहीं हो सकता है।

सामायिक प्रतिमा—स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सन्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्वमुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंचपरमेष्ठी और कृत्रिम-अकृत्रिम जिनालयों की जो नित्य त्रिकाल—पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपरान्ह वंदना की जाती है वह सामायिक नाम का तीसरा स्थान है। जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग, तृण-कांचन, चंदन और कुठार को समभाव से देखता है और मन में पंच नमस्कार मंत्र को धारण कर उत्तम अष्ट प्रातिहार्यों से संयुक्त अर्हत प्रभु के स्वरूप को और सिद्ध भगवान के स्वरूप का ध्यान करता है अथवा विरक्तचित्त, अविचल अंग होकर एक क्षण भी उत्तम ध्यान करता है उसके उत्तम सामायिक होती है।

अन्यत्र ग्रंथों में सामायिक में ईर्यापथ शुद्धि करके चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति पढ़कर अनंतर ध्यान करने का विधान है^१ तथा ऐसा भी कहा है कि ‘जिन^२ पूजा बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया’। अर्थात् श्रावक की सामायिक जिनपूजापूर्वक होती है, जिन पूजा के बिना सभी सामायिक क्रिया दूर ही है। इस ग्रंथ में देवपूजा

१. चारित्रसार, आचारसार, अनगार धर्मावृत, अष्टपाहुड धवला नवमी पुस्तक आदि। यह सामायिक विधि क्रियाकलाप, देववंदना, सामायिक भाष्य और ‘सामायिक’ नाम की पुस्तक में दी गई है, वहाँ से देखकर करना चाहिए। २. भावसंग्रह (श्री वामदेव विरचित) पृ. १९६।

की विधि इस प्रकार बताई है कि पहले श्रावक तीन^१ प्रकार के स्नान से शुद्ध होकर मंदिर में जाकर ईर्यापथ शुद्धि करे, अनंतर सिद्धभक्ति करके जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करके सकलीकरण क्रिया करे। पुराकर्मपूर्वक विधिवत् जिनेन्द्र भगवान का पंचामृत अभिषेक करे, अनंतर अष्ट द्रव्य से ग्यारह^२ प्रकारी पूजा करे, पुनः यंत्रादि की पूजा करके जाप्य करके 'चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति करके शांतिभक्ति और समाधिभक्ति करे, इस प्रकार श्रावक पूजा या सामायिक में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरु भक्ति और शांति भक्ति का होना बहुत ही जरूरी है, ऐसा श्री पूज्यपाद आचार्य ने भी अपने पंचामृताभिषेक पाठ में लिखा है। यथा — 'कृत्वाऽहं सिद्ध भक्ति बुधनुत सकलीसत्क्रियां चादरेण; मैं सिद्धभक्ति करके सकलीकरण को आदरपूर्वक करता हूँ। आगे पंचामृताभिषेक और पूजन के अनंतर कहा है कि 'आराध्याहंतमष्टोत्तर शतममलं चैत्यभक्त्यादिभिश्च। स्तुत्वा श्री शांतिमंत्र.....।

अर्हतदेव की १०८ जाप्य करके चैत्यभक्ति आदि (आदि से पंचगुरुभक्ति) पढ़कर शांति मंत्र (शांति भक्ति) को पढ़ें।

यहाँ यह निष्कर्ष निकला कि विधिवत् देवपूजा करने से श्रावक की सामायिक क्रिया पूर्ण हो जाती है अथवा जो श्रावक देवपूजापूर्वक सामायिक न करना चाहें वे ईर्यापथशुद्धिपूर्वक चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति करके ही सामायिक^३ करें। विधिवत् सामायिक करने वाला श्रावक असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा करते हुए महान पुण्य का बंध कर लेता है। द्रव्यलिंगी मुनि भी सामायिक के प्रभाव से नव ग्रैवेयक में ऊपर वाले ग्रैवेयक तक चले जाते हैं तो फिर जो सम्यग्दृष्टी भावपूर्वक सामायिक करते हैं उनके फल का क्या कहना है ? सामान्य अविरति श्रावक या पहली प्रतिमाधारी श्रावक कम से कम एक बार सामायिक अवश्य करें। दो प्रतिमाधारी के लिए दो बार तो नियम ही है। तीन प्रतिमाधारी को त्रिकाल में तीन बार सामायिक अवश्य ही करना चाहिए।

प्रोषध प्रतिमा — प्रत्येक मास की दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी ऐसे चार पर्वों में जो विधिवत् उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। इसके तीन भेद हैं — उत्तम, मध्यम और जघन्य। सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथि के आहार के अनंतर स्वयं भोजन करे, वहीं पर मुखशुद्धि करके उपवास संबंधी नियम करके जिन मंदिर में गुरु के पास विधिवत् चारों आहार के त्यागरूप उपवास ग्रहण करना। उस दिन अष्टमी और चतुर्दशी के दिन पूरा समय पूजन, स्वाध्याय, वंदना आदि में व्यतीत करके नवमी या पूर्णमासी के दिन प्रातः पूजन के पश्चात् अतिथि को आहारदान देकर स्वयं पारणा करना यह उत्तम प्रोषध विधि है। इसमें सप्तमी, नवमी, त्रयोदशी और पूर्णिमा के दिन एकाशन ही होता है शाम को पानी नहीं ले सकते हैं तथा अष्टमी और चतुर्दशी को चतुराहार त्याग उपवास रहता है।

मध्यम विधि में अष्टमी, चतुर्दशी के दिन जल ग्रहण कर लेना और तीन प्रकार के आहार का त्याग करना, शेष विधि पूर्वोक्त है।

१. जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नान, पृ. १९६। २. अष्टद्रव्य पृथक्-पृथक् चढ़ाना, अर्घ्य चढ़ाना, शांतिधारा करना और पुष्पांजलि छोड़ना, ये एकादश प्रकारी पूजा है। (भावसंग्रह पृ. १९७)। ३. वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला हस्तिनापुर से प्रकाशित 'सामायिक' नाम की पुस्तक में विधिवत् पूजन करने की प्रक्रिया संस्कृत और हिन्दी दोनों में बतलाई गई है। उसे अवश्य ही देखना चाहिए और उसी के आधार से पूजन करना चाहिए। ४. यह सामायिक की विधि भी उसी उपर्युक्त पुस्तक में है जो कि संस्कृत में है, चैत्यभक्ति तो श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित है और प्राकृत पंचगुरुभक्ति श्री कुंदकुद स्वामी विरचित है। उसी में उसका हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है।

जो अष्टमी और चतुर्दशी के दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान अथवा एकभुक्ति करता है, वह जघन्य प्रोषध विधि को करने वाला है।

आचाम्ल—एक बार रूक्ष या नीरस भोजन करना आचाम्ल है अथवा पानी में उबले चावलों को इमली आदि के रस के खाना भी आचाम्ल माना गया है।

निर्विकृति—जिस भोजन के करने से जिह्वा और मन विकार को प्राप्त हो, उसे विकृति कहते हैं। इसके चार भेद हैं—गोरसविकृति, इक्षुरस विकृति, फलरसविकृति और धान्यरसविकृति। दूध, दही, घी, मक्खन आदि को गोरस कहते हैं। गुड़, खांड, शक्कर, मिश्री आदि को इक्षुरस कहते हैं। अंगूर, अनार, आम, संतरे, मौसमी आदि फलों के रस को फलरस कहते हैं। तेल, मांड आदि को धान्यरस कहते हैं। इन चारों प्रकार के रसों से रहित भोजन निर्विकृति कहलाता है अथवा यहाँ तक कि मिर्च मसाले से भी रहित बिल्कुल सात्विक भोजन को निर्विकृति भोजन कहा जाता है।

उपवास की शक्ति न होने से प्रायः लोग यह निर्विकृति विधि करते हैं।

एकस्थान—एक बार थाली में परोसे गये भोजन को ग्रहण करना, दोबारा परोसे गये भोजन को नहीं लेना। एकस्थान का ऐसा अर्थ किया जाता है।

एकभुक्ति—एक बार ही भोजन, पान, प्रासुक औषधि आदि लेकर पुनः त्याग कर देना, दूसरी बार पानी भी नहीं पीना। यह एकभुक्ति कहलाती है।

सचित्तत्यागप्रतिमा—जहाँ पर हरित, छाल, पत्र, कोंपल, कंद, फल, बीज और अप्रासुक जल का त्याग किया जाता है वह सचित्तत्याग नामक पाँचवीं प्रतिमा है^१।

रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा—जो मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना से दिन में मैथुन का त्याग करता है, वह श्रावक छठी प्रतिमाधारी है।

रात्रिभुक्तित्याग में श्री स्वामी समंतभद्र ने रात्रि में चतुराहार का मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना रूप से त्याग करने को कहा है। यहाँ तक छह प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक गृहस्थाश्रमी हैं। न्यायनीति से, व्यापार आदि करते हुए गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अपने जीवन को सफल कर लेते हैं।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा—जो मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना रूप नौ प्रकार से मैथुन को सर्वथा त्याग कर देता है, वह स्त्री कथा आदि से भी विरक्त होता हुआ सप्तम^२ प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी कहलाता है।

आरंभत्याग प्रतिमा—जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृहसंबंधी आरंभ होता है, उसे जो सदा के लिए त्याग करता है वह आरंभ से निवृत्त हुआ आरंभत्याग नामक आठवीं प्रतिमा का धारी कहलाता है।

परिग्रहत्याग प्रतिमा—जो वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है, उसे परिग्रह प्रतिमाधारी नवमां श्रावक जानना चाहिए।

१. प्रासुक करने की विधि—

सुक्कं पक्कं तत्तं अबलिलवणेण मिससियं दव्वं। जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥

जो द्रव्य सूखा हो, पका हो, तप्त हो, आम्लरस तथा लवण मिश्रित हो, कोल्हू, चक्की, चाकू आदि यंत्रों से छिन्न-भिन्न किया हुआ तथा संशोधित हो, सो सब प्रासुक है।

२. इस प्रतिमा के दो भेद हैं—गृहविरत और गृहनिरत। जो गृह के ममत्व का त्याग कर देते हैं, वे जिनमंदिर, मुनिसंघ आदि में रहते हैं, घर से कोई संबंध नहीं रखते हैं। पुनः उन्हें घर संबंधी सूतक, पातक भी नहीं लगता है। जो गृहनिरत हैं वे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए घर में उदासरूप से या व्यापार आदि गृह कार्य करते हुए भी रहते हैं।

अनुमतित्याग प्रतिमा — स्वजन तथा परजनों के द्वारा पूछे जाने पर भी जो श्रावक गृहसंबंधी कार्य में अनुमति नहीं देता है। वह दसवीं अनुमतित्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।

उद्दिष्टत्याग प्रतिमा — ग्यारहवें प्रतिमास्थान में आया हुआ श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। यह उद्दिष्ट से बने हुए भोजन का त्यागी होता है अर्थात् कोई इनके उद्देश्य से कुछ बनाकर उनसे कहे तो वह उसे ग्रहण नहीं करता है। उस श्रावक के दो भेद हैं — क्षुल्लक और ऐलक।

क्षुल्लक एक खंडवस्त्र और एक लंगोटी रखता है। कैची या उस्तरे से हजामत करा सकता है, पीछी आदि उपकरण से अपने स्थान आदि का प्रतिलेखन करता है। बैठकर पाणिपात्र या थाली आदि में एक बार आहार लेता है। पात्र को प्रक्षालन कर चर्या के लिए श्रावक के घर में जावे, वहाँ आंगन में ठहरकर 'धर्मलाभ' कहकर स्वयं भिक्षा मांगता है। न मिलने पर अदीनमुख हो वहाँ से शीघ्र निकलकर दूसरे घर में जाता है और मौन से अपने शरीर को दिखलाता है। आवश्यक भिक्षा मिलने के पश्चात् किसी एक घर में भोजन करके यत्नपूर्वक अपने पात्र को प्रक्षालन कर गुरु के जाता है। यदि किसी को उक्त विधि से गोचरी नहीं रुचे तो वह मुनियों^१ के गोचरी कर जाने के पश्चात् चर्या को निकले और किसी एक श्रावक के घर में जाकर आहार ग्रहण करे पश्चात् गुरु के समीप आकर प्रत्याख्यान ग्रहण कर प्रयत्न के साथ सब दोषों की आलोचना करे।

ऐलक — ये श्रावक नियम से केशलोंच करते हैं, पीछी रखते हैं और पाणिपात्र में ही भोजन करते हैं।

ये प्रथम प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक ऐलक पर्यंत स्थान वाले श्रावक ही कहलाते हैं, इन्हें उपासक और देशव्रती भी कहते हैं।

देशव्रती की वर्ज्याक्रिया — दिन में प्रतिमायोग धारण करना अर्थात् नग्न होकर दिन भर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या अर्थात् मुनि के समान गोचरी करना, त्रिकाल योग — गर्मी में पर्वत पर, बरसात में वृक्ष के नीचे और सर्दी में नदी के किनारे ध्यान करना, सिद्धांत ग्रंथों का अध्ययन करना और रहस्य — प्रायश्चित्तशास्त्र का अध्ययन, इतने कार्यों में देशव्रती श्रावकों का अधिकार नहीं है।

इस प्रकार से यहाँ ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षेप में वर्णन किया है।



महान औषधि क्या है?

जिणवयणमोसहमिणं विसहसुहविरेयणं अमिदभूदं।

जरमरणवाहिहरणं रवयकरणं सव्वदुक्खाणं।

अर्थ—जिनेन्द्रदेव के वचन महान औषधि हैं, ये विषयसुखों का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतरूप हैं, जरा और मरणरूप महाव्याधि को दूर करने वाले हैं तथा संपूर्ण दुःखों का क्षय करने वाले हैं।

(भगवान् कुंदकुंद, दर्शनप्राभृत)

१. आजकल क्षुल्लकों की यही विधि है कि वे गुरु के पीछे आहार को जाते हैं।

१०. देव पूजा विधि व सामायिक

(श्री पूज्यपाद स्वामी कृत पंचामृत अभिषेक के आधार से)

नित्यपूजा की विधि आगम के आधार से — “पंचामृत अभिषेक पाठ संग्रह” पुस्तक में प्रकाशित श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित “पंचामृत अभिषेक” और उसमें क्षेत्रपाल, दिक्पाल का आह्वान देखकर मुझे आचार्यश्री शांतिसागर जी की परम्परा में प्रचलित वर्तमान में प्रसिद्ध-बीसपंथ आम्नाय पर बहुत ही श्रद्धा बढ़ गई। इसमें पंद्रह अभिषेक पाठ संगृहीत हैं प्रायः सभी आचार्यों द्वारा लिखित होने से प्रामाणिक हैं। मात्र पंडितप्रवर आशाधर जी द्वारा रचित अभिषेक पाठ ही श्रावक द्वारा रचित है। फिर भी ये आशाधर जी भी बहुत ही प्रामाणिक महापुरुष माने गये हैं, इनके द्वारा बनाये गये ‘अनगारधर्मावृत’ आदि ग्रंथ मुनियों को भी मान्य हैं।

इन सभी में सर्वप्रथम लिया गया श्री पूज्यपादस्वामी का अभिषेक पाठ मुझे बहुत अच्छा लगा और आबाल-गोपाल तक प्रसिद्ध करने की इच्छा रही। मैंने सन् १९७६ में इंद्रध्वज विधान को छपाते समय उसमें यह अभिषेक पाठ ज्यों का त्यों संस्कृत का ही दे दिया था।

मेरे मन में कई वर्षों से यह इच्छा थी कि मैं इसका पद्यानुवाद कर दूँ तो सबके लिये सरल हो जाय। सन् १९८७ में मैंने इसका पद्यानुवाद किया। इसमें श्लोकों का भावानुवाद है और मंत्र ज्यों के त्यों दिये गये हैं।

वर्तमान समय की विघ्न बाधाओं को दृष्टि में रखकर उनको दूर करने हेतु मैंने एक “शांतिधारा” बनायी थी वह भी जम्बूद्वीप पूजाजलि में दे दी है।

पूजामुखविधि व अन्त्यविधि का विधान— श्री पूज्यपादस्वामी ने अभिषेक पाठ में प्रारंभ में दो श्लोक दिये हैं जिनमें नित्यपूजा के प्रारंभ में करने योग्य विधि का संकेत दिया है पुनः अंत में पैतीस से चालीस श्लोकों में से अंत में चार श्लोकों में अभिषेक के बाद में करने योग्य पूजा, मंत्र-जाप, यक्ष-यक्षी आदि के अर्घ को करने का आदेश दिया है।

इस प्रकार श्री पूज्यपादस्वामी के कहे अनुसार सर्वविधि मुझे “प्रतिष्ठातिलक” नाम के ग्रंथ में देखने को मिली।

इस “प्रतिष्ठातिलक” में “नित्यमह” नाम से जो विषय है उसमें सर्वप्रथम मंत्रस्नान विधि दी गई है। इसे ही अन्यत्र “संध्यावंदनविधि” कहते हैं।

श्रावकों को नित्य ही “जलस्नान” के बाद शुद्ध वस्त्र पहनकर एक कटोरी में जल लेकर यह “मंत्रस्नान” विधिवत् करना चाहिए। इस “संध्यावंदन” को पं. लालाराम जी शास्त्री ने भी छपाया था और “पुरंदर विधान” में ब्र. सूरजमल जी ने भी छपाया है। श्रावकों के लिए शास्त्र में तीन स्नान माने हैं। जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नान। “अभिषेक-पाठ संग्रह” ग्रंथ में भूमिका में पूजाविधि में तीनों स्नान के मंत्र अलग-अलग दिये हैं। उसमें व्रतस्नान का मंत्र निम्न प्रकार है —

“ॐ ह्रीं ह्रीं श्रीं नमः अणुव्रतपंचकं गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं अर्हतसिद्धाचार्योंपाध्यायसर्वसाधून्

साक्षीकृत्य सम्यक्त्वपूर्वकं सुव्रतं दृढव्रतं समारूढं भवतु मह्यं स्वाहा।”

इस प्रकार तीनों स्नान से शुद्ध होकर जिनमंदिर में पहुँचकर अभिषेक-पूजा करने के लिये पूजामुखविधि करे। इसी ग्रंथ के आधार से पूजामुखविधि मैंने संक्षेप में दी है। इसमें सकलीकरण भी शामिल है उसे यहाँ विस्तार के भय से नहीं दिया है।

यहाँ “पंचामृत अभिषेक पाठ” श्री पूज्यपादस्वामी का दिया है। इसके बाद नवदेवता पूजन देकर “पूजाअन्त्यविधि” दी है। यह भी “प्रतिष्ठातिलक” के आधार से संक्षिप्त करके दी है।

पूजामुखविधि और पूजा अन्त्य विधि को संस्कृत में देकर पुनः इन दोनों का पद्यानुवाद भी दे दिया है जिससे हिन्दी में विधि करने वालों को भी सुविधा मिलेगी।

पूजामुखविधि में जो क्रिया है वह सब श्री पूज्यपादस्वामी के अभिषेक पाठ के प्रारंभिक श्लोकों के अनुसार ही है सो देखिये —

आनम्यार्हतमादावहमपि विहितस्नानशुद्धिः पवित्रैः।
तोयैः सन्मंत्रयंत्रैर्जिनपतिसवणाम्भोभिरणयात्तशुद्धिः॥
आचम्यार्घ्यं च कृत्वा शुचिधवलदुकूलान्तरीयोत्तरीयः।
श्रीचैत्यावासमानौम्यवनतिविधिना त्रिःपरीत्य क्रमेण॥१॥
द्वारं चोद्घाट्य वक्त्राम्बरमपि विधिनेर्यापथाख्यां च शुद्धिं।
कृत्वाहं सिद्धभक्तिं बुधनुतसकलीसत्क्रियां चादरेण॥
श्री जैनेन्द्रार्चनार्थं क्षितिमपि यजनद्रव्यपात्रात्मशुद्धिं।
कृत्वा भक्त्या त्रिशुद्ध्या महमहमधुना प्रारभेयं जिनस्य॥२॥

“पूजा अभिषेक के प्रारंभ में स्नान करके शुद्ध हुआ मैं अर्हत देव को नमस्कार करके पवित्र जलस्नान से, मंत्रस्नान से और व्रतस्नान से शुद्ध होकर आचमन कर, अर्घ्य देकर, धुले हुए सफेद धोती और दुपट्टे को धारण कर, वंदना विधि के अनुसार तीन प्रदक्षिणा देकर जिनालय को नमस्कार करता हूँ।

तथा द्वारोद्घाटन कर और मुख वस्त्र हटाकर विधिपूर्वक ईर्यापथ शुद्धि करके, सिद्धभक्ति करके, सकलीकरण करके, जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए भूमिशुद्धि, पूजा द्रव्य की शुद्धि, पूजा पात्रों की शुद्धि और आत्मशुद्धि करके भक्तिपूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि से अब जिनेन्द्रदेव का महामह अर्थात् अभिषेक पूजा प्रारंभ करता हूँ।

इस कथित विधि के अनुसार आचार्य श्री नेमिचंद्र कृत प्रतिष्ठातिलक में क्रम से सर्वविधि का वर्णन है। प्रारंभ में जलस्नान के अनंतर “मंत्रस्नान” विधि का वर्णन है। अनंतर “पूजामुखविधि” शीर्षक में मंदिर में प्रवेश करने से लेकर सिद्धभक्ति तक का वर्णन है अर्थात् मंदिर में प्रवेश करना, प्रदक्षिणा देना, जिनालय की तथा जिनेन्द्रदेव की स्तुति करना, ईर्यापथ शुद्धि करके सकलीकरण करना, द्वारोद्घाटन, मुखवस्त्र उत्सारण (वेदी के सामने का वस्त्र हटाना) पुनः सामायिक विधि स्वीकार कर विधिवत् कृत्य विज्ञापना करके सामायिक दंडक, कायोत्सर्ग और थोस्सामि करके लघु सिद्धभक्ति करना यहाँ तक पूजामुखविधि होती है।

पुनः विधिवत् अभिषेक करने का विधान है। अनंतर नित्य पूजा के बाद अंत में जो विधि करनी चाहिये उसके लिये “अभिषेक पाठ” में ही अंत में चार श्लोक दिये गये हैं उन्हें देखिये —

निष्ठाप्यैवं जिनानां सवनविधिरपि प्राच्यभूभागमन्यं।
 पूर्वोक्तैर्मंत्रयंत्रैरिव भुवि विधिनाराधनापीठयंत्रम्॥
 कृत्वा सच्चंदनाद्यैर्वसुदलकमलं कर्णिकायां जिनेन्द्रान्।
 प्राच्यां संस्थाप्य सिद्धानितरदिशि गुरुन् मंत्ररूपान् निधाय॥३७॥
 जैनं धर्मागमार्चानिलयमपि विदिक्पत्रमध्ये लिखित्वा।
 बाह्यो कृत्वाथ चूर्णैः प्रविशदसदकैः पंचकं मंडलानाम्॥
 तत्र स्थाप्यास्तिथीशा ग्रहसुरपतयो यक्षयक्ष्यः क्रमेण।
 द्वारेशा लोकपाला विधिवदिह मया मंत्रतो व्याह्वियन्ते॥३८॥
 एवं पंचोपचारैरिह जिनयजनं पूर्ववन्मूलमंत्रे-
 णापाद्यानेकपुष्पैरमलमणिगणैरंगुलीभिः समंत्रैः॥
 आराध्याहंतमष्टोत्तरशतममलं चैत्यभक्त्यादिभिर्यथा।
 स्तुत्वा श्रीशांतिमंत्रं गणधरवलयं पंचकृत्वः पठित्वा॥३९॥
 पुण्याहं घोषयित्वा तदनु जिनपतेः पादपद्मार्चितां श्री-
 शेषां संधार्य मूर्ध्ना जिनपतिनिलयं त्रिःपरीत्य त्रिशुद्धया॥
 आनम्येशं विसृज्यामरगणमपि यः पूजयेत् पूज्यपादं।
 प्राप्नोत्येवाशु सौख्यं भुवि दिवि विबुधो देवनंदीडितश्रीः॥४०॥

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्रदेव की पूजा विधि को पूर्ण करके पूर्वोक्त मंत्र-यंत्रों से विधिपूर्वक आराधनापीठ यंत्र की पूजा करे पुनः चंदन आदि के द्वारा आठ दल का कमल बनाकर कर्णिका में श्रीजिनेन्द्रदेव को स्थापित कर पूर्वदिशा में सिद्धों को, शेष तीन दिशा में आचार्य, उपाध्याय और साधु को विराजमान करके पुनः विदिशा के दलों में क्रम से जिनधर्म, जिनागम, जिनप्रतिमा और जिनमंदिर को लिखकर बाहर में चूर्ण से और धुले हुये उज्ज्वल चावल आदि से पंचवर्णी मंडल बना लेवे। इस कमल के बाहर पंचदश तिथिदेवता को, नवग्रहों को, बत्तीस इंद्रों को, चौबीस यक्षों को, चौबीस यक्षिणी को तथा द्वारपालों को और लोकपालों को विधिवत् मंत्रपूर्वक मैं आह्वानन विधि से बुलाता हूँ।

इस तरह पंचोपचारों से मंत्रपूर्वक जिन भगवान का पूजन कर पूर्ववत् मूल मंत्रों द्वारा अनेक प्रकार के पुष्पों से, निर्मल मणियों की माला से या अंगुली से एक सौ आठ जाप्य करके अरहंतदेव की आराधना करे। पुनः चैत्यभक्ति आदि शब्द से पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा स्तवन करके शांतिमंत्र और गणधरवलय मंत्रों को पाँच बार पढ़कर पुण्याहवाचन की घोषणा करना, इसके बाद जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों से पूजित श्रीशेषा/आसिका को मस्तक पर चढ़ाकर जिनमंदिर की तीन प्रदक्षिणा देकर, मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके और अमरगण अर्थात् पूजा के लिये बुलाए गए देवों का विसर्जन करके जो व्यक्ति “पूज्यपाद” जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है वह “देवनन्दी” से पूजित श्री विद्वान् मर्त्यलोक ओर देवलोक में शीघ्र ही सुख को प्राप्त करता है। (३७ से ४०)

पूजामुखविधि-पूजाअन्त्यविधि—जम्बूद्वीप पूजांजलि में पूजामुखविधि व पूजाअन्त्यविधि जो दी गई है वह “प्रतिष्ठातिलक” ग्रंथ के आधार से संक्षिप्त में दी गई है। जैसा कि यहाँ श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा

है अतः यह पूजामुखविधि करके विधिवत् पंचामृत अभिषेक करे, अनंतर पूजन करके पूजा अन्त्यविधि करके पूजन पूर्ण करे तभी आगमोक्त विधि से पूजा होगी।

देवपूजा सहित सामायिक — पूजामुख विधि करके विधिवत् पंचामृत अभिषेक करे, अनंतर नवदेवता पूजा आदि पूजाएँ करके पूजा अन्त्य विधि करे। यही श्रावक-श्राविकाओं की प्रातःकालीन सामायिक है। भावसंग्रह (संस्कृत) ग्रंथ में यही विधि बतलाई है वह श्रावकों के सामायिक के प्रकरण में ली गई है और वहाँ एक पंक्ति आई है कि —

“देवपूजां बिना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया।”

देवपूजा के बिना श्रावकों की सामायिक क्रिया दूर ही है/पूर्ण नहीं होती है अतः इस विधि के अनुसार पूजा करके सामायिक कर सकते हैं।

जम्बूद्वीप पूजांजलि पुस्तक के द्वितीय खंड में पूज्यपाद स्वामी द्वारा विरचित पंचामृत अभिषेक संस्कृत के हिन्दी पद्यानुवाद के बाद जो शांतिधारा है उसे मैंने वर्तमान के हवाई जहाज, रेल, मोटर आदि के एक्सीडेंट, गैस आदि के विस्फोट इत्यादि उपद्रवों को दूर करने की भावना से बनाया है अतः प्रत्येक श्रावक-श्राविकायें प्रतिदिन उस शांतिधारा को करके अनेक प्रकार के उपद्रवों से अपनी रक्षा करें यही मेरी मंगल कामना है।



गृहस्थ धर्म भी मुक्ति का कारण है

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिण-णाहु।

पंच ण वंदिय परम-गुरु किमु होसइ सिव-लाहु।।168।।

(परमात्मप्रकाश)

आहार, औषध, शास्त्र और अभयदान ये चार प्रकार के दान भक्तिपूर्वक पात्रों को नहीं दिये अर्थात् निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के आराधक जो यति आदिक चार प्रकार का संघ उनको चार प्रकार का दान भक्ति कर नहीं दिया और भूखे जीवों को करुणाभाव से दान नहीं दिया। इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र आदिकर पूज्य केवलज्ञानादि अनन्तगुणों कर पूर्ण जिननाथ की पूजा नहीं की। जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल से पूजा नहीं की और तीन लोक कर वंदन योग्य ऐसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पाँच परमेष्ठियों की आराधना नहीं की। सो हे जीव! इन कार्यों के बिना तुझे मुक्ति का लाभ कैसे होगा? क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति के ये ही उपाय हैं। जिनपूजा, पंचपरमेष्ठी की वंदना और चार संघ को चार प्रकार दान इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती। ऐसा व्याख्यान जानकर सातवें उपासकाध्ययन अंग में कही गई जो दान-पूजा वंदनादिक की विधि वही करने योग्य है। शुभ विधि से न्यायकर उपार्जन किया अच्छा द्रव्य वह दातार के अच्छे गुणों को धारण कर विधि से पात्र को देना, जिनराज की पूजा करना और पंचपरमेष्ठी की वंदना करना ये ही व्यवहारनय कर कल्याण के उपाय हैं।

चार शिक्षाव्रत के अन्तर्गत

११. सामायिक व्रत का लक्षण

(देवपूजा एवं सामायिक की विधि)

(श्री वामदेव विरचित भावसंग्रह ग्रंथ के आधार से)

सामायिकं प्रकुर्वीत कालत्रये दिनं प्रति।
 श्रावको हि जिनेन्द्रस्य जिनपूजापुरःसरम्॥१॥
 जिनपूजा प्रकर्तव्या पूजाशास्त्रोदितक्रमात्।
 यया संप्राप्यते भव्यैर्मोक्षसौख्यं निरन्तरम्॥२॥
 तावत्प्रातः समुत्थाय जिनं स्मृत्वा विधीयताम्।
 प्राभातिको विधिः सर्वः शौचाचमनपूर्वकम्॥३॥
 ततः पौर्वाण्हिकीं सन्ध्याक्रियां समाचरेत्सुधीः।
 शुद्धक्षेत्रं समाश्रित्य मंत्रवच्छुद्धवारिणा॥४॥
 पश्चात् स्नानविधिं कृत्वा धौतवस्त्रपरिग्रहः।
 मंत्रस्नानं व्रतस्नानं कर्तव्यं मंत्रवत्ततः॥५॥
 एवं स्नानत्रयं कृत्वा शुद्धित्रयसमन्वितः।
 जिनावासं विशेषमंत्री समुच्चार्य निषेधिकाम्॥६॥

सामायिक व्रत का लक्षण

प्रतिदिन तीनों संध्या कालों में श्रावक जिनेन्द्र भगवान की पूजापूर्वक सामायिक करे॥१॥

भावार्थ — अन्यत्र भी श्रावकों को सामायिक में जिनेन्द्र भगवान की पूजा का विधान आता है। प्रतिष्ठा शास्त्रों में भी यही विधि है कि विधिवत् सिद्ध, चैत्य, पंचगुरु और शांतिभक्तिपूर्वक अभिषेक, पूजन करते हुए सामायिक विधि पूर्ण करे, इसी विधि का इसमें बड़ा ही सुंदर स्पष्टीकरण है। श्रावकों की सामायिक देवपूजापूर्वक ही होती है। कहा भी है — “देवपूजां बिना सर्वा दूरा सामयिकी क्रिया॥”

पूजा शास्त्र में कहे गये क्रम से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना चाहिए। उस विधिवत् पूजा से भव्य जीवों को निरंतर — नित्यस्वरूप मोक्षसुख प्राप्त हो जाता है॥२॥

सबसे पहले प्रातःकाल में उठकर जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करके शौच-स्नान, आचमन — दंतधावनपूर्वक संपूर्ण प्राभातिक विधि — क्रिया करनी चाहिए॥३॥ इसके बाद विद्वान् श्रावक शुद्धस्थान का आश्रय लेकर मंत्र वाले शुद्ध जल से पौर्वाहिक-संध्या क्रिया को करे अर्थात् स्नान करने के बाद शुद्ध जल से ‘संध्यावंदन’ मंत्रों के द्वारा संध्या वंदन विधि करे, इसे मंत्र स्नान कहते हैं॥४॥ इस प्रकार से स्नान विधि को करके धुले हुए वस्त्रों को ग्रहण करे। मंत्रों को जानने वाला श्रावक मंत्रस्नान और व्रतस्नान करे॥५॥

इस प्रकार से जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नानरूप तीन स्नान को करके तीन शुद्धि से समन्वित

कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं जिनं स्तुत्वातिभक्तितः।
 उपविश्य जिनस्याग्रे कुर्याद्विधिभिमां पुरा॥७॥
 तत्रादौ शोषणं स्वांगे दहनं प्लावनं ततः।
 इत्येवं मंत्रविन्मन्त्री स्वकीयाङ्गं पवित्रयेत्॥८॥
 हस्तशुद्धिं विधायाय प्रकुर्याच्छकलीक्रियाम्।
 कूटबीजाक्षरैर्मन्त्रैर्दशदिग्बन्धनं ततः ॥९॥
 पूजापात्राणि सर्वाणि समीपीकृत्य सादरम्।
 भूमिशुद्धिं विधायोच्चैर्दग्निज्वलनादिभिः॥१०॥
 भूमिपूजां च निर्वृत्य ततस्तु नागतर्पणम्।
 आग्नेयदिशि संस्थाप्य क्षेत्रपालं प्रतृप्य च॥११॥
 स्नानपीठं दृढं स्थाप्य प्रक्षाल्य शुद्धवारिणा।
 श्रीबीजं च विलिख्यात्र गन्धाद्यैस्तत्प्रपूजयेत्॥१२॥
 परितः स्नानपीठस्य मुखार्पितसपल्लवान्।
 पूरितांस्तीर्थसत्तोयैः कलशांश्चतुरो न्यसेत्॥१३॥
 जिनेश्वरं समभ्यर्च्य मूलपीठोपरिस्थितम्।
 कृत्वाह्वानविधिं सम्यक् प्रापयेत्स्नानपीठिकाम्॥१४॥
 कुर्यात्संस्थापनं तत्र सन्निधानविधानकम्।
 नीराजनैश्च निर्वृत्य जलगन्धादिभिर्यजेत्॥१५॥

होकर मंत्रवित् श्रावक निःसहि निःसहि का उच्चारण करके घर में स्थित जिनमंदिर में प्रवेश करे॥६॥ वहाँ मंदिर में पहुँचकर ईर्यापथ शुद्धि करके अतिभक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करके जिनेन्द्र भगवान के सामने बैठकर पहले निम्नलिखित विधि को करे॥७॥ पूजक को सबसे पहले सकलीकरण विधि करना चाहिए। यहाँ उसी की विधि बताते हैं। इसमें सबसे पहले शोषण, अपने अंग में दहन और प्लावन विधि करे, इस प्रकार से मंत्रवित् श्रावक अपने शरीर को पवित्र करे। इसके बाद हस्तशुद्धि करके सकलीकरण विधि पूर्ण करे और कूट बीजाक्षर मंत्रों से दश दिशाओं का बंधन करे॥८-९॥

सभी पूजा-पात्रों को सादर पास में रखकर दर्भाग्नि के प्रज्वलन द्वारा भूमि शुद्धि करे॥१०॥ भूमि पूजा को करके बाद में नाग संतर्पण विधि करे और आग्नेय दिशा में क्षेत्रपाल की स्थापना करके उसको अर्घ्य आदि से तृप्त करे॥११॥

पुनः भगवान के अभिषेक करने की स्नानपीठ-अभिषेकपात्र को दृढ़ स्थापित करके शुद्ध जल से प्रक्षालित करके उसमें 'श्रीः' बीज को लिखकर गंध, अक्षत आदि से उसकी पूजा करे॥१२॥ स्नानपीठ के चारों तरफ चार कलशों का स्थापन करे, जिनकलशों के मुख पर आम्रपल्लव आदि रखे हों और तीर्थ के पवित्र जल से पूर्ण भरे हुए हों॥१३॥ मूलवेदी में विराजमान जिनेन्द्र भगवान की सम्यक् प्रकार से अर्चना करके (अर्घ्यादि चढ़ाकर या आरती उतारकर) आह्वान विधि करके सम्यक् प्रकार से 'स्नानपीठ' पर जिनेन्द्र भगवान को विराजमान करे॥१४॥ वहाँ पर (जलोढ या थाल आदि में) विराजमान जिनेन्द्र भगवान की स्थापना और सन्निधान विधि करे। नीराजन आदि से आरती करके जल, गंध आदि से भगवान की पूजा करे॥१५॥

इन्द्राद्यष्टदिशापालान् दिशाष्टसुः निशापतिम्।
 रक्षोवरुणयोर्मध्ये शेषमीशानशक्रयोः॥१६॥
 न्यस्याह्वानादिकं कृत्वा क्रमेणैतान् मुदं नयेत्।
 बलिप्रदानतः सर्वान् स्वस्वमंत्रैर्यथादिशम्॥१७॥
 ततः कुम्भं समुद्धार्य तोयचोचेक्षुसद्रसैः।
 सदधृतैश्च ततो दुग्धैर्दधिभिः स्नापयेज्जिनम्॥१८॥
 तोयैः प्रक्षाल्य सच्चूर्णैः कुर्यादुद्धर्तनक्रियाम्।
 पुनर्नीराजनं कृत्वा स्नानं कषायवारिभिः॥१९॥
 चतुष्कोणस्थितैः कुम्भैस्ततो गन्धाम्बुपूरितैः।
 अभिषेकं प्रकुर्वीरन् जिनेशस्य सुखार्थिनः॥२०॥
 स्वोत्तमाङ्गं प्रसिञ्च्याथ जिनाभिषेकवारिणा।
 जलगन्धादिभिः पश्चादर्चयेद्विंबमर्हतः॥२१॥
 स्तुत्वा जिनं विसर्ज्यापि दिगीशादिमरुदगणान्।
 अर्चिते मूलपीठेऽथ स्थापयेज्जिननायकम्॥२२॥
 तोयैः कर्मरजः शान्त्यै गन्धैः सौगन्धसिद्धये।
 अक्षतैरक्षयावाप्यै पुष्पैः पुष्पशरच्छिदे॥२३॥

पुनः आठ दिशाओं में इन्द्र आदि आठ दिक्पालों को, ईशान और पूर्व दिशा के मध्य में धरणेन्द्र को एवं नैऋत और पश्चिम दिशा के मध्य में चन्द्र को स्थापित करे अर्थात् स्नानपीठ के चारों तरफ दश दिक्पालों की स्थापना करे और इन दिक्पालों का आह्वानन आदि करके क्रम से यज्ञभाग दान आदि विधि से उन-उन दिक्पाल के मंत्रों से उन-उनकी दिशाओं में उनको स्थापित करे अर्थात् उन-उन दिशाओं में उन-उनके मंत्रपूर्वक पुष्पांजलि क्षेपण करके अर्घ्य चढ़ावे॥१६-१७॥

पुनः जलकुंभ का समुद्धरण करके अभिषेक विधि प्रारंभ करे, उसमें सबसे पहले जल से अभिषेक करे तत्पश्चात् इक्षुरस, नालिकेर, आम्र आदि के रसों से, घृत से, दुग्ध से, दधि से जिनेन्द्र भगवान का विधिवत् अभिषेक करे॥१८॥ पुनः जल से प्रक्षालन करके सच्चूर्ण (अष्टगंधादि) से उद्धर्तन क्रिया को करके (चंदनविलेपन करके) नीराजन विधि — आरती करे और कषाय जल — सर्वोषधि के द्वारा भगवान का अभिषेक करके जल गंध से पूरित चतुष्कोण कलशों से सुख का इच्छुक श्रावक जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करे॥१९-२०॥

भावार्थ — अन्य किन्हीं-किन्हीं ग्रंथों में चतुष्कोण कलशों के अभिषेक के बाद पंचम कलश से शांतिधारा करने का विधान है। प्रायः यही प्रथा सर्वत्र प्रचलित है। कहीं-कहीं पंचम कलश से सुगंधित जल से पूर्ण अभिषेक करके पुनः शांतिधारा करके अभिषेक पूर्ण करते हैं।

इस अभिषेक क्रिया के बाद जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के जल — गंधोदक को अपने मस्तक पर लगाकर पश्चात् जल, गंध, अक्षत आदि अष्ट द्रव्यों से अर्हत भगवान् की प्रतिमा की पूजन करें॥२१॥ जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करके विसर्जन करके अर्चित की गई जिनप्रतिमा को मूलवेदी में स्थापित कर दें॥२२॥ अब अष्टद्रव्य से जिनपूजा की विधि और फल को बतलाते हैं। मुक्ति के अधिपति जिनेन्द्र भगवान की जल,

चरुभिः सुखसंवृद्ध्यै देहदीप्त्यै प्रदीपकैः।
 सौभाग्यावाप्तये धूपैः फलैर्मोक्षफलप्राप्तये॥२४॥
 घण्टाद्यैर्मंगलद्रव्यैर्मंगलावाप्तिहेतवे ।
 पुष्पाञ्जलिप्रदानेन पुष्पदन्ताभिदीप्तये॥२५॥
 तिसृभिः शान्तिधाराभिः शान्तये सर्वकर्मणाम्।
 आराधयेज्जिनाधीशं मुक्तिश्रीवनितापतिम्॥२६॥
 इत्येकादशधा पूजां ये कुर्वन्ति जिनेश्वराम्।
 अष्टौ कर्माणि सन्दह्य प्रयान्ति परमं पदम्॥२७॥
 अष्टोत्तरशतैः पुष्पैः जापं कुर्याज्जिनाग्रतः।
 पूज्यैः पञ्चनमस्कारैर्यथावकाशमज्जसा॥२८॥
 अथवा सिद्धचक्राख्यं यन्त्रमुद्धार्य तत्त्वतः।
 सत्पञ्चपरमेष्ठ्याख्यं गणभृद्वलयक्रमम्॥२९॥
 यन्त्रं चिन्तामणिर्नाम सम्यग्शास्त्रोपदेशतः।
 संपूज्यात्र जपं कुर्यात् तत्तन्मंत्रैर्यथाक्रमम्॥३०॥
 तद्यन्त्रगन्धतो भाले विरचय्य विशेषकम्।
 सिद्धशेषां प्रसंगृह्य न्यसेन्मूर्ध्नि समाहितः॥३१॥

गंध आदि से आराधना करें। कर्मरज की शांति के लिए जलधारा से भगवान की पूजा करें। सौगंध — सुगंधित शरीर की सिद्धि के लिए गंध से पूजा करें, अक्षय सुख की प्राप्ति के लिए अक्षतों से, कामबाण विनाश होने के लिए पुष्पों से, सुख संवृद्धि के लिए नैवेद्य से, देह दीप्ति के लिए दीपकों से, सौभाग्य की प्राप्ति के लिए धूप से, मोक्ष फल की प्राप्ति के लिए फलों से पूजा करें। आगे अष्टद्रव्य चढ़ाने के बाद मंगल की प्राप्ति के लिए अर्घ्य, घंटादि मंगल द्रव्यों से जिनदेव की पूजा करें। पुष्प सदृश दंतों की दीप्ति के लिए पुष्पांजलि करके एवं संपूर्ण कर्मों की शांति के लिए तीन शांतिधारा से जिनदेव की पूजा करना चाहिए॥२३-२४-२५-२६॥

भावार्थ — जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल ये अष्ट द्रव्य हैं। इनसे पूजा करके अर्घ्य चढ़ाया जाता है पुनः पुष्पांजलि और शांतिधारा की जाती है। ऐसे ग्यारह प्रकार से जिनदेव की पूजा की जाती है। उत्तरप्रदेश में प्रायः अष्टद्रव्य से पूजा करके अर्घ्य, जयमाला एवं पुष्पांजलि की जाती है किन्तु पूजा शास्त्रों में और दक्षिण प्रांत में अष्टद्रव्य से पूजा करके अर्घ्य, शांतिधारा और पुष्पांजलि करते हैं, यही पूजा विधिवत् है।

इस प्रकार से जो भव्य जीव ग्यारह प्रकार से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं, वे आठों कर्मों को जलाकर परम पद को प्राप्त कर लेते हैं॥२७॥ पुनः यथावकाश जिनेन्द्र भगवान के सामने ही एक सौ आठ सुगंधित पुष्पों से पञ्च नमस्कार मंत्र की जाप्य करें॥२८॥ अथवा विधिवत् सिद्धचक्र यन्त्र का उद्धार-विधिवत् प्रतिष्ठित करके उसकी आराधना जाप्य आदि करें या पञ्चपरमेष्ठी यन्त्र, गणधरवलय यन्त्र, चिन्तामणि यन्त्र आदि यन्त्रों की सम्यक् शास्त्रों के उपदेश से पूजा करके उन-उन मंत्रों से क्रम से उनकी जाप्य करें॥२९-३०॥

पुनः उस यन्त्र के चंदन से अपने ललाट में तिलक करके 'सिद्धशेषा' को ग्रहण करके बुद्धिमान श्रावक अपने मस्तक पर लगावे॥३१॥

चैत्यभक्त्यादिभिः स्तूयाज्जिनेन्द्रं भक्तिनिर्भरः।
 कृतकृत्यं स्वमात्मानं मन्यमानोऽद्य जन्मनि॥३२॥
 संक्षेपस्नानशास्त्रोक्तविधिना^१चाभिषिंच्य^२तम्।
 कुर्यादष्टविधां पूजां तोयगन्धाक्षतादिभिः^३॥३३॥
 अन्तर्मुहूर्तमात्रं तु ध्यायेत् स्वस्थेन चेतसा।
 स्वदेहस्थं निजात्मानं चिदानन्दैकलक्षणम्^४॥३४॥
 विधायैवं जिनेशस्य यथावकाशतोऽर्चनम्।
 समुत्थाय पुनः स्तुत्वा जिनचैत्यालयं व्रजेत्॥३५॥
 कृत्वा पूजां नमस्कृत्य देवदेवं जिनेश्वरम्।
 श्रुतं संपूज्य सद्भक्त्या^५ तोयगन्धाक्षतादिभिः॥३६॥
 संपूज्य^६ चरणौ साधोर्नमस्कृत्य यथाविधिम्।
 आर्याणामार्यिकाणां च कृत्वा विनयमंजसा॥३७॥
 इच्छाकारवचः कृत्वा मिथः साधर्मिकैः समम्।
 उपविश्य गुरोरन्ते सद्धर्मं शृणुयाद्बुधः॥३८॥
 देयं दानं यथाशक्त्या जैनदर्शनवर्तिनाम्।
 वृषादानं च कर्त्तव्यं दयागुणविवृद्धये॥३९॥

अनंतर भक्ति से भरित होकर चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा जिनदेव की स्तुति करे और इस जन्म में आज अपनी आत्मा को कृतकृत्य मानता हुआ संतुष्ट होवे॥३२॥ इस प्रकार से अति संक्षिप्त अभिषेक शास्त्र की विधि से जिनदेव का अभिषेक करके जल, गंध, अक्षत आदि के द्वारा अष्टविध पूजा पूर्ण करें॥३३॥ अनंतर स्वस्थचित्त होकर अंतर्मुहूर्त मात्र चिदानंदैक लक्षण स्वरूप अपने शरीर में स्थित निज शुद्ध आत्मा का ध्यान करे॥३४॥ इस प्रकार से अवकाश के अनुसार जिनेन्द्र भगवान की अर्चना को करके पुनः उठकर स्तुति करते हुए 'जिनचैत्यालय' में जावें॥३५॥

भावार्थ—गृह में स्थित जिनचैत्यालय की पूजा की है, अब जिनमंदिर में जाकर पूजा करें, ऐसा विधान है।

वहाँ जिनमंदिर में पहुँचकर पूजा करके देवाधिदेव जिनेन्द्र को नमस्कार करके जल, गंध, अक्षत आदि के द्वारा श्रुत—जिनवाणी की पूजा करके साधु के चरणों को नमस्कार करके विधिवत् गुरु की पूजन करके आर्य—ऐलक, क्षुल्लक और आर्यिकाओं की विधिवत् विनय, वंदामि आदि करके परस्पर में साधर्मि श्रावकों के साथ इच्छाकार करके पुनः गुरु के पास बैठकर वह बुद्धिमान श्रावक सच्चे धर्म के उपदेश को श्रवण करे॥३६-३७-३८॥

जैनदर्शनावलम्बी जनों को यथाशक्ति दान देना चाहिए और दयागुण की वृद्धि के लिए दयादान करना चाहिए॥३९॥

१. वा ख.। २. च ख.। ३. श्लोकोऽयं. ४९९ श्लोकादुत्तरं। ४. श्लोकोऽयं ४९८ श्लोकात्पूर्वं ख-पुस्तके। ५. सद्भव्यः ख. ६. श्लोकोऽयं ख. पुस्तके नास्ति।

एवं सामायिक सम्यग्यः करोति गृहाश्रमी।
 दिनैः कतिपयैरेव स स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः॥४०॥
 मासं प्रति चतुःष्वेव पर्वस्वाहारवर्जनम्।
 सकृद्भोजनसेवा वा कांजिकाहारसेवनम्॥४१॥
 एवं शक्त्यनुसारेण क्रियते समभावतः।
 स प्रोषधो विधिः प्रोक्तो मुनिभिर्धर्मवत्सलैः॥४२॥
 भुक्त्वा संत्यज्यते वस्तु स भोगः परिकीर्त्यते।
 उपभोगोऽसकृद्द्वारं भुज्यते च तयोर्मितिः^१॥४३॥
 संविभागोऽतिथीनां यः किञ्चिद्विशिष्यते हि सः।
 न विद्यते तिथिर्यस्य सोऽतिथिः पात्रतां गतः॥४४॥

इस प्रकार से जो गृहस्थ सामायिक विधि को सम्यक् प्रकार से विधिवत् करता है वह कुछ दिनों में ही मुक्तिश्री का पति हो जाता है॥४०॥

यहाँ तक अभिषेक एवं देवपूजापूर्वक सामायिक विधि बतलाई गई है। अब आगे प्रोषध आदि व्रतों का वर्णन करेंगे।

भावार्थ — यहाँ जो सामायिक विधि में प्रातः पूजन क्रिया पर विशेष प्रकाश डाला है, उसकी विधि संध्या वंदन, सकलीकरण, पूजामुख विधि, पंचामृत अभिषेक पाठ, पूजन, पूजा अन्त्य विधि इन छह प्रकारों से उनका अलग-अलग वर्णन है। प्रत्येक विधि के मंत्र, प्रयोग व विधि को जम्बूद्वीप पूजांजलि में लिखा है। वहीं से समझकर विधिवत् सामायिक (पूजन) करना चाहिए।

प्रोषधोपवास व्रत का लक्षण

प्रत्येक मास के चारों ही पर्वों में आहार का त्याग करना अथवा एक बार भोजन करना या कांजी आहार करना, इस प्रकार से शक्ति के अनुसार समभाव से जो विधि की जाती है, धर्मवत्सल मुनियों के द्वारा वह प्रोषध विधि कहलाती है॥४१-४२॥

भावार्थ — प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को चतुराहार का त्याग करके उपवास करना, उपवास की शक्ति न होवे तो एकाशन अथवा कांजी आहार करना भी प्रोषध है, ऐसा समझना चाहिए।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत का लक्षण

जिस वस्तु का भोग करके छोड़ दिया जाता है वह वस्तु भोग कहलाती है और जिस वस्तु का बार-बार उपभोग किया जाता है, वह वस्तु उपभोग कहलाती है। इन भोग और उपभोग का परिमाणकरना भोगोपभोग परिमाणव्रत है॥४३॥

अतिथिसंविभाग व्रत का लक्षण

अतिथिजनों के लिए जो किञ्चित् सम्यक् प्रकार से विभाग किया जाता है वह अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है और जिसकी कोई तिथि नहीं है, जिसके आने की कोई तिथि निश्चित नहीं है वह अतिथि कहलाते हैं, वे ही पात्रता को प्राप्त हैं॥४४॥



१२. मूलाचार सार

(१) मूलगुण अधिकार

श्री कुंदकुंद देव अपरनाम श्री वट्टकेर स्वामी द्वारा रचित मूलाचार ग्रंथ की टीका के प्रारंभ में सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री वसुनंदि आचार्य ने भूमिका में कहा है कि यह ग्रंथ आचारांग के आधार से लिखा गया है और आचारांग समस्त श्रुतस्कंध का आधारभूत है। यथा —

“श्रुतस्कंधाधारभूतमष्टादशपदसहस्रपरिमाणं, मूलगुणप्रत्याख्यान-संस्तर-स्तवाराधना-समयाचार (समाचार)-पंचाचार-पिंडशुद्धिषडावश्यक-द्वादशानुप्रेक्षानगारभावना-समयसार-शीलगुणप्रस्तार-पर्याप्त्याद्यधिकार-निबद्धमहार्थगभीरं लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं, घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञान-प्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचितषड्रव्य-नवपदार्थ जिनवरोपदिष्टं, द्वादशविधतपोनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिवसमन्वित-गणधरदेवरचितं, मूलगुणोत्तरगुणस्वरूप-विकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपणप्रवणमाचाराङ्गमाचार्य-पारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबलमेधायुःशिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरूपसंहर्तुकामः स्वस्य श्रोतॄणां च प्रारब्धकार्य-प्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकारप्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते मूलगुणेष्वित्यादि —

जो श्रुतस्कंध का आधारभूत है, अट्टारह हजार पद परिमाण है, जो मूलगुण, प्रत्याख्यान, संस्तर, स्तवाराधना, समयाचार, पंचाचार, पिंडशुद्धि, छह आवश्यक, बारह अनुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति आदि अधिकार के निबद्ध होने से महान अर्थों से गंभीर है, लक्षण — व्याकरण शास्त्र से सिद्धपद, वाक्य और वर्णों से सहित है, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए केवलज्ञान के द्वारा जो उपदिष्ट है, बारह प्रकार के तपों के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित गणधर देव के द्वारा जो रचित है, जो मूलगुणों और उत्तरगुणों के स्वरूप, भेद, उपाय, साधन, सहाय और फल के निरूपण करने में कुशल है, आचार्य परम्परा से चला आ रहा ऐसा यह आचारांग नाम का पहला अंग है। उस आचारांग का अल्प शक्ति, अल्प बुद्धि और अल्प आयु वाले शिष्यों के लिए बारह अधिकारों में उपसंहार करने की इच्छा करते हुए अपने और श्रोताओं के प्रारंभ किए गये कार्यों के विघ्नों को दूर करने में समर्थ शुभ परिणाम को धारण करते हुए श्री वट्टकेराचार्य सर्वप्रथम मूलगुण नामक अधिकार का प्रतिपादन करने के लिए “मूलगुणेषु” इत्यादि रूप मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं।

मूलगुणेषु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा।

इहपरलोहहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि॥१॥

अर्थ — मूलगुणों में विशुद्ध सभी संयतों को सिर झुकाकर नमस्कार करके इस लोक और परलोक के लिए हितकर मूलगुणों का मैं वर्णन करूँगा॥१॥

टीकाकार ने कहा है —

“मूलगुणा प्रधानानुष्ठानि उत्तरगुणाधारभूतानि”। मूल — प्रधान, गुण — आचारविशेष को मूलगुण कहते हैं। जो उत्तरगुणों के लिए आधारभूत हैं, ऐसे प्रधान अनुष्ठान को मूलगुण कहते हैं। ये उत्तरगुणों के लिए मूलभूत हैं। यहाँ “संयता” शब्द से छोटे गुणस्थानवर्ती मुनि से लेकर अयोगीपर्यंत सर्व साधुओं को लिया है और

भूतपूर्व गति से सिद्धों को भी लिया है। यथा — “सप्ताद्यष्टपर्यंत षण्णव मध्य संख्यया समेतान् सिद्धांश्चानन्तान्” तीन कम नव करोड़ संख्या से सहित (८९९९९९९७) सर्व संयतों को और अनंत सिद्धों को नमस्कार किया है।

स्थापना निक्षेप में आकारवान् और बिना आकारवान् दोनों प्रकार की संयमी की प्रतिमाओं में गुणारोपण किया जाता है, ऐसा उल्लेख है। यथा — “संयतस्य गुणान् बुद्ध्या ध्यारोप्याकृतवति अनाकृतवति च वस्तूनि स एवायमिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासंयतः।”

आकारवान् या अनाकारवान् वस्तु में “यह वही है” मूर्ति में ऐसा संयत के गुणों का अध्यारोप करना, इस प्रकार से स्थापित मूर्ति को स्थापना संयत कहते हैं।

ये मूलगुण अट्ठाईस हैं —

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुदिट्ठा।

पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोओ।।२।।

आचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतधंसणं चेव।

ठिदिभोयणोयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु।।३।।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलकय, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थिति भोजन और एकभक्त ये अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्रदेव ने यतियों के लिए कहे हैं।

चूँकि महान पुरुषों ने इनका अनुष्ठान किया है अथवा ये स्वतः ही महान व्रत हैं इसलिए ये पाँच व्रत महाव्रत कहलाते हैं। ये न छह हैं न चार, पाँच ही हैं ऐसा समझना। इनके नाम हैं — अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत। पाँचों पापों का पूर्णरूप से त्याग कर देना ही महाव्रत है।

पाँच महाव्रत —

(१) काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि, इनमें सभी जीवों को जानकर ठहरने, बैठने, चलने आदि में जीवों के घात आदि हिंसा का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।

(२) रागादि के द्वारा असत्य बोलने का त्याग करना, पर को ताप करने वाले ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलना तथा सूत्र और अर्थ कहने में गलत वचन नहीं बोलना सत्य महाव्रत है। सदाचारी आचार्य के वचन स्वल्प होने पर दोष ग्रहण नहीं करना भी सत्य महाव्रत है।

(३) ग्राम आदि में गिरी हुई, भूली हुई इत्यादि जो कुछ भी छोटी-बड़ी वस्तु है और जो पर की पुस्तक, पिच्छी आदि उपकरण या शिष्य आदि हैं ऐसे परद्रव्य — पर वस्तु को ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है।

(४) तीन प्रकार की स्त्रियों को और उनके चित्र को माता, बहन और पुत्री के समान देखकर जो रागभाव से स्त्रीकथा आदि को छोड़ना है, वह तीन लोक में पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है। इस व्रत के धारक पुरुष या स्त्री कोई भी हों, इंद्रों द्वारा भी पूज्य हो जाते हैं किन्तु इस व्रत को भंग करने वाले जन यदि अनेक व्रत, तप आदि भी करते रहें, तो भी वे लोक में हीन आचरणी, निंद्य और पापी कहलाते हैं। यही कारण है कि इसे — “तिलोयपुज्जं हवे बंभं” तीन लोक में पूज्य यह ब्रह्मव्रत है, ऐसा कहा है। इसके नव, सत्ताईस, इक्यासी और एक सौ बासठ भी भेद होते हैं —

देवी, मानुषी और तिर्य्यचिनी के बाल, युवती और वृद्धा ये तीन-तीन भेद करने से नव भेद होते हैं। यद्यपि देवांगनाओं में स्वभाव से बाला, वृद्धा भेद नहीं है फिर भी विक्रिया से संभव है।

इन नव भेदों को मन-वचन-काय से गुणा करने पर $९ \times ३ = २७$ भेद हो जाते हैं। इन २७ को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर $(२७ \times ३ = ८१)$ ८१ भेद हो जाते हैं। इन ८१ को चेतन और अचेतन (पुतली या चित्र आदि) ऐसे दो से गुणा करने पर $८१ \times २ = १६२$ भेद हो जाते हैं।

(५) जीव से संबंधित मिथ्यात्व आदि या दास-दासी आदि, जीव से असंबंधित क्षेत्र, मकान, धन आदि और जीव से उत्पन्न शंख, सीप आदि ये तीन प्रकार के परिग्रह हैं इनका पूर्णतया त्याग करना और संयम, ज्ञान तथा शौच के उपकरण पिच्छी, शास्त्र, कमण्डलु में व इतर—तृण, काठ आदि से संस्तर इत्यादि में ममत्व का त्याग करना ये पाँचवां अपरिग्रह महाव्रत है।

गमन, भाषण, भोजन आदि प्रवृत्तियाँ सम्यक् प्रकार से—आगम के अनुकूल करना ही समिति है। इसके पाँच भेद हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग।

५ समिति—

(१) प्रयोजन के निमित्त दिन में चार हाथ आगे जमीन देखकर साधुओं द्वारा जो प्रासुक मार्ग से गमन होता है वह ईर्या समिति है। इसमें प्रयोजनवश शास्त्र श्रवण, तीर्थयात्रा, देववंदना, गुरुवंदना आदि के लिए ही गमन करना चाहिए निष्प्रयोजन नहीं, ऐसा कथन है।

(२) चुगली, हंसी, कठोरता, परनिंदा, अपनी प्रशंसा और विकथा आदि को छोड़कर स्व-पर के लिए हितकर जो वचन बोलना है वह भाषा समिति है।

(३) छ्यालीस दोषों से रहित शुद्ध, कारण से सहित, नव कोटि से विशुद्ध और ठंडे-गरम आदि भोजन में समता भाव रखना यह निर्दोष एषणा समिति है। सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष, धूम, अंगार, संयोजना और अप्रमाण ये चार दोष, सब मिलकर ४६ दोष होते हैं और ३२ अंतराय होते हैं। कारण में—असाता के उदय से उत्पन्न हुई भूख बाधा को शमन करने हेतु, अन्य मुनियों की वैयावृत्य हेतु आदि कारणों से साधु आहार करते हैं यह कारण सहित है, नव कोटि विशुद्ध है। ऐसा निर्दोष आहार ग्रहण करना ही एषणा समिति है।

(४) ज्ञानोपकरण—शास्त्र, संयमोपकरण—पिच्छी, शौचोपकरण—कमण्डलु अथवा अन्य भी उपकरण—संस्तर, चौकी, पाटा, तृण आदि को पहले देखकर पुनः पिच्छी से परिमार्जित कर धरना, उठाना सो आदाननिक्षेपण समिति है।

(५) एकांत, जीव जंतु रहित, दूर, मर्यादित, विस्तीर्ण और विरोध रहित स्थान में मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना समिति है, इसे उत्सर्ग समिति भी कहते हैं।

पाँच इन्द्रिय निरोधव्रत—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से रोकना सो पाँच इन्द्रिय निरोध व्रत होते हैं।

छह आवश्यक—समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, ये छह आवश्यक क्रियाएँ हैं। सातवें अधिकार में इन्हें विस्तार से लिया है।

लौच—प्रतिक्रमण सहित दिवस में उपवासपूर्वक अपने हाथों से या अन्य के हाथों से जो शिर, मूँछ, दाढ़ी के केशों का उखाड़ना है, वह लौच है, यह दो माह में करने से उत्तम, तीन माह में मध्यम और चार माह में जघन्य कहलाता है। इसमें प्रतिक्रमण दिवस—अष्टमी या चतुर्दशी हो, न भी हो चलेगा किन्तु उपवास अवश्य होना चाहिए “उपवासे नैव” ऐसा विधान है।

आचेलक्य — वस्त्र, चर्म और वल्कलों से अथवा पत्ते आदि से शरीर को नहीं ढकना, भूषण, अलंकार से तथा परिग्रह से रहित निर्ग्रथ — दिगम्बर वेष धारण करना यह जगत् में पूज्य अचेलकत्व नाम का मूलगुण है।

अस्नान — स्नान आदि के त्याग कर देने से जल्ल, मल और पसीने से जिनका सारा शरीर लिप्त हो जाता है, उन मुनि के प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम के पालन करने रूप, घोरगुण स्वरूप यह अस्नानव्रत होता है। “नात्राशुचित्वं स्यात् स्नानादिवर्जनेन मुनेः ब्रतैः शुचित्वं यतः।”

यहाँ स्नान आदि नहीं करने से मुनि के अशुचिता — अपवित्रता नहीं होती है क्योंकि उनके ब्रतों से पवित्रता मानी गई है।

क्षितिशयन — प्रासुक भूमि प्रदेश में अल्प भी संस्तर से रहित या किंचित् मात्र संस्तर से सहित एकांत स्थान में दंडाकार या धनुषाकार शयन करना अथवा एक पसवाड़े से सोना आदि यह क्षितिशयन व्रत है। मुनि अवस्था के योग्य तृणमय — चावल, कोदों आदि की घास (पुराल), काठ के पाटे, पत्थर की शिला और भूमि ये चार तरह के संस्तर दिगम्बर मुनि के लिए योग्य माने गये हैं। तृणमय से तृण की चटाई भी ग्राह्य हैं।

अदंतधावन — अंगुली, नख, दांतों और तृण विशेष के द्वारा, पत्थर या छाल आदि के द्वारा दांतों के मल का शोधन नहीं करना, यह संयम की रक्षारूप अदंतधावन व्रत है। यह व्रत वीतरागता को प्रकट करने और सर्वज्ञदेव की आज्ञा के पालन हेतु पाला जाता है।

स्थितिभोजन — दीवाल आदि का सहारा न लेकर जीव जंतु से रहित स्थान में समान पैर रखकर खड़े होकर दोनों हाथ की अंजुली बनाकर भोजन-पान ग्रहण करना स्थितिभोजन व्रत है। इसमें अपने खड़े होने का स्थान, जूठन गिरने का स्थान और परोसने तथा आहार देने वालों का स्थान ये तीनों स्थान जीव-जंतु रहित होने चाहिए।

एकभक्त — सूर्योदय के बाद और सूर्यास्त से पूर्व तीन-तीन घड़ी काल को छोड़कर दिवस के मध्य, एक, दो अथवा तीन मुहूर्त काल में एक बार भोजन करना यह एकभक्त मूलगुण है।

चौबीस घंटे के दिन रात में दिन में दो भोजन बेला मानी गई है, उनमें से एक भोजन बेला में आहार ग्रहण करना एकभक्त कहलाता है।

जो मनुष्य उपर्युक्त विधान से मूलगुणों को मन-वचन-काय से पालन करते हैं, वे जगत् में पूज्य होकर अक्षय सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

(२) प्रत्याख्यान, संस्तर-स्तव अधिकार

प्रत्याख्यान और संस्तर स्तव इन दो विषयों को जानने वाले जो मुनि हैं, उनमें और इन दोनों विषयों में अभेद है, ऐसा दिखलाकर इस दूसरे अधिकार में प्रत्याख्यान संस्तर-स्तव का वर्णन किया है।

अथवा यतियों के छह काल होते हैं — दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण काल, आत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल। इनमें से पहले के तीन कालों का इस मूलाचार में वर्णन है और शेष तीन कालों का भगवती आराधना में कथन है। उनमें से पहले के तीन कालों में यदि मरण उपस्थित हो जावे तो कैसे परिणाम धारण करके मरण करना ? इस अधिकार में इसी का वर्णन है —

संपूर्ण दुःखों से युक्त सिद्धों को और अर्हंतों को मेरा नमस्कार हो। मैं जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्व का श्रद्धान करता हूँ और पापों का त्याग करता हूँ। अपनी आत्मा से पाप क्लेश को धो डालने वाले सिद्धों को और

महर्षियों को नमस्कार कर मैं केवली भगवान द्वारा कथित संस्तर को स्वीकार करता हूँ। यह संस्तर सल्लेखना के समय विधिवत् ग्रहण किया जाता है। यह तृणों का, पाटा, शिला या पृथ्वी पर होता है अर्थात् चार प्रकार के संस्तर माने गये हैं—चटाई, लकड़ी का पाटा, पत्थर की शिला या जमीन में आसन शयन आदि करने का संकल्प लेना ही 'संस्तर' ग्रहण है।

संस्तर ग्रहण करने वाले साधु कैसे परिणाम करते हैं ?

सब बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह को छोड़कर, शरीर से ममत्व छोड़कर अन्न, खाद्य और लेह्य रूप तीन प्रकार के भोजन का त्यागकर मात्र पेय—दूध, रस, मट्ठा, जल आदि पीने की वस्तुएँ रखते हैं। पुनः ये साधु भावना भाते हैं—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि।
 आसा वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए॥४२॥
 खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
 भित्ति मे सव्व भूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि॥४३॥
 रायबन्धपदोसं च हरिसं दीणभावयं।
 उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे॥४४॥
 ममत्तिं परिवज्जामि णिममत्तिमुवट्ठिदो।
 आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे॥४५॥
 आदा हु मज्झं णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
 आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए॥४६॥
 एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
 एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ॥४७॥
 एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
 सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥४८॥
 संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं।
 तम्हा संजोयसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे॥४९॥
 मूलगुण उत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण।
 तमहं सव्वं णिंदे पडिक्कमे आगमिस्साणं॥५०॥
 णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं।
 आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं॥५५॥

मेरा सभी जीवों में समताभाव है, मेरा किसी के साथ बैर नहीं है, सम्पूर्ण आशा को छोड़कर समाधि को स्वीकार करता हूँ॥४२॥

सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, सभी जीवों के साथ मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी के साथ बैरभाव नहीं है॥४३॥

राग का अनुबंध, प्रकृष्ट, द्वेष, हर्ष, दीनभाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति और अरति का त्याग करता हूँ॥४४॥

मैं ममत्व को छोड़ता और निर्ममत्व भाव को प्राप्त होता हूँ, आत्मा ही मेरा आलम्बन है और मैं अन्य सभी का त्याग करता हूँ॥४५॥

निश्चित रूप से मेरा आत्मा ही ज्ञान में है, मेरा आत्मा ही दर्शन में और चारित्र में है, प्रत्याख्यान में है और मेरा आत्मा ही संवर तथा योग में है॥४६॥

जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्म लेता है। एक जीव के ही यह जन्म और मरण है और अकेला ही कर्मरहित होता हुआ सिद्ध पद प्राप्त करता है। मेरा आत्मा एकाकी है, शाश्वत है और ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है। शेष सभी संयोग लक्षण वाले जो भाव हैं वे मेरे से बहिर्भूत हैं॥४७-४८॥

इस जीव ने संयोग के निमित्त से दुःखों के समूह को प्राप्त किया है इसलिए मैं समस्त संयोग संबंध को मन-वचन-कायपूर्वक छोड़ता हूँ॥४९॥

मैंने मूलगुण और उत्तरगुणों में प्रमाद से जिस किसी की आराधना नहीं की है, उस सम्पूर्ण की मैं निंदा करता हूँ और भूत-वर्तमान ही नहीं, भविष्य में आने वाले का भी मैं प्रतिक्रमण करता हूँ॥५०॥

निंदा करने योग्य की मैं निंदा करता हूँ और जो मेरे गर्हा करने योग्य दोष हैं, उनकी गर्हा करता हूँ और मैं बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह सहित सम्पूर्ण उपधि (परिग्रह) की आलोचना करता हूँ॥५१॥

जह बालो जंप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि।

तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण॥५६॥

जिस प्रकार बालक सरल भाव से कार्य और अकार्य को कह देता है, उसी प्रकार मुनि माया और असत्य को छोड़कर गुरु के पास आलोचना करे। जिनके पास आलोचना करे वे आचार्य दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों में अविचल हों, धीर हों, आगम में निपुण हों और शिष्य के गुप्त दोषों को कभी किसी में प्रगट करने वाले न हों। आलोचना के बाद वह मुनि सबसे क्षमा करावे।

जो मैंने राग या द्वेष से न करने योग्य कार्य किया है अथवा प्रमादवश किसी के प्रति कुछ कहा है। उन सबसे मैं क्षमायाचना करता हूँ।

मरण के मुख्य तीन भेद हैं — बालमरण, बालपंडित मरण और पंडित मरण। प्रथम मरण असंयत सम्यग्दृष्टि के होता है, दूसरा मरण देशव्रती श्रावक के होता है। तीसरा मरण केवली भगवान का है। इसी पंडितमरण को छोटे गुणस्थानवर्ती मुनि से लेकर केवली भगवान तक माना है। यद्यपि अन्यत्र — भगवती आराधना में मरण के पाँच भेद करके बालमरण में मिथ्यादृष्टि को लिया है और पंडितपंडित मरण नाम से केवलियों को लिया है किन्तु यहाँ संक्षेप में तीन भेद ही किये हैं।

जो मुनि मरणकाल में सन्यास विधि से पंडितमरण नहीं कर पाते हैं वे मुनि मरण की विराधना कर देने से देवदुर्गति को प्राप्त कर लेते हैं पुनः उन्हें बोधिदुर्लभ हो जाता है और आगामी काल तक उनका संसार अनंत हो जाता है। कंदर्प, आभियोग्य, कित्विषक आदि देवों में जन्म लेना देवदुर्गति है।

जो साधु सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, निदान भावना से रहित हैं, शुक्ललेश्या को धारण करने वाले हैं, उनका मरण सन्यास विधि से होने से उन्हें बोधि सुलभ है। जो जिनेन्द्रदेव के वचनों में अनुरागी हैं, भाव से गुरु की आज्ञा पालते हैं, शबल परिणाम-मंदकषायी व संक्लेश भाव से रहित हैं, वे संसार का अंत करने वाले होते हैं।

समाधि से मरण करने वाले साधु भावना भाते हैं —

सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य।
 अणयार भंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणि॥७४॥
 उड्डमधो तिरियम्हि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि।
 दंसणणाणसहगदो पंडितमरणं अणुमरिस्से॥७५॥

शस्त्रों के घात से मरना, विष भक्षण करना, अग्नि में जल जाना, जल में डूबकर मरना, अन्य और भी पाप क्रिया से मरना, ये मरण जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाने वाले हैं। ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक में मैंने बहुत बार शस्त्रघात आदि द्वारा बालमरण (बालबालमरण) किये हैं अब मैं दर्शन, ज्ञान से सहित होता हुआ पंडितमरण से मरूँगा। क्योंकि —

एक्कं पंडितमरणं छिंददि जादीसयाणि बहुगाणि।
 तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि॥७७॥
 जइ उप्पज्जइ दुक्खं तो दट्ठव्वो सभावदो णिरये।
 कदमं माए ण पत्तं संसारे संसरंतेण॥७८॥
 संसारचक्कवालमि माए सव्वेवि पुग्गला बहुसो।
 आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तिती॥७९॥
 तिणकट्टेण व अग्गी लवणसमुदो णदीसहस्सेहिं।
 ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं॥८०॥
 कंखिदकलुसिदभूदो कामभोगेसु मुच्छिदो संतो।
 अभुंजंतोवि य भोगे परिणामेण णिवज्झेइ॥८१॥
 आहारणिमित्तं किर मच्छा गच्छंति सत्तमिं पुढविं।
 सच्चित्तो आहारो ण कप्पदि मणसावि पत्थेदुं॥८२॥

एक पण्डितमरण सौ-सौ जन्मों का नाश कर देता है अतः ऐसे ही मरण से मरना चाहिए कि जिससे मरण सुमरण हो जावे॥७७॥

यदि उस समय दुःख उत्पन्न हो जावे तो नरक के स्वभाव को देखना चाहिए। संसार में संसरण करते हुए मैंने कौन सा दुःख नहीं प्राप्त किया है॥७८॥

इस संसार रूपी भँवर में मैंने सभी पुद्गलों को अनेक बार ग्रहण किया है और उन्हें आहार आदि रूप परिणामाया भी है किन्तु उनसे मेरी तृप्ति नहीं हुई है॥७९॥

तृण और काठ से अग्नि के समान तथा सहस्र नदियों से लवण समुद्र के समान इस जीव को काम और भोगों से तृप्त करना शक्य नहीं है॥८०॥

आकांक्षा और कलुषता से सहित हुआ यह जीव काम और भोगों में मूर्च्छित होता हुआ, भोगों को नहीं भोगता हुआ भी, परिणाम मात्र से कर्मों द्वारा बंध को प्राप्त होता है॥८१॥

आहार के निमित्त से ही नियम से मत्स्य सातवीं पृथ्वी में चले जाते हैं इसलिए सचित्त आहार को मन से भी चाहना ठीक नहीं है॥८२॥

जह णिज्जावयरहिया णावाओ वररदणसुपुण्णाओ।
 पट्टणमासण्णाओ खु पमादमूला णिबुडुंति॥८८॥

जैसे उत्तम रत्नों से भरी हुई नौकायें नगर के समीप किनारे पर आकर भी कर्णधार—खेवटिया से रहित होने से प्रमाद के कारण डूब जाती हैं ऐसे ही साधु भी जीवन भर रत्नत्रय और तपश्चरण रूप रत्नों को धारण कर भी यदि अंत में निर्यापकाचार्य रूप खेवटिया को नहीं प्राप्त कर पाता है तो सन्यास विधि न सुधार कर संसार समुद्र में डूब जाता है।

इस मरणकाल में बलशाली और समर्थ चित्त वाले साधु भी सम्पूर्ण द्वादशांग श्रुतस्कंध का चिंतन नहीं कर सकते हैं। इसलिए—

एदम्हादो एक्कं हि सिलोगं मरणदेसयालम्हि।

आराहणउवजुत्तो चितंतो आराधओ होदि॥१४॥

आराधना में लगा हुआ साधु मरण के काल में इस श्रुतसमुद्र से एक भी श्लोक का चिंतन करता हुआ आराधक हो जाता है।

यदि मरण काल में पीड़ा उत्पन्न हो जावे, तो क्या औषधि है ?

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।

जरमरणबाहिवेयणखयकरणं सब्बदुक्खाणं॥१५॥

णाणं सरणं मे दंसणं च सरणं चरियसरणं च।

तव संजमं च सरणं भगवं सरणो महावीरो॥१६॥

जिनेन्द्र भगवान के वचन ही महौषधि हैं, ये विषय सुखों का विरेचन—त्याग कराने वाले हैं, अमृतमय हैं और ये जिनवचन जरा, मरण, रोग से होने वाली वेदना का तथा सर्वदुःखों का क्षय करने वाले हैं।

इस काल में शरण किन-किनकी लेना ?

मुझे ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है, तपश्चरण और संयम शरण है तथा भगवान महावीर शरण हैं।

इस आराधना का फल क्या है ?

आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं।

उक्कस्सं तिणिण भवे गंतूण य लहइ णिव्वाणं॥१७॥

आराधना में तत्पर हुआ साधु आगम में कथित सम्यक् प्रकार से मरण करके उत्कृष्ट रूप से तीन भव को प्राप्त कर पुनः निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

पुनरपि साधु भावना करता है—

लब्धं अलब्धपुब्बं जिणवयणसुभासिदं अमिदभूदं।

गहिदो सुग्गइमग्गो णाहं मरणस्स बीहेमि॥१९॥

जिनको पहले कभी नहीं प्राप्त किया था ऐसे अलब्धपूर्व, अमृतमय, जिनवचनरूपी सुभाषित को अब मैंने प्राप्त कर लिया है। इसके साथ मैंने सुगति के मार्ग को ग्रहण कर लिया है इसलिए अब मैं मरण से नहीं डरता हूँ। क्योंकि—

वीरेण वि मरिदव्वं णिव्वीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।

जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि वीरत्तणेण मरिदव्वं॥*

* यह गाथा फलटन से प्रकाशित मूलाचार में अधिक है।

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।

जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं॥१००॥

सीलेण वि मरिदव्वं णिस्सीलेण वि अवस्स मरिदव्वं।

जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि सीलत्तणेण मरिदव्वं॥१०१॥

वीर को भी मरण करना पड़ता है और निश्चित ही वीरतारहित — कायर को भी मरना पड़ता है। यदि दोनों को मरना ही पड़ता है, तब तो वीरता सहित होकर ही मरना अच्छा है।

धीर को भी मरना पड़ता है और निश्चित ही धैर्यरहित को भी मरना पड़ता है। यदि दोनों को मरना ही पड़ता है तब तो धैर्यसहित होकर ही मरना अच्छा है। शील सहित को भी मरना पड़ता है और निश्चित रूप से शील रहित को भी मरना पड़ता है। यदि दोनों को मरना ही पड़ता है तब तो शील सहित होकर ही मरना श्रेष्ठ है। इस प्रकार —

णिम्ममो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो।

अणिदाणो दिठिसंपण्णो मरंतो आराहओ होइ॥१०३॥

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसाइणो।

संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे॥१०४॥

जो साधु ममत्वरहित, अहंकाररहित, कषायरहित, जितेन्द्रिय, धीर, निदानरहित और सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वह मरण करता हुआ आराधक होता है। जो निष्कषायी मुनि इन्द्रियों का दमन करने वाला है, शूर-वीर है, पुरुषार्थी है और संसार से भयभीत है उसके सुखपूर्वक प्रत्याख्यान होता है।

पुनः मैं क्या चाहता हूँ ?

वीरो जरमरणरिऊ वीरो विण्णाणणाणसंपण्णो।

लोगस्सुज्जोययरो जिणवरचंदो दिसदु बोधिं॥१०६॥

वीर भगवान् जरा और मरण के शत्रु हैं, वीर भगवान् विज्ञान रूप ज्ञान से, केवलज्ञान से सम्पन्न हैं और लोक को प्रकाशित करने वाले हैं, ऐसे जिनवरचंद्र — वीर भगवान् मुझे बोधि प्रदान करें।

क्या कुछ निदान — भविष्य में कामना भी कर सकते हैं ?

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।

जागदी वीदमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा॥१०७॥

अरहंत देवों को जो गति प्राप्त हुई है और कृतकृत्य — सिद्ध भगवन्तों को जो गति प्राप्त हुई है तथा मोहरहित मुनियों को जो गति प्राप्त हुई है, वही गति सदा के लिए मेरी होवे।

इस प्रकार याचना करते हुए साधु और साध्वी अपनी सल्लेखना की सिद्धि करके उत्तम गति प्राप्त कर लेते हैं।

(३) संक्षेप प्रत्याख्यान अधिकार

बृहत्प्रत्याख्यान का व्याख्यान किया, अब पुनः यदि सिंह, व्याघ्र, अग्नि, रोग या मनुष्यकृत उपद्रव आदि के निमित्त से आकस्मिक मरण उपस्थित हो जाय तो उस समय क्या करना चाहिए ? ऐसा शिष्य के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उस अवस्था में जो संक्षेप से भी संक्षेप प्रत्याख्यान उचित है, उसे बतलाने के लिए आचार्यदेव तीसरा अधिकार कहते हैं —

एदम्हि देसयाले उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं।

एदं पच्चक्ख्वाणं णित्थिण्णे पारणा हुज्जं॥११२॥

यदि मेरा इस देश या काल में जीवन रहेगा तो इस गृहीत प्रत्याख्यान को समाप्त कर मैं पारणा करूँगा अर्थात् कुछ उपद्रव या उपसर्ग तो आ गया किन्तु बचने की भी उम्मीद है तब मुनि ऐसी नियम सल्लेखना लेते हैं कि यदि मैं इस उपद्रव से जीवित रह जाऊँगा तो पुनः आहार-जल ग्रहण करूँगा अन्यथा चतुर्विध आहार का, अन्य सर्व परिग्रह का त्याग है।

जब मरण का निश्चय हो जाता है, तब क्या करते हैं ?

सव्वं आहारविहिं पच्चक्खामि पाणयं वज्जं।

उवहिं च वोस्सरामि य दुविहं तिविहेण सावज्जं॥११३॥

पेय पदार्थ को छोड़कर संपूर्ण आहार विधि का मैं त्याग करता हूँ और मन-वचन-कायपूर्वक दोनों प्रकार की उपधि — परिग्रह का भी मैं त्याग करता हूँ। पुनः इसके बाद मरण काल बिल्कुल निकट होने पर —

जो कोइ मज्झ उवही सब्भंतरबाहिरो य हवे।

आहारं च सरीरं जावज्जीवा य वोसरे॥११४॥

जो कुछ भी मेरा अभ्यंतर-बाह्य परिग्रह है उसको तथा सर्व आहार और शरीर को मैं जीवन पर्यन्त के लिए छोड़ता हूँ।

जम्मालीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं।

तं सव्वजीवसरणं पांददु जिणसासणं सुइरं॥११५॥

जिसका आश्रय लेकर जीव अनंत संसार समुद्र को पार कर लेते हैं, सभी जीवों को शरण देने वाला ऐसा यह जिनशासन चिरकाल तक वृद्धिगत होता रहे।

समाधिमरण का फल क्या है ?

एगम्हि य भवगहणे समाहिमरणं लहिज्ज जदि जीवो।

सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि॥११६॥

यदि जीव एक भव में समाधिमरण को प्राप्त कर लेता है तो वह अधिकतम सात या आठ भव लेकर पुनः नियम से निर्वाणपद को प्राप्त कर लेता है। पुनः जन्म-मरण के दुःखों से सर्वथा के लिए छूट जाता है। क्योंकि —

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं।

जम्मणमरणादकं छिंदि ममत्तिं सरीरादो॥११७॥

मरण के समान अन्य कोई भय नहीं है और जन्म के समान अन्य कोई दुःख नहीं है। अतः जन्म-मरण के कष्ट में निमित्त ऐसे इस शरीर से ममत्व को छोड़ो अर्थात् शरीर से ममत्व छोड़ने से ही जन्म-मरण की परम्परा समाप्त होती है अन्यथा नहीं। इसलिए शरीर से निर्मम होकर समाधि विधि से इसको छोड़कर संसार परम्परा को नष्ट करना चाहिए।

(४) सामाचार अधिकार

जिन मुनियों की आयु अधिक अवशेष है, जो निरतिचार मूलगुणों का पालन कर रहे हैं उनकी प्रवृत्ति कैसी होती है ? ऐसा प्रश्न होने पर श्री वट्टकेर आचार्यदेव सामाचार नाम के चतुर्थ अधिकार को कहते हैं।

उसमें सर्वप्रथम सामाचार शब्द का निरुक्ति अर्थ कहते हैं —

समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो।

सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो॥१२३॥

समता सामाचार, सम्यक् आचार, सम आचार या सभी का समान आचार ये चार सामाचार शब्द के अर्थ हैं।

(१) **समता सामाचार** — रागद्वेष का अभाव होना समता सामाचार है अथवा त्रिकाल देववन्दना करना या पंच नमस्कार रूप परिणाम होना समता है अथवा सामायिक व्रत को समता कहते हैं। ये सब समता सामाचार है।

(२) **सम्यक् आचार** — शोभन — निरतिचार मूलगुणों का अनुष्ठान करना अथवा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना यह सम्यक् आचार है।

(३) **सम आचार** — पाँच आचारों को सम आचार कहा है, जो कि प्रमत्त, अप्रमत्त आदि सभी मुनियों का आचार समानरूप होने से सम आचार है अथवा आहार ग्रहण और देववन्दना आदि क्रियाओं में भी साधुओं को सह — साथ ही मिलकर आचरण करना सम आचार है।

(४) **समान आचार** — मान — परिणाम के साथ जो रहता है वह समान है अथवा सभी का समान रूप से पूज्य या इष्ट जो आचार है, वह सामाचार है।

इस सामाचार के मुख्य दो भेद हैं —

औधिक और पदविभागिक के भेद से सामाचार दो प्रकार का है। औधिक सामाचार दश प्रकार का है और पदविभागी सामाचार अनेक प्रकार का कहा गया है।

औधिक के दश भेद —

इच्छा मिच्छाकारो तथाकारो व आसिआ णिसिही।

आपुच्छा पडिपुच्छा छंदणसणिमंतणा य उवसंपा॥१२५॥

इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदन, सनिमन्त्रणा और उपसंपत् ये दश भेद औधिक सामाचार के हैं।

इच्छाकार — संयम का उपकरण, ज्ञान का उपकरण और भी अन्य उपकरण के लिए तथा किसी वस्तु के मांगने में एवं योगसाधना — ध्यान आदि के करने में इच्छाकार होता है।

मिथ्याकार — जो दुष्कृत — पाप हुआ है वह मिथ्या होवे, पुनः उस दोष को नहीं करना, ऐसा जो भाव प्रतिक्रमण है, वही मिथ्याकार है।

तथाकार — गुरु के मुख से वाचना ग्रहण करने में, उपदेश सुनने में और गुरु द्वारा सूत्र तथा अर्थ के कथन में 'यह सत्य है' 'आपने ठीक कहा है' ऐसा कहना और पुनः श्रवण की इच्छा रखना यह तथाकार है।

यहाँ पर टीकाकार ने कहा है कि 'आचार्य परम्परागत अविसंवादरूप मंत्र-तंत्र आदि जिसका गुरु वर्णन करते हैं, वह उपदेश कहलाता है।'^१

आसिका-निषेधिका — कंदरा, पुलिन, गुफा आदि में प्रवेश करते समय निषेधिका — निःसही करना चाहिए तथा वहाँ से निकलते समय आसिका — असही करना चाहिए।

१. उपदेशे आचार्यपरंपरागतेऽविसंवादरूपे मंत्रतंत्रादिके।

वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहाँ स्थित भूत-व्यंतर आदि देवों को 'निसही' शब्द से पूछकर प्रवेश करना निषेधिका है और वहाँ से निकलते समय 'असही' शब्द से उन्हीं को पूछकर निकलना 'आसिका' है।

आपृच्छा — आतापन आदि योग के ग्रहण करने में, आहार आदि के लिए जाने में अथवा अन्य ग्राम में जाने के लिए विनय से आचार्य आदि को पूछकर कार्य करना आपृच्छा है।

प्रतिपृच्छा — जो कोई भी बड़ा कार्य करना हो तो गुरु आदि से पूछकर फिर पुनः पूछना वह प्रतिपृच्छा है।

छंदन — ग्रहण किये हुए उपकरण के विषय में, विनय के समय, वंदना के काल में, सूत्र का अर्थ पूछने इत्यादि में प्रमुख आदि की इच्छा से अनुकूल प्रवृत्ति करना छंदन है।

निमंत्रणा — गुरु या सहधर्मी साधु से द्रव्य को, पुस्तक को या अन्य वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा हो तो उन गुरुओं से विनयपूर्वक पुनः याचना करना निमंत्रणा है।

उपसंपत् — गुरुओं से अपना निवेदन करना अर्थात् अपने को 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा कहना यह उपसंपत् है। इसके पाँच भेद हैं — विनयोपसंपत्, क्षेत्रोपसंपत्, मार्गोपसंपत्, सुखदुःखोपसंपत् और सूत्रोपसंपत्।

आगंतुक साधु की विनय और उपचार करना, उनके निवास स्थान और मार्ग के विषय में प्रश्न करना, उन्हें उचित वस्तु का दान करना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना — आगंतुक साधु को आते देखकर उठकर खड़े होना, आप किन गुरु के शिष्य हैं ? किस मार्ग से आये हैं ? आपका रत्नत्रय कुशल तो है ? इत्यादि पूछकर उन्हें समय के अनुकूल घास, पाटा, पुस्तक आदि देना यह सब विनय उपसंपत् है।

जिस क्षेत्र, स्थान में संयम, गुण, तप, शील, यम, नियम आदि वृद्धि को प्राप्त होते हैं उस क्षेत्र में रहना क्षेत्रोपसंपत् है।

संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से युक्त आगंतुक — अतिथि और स्थानीय संघ के साधुओं के बीच जो परस्पर में मार्ग से आने-जाने के विषय में सुख-दुःख समाचार पूछना वह मार्गोपसंपत् है।

साधु के सुख-दुःख में वसतिका, आहार और औषधि आदि से उपचार करना और 'मैं आपका ही हूँ' ऐसे वचन बोलना सुखदुःखोपसंपत् है।

सूत्र और अर्थ इन दोनों को समझने के लिए प्रयत्न करना सूत्रार्थोपसंपत् है।

इस प्रकार औधिक सामाचार के भेद बताये हैं। अब पदविभागी को कहते हैं —

उगमसूर्य्यहुदी समणाहोरत्तमंडले कसिणे।

जं आचरंति सददं एसो भणिदो पदविभागी॥१३०॥

साधुगण सूर्योदय से लेकर सम्पूर्ण अहोरात्र निरंतर जो आचरण करते हैं, ऐसा यह पदविभागी सामाचार है।

कोई सर्व समर्थ साधु अपने गुरु से सम्पूर्ण श्रुत को पढ़कर विनय से पास आकर और प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु से पूछता है। 'भगवन्! आपके चरणों की कृपा से अब मैं अन्य आयतन — संघ को प्राप्त करना चाहता हूँ।' इस तरह वह मुनि इस विषय में तीन बार या पाँच, छह बार प्रश्न करता है। अर्थात् कोई धीर-वीर मुनि अपने संघ में सर्व शास्त्रों को पढ़कर अन्य दूसरे संघ में विशेष अध्ययन के लिए जाना चाहता है तब प्रार्थना करता है और कई बार भी आज्ञा मांगता है। पुनः वह मुनि गुरु से पूछकर और उनसे आज्ञा प्राप्त कर अपने सहित चार या तीन, दो मुनि होकर वहाँ से विहार करता है अर्थात् अपने संघ से अन्य संघ में जाने के लिए भी अकेले मुनि विहार नहीं करें। क्योंकि —

विहार के दो ही भेद हैं — गृहीतार्थ और अगृहीतार्थ। तत्त्वज्ञानी, उत्तम संहननधारी मुनि चारित्र में दृढ़

रहते हुए एकलविहारी होते हैं। उनका विहार प्रथम — गृहीतार्थ है। जो अल्पज्ञानी संघ में विहार करते हैं उनका द्वितीय — अगृहीतार्थ विहार है। इन दो के सिवाय तीसरा विहार जैन आगम में नहीं है। अब श्री कुंदकुंददेव स्वयं कहते हैं कि एकलविहारी कौन होवे ?

तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य।

पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो॥१४९॥

तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, संहनन और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण, दीक्षा और आगम में बली मुनि एकलविहारी स्वीकार किये गये हैं। इस गाथा में संहनन से उत्तम संहननधारी^१ लिए हैं, जो कि इस काल में नहीं हैं। पुनः कहते हैं—

सच्छंदगदागदी सयणणिसयणाहाणभिक्खवोसरणे।

सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी॥१५०॥

गमन, आगमन, सोना, बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मलमूत्रादि विसर्जन करना, इन कार्यों में स्वच्छंद प्रवृत्ति करने वाला और स्वच्छंद बोलने वाला ऐसा मेरा शत्रु भी एकलविहारी न होवे, फिर मुनि की तो बात ही क्या है ?

यदि संहननहीन मुनि अकेले विहार करते हैं, तो क्या हानि होती है ? सो ही दिखाते हैं—

गुरुपरिवादो सुदवुच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा।

भिंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि॥१५१॥

कंटयखण्णुयपडिणियसाणगोणादिसप्पमेच्छेहि ।

पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव॥१५२॥

गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो।

गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो॥१५३॥

आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य।

संजमविराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा॥१५४॥

एकलविहारी मुनि होने पर गुरु की निंदा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता, मूढ़ता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थता ये दोष आते हैं। कांटे, टूठ, विरोधीजन, कुत्ता, गाय, सर्प आदि पशुओं से और म्लेच्छजनों से अथवा विष से और अजीर्ण आदि रोगों से अपने पर विपत्तियाँ आ जाती हैं।

एकाकी विहार करने वाले मुनि तो स्वच्छंद प्रवृत्ति करने लगते ही हैं किन्तु कोई साधु संघ में रहते हुए अनुशासनहीन होकर अन्य साधुओं को नहीं चाहते हैं, उनमें क्या दोष होते हैं ? सो ही कहते हैं—

जो गारव से सहित हैं, आहार में लंपट हैं, मायाचारी हैं, आलसी हैं, लोभी हैं और धर्म से रहित हैं ऐसे शिथिल मुनि संघ में रहते हुए भी साधु समूह को नहीं चाहते हैं।

एकाकी रहने वाले के सर्वज्ञदेव की आज्ञा का उल्लंघन होगा और अन्य मुनि भीएकाकी बनेंगे सो यह अनवस्था दोष, मिथ्यात्व का सेवन, अपना विनाश और संयम की विराधना ये पाँच पापस्थान—दोष माने गये हैं।

श्रुत का अध्ययन करने वाले मुनि को 'जिस संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार हैं, उस संघ में ही रहना चाहिए। शिष्यों पर अनुग्रह करने में कुशल को आचार्य कहते हैं। धर्म

के उपदेशक को उपाध्याय, संघ की प्रवृत्ति कराने वाले को प्रवर्तक, मर्यादा के उपदेशक को स्थविर और गण के रक्षक को गणधर कहते हैं।

अपने संघ से गुरु की आज्ञा लेकर मुनि दो या तीन मिलकर जब दूसरे संघ में पहुँचते हैं, तब वहाँ के आचार्य और मुनि आदि क्या करते हैं ? सो दिखाते हैं —

आगत मुनि को देखकर संघ के सभी साधु वात्सल्य भाव के लिए, सर्वज्ञदेव की आज्ञा पालन करने के लिए, आगंतुक साधु को अपनाने के लिए और उनको प्रणाम करने के लिए उठकर खड़े हो जाते हैं। पुनः सात कदम आगे बढ़कर परस्पर में नमोऽस्तु-प्रतिनमोऽस्तु करके आगंतुक के प्रति करने योग्य कर्तव्य के लिए उनसे रत्नत्रय की कुशल पूछें।

पुनः संघ में तीन दिन तक सहाय देना चाहिए। उन दिनों आगंतुक मुनियों की क्रियाओं में, संस्तर आदि में तथा सहवास में परीक्षा करना चाहिए। अतिथि मुनि और संघस्थ मुनि परस्पर की क्रियाओं में, प्रतिलेखन में, एक-दूसरे की क्रिया और चारित्र में परीक्षा करें। आगंतुक मुनि उस दिन विश्रांति लेकर और परीक्षा करके विनयपूर्वक आचार्य के पास बैठकर दूसरे या तीसरे दिन अपने आने का हेतु निवेदित करें, पुनः आचार्य आगंतुक का नाम, कुल, गुरु, दीक्षा के दिन, वर्षावास, आने की दिशा, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि के विषय में प्रश्न करें। अतिथि मुनि समुचित उत्तर दें।

अनंतर यदि वे मुनि क्रिया और चारित्र में शुद्ध हैं, नित्य उत्साही हैं, बुद्धिमान हैं तो उनकी सामर्थ्य के अनुसार उन्हें विद्याध्ययन करावें और यदि आगंतुक मुनि चारित्र में विशुद्ध नहीं हैं तो उन्हें छेदोपस्थापना करके — प्रायश्चित्त देकर रखना चाहिए। कदाचित् वह मुनि प्रायश्चित्त न लेवे, तो उसे संघ में नहीं रखना चाहिए। यदि वे आचार्य शिष्यों के मोह से उसे न छोड़ें तो वे आचार्य भी प्रायश्चित्त के पात्र हो जाते हैं।

यदि वे आगंतुक मुनि ठीक हैं और आचार्य ने उन्हें स्वीकार करके पढ़ाना शुरू कर दिया है तो वे मुनि प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करें। सिद्धांत ग्रंथों के पढ़ने में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि करके पढ़ें। इस संघ में रहते हुए वे मुनि अब संघ के साधुओं को अपने संघ का जैसा समझकर गुरु, बाल, वृद्ध, रोगी आदि साधुओं की यथाशक्ति वैयावृत्य करें। प्रतिक्रमण, देववन्दना, गुरुवन्दना, आहार, विहार आदि क्रियाएँ सब साधुओं के साथ मिलकर ही करें।

आर्यिकाओं की चर्या — आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिए, बिना प्रयोजन उनके साथ वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए। यदि अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर न देवे। यदि गणिनी को आगे करके पूछे तो उत्तर देना चाहिए। तरुण मुनि युवती आर्यिका के साथ यदि वचनालाप करे तो उस मुनि ने आज्ञालोप आदि पाँचों ही दोष किये, ऐसा समझना चाहिए। आर्यिकाओं की वसतिका में मुनियों का रहना, बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, कायोत्सर्ग आदि करना युक्त नहीं है।

आर्यिकाओं को प्रायश्चित्त आदि देने के लिए उनका आचार्यत्व करने के लिए कैसे आचार्य होंगे ?

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।

संगहणुगुगहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो।।१८३।।

गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।

चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि।।१८४।।

जो धर्म में अनुरागी है, धर्म में दृढ़ है, संवेग भाव सहित है, पाप से भीरु है, शुद्ध आचरण वाले है,

शिष्यों के अनुग्रह और निग्रह में कुशल हैं, हमेशा ही पापक्रिया से निवृत्त हैं, गंभीर हैं, स्थिरचित्त हैं, मित बोलने वाले हैं, कभी किंचित् मात्र कुतूहल करते हैं, चिरदीक्षित हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं, ऐसे प्रौढ़ मुनि ही आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं।

एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करेदि अज्जाणं।

चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज।।१८५।।

उपर्युक्त गुणों से रहित आचार्य आदि आर्यिकाओं का आचार्यत्व करते हैं तो उनके चार काल — गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ काल विराधित होते हैं और गच्छ — संघ आदि की भी विराधना हो जाती है।

इसलिए उस परगण में रहते हुए अतिथि मुनियों को यहाँ के आचार्य की आज्ञानुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए।

पूर्व में औधिक और यह पदविभागिक जो भी सामाचार विधि कही गई है, वह सभी सामाचार विधि आर्यिकाओं को भी सर्व अहोरात्र में यथायोग्य करना चाहिए। यहाँ 'यथायोग्य' से उन्हें वृक्षमूल, आतापन आदि योग नहीं करना चाहिए।

ये आर्यिकाएँ अकेली न रहकर दो-तीन आदि से लेकर अधिक जितनी भी हों, रहें। एक-दूसरे की रक्षा करते हुए वात्सल्यभाव से रहें, आपस में ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि छोड़कर अपने पितृपक्ष-पतिपक्ष के कुल की मर्यादा के अनुरूप लज्जा आदि गुणों से सहित होकर रहें। गृहस्थों के कुछ निकट ही वसतिका में इन्हें रहना चाहिए।

उपर्युक्त विधानरूप चर्या का जो मुनि और आर्यिकाएँ अचारण करते हैं, वे जगत् से पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ यह सामाचार अधिकार में साधुओं की अहोरात्र चर्या संक्षेप में ही कही गई है।

(५) पंचाचार अधिकार

दंसणणाणचरित्ते तवेविरियाचारम्हि पंचविहे।

वोच्छं अदिचारेऽहं कारिदे अणुमोदिदे अ कदे।।१९१।।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य ये पाँच आचार हैं। इन आचार में कृत, कारित और अनुमोदना से हुए अतिचारों को मैं कहूँगा।

सम्यक्त्व — तत्त्वरुचि का नाम दर्शन है। यद्यपि दृश धातु देखने में प्रसिद्ध है तो भी यहाँ श्रद्धान अर्थ लेना। जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान और उन्हीं रूप श्रद्धाविषयक अनुष्ठान दर्शनाचार है।

पाँच प्रकार के ज्ञान के लिए अध्ययन आदि क्रियाएं करना ज्ञानाचार है।

पापक्रिया से दूर होना, प्राणियों के वध त्याग और इन्द्रियनिरोध में प्रवृत्ति करना चारित्राचार है।

कायक्लेश आदि तपों का अनुष्ठान करना तप आचार है।

शक्ति को न छिपाकर शुभ कार्यों में उत्साह रखना वीर्याचार है।

दर्शनाचार — जिनेन्द्रदेव ने दर्शनाचार की विशुद्धि आठ प्रकार से कही है अतः दर्शन के अतिचारों का निराकरण करने का उपाय यहाँ कहते हैं —

णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा य ते अट्ठ।।२०१।।

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ शुद्धि हैं।

मार्ग और मार्ग का फल ये दो ही जिनशासन में कहे गये हैं, उसमें सम्यक्त्व को मार्ग कहते हैं और मार्ग का फल निर्वाण है।

सम्यक्त्व का लक्षण—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।

आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं^१।।२०३।।

सत्यार्थरूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये ही सम्यक्त्व हैं।

यहाँ पर सम्यग्दर्शन के विषयभूत पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है। चूँकि परमार्थरूप से जाने गये ये पदार्थ ही श्रद्धान के विषय हैं अतः ये श्रद्धान में कारण हैं और श्रद्धान होना कार्य है जो कि सम्यक्त्व है किन्तु कारणभूत पदार्थों में कार्यभूत श्रद्धान का अध्यारोप करके उन पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है।

इन नव पदार्थों में से जीव को कहते हैं—

जीव के दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। संसारी जीव के छह भेद हैं और सिद्धि को प्राप्त हुए मुक्त जीव हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये संसारी जीव के छह भेद हैं। इनमें से पृथिवी के छत्तीस भेद होते हैं। मिट्टी, बालू, शर्करा, उपल, शिला, लवण, लोहा, तांबा, रांगा, सीसक, चांदी, सोना, हीरा, हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक, अंजन, प्रवाल, अभ्रक, अभ्रबालू, गोमेदमणि, रुचकमणि, अंकमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चन्द्रप्रभमणि, वैडूर्य, जलकांत, सूर्यकांत, गेरू, चंदन, वप्पक, वक, मोच और मसारगल्ल ये ३६ भेद हैं। इन पृथ्वीकायिक जीवों को जानकर उनका परिहार करना चाहिए।

“पृथिवी चतुष्प्रकारा-पृथिवी, पृथिवीशरीरं, पृथिवीकायिक, पृथिवीजीवः^२।”

पृथिवी के चार भेद हैं—पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव।

मार्ग में पड़ी हुई धूलि आदि पृथिवी हैं। पृथिवीकायिक जीव के द्वारा परित्यक्त ईंट आदि पृथिवीकाय हैं। जैसे—मृतक मनुष्यादि की काय। पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय से जो जीव पृथिवी शरीर को ग्रहण किये हुए हैं, वे पृथिवीकायिक हैं जैसे—खान में स्थित पत्थर आदि। पृथिवी में उत्पन्न होने के पूर्व विग्रहगति में रहते हुए एक, दो या तीन समय तक जीव पृथिवीजीव हैं। इनमें से आदि के दो निर्जीव हैं, शेष दो जीव हैं। इनमें भी पृथिवीजीव विग्रहगति में है उसका घात संभव ही नहीं है मात्र पृथिवीकायिक जीवों के घात का त्याग करना ही अहिंसा व्रत है।

ऊपर में कहे गये छत्तीस भेद, ये सब बादर या स्थूल कहलाते हैं। इन छत्तीस भेदों में ही पृथिवी के विकार—भेदरूप बहुत सी पृथिवी हैं। ‘सात नरक की सात और ईषत्प्राग्भार नाम की सिद्धशिला की पृथिवी ये ८ पृथिवी, मेरुपर्वत, कुलाचल, द्वीप और द्वीपों की वेदिकाएं, देवों के विमान, भवन, जिनप्रतिमा, तोरणद्वार, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जंबूवृक्ष, शाल्मलीवृक्ष, इष्वाकार पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, विजयार्ध पर्वत, कांचनपर्वत,

१. यही गाथा समयसार में है, जो कि १३वीं है। २. मूलाचार गाथा २०४ की टीका।

दधिमुख पर्वत, अंजनगिरि, रतिकर पर्वत, वृषभाचल तथा और भी सामान्य पर्वत, स्वयंप्रभ पर्वत, वक्षार पर्वत, रुचकवर पर्वत, कुण्डलवर पर्वत, गजदंत और रत्नों की खान आदि सब पृथिवी के भेदों में ही अंतर्भूत हैं।” अर्थात् मध्यलोक में होने वाले संपूर्ण पर्वत, वेदिकाएं, जंबूवृक्ष, जिनभवन और जिनप्रतिमाएं, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विमान, भवन, इनमें स्थित जिनमंदिर, जिनप्रतिमाएं, नरक की भूमियाँ, बिल तथा सिद्धशिला भूमि आदि सभी इन पृथिवीकायिक के ही भेद हैं।

ऐसे ही जल, वायु, अग्नि और वनस्पति के भी चार-चार भेद होते हैं। उनमें से भी जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक नाम के तृतीय भेद की हिंसा नहीं करना चाहिए।

पर्व, बीज, कंद, स्कंध तथा बीजबीज, इनसे उत्पन्न होने वाली और संमूर्च्छन वनस्पति कही गई है। ये प्रत्येक और अनंत काय ऐसे दो भेदरूप हैं। इनके विशेष भेद मूलाचार, गोम्मटसार ग्रंथों से ही समझना चाहिए।

त्रस के विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय दो भेद हैं। विकलेन्द्रिय में दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवों की अपेक्षा तीन भेद हैं। सकलेन्द्रिय में संज्ञी और असंज्ञी दो भेद हैं।

अथवा सकलेन्द्रिय के जलचर, स्थलचर और नभचर की अपेक्षा तीन भेद हैं। देव, नारकी और मनुष्य ये सैनी पंचेन्द्रिय हैं।

इन सब जीवों को कुल, योनि, मार्गणा आदि से जानना चाहिए। अजीव के दो भेद हैं — रूपी और अरूपी। रूपी — पुद्गल के स्कंध, स्कंध देश, स्कंध प्रदेश और अणु ये चार भेद हैं। अरूपी के धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार भेद हैं। इनमें से रूपी पुद्गल द्रव्य ही कर्मबंध का कारण है।

पुण्य-पाप — सम्यक्त्व से, श्रुत से, विरति परिणाम से और कषायों के निग्रह रूप गुणों से जो परिणत हैं, वह पुण्य है और इससे विपरीत पाप है।

आस्रव — मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

संवर — मिथ्यात्व आदि से जो कर्म आते थे, उनको सम्यक्त्व, विरति परिणाम आदि से रोक देना संवर है।

निर्जरा — पूर्वकृत कर्मों का झड़ना निर्जरा है। उसके दो भेद हैं — सविपाक और अविपाक।

बंध-मोक्ष — रागी कर्मों को बांधता है और विरागसम्पन्न जीव कर्मों से छूटता है। बंध और मोक्ष के विषय में संक्षेप से जिनेन्द्र देव का यही उपदेश है।

निःशंकित शुद्धि — जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित जो ये नव पदार्थ हैं उसमें जो शंका हो, तो यह दर्शन का घात करने वाली हो जाती है। जो कभी शंका न करके दृढ़ श्रद्धान करना है, वह प्रथम दर्शन शुद्धि है।

निःकांक्षित शुद्धि — इहलोक में, परलोक में और कुधर्म में आकांक्षा होने से आकांक्षा के तीन भेद हो जाते हैं। जो इन तीनों को नहीं करता है, वह द्वितीय दर्शन शुद्धि को प्राप्त करता है।

निर्विचिकित्सा शुद्धि — विचिकित्सा अर्थात् ग्लानि के द्रव्य-भाव की अपेक्षा दो भेद हैं — मल, मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओं को देखकर उनमें ग्लानि करना द्रव्य विचिकित्सा है और भूख, प्यास, नग्नत्व आदि परीषहों में ग्लानि या अरुचि करना भाव विचिकित्सा है। द्रव्य विचिकित्सा न करके क्षुधा आदि परीषहों को जीतना ही निर्विचिकित्सा शुद्धि है।

अमूढदृष्टि शुद्धि — लौकिक आचार, वैदिक आचार, नैयायिक आदि से संबंधित सामयिक आचार इनमें और अन्य देवों में जो मूढ़ता है, वह दर्शन का घात करने वाली है। सर्वशक्ति से इनमें मोह को नहीं

करना ही अमूढदृष्टित्व शुद्धि है।

उपगूहन शुद्धि — दर्शन या चारित्र से शिथिल हुए लोगों को देखकर धर्म की भक्ति से उनके दोषों को ढकना — छिपाना यह उपगूहन शुद्धि है।

यथा — ‘चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघदोषापहरणं प्रमादाचरितस्य च संवरणं उपगूहनं’ चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ में हुए दोष को दूर करना अर्थात् प्रमाद से दोष रूप कोई आचरण हुआ हो, उसे ढक देना उपगूहन है।

स्थितिकरणशुद्धि — दर्शन और चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवों को देखकर धर्मबुद्धि से हित-मित वचन से उन्हें उन दोषों से हटाकर पुनः उसी दर्शन और चारित्र में लगा देना स्थितिकरण शुद्धि है।

वात्सल्यशुद्धि — चतुर्गति संसार से पार करने में कारण ऐसे चतुर्विध संघ में प्रीति करना, जैसे — गाय का बछड़े पर अकृत्रिम प्रेम होता है, वैसा धर्म प्रेम करना वात्सल्य शुद्धि है।

प्रभावनाशुद्धि — धर्म कथाओं के कहने से, आतापन आदि योगों को धारण करके और जीवों की दया आदि के द्वारा धर्म की प्रभावना करना तथा — “प्रभावना-वादपूजादान व्याख्यान मंत्रतंत्रादिभिः सम्यगुपदेशैर्मिथ्यादृष्टिरोधं कृत्वार्हत्प्रणीतशासनोद्योतनं।” वाद — शास्त्रार्थ, पूजा — इन्द्रध्वज, सिद्धचक्र आदि महापूजा, दान, व्याख्यान, मंत्र, तंत्रादि के द्वारा और सच्चे उपदेश के द्वारा मिथ्यादृष्टि जनों के प्रभाव को रोककर अर्हत देव के द्वारा बतलाये गए जैनशासन को फैलाना प्रभावना शुद्धि है।

इस प्रकार सम्यक्त्व में शंका, कांक्षा आदि आठ दोषों को न लगाकर निर्दोष रूप से आठ अंगों से सहित सम्यग्दर्शन को धारण करना वह दर्शनाचार है।

ज्ञानाचार — ज्ञानाचार भी आठ प्रकार का है —

जेण तच्चं विबुज्जेज्ज जेण चित्तं णिरुज्जदि।

जेण अत्ता विसुज्जेज्ज तं णाणं जिणसासणे।।२६७।।

जिसके द्वारा तत्त्व का बोध होता है, जिसके द्वारा मन का निरोध होता है और जिसके द्वारा आत्मा विशुद्ध होता है, जैनशासन में उसे ही ज्ञान कहा है।

काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिणहवणे।

वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्टविहो।।२६९।।

काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिहव, व्यंजन, अर्थ और उभय, इन भेदों से ज्ञानाचार आठ प्रकार का है अर्थात् कालशुद्धि, विनयशुद्धि आदि अथवा कालाचार, विनयाचार आदि इनके नाम हैं, इनसे ज्ञान की आराधना होती है अतः ये ज्ञानाचार कहलाते हैं।

कालशुद्धि — स्वाध्याय की बेला में समीचीन शास्त्रों को पढ़ना, पढ़ाना, व्याख्यान आदि करना। सूर्योदय के दो घड़ी (४८ मिनट) बाद से लेकर मध्याह्न के दो घड़ी पूर्व तक पूर्वाह्न स्वाध्याय काल है। मध्याह्न के दो घड़ी बाद से सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व तक अपराह्न स्वाध्यायकाल है। सूर्यास्त के दो घड़ी बाद से अर्धरात्रि के दो घड़ी पूर्व तक पूर्वाह्न स्वाध्यायकाल है और अर्धरात्रि के दो घड़ी बाद से सूर्योदय के दो घड़ी पूर्व तक वैरात्रिक या अपराह्न स्वाध्याय काल है। ऐसे ये चार स्वाध्याय काल होते हैं। इनमें भी दिशादाह, उल्कापात, विद्युत्पात, वज्रपात, इंद्रधनुष, संध्याकाल, दुर्दिन, चंद्रग्रहण, सूर्यग्रहण, धूमकेतु, भूकंप, भयंकर मेघगर्जन, कलह, दुर्गांधि आदि के होने पर स्वाध्याय के लिए अकाल माना जाता है। इन दोषों से रहित स्वाध्याय काल में सिद्धांत ग्रंथ आदि को पढ़ना कालशुद्धि है।

इसी के अंतर्गत द्रव्य, क्षेत्र और भावशुद्धि भी देखना चाहिए। शरीर से रुधिर या पीव आदि बह रहा हो, कोई विशेष रोग हो तो द्रव्यशुद्धि नहीं होती, इनसे वर्जित द्रव्य शुद्धि होती है।

जहाँ बैठकर स्वाध्याय करना है उस क्षेत्र के सौ हाथ भीतर में यदि मांस आदि अपवित्र वस्तुएँ हों, तो क्षेत्र शुद्धि नहीं होती, इससे रहित क्षेत्र में पढ़ने से क्षेत्र शुद्धि होती है।

राग, द्वेष, अहंकार, आर्त-रौद्रध्यान आदि से रहित तथा महाव्रत, समिति आदि से सहित परिणाम ही भावशुद्धि है।

“कालशुद्ध्यादिभिः शास्त्रं पठितं कर्मक्षयाय भवत्यन्यथा कर्मबन्धयेति।”

इस तरह कालशुद्धि आदि से पढ़ा गया शास्त्र कर्मक्षय के लिए होता है अन्यथा कर्मबंध के लिए हो जाता है।

इन शुद्धियों का विस्तार धवला की नवमीं पुस्तक में भी विशेष है। वहाँ से देख लेना चाहिए।

प्रश्न — इन शुद्धियों से युक्त जिन शास्त्रों को पढ़ना है, वे किनके द्वारा रचित हों ?

उत्तर — सुत्तं गणधरकहिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकहिदं च।

सुदकेवलिणा कहिदं अभिण्ण दसपुव्वकहिदं च॥२७७॥

गणधर देव, प्रत्येक बुद्धि ऋद्धिधारी मुनि, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वी मुनियों द्वारा कथित ग्रंथ, सूत्र ग्रंथ या सिद्धांत ग्रंथ कहलाते हैं। उन्हीं के लिए सब शुद्धि देखना आवश्यक है। यथा —

तं पढिदुमसज्जाए णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स^१।

एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्जाए॥२७८॥

अस्वाध्याय काल में मुनिवर्ग और आर्यिकाओं को इन सूत्र ग्रंथ को नहीं पढ़ना चाहिए। इनसे अतिरिक्त अन्य ग्रंथ — आराधनासार आदि अस्वाध्यायकाल में भी पढ़ सकते हैं।

विनयशुद्धि — पर्यकासन से बैठकर पिच्छिका से प्रतिलेखन करके अंजलि जोड़कर प्रणामपूर्वक सूत्र और उसके अर्थ में उपयोग को लगाते हुए अपनी शक्ति के अनुसार पढ़ना विनयशुद्धि है।

उपधानशुद्धि — घी, दूध आदि रसों में से किसी का त्याग कर ग्रंथ पढ़ना उपधान शुद्धि है।

बहुमानशुद्धि — आचार्य, उपाध्याय आदि तथा शास्त्र आदि को बहुमान देकर उनकी पूजा आदि पूर्वक पढ़ना बहुमान शुद्धि है।

अनिह्वशुद्धि — अपने गुरु का नाम नहीं छिपाना और जिस शास्त्र से बोध हुआ हो, उसका नाम भी नहीं छिपाना अनिह्वशुद्धि है। सामान्य यति आदि से पढ़कर जो तीर्थंकर आदि का नाम बताते हैं यह निह्व दोष है, इससे रहित अनिह्वशुद्धि होती है।

व्यंजनशुद्धि — अक्षर, पद, मात्रा से शुद्ध गाथा या सूत्रों को पढ़ना व्यंजनशुद्धि है।

अर्थशुद्धि — उन सूत्र, गाथा, श्लोक आदि का अर्थ शुद्ध समझना और शुद्ध ही प्रतिपादित करना अर्थशुद्धि है।

उभयशुद्धि — सूत्र और अर्थ दोनों को शुद्ध पढ़ना-पढ़ाना, प्रतिपादित करना उभयशुद्धि है।

यह ज्ञानाचार के आठ भेदरूप आठ शुद्धियों का कथन हुआ है। क्योंकि —

१. विरतवर्गस्य संयतसमूहस्य स्त्रीवर्गस्य चार्थिकावर्गस्य। (टीका अंश)।

विणयेण सुदमधीदं यदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।

तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि॥२८६॥

विनय से पढ़ा गया शास्त्र यदि प्रमाद से विस्मृत भी हो जाए तो भी वह परभव में उपलब्ध हो जाता है और केवलज्ञान को प्राप्त करा देता है।

चारित्राचार — हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रह इन पाँचों से विरत होना यह पाँच प्रकार का चारित्राचार है।

तेसिं चव वदाणं रक्खट्ठं रादि भोयणणियत्ती।

अट्ठय पवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ॥२९५॥

इन व्रतों की रक्षा के लिए रात्रि भोजन का त्याग, आठ प्रवचन मातृकाएं और सर्व — पच्चीस भावनाएँ हैं। मुनियों के लिए रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत माना है। पाँच समिति और तीन गुप्ति ये आठ प्रवचन माता कहलाती हैं और अहिंसा आदि पाँचों व्रतों को स्थिर रखने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ ऐसी पच्चीस भावनाएँ होती हैं।

पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप यह चारित्राचार भी आठ प्रकार का है^१।

गुप्ति — रागद्वेष आदि से मन का जो रोकना है, वह मनोगुप्ति है। असत्य वचनों से वचन को रोकना अथवा मौन रहना वचनगुप्ति है। काय क्रिया के अभावरूप कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है।

एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।

रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ॥३३६॥

ये आठ प्रवचन माताएं, जैसे — माता पुत्र की रक्षा करती है, वैसे ही सदा मुनि के दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करती हैं।

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं महिं विहरमाणो दु।

हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकाआउले साहू॥३२६॥

इन समितियों से युक्त साधु हमेशा ही जीव समूह से भरे हुए भूतल पर विहार करते हुए भी हिंसादि पापों से लिप्त नहीं होते हैं।

जैसे — चिकनाई गुण से युक्त कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार साधु जीवों के मध्य समितिपूर्वक चर्या करता हुआ पापों से लिप्त नहीं होता है। जैसे — मजबूत कवच वाला मनुष्य पड़ती हुई बाण वर्षा से भी नहीं भिदता है, वैसे ही समिति से सहित साधु जीव समूह में विचरण करता हुआ भी नहीं बंधता है। जहाँ पर अज्ञानी विचरण करता है, वहीं पर जीवों का परिहार करता हुआ ज्ञानी भी विचरण करता है किन्तु अज्ञानी तो कर्मों से बंध जाता है और ज्ञानी जीवों का परिहार करता हुआ कर्मों से मुक्त हो जाता है इसलिए हे मुने! तुम्हें समितिपूर्वक ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। इससे नये कर्म नहीं बंधेंगे और पुराने निर्जीर्ण हो जायेंगे।

पच्चीस भावनाएँ — एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति, ईर्या समिति, मनोगुप्ति और आलोक्य — देखकर, शोधकर भोजन पान ये अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ हैं। क्रोध, भय, लोभ और हास्य का त्याग तथा अनुवीचि भाषण ये सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। याचना समनुज्ञापना, अपनत्व का अभाव, त्यक्त प्रतिसेवना और साधर्मि को उपकरण का उनके अनुकूल सेवन ये पाँच भावनाएँ तृतीय अचौर्यव्रत की हैं।

स्त्रियों का अवलोकन, पूर्व भोगों का स्मरण, संसक्त वसतिका से विरति एवं विकथा से और प्रणीत रसों से विरति ये ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं। शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध इनमें राग-द्वेष आदि का त्याग करना ये पाँच परिग्रह व्रत की भावनाएँ हैं।

इन भावनाओं को भाते हुए साधु सोते हुए भी किंचित् मात्र भी व्रतों में विराधना नहीं करते हैं फिर जो इस समय जाग्रत हैं, उनके प्रति तो कहना ही क्या है ?

इस प्रकार संक्षेप से पाँच प्रकार का यह चारित्रासार कहा है।

तप आचार — बाह्य-अभ्यंतर भेद से तप आचार दो प्रकार का है। उनमें से प्रत्येक के भी छह-छह भेद हैं। तप के अनुष्ठान का नाम तप आचार है।

अनशन, अवमौदर्य, रस परित्याग, वृत्तपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्त शयनासन ये छह बाह्य तप हैं।

चतुर्विध आहार का त्याग करना अनशन है। काल की मर्यादा सहित और जीवनपर्यंत के भेद से अनशन के दो भेद हैं उसमें भी मर्यादा सहित तप साकांक्ष है और यावज्जीवन अनशन निराकांक्ष है।

बेला, तेला आदि तथा कनकावली, एकावली, सिंहनिष्क्रीडित आदि सब अनशन के भेद हैं।

भक्त प्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोपगमन ये जो मरण के भेद हैं, वे ही निराकांक्ष अनशन के भेद हैं।

अवमौदर्य — पुरुष का आहार बत्तीस कवल — ग्रास प्रमाण है। उसमें से एक ग्रास भी कम लेना या मात्र एक ग्रास लेना अवमौदर्य तप है।

रसपरित्याग — दूध, घी, दही, तेल, गुड़ और नमक इन रसों का त्याग करना या तिक्त, अम्ल, कटु, कषाय और मधुर इन रसों का या इनमें से एक, दो आदि का त्याग करना रस परित्याग तप है। इन प्रासुक भक्ष्य रसादि का तपश्चरण के लिए त्याग किया जाता है तथा महाविकृति नाम से जो वस्तु हैं उनको यावज्जीवन के लिए छोड़ ही देना चाहिए।

मक्खन, मद्य, मांस और मधु ये चार महाविकृतियाँ हैं। ये सर्वथा असंयम के लिए कारण हैं अतः सर्वथा त्याज्य हैं।

वृत्तपरिसंख्यान — गृहों का प्रमाण, दाता का या बर्तनों का नियम, ऐसे अनेक प्रकार के नियम लेकर जो आहार के लिए जाना है वह वृत्तपरिसंख्यान तप है।

कायक्लेश — खड़े होकर कायोत्सर्ग करना, प्रतिमायोग आदि के द्वारा व अनेक आसन के द्वारा आगम के अनुकूल काय को कष्ट देते हुए तप करना कायक्लेश तप है। आतापन, वृक्ष मूल, अभ्रावकाश आदि योग सब इसी में शामिल हैं।

विविक्तशयनासन — अप्रमत्त — सावधानीपूर्वक सोने, बैठने, उठने और ठहरने आदि के लिए एकांतस्थान या गुरुओं के निकट आदि में रहना, तिर्यचिनी, मनुष्य स्त्री, देवी और गृहस्थों से सहित मकान में नहीं रहना विविक्तशयनासन तप है।

बाह्य तप वही है जिससे मन अशुभ को प्राप्त न हो, श्रद्धा उत्पन्न हो और योग हीन न हों।

अभ्यंतर तप — इसके भी छह भेद हैं — प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त — अपराध को प्राप्त हुआ मुनि जिसके द्वारा किये हुए पाप से विशुद्ध हो जाता है — छूट जाता है, वह प्रायश्चित्त तप है। इसके १० भेद हैं — आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप,

छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान।

यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त क्रम से दोषों के अनुरूप होता है। गुरु के पास विनयपूर्वक बैठकर बालक के समान सरलता से अपने दोषों को निवेदन कर उनके द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त को ग्रहण करने से पापों का शोधन होता है।

विनय — नम्रवृत्ति का होना विनय है। इसके पाँच भेद हैं — दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और औपचारिक विनय।

शंकादि दोष रहित उपगूहन आदि गुणों को धारण करना दर्शन विनय है। काल शुद्धि आदि सहित ज्ञानाभ्यास करना ज्ञान विनय है।

इन्द्रिय, कषायों का निग्रह करके गुप्ति समिति में प्रवृत्त होना चारित्र विनय है।

उत्तर गुणों में उत्साह, उनका अभ्यास, श्रद्धा, उचित आवश्यकों में हानि वृद्धि न करना तप विनय है।

मन-वचन-काय से प्रत्यक्ष या परोक्ष में गुरुओं का आदर, सत्कार, नमस्कार, आज्ञा पालन आदि करना औपचारिक विनय है।

इसका विस्तार मूलाचार में पढ़ने लायक है।

एक रात्रि भी अधिक दीक्षित (एक क्षण भी प्रथम दीक्षित) बड़ों में अपने से दीक्षा में जो छोटे हैं उनमें, आर्यिकाओं में और गृहस्थों में भी यथायोग्य विनय करना चाहिए। जो अपने से छोटे हैं तथा आर्यिका आदि में बहुमान देकर आदरसूचक शब्द बोलना ही विनय है।

विणाण विण्णहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।

विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं॥३८५॥

विनय से हीन की सम्पूर्ण शिक्षा निरर्थक है। विनय शिक्षा का फल है और विनय का फल सर्व कल्याण है।

वैयावृत्य — आचार्यादि पाँचों में बाल-वृद्ध से सहित गच्छ में सर्वशक्ति से वैयावृत्य करना चाहिए।

गुणों से अधिक, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, साधुगण, कुल, संघ और मनोज्ञतासहित मुनि, आपत्ति के प्रसंग में इन सबकी वैयावृत्ति करनी चाहिए। वसति, स्थान, आसन तथा उपकरण इनका प्रतिलेखन उपकार करना, आहार, औषधि आदि से तथा उनका मल मूत्र आदि दूर करने से और उनकी वंदना आदि के द्वारा वैयावृत्ति की जाती है।

स्वाध्याय — परिवर्तन, वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा स्तुति-मंगल संयुक्त पाँच प्रकार का स्वाध्याय होता है।

ध्यान — आर्त और रौद्र ये ध्यान अप्रशस्त हैं। धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त हैं।

आज के मुनि आर्त-रौद्र को छोड़कर धर्मध्यान का अवलंबन लेवें। इसके आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, ये चार भेद हैं।

पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय और कालद्रव्य ये आज्ञा के विषय हैं, इनको जिनाज्ञा मानकर चिंतन करना आज्ञा विचय है।

जिनमत का आश्रय लेकर कल्याण को प्राप्त कराने वाले उपायों का चिंतन करना या जीवों के शुभ-अशुभ का चिंतन करना अपाय विचय है।

जीवों के एक-अनेक भवों में होने वाले पुण्य-पापकर्म के फल का तथा कर्मों के उदय, उदीरणा, बंध और मोक्ष का चिंतन करना विपाकविचय है।

भेद सहित और आकार सहित ऊर्ध्व, अधः और मध्यलोक का ध्यान करना, इनसे संबंधित द्वादश अनुप्रेक्षा का चिंतन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

मेरुपर्वत, कुलाचल आदि, पूर्व विदेह-पश्चिम विदेह, भरत, ऐरावत क्षेत्र इनमें होने वाले ग्राम, नगर पत्तन आदि, भोगभूमि, द्वीप, समुद्र, वन, नदी, वेदिका, जिनमंदिर, कूट आदि का, इनके आकार आदि का चिंतन करना। ऊर्ध्वलोक के स्वर्ग, ग्रैवेयक, अनुदिश आदि का तथा अधोलोक के नरक बिलों का, नारकियों के दुःख आदि का चिंतन करना यह सब संस्थानविचय धर्मध्यान है।

अनुप्रेक्षा के नाम —

अद्भुतमसरणमेगत्तमण्ण संसारलोगमसुचित्तं।

आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चिंतिज्जो॥४०३॥

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि दुर्लभ ये द्वादश अनुप्रेक्षा हैं, इनका सतत चिंतन करना चाहिए।

शुक्लध्यान के भेदों में किस ध्यान को कहाँ-कहाँ माना है ? सो इस मूलाचार में विशेष दृष्टव्य है —

उवसंतो दु पुहुत्तं ज्ञायदि ज्ञाणं विदक्कवीचारं।

खीणकसाओ ज्ञायदि एयत्तविदक्कवीचारं॥४०४॥

सुहुमकिरियं सजोगी ज्ञायदि ज्ञाणं च तदियसुक्कंतु।

जं केवली अजोगी ज्ञायदि ज्ञाणं समुच्छिण्णं॥४०५॥

उपशांतकषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान को ध्याते हैं। क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि एकत्ववितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान को ध्याते हैं। सयोगी अर्हत भगवान् सूक्ष्मक्रिया नाम के तृतीय शुक्लध्यान के ध्याता हैं और अयोगिकेवली भगवान् समुच्छिन्न — व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम के चौथे शुक्लध्यान के ध्याता हैं।

यह कथन षट्खण्डागम सूत्र के अनुसार है। इनके परवर्ती श्री पूज्यपाद, अकलंक देव आदि ने प्रथम शुक्लध्यान को आठवें गुणस्थान से माना है किन्तु षट्खण्डागम के कर्ता और मूलाचार के कर्ता आचार्यों ने दशवें तक धर्मध्यान, ग्यारहवें से शुक्लध्यान माना है, यह स्पष्ट है।

व्युत्सर्ग — आभ्यंतर और बाह्य के भेद से व्युत्सर्ग के दो भेद हैं। मिथ्यात्व, वेद, कषाय आदि १४ अभ्यंतर परिग्रह हैं और क्षेत्र आदि दश बाह्य परिग्रह हैं। इनका त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

इन बारह तपों में कौन अधिक महत्वशाली है, सो ही कहते हैं —

बारसविधमिह वि तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।

णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोक्कम्मं॥४०९॥

कुशल महापुरुषों द्वारा देखे गये अभ्यंतर और बाह्य ऐसे बारह प्रकार के तपों में भी स्वाध्याय के समान न कोई तप हुआ है और न होगा ही। क्यों ?

सज्झायं कुब्बंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।

हवदि य एअगमणो विणएण समाहिओ भिक्खू॥४१०॥

विनय से सहित हुआ मुनि स्वाध्याय को करते हुए पंचेन्द्रिय से संवृत और तीन गुप्ति से गुप्त होकर एकाग्रमना हो जाता है, इसलिए स्वाध्याय तप ध्यान की सिद्धि तक पहुँचाने वाला होने से सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार यह बारह प्रकार का तप आचार कहा गया है।

वीर्याचार — जो मुनि अपने बल, वीर्य को न छिपाकर यथोक्त तप में यथास्थान आत्मा को लगाते हैं उन्हीं के यह वीर्याचार होता है।

बलवीरियसत्तिपरक्कमधिदबलमिदि पंचधा उत्तं।

तेसिं तु जहाजोगं आचरणं वीरियाचारो*॥

बल, वीर्य, शक्ति, पराक्रम और धृतिबल ये पाँच प्रकार कहे गये हैं। इनके आश्रय से जो यथायोग्य आचरण है वह पाँच प्रकार का वीर्याचार है।

श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित पाक्षिक प्रतिक्रमण में भी वीर्याचार के पाँच भेद माने हैं। यथा —

“वीरियायारो पंचविहो परिहाविदो वरवीरियपरिक्कमेण, जहुत्तमाणेण, बलेण, वीरिएण, परिक्कमेण, णिगूहियं तवोक्कम्मं ण कदं णिसण्णेण, पडिक्कतं तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

वीर्याचार पाँच प्रकार का है उसका जो परिहापन किया — उसमें दोष लगाया हो। वरवीर्य पराक्रम से, यथोक्तमान से, शारीरिक बल से, आत्मशक्ति से एवं परिक्रम से तपश्चरण किया जाता है। इन पाँच प्रकार के वीर्याचार को प्रगट करने वाले मुनि के द्वारा जब तप किया जाता है तब पाँच प्रकार का वीर्याचार अनुष्ठित — पालित होता है और जब परीषह आदि से इनका पालन नहीं होता है, तब अपना वीर्य निगूहित — ढका जाता है। उस संबंधी मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

श्रेष्ठ वीर्य के पराक्रम — उत्साह का नाम वरवीर्य पराक्रम है। आगम में चान्द्रायण आदि की विधि जिस मान से कही है या कायोत्सर्ग का जो भी जहाँ पर मान — प्रमाण कहा है, वैसा ही करना यथोक्तमान है। आहारादि से शरीर बल होना बल है। वीर्यातराय के क्षयोपशम से अंतरंग शक्ति का होना वीर्य है। आगम में जो मूलगुण पालन आदि में उत्कृष्ट क्रम कहा है, वह परिक्रम है। ये पाँच वीर्याचार हैं।

इस पाक्षिक प्रतिक्रमण में दर्शनाचार के निःशंकित आदि आठ भेद कहे हैं। ज्ञानाचार के काल, विनय आदि आठ भेद किये हैं। चारित्राचार के पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति की अपेक्षा तेरह भेद किये हैं। तप आचार के बाह्याभ्यंतर के भेद से बारह भेद किये हैं। उनमें भी बाह्य तपों में पाँचवाँ कायक्लेश एवं छठा विविक्तशयनासन कहा है। ऐसे अभ्यंतर तपों में पाँचवाँ तप ध्यान एवं छठा व्युत्सर्ग कहा है। आगे वीर्याचार के पाँच भेद किये हैं।

इस मूलाचार में भी उसी पद्धति के अनुसार तपों में क्रम रखा है अतः मूलाचार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्ददेव अपरनाम वट्टकेर स्वामी पूर्व के गौतम स्वामी के वचनों के अनुसार ही चले हैं। ऐसे ही चारित्रपाहुड में भी इन्होंने सल्लेखना को चौथा शिक्षाव्रत कहा है, सो भी इस पाक्षिक प्रतिक्रमण के अनुसार है, यह प्रकरण मैंने मूलाचार पूर्वार्ध के प्राक्कथन में दिया है।

इस प्रकार जो मुनि इन पंचाचारों से अपनी आत्मा का निग्रह करने में समर्थ हैं वे सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

* फलटन से प्रकाशित मूलाचार में यह गाथा है।

(६) पिंडशुद्धि अधिकार

दिगम्बर साधु संयम की रक्षा हेतु शरीर की स्थिति के लिए दिन में एक बार छ्यालीस दोष, चौदह मल दोष और बत्तीस अंतरायों को टालकर आगम के अनुकूल नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। उसी को पिंडशुद्धि या आहार शुद्धि कहते हैं।

उद्गम उत्पादन एषणं च संयोजनं प्रमाणं च।

इंगाल धूम कारण अट्टविहा पिंडसुद्धी दु॥४२१॥

उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, इंगाल, धूम और कारण, मुख्यरूप से आहार संबंधी ये आठ शुद्धि मानी गई हैं। इनसे विपरीत आठ दोष हो जाते हैं—

- (१) दातार के निमित्त से जो आहार में दोष लगते हैं, वे उद्गमदोष कहलाते हैं।
- (२) साधु के निमित्त से आहार में होने वाले दोष उत्पादन नाम वाले हैं।
- (३) आहार संबंधी दोष एषणा दोष है।
- (४) संयोग से होने वाला दोष संयोजना है।
- (५) प्रमाण से अधिक आहार लेना अप्रमाण दोष है।
- (६) लंपटता से आहार लेना इंगाल दोष है।
- (७) निंदा करके आहार लेना धूम दोष है।
- (८) विरुद्ध कारणों से आहार लेना कारण दोष है।

इनमें से उद्गम के १६, उत्पादन के १६, एषणा के १० तथा संयोजना, प्रमाण, इंगाल और धूम ये ४, ऐसे १६+१६+१०+४=४६ दोष हो जाते हैं।

इन सबके अतिरिक्त एक अधःकर्मदोष है, जो महादोष कहलाता है। इसमें कूटना, पीसना, रसोई करना, पानी भरना और बुहारी देना, ऐसे पंचसूना नाम के आरंभ से षट्कायिक जीवों की विराधना होने से यह दोष गृहस्थाश्रित है। इसके करने वाले साधु उस साधु पद में नहीं माने जाते हैं।

उद्गम के १६ भेद—

- (१) औद्देशिक — साधु, पाखंडी आदि के निमित्त से बना हुआ आहार ग्रहण करना उद्देश दोष है।
- (२) अध्यधि — आहारार्थ साधुओं को आते देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला देना।
- (३) पूतिदोष — प्रासुक तथा प्रासुक को मिश्र कर देना।
- (४) मिश्र दोष — असंयतों के साथ साधु को आहार देना।
- (५) स्थापित — अपने घर में या अन्यत्र कहीं स्थापित किया हुआ भोजन देना।
- (६) बलिदोष — यक्ष, देवता आदि के लिए बने हुए में से अवशिष्ट को देना।
- (७) प्रावर्तित — काल की वृद्धि या हानि करके आहार देना।
- (८) प्राविष्करण — आहारार्थ साधु के आने पर खिड़की आदि खोलना या बर्तन आदि मांजना।
- (९) क्रीत — उसी समय वस्तु खरीद कर लाकर देना।
- (१०) प्रामृष्य — ऋण लेकर आहार बनाना।
- (११) परिवर्त — शालि आदि देकर बदले में अन्य धान्य लेकर आहार बनाना।

(१२) अभिघट — पंक्तिबद्ध सात घर से अतिरिक्त अन्य स्थान से अन्नादि लाकर मुनि को देना।

(१३) उद्भिन्न — भोजन के ढक्कन आदि को खोलकर अर्थात् सील, मुहर, चपड़ी आदि हटाकर वस्तु निकालकर देना।

(१४) मालारोहण — निसैनी से चढ़कर वस्तु लाकर देना।

(१५) आछेद्य — राजा आदि के भय से आहार देना।

(१६) अनीशार्थ — अप्रधान दातारों से दिया हुआ आहार लेना।

ये सोलह दोष श्रावक के आश्रित होते हैं, ज्ञात होने पर मुनि ऐसा आहार नहीं लेते हैं।

उत्पादन के १६ भेद —

(१) धात्रीदोष — धाय के समान बालकों को भूषित करना, खिलाना, पिलाना आदि करना जिससे दातार प्रसन्न होकर अच्छा आहार देवें, यह मुनि के लिए धात्री दोष है।

(२) दूतदोष — दूत के समान किसी का समाचार अन्य ग्रामादि में पहुँचाकर आहार लेना।

(३) निमित्तदोष — स्वर, व्यंजन आदि निमित्तज्ञान से श्रावकों को हानि, लाभ बताकर खुश करके आहार लेना।

(४) आजीवकदोष — अपनी जाति, कुल या कला, योग्यता आदि बताकर दातार को अपनी तरफ आकर्षित कर आहार लेना आजीवक दोष है।

(५) वनीपकदोष — किसी ने पूछा कि पशु, पक्षी, दीन, ब्राह्मण आदि को भोजन देने से पुण्य है या नहीं ? हाँ पुण्य है, ऐसा दातार के अनुकूल वचन बोलकर यदि मुनि आहार लेवें, तो वनीपक दोष है।

(६) चिकित्सादोष — औषधि आदि बताकर दातार को खुश कर आहार लेना।

(७) क्रोध दोष — क्रोध करके आहार उत्पादन कराकर ग्रहण करना।

(८) मान दोष — मान करके आहार उत्पादन कराकर लेना।

(९) माया दोष — कुटिल भाव से आहार उत्पादन कराकर लेना।

(१०) लोभदोष — लोभाकांक्षा दिखाकर आहार कराकर लेना।

(११) पूर्वसंस्तुतिदोष — पहले दातार की प्रशंसा करके आहार उत्पादन कराकर लेना।

(१२) पश्चात् स्तुति दोष — आहार के बाद दातार की प्रशंसा करना।

(१३) विद्यादोष — दातार को विद्या का प्रलोभन देकर आहार लेना।

(१४) मंत्रदोष — मंत्र का माहात्म्य बताकर आहार ग्रहण करना। श्रावकों को शांति आदि के लिए मंत्र देना दोष नहीं है किन्तु आहार के स्वार्थ से बताकर उनसे इच्छित आहार ग्रहण करना सो दोष है।

(१५) चूर्णदोष — सुगंधित चूर्ण आदि के प्रयोग बताकर आहार लेना।

(१६) मूलकर्मदोष — अवश को वश करने आदि के उपाय बताकर आहार लेना।

ये सभी दोष मुनि के आश्रित होते हैं इसलिए ये उत्पादन दोष कहलाते हैं। मुनि इन दोषों से अपने को अलग रखते हैं।

एषणासंबंधी १० दोष —

(१) शंकित — यह आहार अधःकर्म से उत्पन्न हुआ है क्या ? अथवा यह भक्ष्य है या अभक्ष्य इत्यादि शंका करके आहार लेना।

(२) भुक्षित — घी, तेल आदि के चिकने हाथ से या चिकने चम्मच आदि से दिया हुआ आहार लेना।

(३) निक्षिप्त — सचित्त पृथ्वी, जल आदि से संबंधित आहार लेना।

(४) पिहित — प्रासुक या अप्रासुक ऐसे बड़े से ढक्कन आदि को हटाकर दिया हुआ आहार लेना।

(५) संव्यवहरण — जल्दी से वस्त्र, पात्रादि खींचकर बिना विचारे या बिना सावधानी के दिया हुआ आहार लेना।

(६) दायक — आहारदान के अयोग्य, मद्यपायी, नपुंसक, पिशाचग्रस्त अथवा सूतक-पातक आदि से सहित दातारों से आहार लेना।

(७) उन्मिश्र — अप्रासुक वस्तु संमिश्रित आहार लेना।

(८) अपरिणत — अग्न्यादि से अपरिपक्व आहार-पान आदि लेना।

(९) लिप्त — पानी या गीले गेरू आदि से लिप्त ऐसे हाथों से दिया हुआ आहार लेना।

(१०) छोटित — हाथ की अंजुलि से बहुत कुछ नीचे गिराते हुए आहार लेना।

ये दश दोष मुनियों के भोजन से संबंध रखते हैं। मुनि इन दोषों से अपने को सदैव बचाते रहते हैं।

(१) संयोजना दोष — आहारादि के पदार्थों का मिश्रण कर देना, ठंडे जल आदि में उष्ण भात आदि मिला देना, अन्य भी प्रकृति विरुद्ध वस्तु का मिश्रण करना संयोजन दोष है।

(२) अप्रमाणदोष — उदर के दो भाग रोटी आदि से पूर्ण करना होता है, एक भाग रस, दूध, पानी आदि से भरना होता है और एक भाग खाली रखना होता है। यह आहार का प्रमाण है, इसका अतिक्रमण करके आहार लेना अप्रमाण दोष है।

(३) अंगार दोष — जिह्वा इंद्रिय की लंपटता से भोजन ग्रहण करना।

(४) धूमदोष — भोज्य वस्तु आदि की मन में निंदा करते हुए आहार ग्रहण करना।

इस प्रकार से उद्गम के १६ + उत्पादन के १६+एषणा के १०+और संयोजना आदि ४= सब मिलाकर ४६ दोष होते हैं।

जो पहले ८ शुद्धि में एक कारण शुद्धि थी, वह इनसे अलग है। अब उसको बताते हैं—

“छह कारणों से आहार ग्रहण करते हुए भी मुनि धर्म का पालन करते हैं और छह कारणों से ही आहार को छोड़ते हुए भी वे मुनि चारित्र्य का पालन करते हैं।”

आहार ग्रहण के ६ कारण—

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्टाए।

तथ पाण धम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं॥४७९॥

(मूलाचार श्री कुंदकुंदकृत गाथा-४७९)

(१) क्षुधा की वेदना मिटाने के लिए, (२) अपनी और अन्य साधुओं की वैयावृत्ति करने के लिए, (३) सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं के पालन के लिए, (४) संयम पालन के लिए, (५) अपने दश प्राणों की चिंता अर्थात् प्राणों की रक्षा के लिए और (६) दशधर्म आदि के चिंतन के लिए मुनि आहार ग्रहण करते हुए भी धर्म का पालन करते हैं।

अर्थात् यदि मैं भोजन नहीं करूँगा तो क्षुधा वेदना धर्मध्यान को नष्ट कर देगी, स्व अथवा अन्य साधुओं की वैयावृत्ति करने की शक्ति नहीं रहेगी, सामायिकादि आवश्यक क्रियाएं निर्विघ्नतया नहीं हो सकेंगी, षट्कायिक जीवों

की रक्षारूप संयम नहीं निभेगा, अपने इन्द्रिय, बल, आयु प्राणों की रक्षा के बिना रत्नत्रय की सिद्धि नहीं होगी और आहार के बिना दश धर्मादि का पालन भी कैसे होगा ? यही सोचकर साधु आहार ग्रहण करते हैं।

आहार त्याग के ६ कारण—

आदंके उवसग्गे तिरक्खणे बंभचेरगुत्तीओ।

पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वोच्छेदो॥४८०॥

(१) आकस्मिक व्याधि के आ जाने पर (२) भयंकर उपसर्ग के आ जाने पर (३) ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा हेतु (४) जीव दया हेतु (५) अनशन आदि तप करने के लिए और (६) सन्यासकाल के उपस्थित होने पर मुनि आहार का त्याग कर देते हैं।

दिगम्बर मुनि बल और आयु की वृद्धि के लिए, स्वाद के लिए, शरीर की पुष्टि न शरीर के तेज के लिए आहार ग्रहण नहीं करते हैं। प्रत्युत् ज्ञान की वृद्धि, संयम की वृद्धि और ध्यान की सिद्धि के लिए ही आहार ग्रहण करते हैं।

ये मुनि नवकोटि से विशुद्ध, बयालीस दोषों से रहित, संयोजना के दोष से शून्य, प्रमाणसहित और विधिवत्—नवधा भक्ति से प्रदत्त, अंगार और धूम दोष से भी हीन, छह कारण संयुत, क्रमविशुद्ध और प्राणयात्रा या मोक्षयात्रा के लिए साधन मात्र तथा चौदह मलदोष रहित ऐसा आहार ग्रहण करते हैं^१।

श्रावकों के द्वारा आहार बनाने में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति नहीं करना और कृत, कारित या अनुमोदना भी नहीं करना, इस प्रकार से मन, वचन, काय को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणित करने पर ३×३=९ नव भेद हो जाते हैं। नवकोटि से रहित आहार 'नवकोटि विशुद्ध' कहलाता है।

श्रावकों के श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्त्व—शक्ति ये सात गुण हैं तथा पड़गाहन करना, उच्चासन देना, चरण प्रक्षालन करना, पूजा करना, नमस्कार करना, मन शुद्धि, वचनशुद्धि, काय की शुद्धि कहना और आहार की शुद्धि कहना, यह नवधा भक्ति है। इन सप्त गुण सहित, नवधाभक्तिपूर्वक दिया गया आहार विधिवत् कहलाता है। ऐसे विधिवत् दिये गये तथा चौदह मल दोष रहित आहार को मुनि लेते हैं।

चौदह मल दोष—आहार में नख, बाल, हड्डी, मांस, पीप, रक्त, चर्म, द्वीन्द्रिय आदि जीवों का कलेवर, कण^२, कुंड^३, बीज, कंद, मूल और फल ये चौदह मल माने गये हैं।

इनमें से कोई महामल है, कोई अल्पमल है, कोई महादोष है और कोई अल्पदोष है। रुधिर, मांस, अस्थि, चर्म और पीप ये महादोष हैं, आहार में इनके दीखने पर आहार छोड़कर प्रायश्चित्त भी लिया जाता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का शरीर—मृतक लट, चिंवटी, मक्खी आदि तथा बाल के आहार में आ जाने पर आहार का त्याग कर दिया जाता है, नख के आ जाने पर आहार छोड़कर गुरु से किंचित् प्रायश्चित्त भी लेना होता है। कण, कुंड, बीज, कंद, फल और मूल के आहार में आ जाने पर यदि उनको निकालना शक्य है तो निकाल कर आहार कर सकते हैं अन्यथा आहार का त्याग करना होता है।

सिद्धभक्ति कर लेने के बाद यदि अपने शरीर में रक्त, पीप बहने लगे अथवा दातार के शरीर में बहने लगे तो आहार छोड़ देना होता है। मांस के देखने पर भी उस दिन आहार का त्याग कर दिया जाता है।

द्रव्य से प्रासुक आहार भी यदि मुनि के लिए बनाया गया है तो वह अशुद्ध है। इसलिए ज्ञात कर ऐसा आहार मुनि नहीं लेते हैं। “जैसे मत्स्य के लिए किये गये मादक जल से मत्स्य ही मदोन्मत्त होते हैं किन्तु मेंढक नहीं, वैसे ही पर के लिए बनाये हुए आहार में प्रवृत्त हुए मुनि उस दोष से आप लिप्त नहीं होते हैं

१. मूलाचार गाथा ४८२-४८३। २. गेहूँ आदि धान्यों के बाहर का छिलका। ३. शालि आदि अर्धवृक्ष का सूक्ष्म अवयव।

अर्थात् गृहस्थ अपना कर्तव्य समझकर शुद्ध भोजन बनाकर साधु को आहार देते हैं तब मुनि अपने रत्नत्रय की सिद्धि कर लेते हैं और श्रावक दान के फल से स्वर्ग मोक्ष को सिद्ध कर लेते हैं।

यदि आहार शुद्ध है फिर भी साधु अपने लिए बना हुआ समझकर उसे ग्रहण करता है तो वह दोषी है और यदि कृत, कारित आदि दोष रहित आहार लेने के इच्छुक साधु को अधःकर्मयुक्त सदोष भी आहार मिलता है किन्तु उसे वह शुद्ध समझकर ग्रहण कर रहा है, तो वह साधु शुद्ध है^१।

आहार का काल—

सूर्योदयतमणादो णालीतिय वज्जिदे असणकाले।

तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्ममुक्कस्से॥४९२॥

सूर्योदय से तीन घड़ी बाद और सूर्यास्त होने के तीन घड़ी पहले तक आहार का समय है। आहारकाल में भी आहार का समय उत्कृष्ट एक मुहूर्त (४८ मिनट), मध्यम दो मुहूर्त और जघन्य तीन मुहूर्त प्रमाण तक है^२। मध्याह्नकाल में दो घड़ी बाकी रहने पर प्रयत्नपूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर देवदंश करके वे मुनि भिक्षा का समय जानकर पिच्छी कमण्डलु लेकर शरीर की स्थिति हेतु आहारार्थ अपने-अपने आश्रम से निकलते हैं। मार्ग में संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति का चिंतन करते हुए ईर्यापथशुद्धि से धीरे-धीरे गमन करते हैं। वे किसी से बात न करते हुए मौनपूर्वक चलते हैं। श्रावक द्वारा पड़गाहन हो जाने पर वे खड़े हो जाते हैं तब श्रावक उन्हें अपने घर में ले जाकर नवधाभक्ति करता है। मुनि अपने पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर खड़े होकर अपने दोनों करपात्रों को छिद्ररहित बना लेते हैं। अनंतर सिद्धिभक्ति करके क्षुधावेदना को दूर करने के लिए वे प्रासुकआहार ग्रहण करते हैं।

आहार में पाँच प्रकार की वृत्ति—“गोचार, अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रामरीवृत्ति और श्वभ्रपूरण, इन पाँच प्रकार की वृत्ति को रखकर मुनि आहार ग्रहण करते हैं^३।”

इस प्रकार से आहार ग्रहण करते हुए यदि बत्तीस अंतरायों में से कोई भी अंतराय आ जाए, तो वे आहार छोड़ देते हैं। जो दाता और पात्र दोनों के मध्य में विघ्न आता है, वह अंतराय कहलाता है।

बत्तीस अंतराय—

(१) काक—आहार को जाते समय या आहार लेते समय यदि कौवा आदि बीट कर देवे तो काक नाम का अंतराय है।

(२) अमेध्य—अपवित्र विष्टा आदि से पैर लिप्त हो जावे।

(३) छर्दि—वमन हो जावे।

(४) रोधन—आहार को जाते समय कोई रोक देवे।

(५) रक्तस्त्राव—अपने शरीर से या अन्य के शरीर से चार अंगुल पर्यंत रुधिर बहता हुआ दीखे।

(६) अश्रुपात—दुःख से अपने या पर के अश्रु गिरने लगें।

(७) जान्वधःपरामर्श—यदि मुनि जंघा के नीचे के भाग का स्पर्श कर लें।

(८) जानूपरिव्यतिक्रम—यदि मुनि जंघा के ऊपर का व्यतिक्रम कर लें अर्थात् जंघा से ऊँची सीढ़ी पर—इतनी ऊँची एक ही डंडा या सीढ़ी पर चढ़ें, तो जानूपरिव्यतिक्रम अंतराय है।

१. जह मच्छयाण पगदे मदणुदए मच्छया हिमज्जंति। ण हि मंडूगा एवं परमकदे जदि विसुदो॥४८६॥

आधाकम्मपरिणोदो फासुगदव्वे वि बंधओ भणिओ। सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मे वि सो सुद्धो॥४८७॥

२. यह काल की मर्यादा सिद्धिभक्ति से लेकर भोजन के अंत तक की है। ३. मूलाचार प्रदीप, पृ. ७०।

- (९) नाभ्योनिर्गमन — यदि नाभि से नीचे शिर करके आहारार्थ जाना पड़े।
 (१०) प्रत्याख्यात सेवन — जिस वस्तु का देव या गुरु के पास त्याग किया है, वह खाने में आ जाए।
 (११) जंतुवध — कोई जीव अपने सामने किसी जीव का वध कर देवे।
 (१२) काकादिपिंडहरण — कौवा आदि हाथ से ग्रास का अपहरण कर ले।
 (१३) ग्रासपतन — आहार करते समय मुनि के हाथ से ग्रास प्रमाण आहार गिर जावे।
 (१४) पाणौ जंतुवध — आहार करते समय कोई मच्छर, मक्खी आदि जंतु हाथ में मर जावे।
 (१५) मांसादिदर्शन — मांस, मद्य या मरे हुए का कलेवर देख लेने से अंतराय है।
 (१६) पादांतरजीव — यदि आहार लेते समय पैर के नीचे से पंचेन्द्रिय जीव चूहा आदि निकल जावे।
 (१७) देवाद्युपसर्ग — आहार लेते समय देव, मनुष्य या तिर्यच आदि उपसर्ग कर देवें।
 (१८) भाजनसंपात — दाता के हाथ से कोई बर्तन गिर जावे।
 (१९) उच्चार — यदि आहार के समय मल विसर्जित हो जावे।
 (२०) प्रस्रवण — यदि आहार के समय मूत्र विसर्जन हो जावे।
 (२१) अभोज्यगृहप्रवेश — यदि आहार के समय चांडालादि के घर में प्रवेश हो जावे।
 (२२) पतन — आहार करते समय मूर्छा आदि से गिर जाने पर।
 (२३) उपवेशन — आहार करते समय बैठ जाने पर।
 (२४) सदंश — कुत्ते, बिल्ली आदि के काट लेने पर।
 (२५) भूमिस्पर्श — सिद्धभक्ति के अनंतर हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाने पर।
 (२६) निष्ठीवन — आहार करते समय कफ, थूक आदि निकलने पर।
 (२७) उदरकृमिनिर्गमन — आहार करते समय उदर से कृमि आदि निकलने पर।
 (२८) अदत्तग्रहण — नहीं दी हुई किंचित् वस्तु ग्रहण कर लेने पर।
 (२९) प्रहार — अपने ऊपर या किसी के ऊपर शत्रु द्वारा शस्त्रादि का प्रहार होने पर।
 (३०) ग्रामदाह — ग्राम आदि में उसी समय आग लग जाने पर।
 (३१) पादेन किंचिद्ग्रहण — पाद से किंचित् भी वस्तु ग्रहण कर लेने पर।
 (३२) करेण वस्तु ग्रहण — आहार करते समय हाथ से कुछ वस्तु उठा लेने पर।

इन उपर्युक्त कारणों से आहार छोड़ देने का नाम ही अंतराय है। इसी प्रकार से इन बत्तीस के अतिरिक्त चांडालादि स्पर्श, कलह, इष्टमरण, साधर्मिक-सन्यासपतन, राज्य में किसी प्रधान का मरण आदि प्रसंगों से भी अंतराय होता है। अंतराय के अनंतर साधु आहार छोड़कर मुखशुद्धि कर आ जाते हैं। मन में वे किंचित् भी खेद या विषाद को न करते हुए 'लाभादलाभोवरं' लाभ की अपेक्षा अलाभ में अधिक कर्मनिर्जरा होती है, ऐसा चिंतन करते हुए वैराग्यभावना को वृद्धिगत करते रहते हैं।

जेणेह पिंडसुद्धी उवदिट्ठा जेहि धारिदा सम्मं।

ते वीरसाधुवग्गा तिरदणसुद्धिं मम दिसंतु॥५०१॥

इस जगत में जिन्होंने पिंडशुद्धि का उपदेश दिया है और जिन्होंने सम्यक् प्रकार से इसे धारण किया है वे वीर साधुवर्ग मुझे तीन रत्न की शुद्धि प्रदान करें।



१३. वृहद् द्रव्य संग्रह

(एक विशेष अध्ययन)

प्रथम अधिकार

जीव द्रव्य

‘सद्द्रव्यलक्षणम्’ इस सूत्र के अनुसार द्रव्य का लक्षण है ‘सत्’ और सत् का लक्षण है “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सहित वस्तु ही सत् कहलाती है।

वस्तु की नवीन पर्याय की उत्पत्ति का नाम उत्पाद है। वस्तु की पहली पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं और दोनों ही अवस्था में द्रव्य की मौजूदगी का नाम ध्रौव्य है। जैसे मनुष्य के मरते ही मनुष्य पर्याय का व्यय, अगली देवपर्याय का उत्पाद और दोनों ही अवस्थाओं में जो जीव द्रव्य विद्यमान है, उसी का नाम है ध्रौव्य। इसी तरह से अचेतन घड़े आदि में भी जाना जाता है। जैसे कि मिट्टी से घट पर्याय का उत्पाद, मृत्पिंड पर्याय का विनाश और दोनों अवस्थाओं में मिट्टी का बने रहना यह ध्रौव्य गुण है। यह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य प्रत्येक द्रव्य में पाया जाता है।

द्रव्य का दूसरा लक्षण है — “गुणपर्यायवद्द्रव्यम्” गुण और पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है। जैसे जीव द्रव्य में ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं और मनुष्य, देव आदि पर्याय हैं। इन गुण पर्यायों से अतिरिक्त जीव नाम की कोई चीज नहीं है। सिद्धों में भी शुद्ध ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व आदि पर्यायें विद्यमान हैं।

इस प्रकार से द्रव्यों का वर्णन करते हुए श्री नेमिचन्द्राचार्य कहते हैं —

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्धिट्ठं।

देविंदविंदवदं, वंदे तं सव्वदा सिरसा॥१॥

जिनवर में श्रेष्ठ सुतीर्थकर, जिनने जग को उपदेशा है।

बस जीव अजीव सुद्रव्यों को, विस्तार सहित निर्देशा है।

सौ इन्द्रों से वंदित वे प्रभु, उनको मैं वंदन करता हूँ।

भक्ती से शीश झुका करके, नितप्रति अभिनंदन करता हूँ॥१॥

जिणवरवसहेण जेण — जिनवर में प्रधान ऐसे जिन तीर्थकर देव ने, जीवमजीवं दव्वं — जीव और अजीव द्रव्य को, णिद्धिट्ठं — कहा है। देविंदविंदवदं — देवेन्द्रों के समूह से वंदना योग्य, तं — ऐसे उन भगवान को मैं सव्वदा — नित्य ही, सिरसा वंदे — शिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

यहाँ पर आचार्यश्री ने दो द्रव्यों को कहने की प्रतिज्ञा की है। क्योंकि द्रव्य दो ही हैं — जीव और अजीव। अजीव द्रव्य के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे पाँच भेद हो जाने से द्रव्य छह हो जाते हैं। इस छोटे से लघुकाय द्रव्यसंग्रह ग्रंथ में आचार्य महोदय ने छहों द्रव्यों का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है।

इस गाथा में जिनेन्द्रदेव को सौ इन्द्रों से वंदन कहा है। सो वे सौ इन्द्र कौन-कौन से हैं —

भवनवासियों के ४०+व्यन्तरों के ३२+कल्पवासियों के २४+ज्योतिषियों के सूर्य-चन्द्र ये २+मनुष्यों में चक्रवर्ती १+और तिर्यचों में सिंह १=१००, ये सौ इन्द्र हैं।

अब सर्वप्रथम जीव द्रव्य का वर्णन करते हैं—

जो जीता है सो जीव कहा, उपयोगमयी वह होता है।

मूर्ती विरहित कर्ता स्वदेह, परिमाण कहा औ भोक्ता है॥

संसारी है औ सिद्ध कहा, स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनशाली।

इन नव अधिकारों से वर्णित, है जीव द्रव्य गुणमणिमाली॥२॥

प्रत्येक प्राणी जीव है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेह परिमाण रहने वाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। ये जीव के नव विशेष लक्षण हैं। इन सबका आगे पृथक्-पृथक् निरूपण करेंगे। उनमें से सर्वप्रथम जीव का लक्षण बताते हैं—

जिसके व्यवहार नयापेक्षा, तीनों कालों में चार प्राण।

इन्द्रिय बल आयु औ चौथा, श्वासोच्छ्वास ये मुख्य जान॥

निश्चयनय से चेतना प्राण, बस जीव वही कहलाता है।

ये दोनों नय से सापेक्षित, होकर पहचाना जाता है॥३॥

जिसके व्यवहारनय से तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण हैं और निश्चयनय से चेतना प्राण है, वह जीव कहलाता है।

जीव को जीव क्यों कहते हैं ? यहाँ पर इसी बात को स्पष्ट किया है। निश्चयनय वस्तु की स्वाभाविक अवस्था को प्रगट करता है और व्यवहारनय वस्तु के औपाधिक परसंसर्गजन्य भावों को भी ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिए 'जल ठंडा है' क्योंकि उसका स्वभाव ठंडा ही है किन्तु जब जल अग्नि के ऊपर चढ़ा देने से खूब खौल रहा है, तब गर्म हो गया है। निश्चयनय उस खौलते हुए जल को भी ठंडा ही कहेगा क्योंकि जल का स्वभाव ठंडा है तथा व्यवहारनय उस खौलते हुए जल को गरम कहेगा क्योंकि उस जल को कोई शरीर के ऊपर डाल ले तो जल जायेगा, फफोले उठ जायेंगे। जल का स्वभाव ठंडा होते हुए भी उस समय वह जल अग्नि का काम कर रहा है अतः विचारपूर्वक देखा जाय तो ये दोनों ही नय अपने-अपने विषय को कहने में सत्य हैं, असत्य नहीं हैं। जल अपने स्वभाव से ठंडा है। स्वभाव पर दृष्टि रखने वाला निश्चयनय सही कह रहा है तथा अग्नि के संसर्ग से जल गरम है अतः व्यवहारनय भी झूठा नहीं है। उसे झूठा कहने वाले भला खौलते जल को शरीर पर डालेंगे क्या ? नहीं, अतः यह नय भी सच्चा ही है।

उसी प्रकार से निश्चयनय जीव के चेतना प्राण को कहता है। चेतना का अर्थ है ज्ञान-दर्शन, जो कि जीव में किसी न किसी अंश में सतत् पाए ही जाते हैं तथा व्यवहारनय से सदा ही इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण पाए ही जाते हैं। इनके बगैर संसार में जीव का अस्तित्व ही नहीं है।

इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। बल तीन हैं—कायबल, वचनबल और मनोबल। आयु एक प्राण है और श्वासोच्छ्वास एक, ऐसे सब मिलकर दश प्राण हो जाते हैं।

पंचेन्द्रिय जीवों में देव, नारकी, मनुष्य और पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यचों के दशों प्राण होते हैं। असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यचों के मनोबल से रहित नव प्राण होते हैं। चार इन्द्रिय जीव के प्रारंभ की चार इन्द्रियाँ, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये आठ प्राण होते हैं। तीन इन्द्रिय जीवों के चक्षु से रहित सात प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय जीवों के घ्राण से रहित छह प्राण होते हैं और एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शन नामक एक इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण ही होते हैं।

संसारी जीवों के ये प्राण पाये जाते हैं। मुक्त जीवों में इन इन्द्रिय आदि दश प्राणों का अभाव होते हुए भी उनमें चेतना यह प्राण विद्यमान रहता है अतः वे जीव ही कहलाते हैं न कि अजीव अथवा तत्त्वार्थराजवार्तिक में श्री अकलंकदेव ने ऐसा कहा है कि भूतपूर्व नैगमनय की अपेक्षा से सिद्धों में भी दश प्राणों की अपेक्षा जीवत्व मानना चाहिए।

यदि कदाचित् व्यवहारनय को झूठा कह दिया जाए तो संसारी जीवों का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा अथवा हम और आप सभी जीवों के इन्द्रिय, बल, आयु आदि प्राण असत्य ही ठहरेंगे किन्तु ऐसी बात नहीं है अतः व्यवहारनय का कथन सत्य ही है जो कि प्रतीतिसिद्ध जीव के जीवत्व को साध रहा है।

जीव उपयोगमयी है

जीव के नव अधिकारों में 'जीवत्व' नाम का पहला अधिकार कहा है, अब दूसरे अधिकार 'उपयोगमयत्व' को कहते हैं—

“उपयोग दो प्रकार का है—ज्ञान और दर्शन। दर्शन तो निर्विकल्प है और ज्ञान सविकल्प है। दर्शनोपयोग के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तथा कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान। इनके प्रत्यक्ष, परोक्ष ऐसे दो भेद भी माने गये हैं। मति, श्रुत तथा कुमति और कुश्रुत ये परोक्ष हैं। अवधि, मनःपर्यय तथा कुअवधि ये एकदेश प्रत्यक्ष हैं एवं केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।”

उपयोग कहा है दो प्रकार, दर्शन औ ज्ञान उन्हें जानो।

पहले दर्शन के चार भेद, उससे आत्मा को पहचानो।।

चक्षुदर्शन बस नेत्रों से, होता अचक्षुदर्शन सबसे।

अवधीदर्शन केवलदर्शन, ये दोनों आत्मा से प्रगटें।।४।।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद, उनमें मति श्रुत और अवधिज्ञान।

मिथ्या सम्यक् के आश्रय से, छह हो जाते ये तीन ज्ञान।।

मनपर्यय केवलज्ञान इन्हीं, में भेद प्रत्यक्ष परोक्ष कहे।

मति श्रुत परोक्ष केवल प्रत्यक्ष, बाकी त्रय देश प्रत्यक्ष कहे।।५।।

आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम का नाम उपयोग है। श्री उमास्वामी आचार्य ने इस एक उपयोग को ही जीव का लक्षण कहा है। इसके मूल में दो भेद हैं—ज्ञान और दर्शन। ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं तथा दर्शनोपयोग के चार भेद हैं। यहाँ पहले उत्पन्न होने की अपेक्षा दर्शनोपयोग को पहले लिया है। संसारी आत्मा जब किसी भी इन्द्रिय से किसी स्पर्श, रस आदि विषय को ग्रहण करता है तो उसके प्रारंभ में जो सत्तामात्र अवभास या झलक होती है, उसी का नाम दर्शनोपयोग है। यह अव्यक्त है, निराकार है—निर्विकल्प है। इसके बाद ही ज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप भेद प्रगट हो जाते हैं, जो कि मतिज्ञान के भेद हैं। जैसे कोई व्यक्ति गहरी नींद में सो रहा है, बाहर से किसी ने आवाज दी। वह सोता हुआ व्यक्ति कुछ सचेत होकर सुनने की तरफ उपयुक्त हुआ कि कहीं से आवाज आई है, यह तो हो गया मतिज्ञान का पहला भेद 'अवग्रह', पुनः-पुनः आवाज आने से उसने सोचा, भला कौन पुकार रहा है ? यह हो गई 'ईहा', पुनः उसने निर्णय कर लिया, मेरे भाई की आवाज है, यह हो गया 'अवाय', इसको कालांतर में न भूलकर वह उठ बैठा और उस

पुकारने के प्रत्युत्तर में बोला, मैं आ रहा हूँ” यह हो गई धारणा। इन ज्ञानों में अवग्रह ज्ञान के पहले की भी जो झलक है, उसी का नाम दर्शनोपयोग है, जो अचक्षुदर्शन के एक भेदरूप कर्णेन्द्रिय से होने वाला है।

चक्षुदर्शन तो केवल चक्षु इन्द्रिय से ही होता है। यह चार इन्द्रिय जीवों से लेकर सम्पूर्ण पंचेन्द्रिय जीवों में पाया जाता है। अचक्षुदर्शन स्पर्शन, रसना, घ्राण, कर्ण और मन इन इन्द्रियों से होता है अतः यह एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणियों में पाया जाता है। अवधिज्ञान के पहले होने वाला अवधिदर्शन मात्र पंचेन्द्रियों में ही किन्हीं-किन्हीं के हो सकता है और केवलदर्शन तो केवली भगवान के ही होता है।

यद्यपि आत्मा शुद्ध निश्चयनय से सहज, विमल, केवल दर्शन स्वभाव वाला है फिर भी अनादिकाल से कर्मबंधन से बंधा होने के कारण इन चक्षु आदि उपयोगों को धारण कर रहा है।

ज्ञान में मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार भेद हैं। पुनः पाँच इन्द्रिय और मन से तथा बहु, बहुविध आदि पदार्थों से गुणा करने से तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। जिनका विस्तार यहाँ नहीं किया जा रहा है। श्रुतज्ञान के भी अंग और पूर्वरूप से भेद-प्रभेद माने गये हैं। अवधिज्ञान के देशावधि, परमावधि, सर्वावधि की अपेक्षा तीन भेद हैं और भी अनेक भेद होते हैं। मनःपर्ययज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति की अपेक्षा दो भेद हैं और केवलज्ञान एक अकेला ही है।

दर्शनावरण के चक्षुदर्शनावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से दर्शन प्रगट होता है। ज्ञानावरण के मतिज्ञानावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम से मतिज्ञान आदि ज्ञान प्रगट होते हैं तथा दोनों के क्षय से केवलदर्शन और केवलज्ञान हो जाते हैं।

इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मति ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है अतः वह भी परोक्ष है। अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान आत्मा से प्रगट होते हैं फिर भी कुछ मूर्तिक वस्तुओं को ही ग्रहण करते हैं इसलिए एकदेश प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान कर्मों के क्षय से आत्मा से प्रगट होता है अतः सकल प्रत्यक्ष है।

प्रत्येक जीव में संसार अवस्था में कम से कम एक दर्शन और दो ज्ञान पाए ही जाते हैं। इन ज्ञानों में जो तीन मिथ्या ज्ञान हैं, उनमें कारण है मिथ्यात्व का उदय अर्थात् ज्ञान कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता था किन्तु मिथ्यात्व के निमित्त से वह कु अथवा मिथ्या हो जाता है, जैसे दूध का स्वभाव मधुर है किन्तु यदि उसे कड़ुवी तूँबड़ी में रख दिया जाए तो वह कड़ुवा हो जाता है, उसी प्रकार से जब तक जीव में मिथ्यात्व का उदय विद्यमान रहता है तब तक उसके मति, श्रुतज्ञान या अवधिज्ञान मिथ्या रूप होने से कुमति, कुश्रुत और कुअवधि कहलाने लगते हैं।

जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं उनके ये ही ज्ञान समीचीन होने से मति, श्रुत कहलाते हैं। आजकल हम और आप में मति, श्रुत ये दो ज्ञान हैं तथा चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ये दो दर्शन हैं, ऐसा समझना चाहिए किन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव हैं उनके कुमति, कुश्रुत और चक्षु, अचक्षुदर्शन, ऐसे चार उपयोग पाये जाते हैं।

“आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन यह व्यवहारनय से सामान्य रूप से जीव का लक्षण है किन्तु शुद्ध नय से शुद्धज्ञान और शुद्धदर्शन ही जीव का लक्षण है, ऐसा कहा गया है।”

ये ज्ञान आठ दर्शन चारों, बारह प्रकार उपयोग कहे।

व्यवहार नयाश्रित होता है, सामान्य जीव का लक्षण ये।।

औ शुद्ध नयाश्रित शुद्धज्ञान, दर्शन यह लक्षण कहलाता।

बस उभय नयों के आश्रय से, यह जीव द्रव्य जाना जाता।।६।।

यहाँ जो सामान्य शब्द है, उसका अर्थ यह है कि ये बारह प्रकार का उपयोग जीव का लक्षण है। इसमें संसारी और मुक्त सम्पूर्ण जीवराशि आ जाती है क्योंकि एक साथ तो बारह उपयोग कभी किसी जीव में हो ही नहीं सकते हैं। मुक्त जीवों में तो मात्र दो ही उपयोग रहते हैं। यह तो व्यवहारनय की बात है किन्तु निश्चयनय से सभी संसारी जीव में भी मात्र शुद्धज्ञान और शुद्ध दर्शन ही पाए जाते हैं क्योंकि निश्चयनय की अपेक्षा से तो जीव के साथ कर्म का संबंध ही नहीं है पुनः कर्मों के क्षयोपशम से होने वाले ज्ञान दर्शन भी भला कहाँ होंगे ?

निश्चयनय से तो निगोदिया जीव को ही क्या अभव्य जीवों में भी शुद्ध ज्ञान, दर्शन विद्यमान है। यह निश्चयनय शक्ति को कहने वाला है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में श्री अकलंकदेव ने कहा है कि शुद्धनय से शक्तिरूप से तो अभव्य जीव में भी मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान विद्यमान है किन्तु उनसे उनको भला क्या लाभ है ? अतः अपने पुरुषार्थ के बल से अपने अंदर में शक्ति रूप से विद्यमान ऐसे शुद्ध ज्ञान, दर्शन को व्यक्त कर लेना ही लाभकारी है, उसी के लिए हमें पुरुषार्थ करना चाहिए।

प्रत्येक संसारी आत्मा सर्वज्ञानदर्शी है किन्तु कर्मों के आवरण से आच्छन्न होकर अल्पज्ञानदर्शी हो रहा है, जैसा कि प्रत्यक्ष में अनुभव आ रहा है। इन ज्ञानावरण आदि कर्मों को जैसे बने, वैसे नष्ट करके अपने सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व स्वभाव को प्रगट कर लेना चाहिए। यही सब ग्रंथों के पढ़ने का, दीक्षा आदि लेने का तथा व्रत, जप, तप आदि अनुष्ठान करने का सार है।

जीव अमूर्तिक है कर्ता और भोक्ता भी है

रस पाँच वर्ण भी पाँच गंध, द्वय आठ तथा स्पर्श कहे।

निश्चयनय से नहीं जीव में ये, इसलिए अमूर्तिक इसे कहें।।

व्यवहार नयाश्रित कर्मबंध, होने से मूर्तिक भी जानो।

एकांत अमूर्तिक मत समझो, नय द्वय सापेक्ष सदा मानो।।७।।

पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गंध और आठ स्पर्श, निश्चयनय से ये जीव में नहीं हैं चूँकि ये बीस गुण पुद्गल के हैं अतः जीव अमूर्तिक है तथा जीव के साथ कर्मबंध लग रहा है इसलिए व्यवहारनय से मूर्तिक है।

सफेद, पीला, नीला, लाल और काला ये पाँच वर्ण हैं, तिक्त, कटु, कषायला, खट्टा और मीठा ये पाँच रस हैं, सुगंध और दुर्गंध ये दो गंध हैं तथा शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कर्कश, गुरु और लघु, स्पर्श के ये आठ भेद हैं, ये सब पुद्गल में पाये जाते हैं। शुद्ध निश्चयनय से सभी संसारी जीव शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी होने से शुद्ध हैं अतः शुद्ध निश्चयनय से सभी जीव अमूर्तिक ही हैं अर्थात् सभी संसारी जीव शक्तिरूप से अमूर्तिक हैं तथा सिद्ध जीव व्यक्तरूप से अमूर्तिक हैं।

प्रश्न यह उठता है कि यदि जीव अमूर्तिक है तो उसे कर्मबंध कैसे होगा ?

तब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह जीव व्यवहारनय से मूर्तिक है इसीलिए इसके कर्मबंध होता है अथवा संसारी जीव के कर्मों का संबंध अनादिकाल से ही चला आ रहा है इसलिए संसारी जीव अमूर्तिक न होकर मूर्तिक ही है।

यह कौन सा व्यवहारनय है ?

यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। अनन्त ज्ञान आदि की उपलब्धि होना मोक्ष है, इस मोक्ष से विपरीत जो कर्मबंध है, वह अनादिकाल से इस जीव के साथ चला आ रहा है इसीलिए यह संसारी जीव मूर्तिक है, अतः जीव कथंचित् मूर्तिक है, कथंचित् अमूर्तिक है। कहा भी है—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिण्णत्तं।

तम्हा अमुत्तिभावो पोगंतो होदि जीवस्स।।

कर्मबंध के प्रति जीव की एकता है और लक्षण की अपेक्षा उस कर्मबंध से भिन्नता है। इसलिए एकांत से जीव का अमूर्तिक भाव नहीं है अर्थात् कर्मबंध की अपेक्षा जीव मूर्तिक है और लक्षण से अमूर्तिक है क्योंकि जैसे जीव का लक्षण ज्ञान दर्शन है वैसे ही अमूर्तिक भाव भी जीव का लक्षण है। यहाँ टीकाकार कहते हैं—

जिस अमूर्तिक आत्मा की प्राप्ति नहीं होने पर यह जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है, मूर्तिक पंचेन्द्रिय विषयों का त्याग करके उसी अमूर्तिक स्वभावी अपनी शुद्ध आत्मा का निरंतर ध्यान करना चाहिए।

श्री अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में यह चर्चा उठाई है—‘जीव अमूर्तिक है अतः कर्मों से उसका अभिभव—तिरस्कार नहीं होना चाहिए?’

आचार्य कहते हैं कि एकांत से जीव अमूर्तिक नहीं है चूँकि कर्म के साथ संबंध होने से जीव कथंचित् मूर्तिक है तभी तो कर्मों से उसकी स्वभाव हानि देखी जा रही है। जीव का स्वभाव सर्वज्ञानदर्शी है फिर भी ज्ञानावरण आदि कर्मों के निमित्त से जीव के ज्ञान-दर्शन गुणों पर आवरण आ रहा है इसीलिए जीव का ज्ञान दर्शन पूर्ण न होकर अल्प-अल्प दिख रहा है। जब रत्नत्रय संपत्ति से इन कर्मों का विनाश हो जाता है तब यह जीव अपने ज्ञान-दर्शन, अमूर्तिक आदि गुणों को पूर्णतया प्रगट कर लेता है।

इस प्रकरण से सम्यग्दृष्टि का यह कर्तव्य हो जाता है कि तत्त्वदृष्टि से आत्मा को अमूर्तिक समझकर सतत उसके स्वभाव का चिंतन करता रहे। आगे-आगे के गुणस्थानों में चारित्र के निमित्त से परिणामों की निर्मलता बढ़ जाने से यही अध्यात्म भावना धीरे-धीरे ध्यान का रूप ले लेती है। आगे प्रश्न होता है कि जीव निष्क्रिय है, अमूर्तिक है, टांकी से उकेरे हुए के समान ज्ञायक एक स्वभाव वाला है तब तो वह कर्मों का कर्ता भी नहीं हो सकता है?

इस पर आचार्य उत्तर देते हैं—

‘यह आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्मादि का कर्ता है, निश्चयनय से चेतन कर्मों का कर्ता है और शुद्धनय से शुद्धभावों का कर्ता है।’

व्यवहार नयाश्रित जीव कहा, पुद्गल कर्मादिक का कर्ता।

होता अशुद्ध निश्चयनय से, रागादिक भावों का कर्ता।।

है कहा शुद्ध निश्चयनय से, निज शुद्धभाव का ही कर्ता।

जब नय के भेद मिटा देता, तब होता भव दुख का हर्ता।।८।।

यह जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय इन पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है तथा औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर और छह पर्याप्ति इनके योग्य पुद्गल पिंडरूप नोकर्मों का कर्ता है। उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से बाह्य पदार्थ जो घट-पट आदि हैं उनका कर्ता है।

अशुद्ध निश्चयनय से रागद्वेष, मोह आदि भाव कर्मों का कर्ता है। विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से छद्मस्थ अवस्था में भावनारूप से अनंतज्ञान, सुख आदि शुद्ध भावों का कर्ता है तथा मुक्त अवस्था में शुद्धनय से अनंतज्ञानादि शुद्ध भावों का कर्ता है।

यहाँ शुद्ध-अशुद्ध भावों का जो परिणमन है, उसी परिणमन का नाम कर्तृत्व है। हाथ आदि के व्यापारों का कर्तृत्व विवक्षित नहीं है।

यहाँ तात्पर्य यही समझना कि प्रत्येक आत्मा संसार अवस्था में ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का कर्ता है अशुद्ध निश्चयनय से राग द्वेष आदि भावकर्मों का कर्ता है और शुद्ध निश्चयनय से संसारी आत्मा ही अपने शुद्ध भावों का कर्ता है क्योंकि शुद्धनय से आत्मा सदा शुद्ध ही है कर्मों का संबंध उसके है ही नहीं।

उसी प्रकार से यह जीव कर्मों के फल का भोक्ता भी है —

आत्मा व्यवहारनयाश्रय से, पुद्गल कर्मों के फल नाना।

सुख-दुःखों को भोगा करता, निज सुख को किंचित् नहीं जाना।।

निश्चयनय से निज आत्मा के, चेतन भावों का भोक्ता है।

निज शुद्ध ज्ञान दर्शन सहजिक, उनका ही तो अनुभोक्ता है।।९।।

यह आत्मा व्यवहारनय से पौद्गलिक कर्मों के फल ऐसे सुख और दुःखों को भोगता है तथा निश्चयनय से अपनी आत्मा के शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप चैतन्य भावों का ही भोक्ता है।

यह आत्मा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से इष्ट और अनिष्ट जो पंचेन्द्रियों के विषय सुख या दुःख हैं उनका भोक्ता है — उनका अनुभव करने वाला है। उसी प्रकार से अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से अभ्यंतर में सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाले ऐसे द्रव्यकर्मरूप साता-असाता के उदय का भोक्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से हर्ष-विषाद रूप जो परिणाम हैं उन रूप ही सुख-दुःखों का भोक्ता है। शुद्ध निश्चयनय से सहजानंद परमात्मस्वरूप के सुखामृत का ही भोक्ता है।

यह आत्मा जिस स्वाभाविक सुखामृत का अनुभव करने से इन्द्रिय सुख का अनुभव करता हुआ संसार में घूम रहा है वह अतीन्द्रिय सुख ही प्राप्त करने योग्य है। वह अतीन्द्रिय सुख परमात्म अवस्था में ही प्रगट होता है अतः आत्मा से उत्पन्न सहज सुख की उपलब्धि के लिए सतत ही निश्चयनय का अवलंबन लेकर अपनी आत्मा का ध्यान करना चाहिए। इस अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कि यह जीव पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर उनका त्याग कर देता है। मात्र संयम की साधना के लिए इस पौद्गलिक शरीर का आगम की आज्ञा के अनुरूप संरक्षण करता है। युक्त आहार-विहार के द्वारा इसको आहार आदि उपलब्ध कराते हुए तपश्चरण में आनंद का अनुभव करता है। हमेशा यही सोचता रहता है कि अनादिकाल से लेकर आज तक हमने कौन से पदार्थ का भक्षण नहीं किया है ? कौन से शब्द ऐसे हैं जिनको नहीं सुना है और कौन से सुन्दर-असुन्दर स्पर्श ऐसे हैं जिनका हमने स्पर्श नहीं किया है ? —

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।

उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा।।

मैंने बार-बार सभी पुद्गलों को भोगा है और छोड़ा है अतः वे सभी पुद्गल आज मेरे लिए उच्छिष्ट के समान हैं अतः उनमें मुझ ज्ञानी को आज कुछ भी इच्छा नहीं है। इस प्रकार की वैराग्य भावना से तन्मय होकर जब इन्द्रिय सुखों का त्याग कर दिया जाता है तभी अतीन्द्रिय सुख के लिए पुरुषार्थ जाग्रत होता है।

जीव स्वशरीर प्रमाण है

यह जीव निश्चयनय से लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी होते हुए भी व्यवहार से अपने शरीर प्रमाण है—

यह आत्मा व्यवहारिक नय से, छोटे या बड़े स्वतनु में ही।

संकोच विसर्पण के कारण, रहता उस देह प्रमाण सही।।

हो समुद्घात में तनु बाहर, अतएव अपेक्षा नहीं उसकी।

निश्चयनय से होते प्रदेश, हैं संख्यातीत लोक सम ही।।१०।।

समुद्घात के अतिरिक्त यह जीव व्यवहारनय से संकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चयनय से असंख्यात प्रदेशी है।

निश्चयनय से यह जीव पौद्गलिक शरीर से भिन्न है, केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य आदि अनंत गुणों का पिंड है फिर भी व्यवहारनय से अनादिकाल से कर्मबंधन बद्ध हो रहा है अतः शरीर नामकर्म के उदय से नाना प्रकार के शरीर को ग्रहण करता रहता है। कभी सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के सूक्ष्म शरीर को ग्रहण करता है, तो कभी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक के शरीर को ग्रहण करता है, उनकी अवगाहना भी बहुत छोटी पाई जाती है। कभी कुंथु, लट, शंख, केंचुआ, चिंवटी, खटमल, बिच्छू, पतंग, कीट, मच्छर, मक्खी आदि के शरीर को ग्रहण करता है तो कभी हाथी, बैल, शेर, चीता, मत्स्य, महामत्स्य आदि के शरीर में निवास करता है। कभी नारकी के शरीर को धारण करता है, तो कभी देवों के उत्तम शरीर में निवास करता है, तो कभी मनुष्य पर्याय में एक हाथ के शरीर से लेकर तीन कोश तक का भी शरीर प्राप्त कर लेता है। इसे जब जैसा छोटा या बड़ा शरीर मिल जाता है उसी में यह अपने असंख्यात प्रदेशों को संकुचित करके रह जाता है। अत्यर्थ छोटे शरीर में भी जीव के प्रदेश उतने ही हैं कि जितने एक हजार योजन (८००० मील) की अवगाहना वाले महामत्स्य के शरीर में हैं।

प्रश्न होता है—ऐसा कैसे ?

तो उत्तर देते हैं—जीव में संकोच और विस्तार धर्म पाया जाता है। यह धर्म शरीर नामकर्म के उदय से होता है। जैसे दीपक किसी छोटे से पात्र में रख दिया जाता है, तो उसका प्रकाश उसी में रह जाता है और जब उसे बड़े कमरे में रख दिया जाता है तो उसका प्रकाश बड़े कमरे तक फैल जाता है।

प्रश्न—जीव इन नाना प्रकार के शरीर को क्यों ग्रहण करता है ?

उत्तर—शरीर नामकर्म के उदय से।

प्रश्न—यह नामकर्म क्यों बांधता है ?

उत्तर—अनादिकाल से शरीर को आत्मा समझकर उसमें ममत्व परिणाम रखने से शरीर आदि कर्मों का बंध होता है। शरीर में ममत्व बुद्धि होने से यह जीव निरंतर आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं के आश्रित रहता है तथा इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष आदि करते रहने से नये-नये शरीर को ग्रहण करता है।

प्रश्न—समुद्घात को छोड़कर यह आत्मा अपने शरीर प्रमाण रहता है। सो समुद्घात क्या है ?

उत्तर—अपने मूल शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के कुछ प्रदेश देह से बाहर निकलकर उत्तर देह के प्रति जाते हैं, उसको समुद्घात कहते हैं।

प्रश्न — समुद्घात के कितने भेद हैं ?

उत्तर — सात हैं — वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणांतिक, तैजस, आहारक और केवली।

वेदनासमुद्घात — तीव्र पीड़ा के अनुभव से मूल शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के कुछ प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना है, उसे वेदना समुद्घात कहते हैं।

कषायसमुद्घात — किसी के प्रति तीव्र कषाय के होने से अपने मूल शरीर को न छोड़कर उसके घात के लिए जो आत्मा के प्रदेश बाहर निकलते हैं, उसे कषाय समुद्घात कहते हैं।

विक्रियासमुद्घात — किसी प्रकार की विक्रिया को करने के लिए अपने शरीर को छोटा या बड़ा बनाने के लिए अथवा अपने से अन्य कोई शरीर बनाने के लिए जो मूल शरीर को बिना छोड़े हुए आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है वह विक्रिया समुद्घात है।

मारणान्तिकसमुद्घात — मरण के समय में (एक अंतर्मुहूर्त पहले) मूल शरीर को न छोड़कर जहाँ इस जीव ने आगामी आयु बांधी है, उसको छूने के लिए जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना है, सो मारणान्तिक समुद्घात है।

तैजससमुद्घात — संयम के निधान ऐसे मुनि को कदाचित् क्वचित्, जब कोई मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाले ऐसे किसी कारण विशेष मिल जाने से क्रोध उत्पन्न हो जाता है, उस आकस्मिक उत्पन्न हुए अत्यधिक क्रोध से उन महामुनि के बाएं कंधे से सिंदूर की सी ढेर जैसी कांति वाला एक पुतला निकलता है, यह पुतला बारह योजन लंबा है और नव योजन विस्तृत काहल (बिलाव) के आकार वाला होता है। इसका मूल विस्तार सूच्यंगुल के संख्यात भाग प्रमाण ही रहता है। ऐसे आकार वाला पुतला निकलकर बायीं प्रदक्षिणा देकर मुनि जिस पर क्रुधित हुए हों, उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जाता है। जैसे — द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकलकर द्वारिका नगरी को भस्म करने के बाद उसी ने द्वीपायन मुनि को भस्म कर दिया और वह पुतला आप भी भस्म हो गया। यह अशुभ तैजस है।

इससे विपरीत शुभ तैजस भी होता है। परम संयम के निधान महाऋषि जो कि अतीव कृपालु हैं, उनके यदि तैजस ऋद्धि हो चुकी है तो वे मुनि के कदाचित् क्वचित् जगत को रोग, दुर्भिक्ष आदि से दुःखित देखकर अतीव करुणा उत्पन्न होते ही मूल शरीर को न त्यागकर पूर्वोक्त शरीर के प्रमाण, सौम्य आकृति का धारक पुरुषाकार पुतला दाहिने कंधे से निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा करके दुर्भिक्ष आदि को दूरकर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश कर जाता है, इसे शुभ तैजस समुद्घात कहते हैं।

आहारक समुद्घात — कोई संयमी महामुनि जिनके सातवें या आठवें गुणस्थान में यदि आहारक शरीर का बंध हो गया है, ऐसे मुनि को कदाचित् क्वचित् किसी पद या पदार्थ में कुछ सूक्ष्म शंका उत्पन्न हो जाने पर उन आहारक ऋद्धि के धारक महर्षि के मस्तक से मूल शरीर को न छोड़कर निर्मल, स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकलता है। वह पुतला अंतर्मुहूर्त काल के भीतर ही जहाँ कहीं भी केवली हों उनके पास तक चला जाता है। वह पुतला केवली का दर्शन करके वापस आकर मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है तभी मुनि की शंका दूर हो जाती है। इसका नाम आहारक समुद्घात है।

केवली समुद्घात — केवली के जो दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रिया में शरीर से बाहर आत्मा के प्रदेश फैल जाते हैं वह केवली समुद्घात कहलाता है। केवली भगवान के जब आयु मात्र अंतर्मुहूर्त की रह जाती है और नाम तथा गोत्र की स्थिति अधिक रहती है तभी केवली समुद्घात क्रिया होती है। इस

प्रकार इन सातों समुद्घातों का संक्षिप्त लक्षण बताया है।

नयों की अपेक्षा इसी विषय को स्पष्ट करते हैं — अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से यह जीव अपने शरीर के बराबर है।

निश्चयनय से लोकाकाश प्रमाण जो असंख्य प्रदेश हैं, उन प्रमाण असंख्यात प्रदेशों का धारक यह आत्मा है। यही आत्मा केवलज्ञान की अपेक्षा व्यवहारनय से लोक-अलोक व्यापक है किन्तु नैयायिक, सांख्य, मीमांसक मत के अनुयायी जिस तरह आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा व्यापक मानते हैं, वैसा नहीं है।

कोई-कोई आत्मा को अणुमात्र मानते हैं, सो जब यह आत्मा उत्सेध घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण लब्धपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद शरीर को ग्रहण करता है तभी उतने शरीर मात्र में रहने से इसे अणुमात्र प्रमाण वाला भले ही कह दो किन्तु वहाँ पर भी यह असंख्यात प्रदेशी है और अणु से अधिक आकाश स्थान को व्याप्त करके रहता है।

यहाँ गाथा के पद्यानुवाद में जो बड़ा (गुरु) शरीर का जो ग्रहण है वह महामत्स्य के शरीर की अपेक्षा है। महामत्स्य के शरीर की अवगाहना एक हजार योजन है, इसे चार कोश (आठ मील) से गुणा करने पर आठ हजार मील प्रमाण हो जाता है। इससे बड़ा शरीर संसार में किसी का नहीं होता है। मध्यम अवगाहना में निगोदिया शरीर से लेकर महामत्स्य के मध्य के जितने भी शरीरों का प्रमाण है, सभी आ जाता है।

इस प्रकरण को समझने का तात्पर्य यही है कि जिस देह में ममत्व करने से नाना प्रकार के शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं उस देह के ममत्व को छोड़कर उस देह से तपश्चरण आदि करते हुए निर्मम बुद्धि से अपने संयम की रक्षा करनी चाहिए। यदि संयम नहीं ग्रहण किया है तो शरीर को आत्मसिद्धि का साधन समझकर कुछ न कुछ संयम अवश्य ग्रहण करना चाहिए। यही इस मनुष्य शरीर को पाने का सार है।

संसारी जीव

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के स्थावर जीव हैं, ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदि दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नी, वायुकाय, औ वनस्पतिकायिक जानो।

एकेन्द्रिय स्थावर पाँच कहे, इनके सब भेद विविध मानो।।

दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, औ पंचेन्द्रिय त्रस माने हैं।

जो शंख, पिपील, भ्रमर, मानव, आदिक से जाते जाने हैं।।११।।

स्थावर जीव — स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर, एकेन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से एक पहली स्पर्शन इन्द्रिय से सहित स्थावर एकेन्द्रिय जीव होते हैं। इनके पाँच भेद माने गये हैं — पृथ्वी, जल आदि। पृथ्वीकायिक जीव असंख्यातासंख्यात हैं, जलकायिक जीव असंख्यातासंख्यात हैं, अग्निकायिक जीव असंख्यातसंख्यात हैं, वायुकायिक जीव असंख्यातासंख्यात हैं तथा वनस्पतिकायिक जीव अनंतानंत हैं। इन स्थावर जीवों से यह तीनों लोक ठसाठस भरा हुआ है। इन एकेन्द्रिय स्थावर जीवों के बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा से दो भेद भी होते हैं। बादर नामकर्म के उदय से जीव बादर होते हैं और सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जीव सूक्ष्म होते हैं। बादर जीव आधार से ही रहते हैं किन्तु सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सर्वत्र लोक में निराधार हैं। इन सूक्ष्म जीवों को न किसी से बाधा होती है और न इनसे ही किन्हीं जीवों को बाधा संभव है। इन जीवों का

अस्तित्व मात्र सर्वज्ञ के द्वारा प्ररूपित आगम से ही गम्य है बादर जीवों का अस्तित्व तो आज वैज्ञानिक लोग भी मानने लगे हैं एवं पेड़-पौधों से जीव को सिद्ध करने लगे हैं।

जैन सिद्धान्त के अनुसार इन एकेन्द्रिय जीवों में भी आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएं पाई जाती हैं। ज्ञान और दर्शनमयी चेतना प्राण भी इनमें हैं अन्यथा जैनत्व का ही अभाव हो जावेगा, उसी प्रकार से इन एकेन्द्रिय जीवों में स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। जब तक इन जीवों की पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होती हैं तब तक इन जीवों के श्वासोच्छ्वास से अतिरिक्त तीन प्राण ही होते हैं। बहुत से जीव ऐसे होते हैं जो बिना पर्याप्ति पूर्ण किये ही मर जाते हैं उन्हें अपर्याप्तक कहते हैं किन्तु जिनकी पर्याप्तियाँ पूर्ण होने वाली हैं उनके पर्याप्त नामकर्म का उदय होता है।

पर्याप्ति के छह भेद हैं — आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। इनमें से आदि की चार पर्याप्तियाँ ही स्थावर जीवों में होती हैं। अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ ही होती हैं। आहार पर्याप्ति से यहाँ कर्मवर्गणाओं को समझना चाहिए।

त्रस जीव — द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस कहते हैं। त्रस नामकर्म के उदय से जीव त्रस कहलाते हैं। जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं वे द्वीन्द्रिय त्रस हैं, जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं वे त्रीन्द्रिय त्रस जीव हैं, जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ हैं वे चतुरिन्द्रिय त्रस जीव हैं और जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण ये पाँचों इन्द्रियाँ पाई जाती हैं वे पंचेन्द्रिय त्रस जीव हैं। दो इन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, तीन इन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं, चार इन्द्रिय जीव असंख्यातासंख्यात हैं और पंचेन्द्रिय जीव भी असंख्यातासंख्यात हैं।

शंख, सीप, कृमि — जोंक, केंचुआ, लट आदि दो इन्द्रिय जीव हैं। कुंथु, चींटा, चींटी, जूँ, खटमल, बिच्छू आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं। डांस, मच्छर, मक्खी, भौरा, बर्र, ततैया आदि उड़ने वाले जीव चतुरिन्द्रिय जीव हैं। हाथी, घोड़े, कबूतर, मछली आदि तिर्यच, मनुष्य, देव तथा नारकी ये सब पंचेन्द्रिय जीव हैं।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये तिर्यच ही होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यचों के जलचर, स्थलचर और नभचर ऐसे तीन भेद होते हैं। जल में रहने वाले मेंढक, मछली, मगरमच्छ आदि जलचर हैं, पृथ्वी पर चलने वाले हाथी, घोड़ा, सिंह, व्याघ्र आदि थलचर हैं और आकाश में उड़ने वाले कबूतर, चिड़ियाँ आदि नभचर हैं।

ऐसे ही नारकी और देवों में भी अनेक भेद माने गये हैं। मनुष्यों में स्त्री, पुरुष और नपुंसकवेद की अपेक्षा तीन भेद होते हैं। आर्य-म्लेच्छ की अपेक्षा दो भेद होते हैं एवं कर्मभूमि, भोगभूमि की अपेक्षा भी भेद हो जाते हैं। ये सब भेद-प्रभेद गोम्मटसार जीवकाण्ड ग्रंथ से ज्ञातव्य हैं।

संसारी छद्मस्थ जीव अतीन्द्रिय, अमूर्तिक, निज शुद्ध, परमात्म स्वभाव की अनुभूति से उत्पन्न हुए अमृतरसमयी स्वात्मसुख को नहीं प्राप्त कर पाते हैं अतएव वे तुच्छ इन्द्रिय सुख की अभिलाषा करते हैं। उस इन्द्रियसुख में आसक्त होते हुए एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि त्रस-स्थावर जीवों का घात करते रहते हैं। इसी असंयम पाप से त्रस, स्थावर योनियों में पुनः पुनः जन्म-मरण करते रहते हैं। जो भव्यजीव इन त्रस, स्थावर पर्यायों में जन्म नहीं लेना चाहते हैं, वे ही महापुरुष त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग करके महामुनि होकर निज परमात्मतत्त्व की भावना करते हैं, तब वे ही महामुनि क्रम से संसार परम्परा का अंत कर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। जो मुनि नहीं बन सकते हैं, उनका भी कर्तव्य है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए त्रस

जीवों के वध का तो त्याग ही कर दें, जिससे वे भी अणुव्रती श्रावक होते हुए परम्परा से मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं। ऐसा समझकर आपका कर्तव्य है कि जब तक मुनि और आर्यिका के व्रत न ग्रहण कर सकें तब तक उनके चरणों की भक्ति करते हुए यह नियम कर लें कि हम कभी भी संयमी मुनि, आर्यिकाओं की निन्दा न करेंगे और न सुनेंगे ही, तभी आप सम्यग्दृष्टि रह सकेंगे।

पंचेन्द्रिय संज्ञि-असंज्ञी दो, इनसे अतिरिक्त सभी प्राणी।

होते मन रहित असंज्ञी ही, विकलेन्द्रिय तीन भेद प्राणी॥

एकेन्द्रिय बादर-सूक्ष्म कहे, ये सात भेद हो जाते हैं।

पर्याप्त-अपर्याप्तक दो से, ये चौदह भेद कहाते हैं॥१२॥

पंचेन्द्रिय जीव सैनी-असैनी ऐसे दो प्रकार के होते हैं, शेष सब जीव असैनी ही हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर-सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं। ये सभी जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं अतः चौदह जीव समास हो जाते हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है कि—

पंचेन्द्रिय सैनी, पंचेन्द्रिय असैनी, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय ये सात हैं, इन सातों के पर्याप्त-अपर्याप्त भेद कर देने से चौदह भेद हो जाते हैं। इन्हें ही चौदह जीवसमास कहते हैं।

प्रत्येक सैनी जीव के हृदय में आठ पांगुड़ी के कमल के आकार का द्रव्य मन होता है और उस द्रव्य मन के आधार से शिक्षा, वचन, उपदेश आदि क्रिया का ग्राहक भावमन होता है। ये द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के मन जिनके पाये जाते हैं, वे सैनी जीव कहलाते हैं और जिनके मन का अभाव है, वे सब असैनी जीव हैं। देव, नारकी और मनुष्य तो सैनी ही होते हैं। तिर्यचों में पंचेन्द्रिय तिर्यचों के दो भेद हो जाते हैं— सैनी और असैनी तथा एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक सब जीव असैनी ही होते हैं। सैनी, समनस्क और संज्ञी पर्यायवाची नाम हैं, वैसे ही असैनी, अमनस्क और असंज्ञी पर्यायवाची हैं।

पर्याप्तियाँ ६ होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। इनमें से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार पर्याप्तियाँ होती हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के मन रहित पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं तथा पंचेन्द्रिय सैनी जीवों के छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। जिन जीवों के यह पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होती हैं और नियम से ही मर जाते हैं, वे अपर्याप्तक कहलाते हैं और जिनके ये पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं वे पर्याप्तक हैं।

इन पर्याप्तियों का प्रारंभ एक साथ हो जाता है और पूर्णता क्रम-क्रम से होती है। इनकी पूर्णता में अंतर्मुहूर्त से अधिक समय नहीं लगता है अतः गर्भ में बालक के आते ही यद्यपि उसके शरीर का आकार नहीं बना है फिर भी उसमें शरीर के इन्द्रिय आदि आकारों को बनाने की शक्ति की पूर्णता का हो जाना ही पर्याप्ति की पूर्णता है अतः गर्भ में आते ही बालक के अन्तर्मुहूर्त में सभी पर्याप्तियाँ पूर्ण हो जाती हैं। जो गर्भ में ही २-३ आदि महीने के बालक का मरण हो जाता है, उसमें भी पर्याप्तक का ही मरण है न कि अपर्याप्तक का क्योंकि गर्भज मनुष्य अपर्याप्तक नहीं होते हैं, ऐसा नियम है।

५ इन्द्रिय, ३ बल, १ आयु और १ श्वासोच्छ्वास, ये १० प्राण होते हैं। पंचेन्द्रिय सैनी में १० प्राण होते हैं, पंचेन्द्रिय असैनी के मन से रहित ९ प्राण होते हैं, चार इन्द्रिय जीवों में मन और कर्णेन्द्रिय से रहित ८ प्राण होते हैं। तीन इन्द्रिय जीवों में चक्षु इन्द्रिय से भी रहित ७ प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय जीवों में घ्राण से भी रहित

६ प्राण होते हैं तथा एकेन्द्रिय जीवों में स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास ऐसे ४ प्राण होते हैं।

इन जीवसमासों को समझकर क्या करना ? नाना प्रकार के विकल्प जालरूप मन को वश में करके आगम के अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए इन जीवों की दया पालना तथा मन को अपनी शुद्ध आत्मा के चिंतवन में लगाना यही इन जीवसमासों को समझने का सार है। आगे कहते हैं —

चौदह मार्गणा तथा चौदह, गुणस्थानों युत यह संसारी।

औ चौदह जीवसमासों युत, जग में संसरण करे भारी॥

यह कथन अशुद्ध नयापेक्षा, इस नय से ही संसारी हैं।

फिर भी सब जीव शुद्ध नय से, नित शुद्ध अवस्थाधारी हैं^१॥१३॥

अशुद्ध नय की अपेक्षा से चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान और चौदह जीवसमासों के द्वारा ये जीव संसारी हैं और शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं, ऐसा समझना।

अभिप्राय यह है कि जो सिद्धान्त ग्रंथों में १४ मार्गणा, १४ गुणस्थान और १४ जीवसमासों के द्वारा जीवों का वर्णन किया जाता है वह सब संसारी जीवों का वर्णन है। नयों की विवक्षा से अशुद्ध नय से ही संसार है और इस अशुद्ध नय से ही जीवों की ये मार्गणा, गुणस्थान आदि अवस्थाएं होती हैं। शुद्धनय से विचार किया जाता है तब तो सभी संसारी जीव शुद्ध हैं, सिद्ध समान हैं। मार्गणा और गुणस्थानों के भेदों से रहित मात्र दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य इन चतुष्टयस्वरूप हैं।

इस शुद्धनय की अपेक्षा से निगोदिया जीव तो क्या अभव्यजीव भी शुद्ध हैं, सिद्ध समान हैं परन्तु वर्तमान में तो वे दुःखों को भोग ही रहे हैं तथा अभव्य जीव तो कभी भी मोक्ष प्राप्त कर ही नहीं सकेंगे अतः यह शुद्धनय मात्र जीव की शक्ति को ही बतलाता है। अभव्य जीवों में केवलज्ञान आदि शक्तिरूप से विद्यमान हैं परन्तु वे कभी भी प्रगट नहीं होवेंगे तथा भव्यों में भी किन्हीं दूरानुदूर भव्यों के अतिरिक्त शेष भव्य मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। जब जीव अपने गुणों को प्रगट कर लेगा, कर्मों का नाश कर देगा, तभी वह अनंत सुखी बन सकेगा, उसके पहले नहीं, अतः शुद्धनय से अपनी शक्ति को पहचान कर उसे व्यक्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए, यही अभिप्राय है।

चौदह गुणस्थान

मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणामों को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान के १४ भेद हैं — मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

इन गुणस्थानों का संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार है —

(१) जो जीव मिथ्यात्व के उदय से जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित वचनों पर श्रद्धान नहीं करता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

(२) जो उपशम सम्यक्त्वी अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों में से किसी एक का उदय आ जाने से सम्यक्त्व से तो गिर जाता है और मिथ्यात्व में नहीं पहुँचा है, उस अल्पकालीन मध्य के स्थान का नाम सासादन गुणस्थान है।

(३) जो अपने आत्मा आदि तत्त्वों को वीतराग सर्वज्ञ के कहे अनुसार मानता है और अन्य मत के अनुसार भी मानता है, वह दही और गुड़ मिले हुए मिश्रित स्वाद के समान मिश्र गुणस्थान वाला है।

शंका — “चाहे जिससे हो मुझे तो कोई एक देव से मतलब है अथवा सभी देव वंदनीय हैं। निंदा किसी भी देव की नहीं करनी चाहिए।” इस प्रकार वैनयिक और सांशयिक मिथ्यादृष्टि मानते हैं, तब उनमें तथा मिश्रगुणस्थानवर्ती में क्या अन्तर है ?

समाधान — वैनयिक मिथ्यादृष्टि तो सभी देवों, शास्त्रों, गुरुओं में भक्ति, विनय करने से या इनमें से किसी की भी विनय करने से मुझे पुण्य होगा, ऐसा मानते हैं। फिर भी संशय रूप से ही भक्ति करते हैं, उन्हें किसी एक देव में निश्चय नहीं है और मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव दोनों में ही निश्चय कर लेता है, बस यही अन्तर है।

(४) जो अनंत गुणों के आधारभूत निज परमात्म द्रव्य को उपादेय तथा इन्द्रिय सुखों को त्याज्य मानता है फिर भी प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है, उसे छोड़ नहीं पाता है, वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

(५) जो सम्यग्दृष्टि प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनके एकदेश त्यागरूप अणुव्रतों और दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी एक को भी धारण किए हुए है, वह पंचम गुणस्थानवर्ती देशविरत श्रावक कहलाता है।

(६) यही सम्यग्दृष्टि जीव जब सम्पूर्ण रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह का त्याग करके महाव्रती हो जाता है और निश्चयनय के अवलम्बन से अन्तरंग में रागादि उपाधि रहित निज शुद्ध आत्मा के सुखरूपी अमृत का अनुभव करता रहता है, वह छठा गुणस्थानी है। इस गुणस्थान में दुःस्वप्न आदि के निमित्त से प्रगट अथवा अप्रगट प्रमाद पाया जाता है इसलिए इसे प्रमत्तविरत कहते हैं। यह गुणस्थान दिगम्बर मुनियों के ही होता है।

(७) जिनके संज्वलन कषाय का भी उदय मंद हो गया है ऐसे व्यक्त-अव्यक्त प्रमादों से रहित शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले मुनि सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयत कहलाते हैं।

(८) वे ही मुनि जब श्रेणी में आरोहण कर शुक्लध्यान में स्थित हो जाते हैं, तब वे अपूर्व परम आल्हाद सुख का अनुभव करते हैं। उस समय वे अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मुनि होते हैं।

(९) देखे, सुने तथा अनुभव किए हुए भोगों की वांछादि रूप सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प रहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूप के एकाग्र ध्यान के परिणाम से जिन मुनियों के एक समय में परस्पर अन्तर नहीं होता वे शरीर, संस्थान आदि से भेद होने पर भी अनिवृत्तिकरण नामक नवमें गुणस्थानवर्ती होते हैं। यहाँ पर मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों का क्षय या उपशम करने की सामर्थ्य प्रगट हो जाती है।

(१०) सूक्ष्म परमात्मतत्त्व की भावना के बल से जिनके मात्र सूक्ष्म लोभ कषाय ही शेष रही है वे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान वाले होते हैं।

(११) परम उपशम मूर्ति, निज आत्म स्वभाव के अनुभव के बल से सम्पूर्ण मोह को उपशम करने वाले उपशांत मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती वीतरागी मुनि होते हैं।

(१२) क्षपक श्रेणी के मार्ग से कषायरहित शुद्ध आत्मा की भावना के बल से जिनके समस्त कषाय नष्ट हो चुकी हैं और जो शेष तीन घातिया कर्मों को भी नष्ट करने वाले हैं, वे क्षीणमोह नामक बारहवें

गुणस्थानवर्ती परम वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं।

आठवें, नवमें और दशवें इन तीन गुणस्थानों में दो प्रकार की श्रेणी होती है। एक उपशम श्रेणी, द्वितीय क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी में आरोहण करते हुए मुनि मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करते हुए ग्यारहवें तक चले जाते हैं, फिर नियम से ग्यारहवें गुणस्थान में किसी कषाय का उदय आ जाने से या तो गिरकर नीचे आ जाते हैं या उसी गुणस्थान में मरण को प्राप्त होकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हो जाते हैं।

इनसे अतिरिक्त क्षपक श्रेणी में आरोहण करने वाले मुनि नियम से मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का क्षय करते हुए दशवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्मलोभ का नाश कर मोहनीय कर्म को सर्वथा जड़मूल से नष्ट कर एकदम बारहवें गुणस्थान में चले जाते हैं। वहाँ पर भी अन्तर्मुहूर्त काल में ही निज शुद्ध आत्मानुभवरूप एकत्ववितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान में स्थिर होकर अन्त समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों को एक साथ सर्वथा निर्मूल नाश कर देते हैं।

(१३) पुनः वे ही महामुनि मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान निर्मल केवलज्ञान किरणों से सम्पूर्ण लोक-अलोक के प्रकाशक जिनभास्कर हो जाते हैं। इन्हें तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगिकेवली कहते हैं क्योंकि यहाँ पर मन, वचन, कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्मों के ग्रहण करने में कारण आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदरूप योग मौजूद है। यद्यपि इस योग से वहाँ पर अर्हन्त केवली भगवान के कर्मों का आस्रव हो रहा है तो भी यह ईर्यापथ आस्रव है, आता है, चला जाता है, रुकता नहीं है।

केवली भगवान के स्वभाव से ही गमनागमन रूप विहार, दिव्यध्वनि खिरना आदि क्रियाएँ मौजूद हैं। ये योग के निमित्त से होती हैं फिर भी मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से उनके कर्मों का स्थिति अनुभाग बंध नहीं होता है, ऐसा समझना।

(१४) आत्मप्रदेश परिस्पंदरूप योग का निरोध करके चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली होते हैं।

इसके अनन्तर परम यथाख्यात चारित्र जो कि निश्चय रत्नत्रय स्वरूप कारण समयसार है, उस चारित्र के बल से शेष अघातिया कर्मों का भी नाश करके चौदह गुणस्थानों से परे कार्यसमयसार रूप सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं। ये सिद्ध ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से रहित और सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से अंतर्भूत ऐसे निर्नाम, निर्गोत्र आदि अनन्त गुणों से युक्त होते हैं।

प्रश्न—केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर मोक्ष के लिए कारणभूत रत्नत्रय की परिपूर्णता हो जाती है तब पुनः उसी क्षण में ही मोक्ष हो जाना चाहिए और ऐसा होने पर तो सयोगकेवली-अयोगकेवली ये दो गुणस्थान नहीं बनेंगे ?

उत्तर—केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर भी यथाख्यात चारित्र ही हुआ है किन्तु परम यथाख्यात नहीं हुआ है। जैसे कि चोरी कार्य के छोड़ देने पर भी कोई पुरुष चोरों का संसर्ग कर रहा है तो उनका संसर्ग दोष को उत्पन्न करता ही है, उसी प्रकार से चारित्रविनाशक चारित्र मोह कर्म का नाश हो जाने पर भी सयोगकेवलियों के मन-वचन-काय रूप तीनों योगों का व्यापार होता रहता है जो कि निष्क्रिय शुद्धात्मा के आचरण से विलक्षण है, वो ही चारित्र मल को उत्पन्न करता है और तीनों योगों के नष्ट हो जाने पर अयोगकेवली के भी अंतिम समय को छोड़कर शेष अघातिया कर्मों का तीव्र उदय है, वह भी चारित्रमल को उत्पन्न करता है। उन्हीं अयोगकेवलियों के अंतिम समय में इन अघातिया कर्मों का उदय मंद हो जाने से चारित्र मल का अभाव हो जाता है, उसी क्षण यह जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार से चौदह गुणस्थानों का अति संक्षेप से कथन किया गया है। इनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान से निकलकर यह जीव जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब पुरुषार्थ के बल से अणुव्रत, महाव्रतों को ग्रहण कर उस भव से या दो चार भवों से आगे के गुणस्थानों में आरोहण करते हुए सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है। जहाँ फिर अनंत-अनंत काल के लिए सुखी हो जाता है, ऐसा समझकर प्रत्येक गृहस्थ को अणुव्रती-महाव्रती बनने का पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।

जिनमें या जिनके द्वारा जीवों का अन्वेषण किया जाता है, उन्हें मार्गणा कहते हैं। ये मार्गणाएँ अपने-अपने कर्मों के उदय से होती हैं। इनके १४ भेद हैं—

गड़ इंदिए य काये, जोगे वेदे कसाय णाणे य।

संजम दंसण लेस्सा, भविया सम्मत्त सण्णि आहारे।।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक ये चौदह मार्गणाएँ हैं। इनमें से प्रत्येक के भेद होने से अवान्तर भेद अनेक हैं—

(१) गति — स्वात्मा की उपलब्धि रूप जो सिद्धगति है, उससे विलक्षण 'नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव' ये चार गति होती हैं।

(२) इन्द्रिय — अतीन्द्रिय शुद्ध आत्मतत्त्व से विपरीत 'एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय' ये पाँच जातियाँ होती हैं।

(३) काय — अशरीरी आत्मतत्त्व के विसदृश पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस ये छह काय हैं।

(४) योग — निर्व्यापार शुद्ध आत्मतत्त्व से विलक्षण 'मन, वचन, काय' के भेद से योग तीन प्रकार है। अथवा विस्तार से—

सत्य, असत्य, उभय और अनुभय ये चार मनोयोग, सत्य, असत्य, उभय और अनुभय ये चार वचन योग, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कर्मण ये सात विध काययोग, ऐसे योग के पन्द्रह भेद होते हैं।

(५) वेद — वेद के उदय से उत्पन्न जो रागादि विकार भाव हैं, उनसे रहित जो परमात्म द्रव्य है, उससे भिन्न 'स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद' ये तीन वेद हैं।

(६) कषाय — कषायरहित शुद्ध आत्मा से प्रतिकूल 'क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार कषाय हैं अथवा विस्तार से अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इनके क्रोध आदि ४-४ भेद से १६ कषाय तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये ९ कषाय मिलकर कषाय के २५ भेद हैं।

(७) ज्ञान — मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान ऐसे ज्ञान मार्गणा के ८ भेद हैं।

(८) संयम — सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच संयम तथा संयमासंयम और असंयम, ऐसे संयममार्गणा के ७ भेद हैं।

(९) दर्शन — चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन ये चार दर्शन हैं।

(१०) लेश्या — कषायों के उदय से अनुरंजित जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति है, वह लेश्या है।

उसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ऐसे छह भेद हैं।

(११) भव्यत्व — भव्य और अभव्य, ऐसे दो भेदरूप हैं।

प्रश्न — ‘शुद्ध पारिणामिक परमभाव रूप, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा सभी जीव, गुणस्थान और मार्गणाओं से रहित हैं’ ऐसा आपने कहा था और अब यहाँ भव्य-अभव्य मार्गणाओं को भी पारिणामिक भाव रूप लेते हो, सो यह पूर्वापर विरोध आता है ?

उत्तर — पूर्व में जो परम पारिणामिक भाव रूप निश्चयनय है, वह शुद्ध पारिणामिक भाव है। उस शुद्ध पारिणामिक भाव की अपेक्षा से प्रत्येक जीव गुणस्थान, मार्गणा आदि भावों से रहित शुद्ध ही है और यहाँ पर जो भव्यत्व मार्गणा के भेद हैं, वे अशुद्ध पारिणामिक भावरूप हैं।

प्रश्न — पारिणामिक भाव शुद्ध-अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का नहीं हो सकता है ?

उत्तर — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि यद्यपि सामान्य रूप से पारिणामिक भाव शुद्ध है, ऐसा कहा जाता है फिर भी अपवाद व्याख्यान से अशुद्ध पारिणामिक भाव भी होता है। इसी कारण ‘जीव भव्याभव्यत्वानि च’ तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र में जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ऐसे पारिणामिक भाव के तीन भेद किये हैं। उनमें से शुद्ध चैतन्यरूप से जो जीवत्व भाव है वह अविनश्वर होने के कारण शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने से शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है तथा जो कर्म से उत्पन्न दश प्रकार के प्राणों रूप जीवत्व है वह अशुद्ध जीवत्व भाव है। इस तरह दश प्राण रूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीनों भाव विनाशशील होने के कारण पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशुद्ध पारिणामिक भाव कहे जाते हैं।

(१२) सम्यक्त्व — औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन सम्यक्त्व हैं तथा इनसे विपरीत मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र हैं। ये तीनों मिलकर सम्यक्त्व मार्गणा के ६ भेद होते हैं।

(१३) संज्ञित्व — संज्ञी-असंज्ञी के भेद से यह मार्गणा दो प्रकार की है।

(१४) आहारक — आहारक और अनाहारक के भेद से दो भेद रूप है।

इस प्रकार से गति ४+इन्द्रिय ५+काय ६+योग १५+वेद ३+कषाय २५+ज्ञान ८+संयम ७+दर्शन ४+लेश्या ६+भव्यत्व २+सम्यक्त्व ६+संज्ञित्व २+आहारक २ = ९५ अवान्तर मार्गणाएँ हैं। इस प्रकार मार्गणाओं का संक्षिप्त लक्षण कहा है।

‘इस प्रकार गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग ये बीस प्ररूपणाएँ आगम ग्रंथों में कही गई हैं।’ यहाँ द्रव्यसंग्रह ग्रंथ में टीकाकार का कहना है — जो उपर्युक्त बीस प्ररूपणा, गुणस्थान, मार्गणा आदि का कथन किया गया है, वह धवला, जयधवला और महाधवला (टीका सहित षट्खण्डागमसूत्र, कषायपाहुडसूत्र और महाबंध सूत्र) इन तीन सिद्धांत ग्रंथों के बीजपद के समान है तथा ‘सर्वे सुद्धा हु सुद्धणया’ सभी जीव शुद्ध नय से शुद्ध ही हैं। यह गाथा का चतुर्थ पाद शुद्धात्मतत्त्व का प्रतिपादन करने वाला है। यह पाद पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार इन तीन प्राभृत (आध्यात्मिक) ग्रंथों के बीजपद रूप है। अभिप्राय यह है कि द्रव्यसंग्रह ग्रंथ में ११, १२ और १३वीं गाथा में जो अशुद्ध संसारी जीवों का कथन है, वह बहुत ही संक्षिप्त बीजरूप है। इन्हीं संसारी जीवों के इन मार्गणा, समास आदि का विस्तार धवला आदि तीन सिद्धान्त ग्रंथों में वर्णित है। ऐसे ही १३वीं गाथा के अन्तिम चरण में सभी जीवों

को शुद्धनय से शुद्ध कहा है सो पंचास्तिकाय आदि अध्यात्म ग्रंथों का संक्षेप है। उन तीन ग्रंथों में शुद्ध जीवों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

यहाँ पर इन मार्गणा आदि को पढ़कर क्या करना ? सो बताते हैं। इन गुणस्थान और मार्गणा आदि में केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहारक ये शुद्धात्मा के स्वरूप हैं, ये ही साक्षात् उपादेय हैं—ग्रहण करने योग्य हैं। इनको प्राप्त करने के लिए साधनभूत जो सामग्री है वह भी उपादेय है। जैसे कि महल पर चढ़ने के लिए सीढ़ी उपादेय है।

वह क्या है ?

शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में अनुचरण लक्षण चारित्र्य ये तीनों निश्चय रत्नत्रय हैं, इन्हें ही कारणसमयसार कहते हैं। ये ही केवलज्ञान आदि के लिए साधन हैं अतः उस उपादेयभूत शुद्ध आत्मा के साधक होने से परम्परा से ये भी उपादेय हैं और इस निश्चय रत्नत्रय के लिए साधन व्यवहार रत्नत्रय है जो कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिमुद्रा रूप है, वह भी उपादेय ही है तथा जब तक मुनिवेष न धारण किया जाए तब तक उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए एकदेश चारित्र्य स्वरूप अणुव्रत भी उपादेय है। ऐसा समझकर कारण के कारण का भी मूल्यांकन करते हुए अणुव्रती बनना चाहिए और मुनि, आर्यिका आदि संयमियों की भक्ति, उपासना करते हुए उन्हें आहार आदि देते हुए अपने श्रावक धर्म का पालन करते रहना चाहिए।

सिद्धों का स्वरूप

निष्कर्म जीव सब कर्मरहित, वे सिद्ध अष्ट गुण से युत हैं।

अन्तिम शरीर से किञ्चित् कम, उत्पाद और व्यय संयुत हैं।।

स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन करके, वे नित्य निरंजन परमात्मा।

लोकाग्र शिखर पर स्थित हैं, अनुपम गुणशाली शुद्धात्मा।।१४।।

जो ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों से सहित हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, वे सिद्ध आत्मा हैं। ये ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद, व्यय से संयुक्त हैं।

अपनी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के बल से जिन्होंने ज्ञानावरण आदि समस्त मूलकर्म प्रकृतियों को और उत्तर प्रकृतियों को जड़मूल से नष्ट कर दिया है, ऐसे सिद्ध परमात्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से सर्वथा रहित हो चुके हैं। इनके सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध गुण प्रगट हो चुके हैं। आठ कर्मों के अभाव से ही ये आठ गुण माने गये हैं। वैसे तो सिद्धों के अनंत गुण कहे गये हैं।

(१) सम्यक्त्व—केवलज्ञान आदि गुणों का आश्रयभूत निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार की रुचि रूप जो निश्चय सम्यक्त्व है, जिसको कि पहले तपश्चरण अवस्था में (मुनि वेष में) भाषित किया था उसके फलस्वरूप समस्त जीव-अजीव आदि तत्त्वों के विषय में विपरीत अभिप्रायरहित परिणामरूप परम क्षायिक नाम का 'सम्यक्त्व' गुण सिद्धों में होता है।

(२) ज्ञान—पहले छद्मस्थ अवस्था में भावना किए हुए निर्विकार स्वानुभवरूप ज्ञान के फलस्वरूप एक ही समय में लोक तथा अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों के विशेषों को जानने वाला 'केवलज्ञान' गुण होता है।

(३) दर्शन—समस्त विकल्पों से रहित अपनी शुद्ध आत्मा की सत्ता का अवलोकन रूप जो दर्शन

पहले भावित किया था, उसी दर्शन के फलस्वरूप एक काल में लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थों के सामान्य को ग्रहण कराने वाला 'केवलदर्शन' गुण है।

(४) वीर्य — आत्मध्यान से विचलित करने वाले किसी अति घोर परिषह तथा उपसर्ग आदि के आ जाने पर जो पहले अपने निरंजन परमात्मा के ध्यान में धैर्य का अवलम्बन किया उसी के फलरूप अनन्त पदार्थों के जानने में खेद के अभावरूप अनंतवीर्य गुण होता है अर्थात् इस गुण से अनंत पदार्थों को जानते समय उन्हें थकान नहीं होती है।

(५) सूक्ष्म — सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने के कारण सिद्धों के स्वरूप को 'सूक्ष्मत्व' कहते हैं अर्थात् इस गुण से सिद्धों का स्वरूप इन्द्रियों से नहीं जाना जाता है।

(६) अवगाहन — एक दीपक के प्रकाश में जैसे अनेक दीपों का प्रकाश समा जाता है उसी तरह एक सिद्ध के क्षेत्र में संकर तथा व्यतिकर दोष से रहित जो अनंत सिद्धों को अवकाश देने की सामर्थ्य है वह 'अवगाहन' गुण है। इस गुण से एक सिद्ध के स्थान पर अनंतानंत सिद्ध विराजे हुए हैं।

(७) अगुरुलघु — यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु (भारी) हो तो लोहे के गोले के समान वह नीचे पड़ा रहेगा और यदि सर्वथा लघु (हल्का) हो तो वायु से प्रेरित आक की रुई की तरह वह इधर-उधर घूमता रहेगा किन्तु सिद्धों का स्वरूप ऐसा नहीं है। इस कारण उनके 'अगुरुलघु' गुण कहा जाता है।

(८) अव्याबाध — स्वाभाविक शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव से उत्पन्न तथा राग आदि विभावों से रहित ऐसे सुखरूपी अमृत का जो एकदेश अनुभव पहले किया था उसी के फलस्वरूप 'अव्याबाध' रूप अनन्तसुख गुण सिद्धों में होता है।

इस प्रकार ये सम्यक्त्व आदि आठ गुण मध्यम रुचि वाले शिष्यों के लिए कहे गये हैं। विस्तार रुचि वाले शिष्यों के प्रति विशेष भेद नय के अवलम्बन से गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता आदि विशेष गुण हैं और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुण हैं। इस तरह जैनागम के अनुसार अनन्त गुण ज्ञातव्य हैं और संक्षेप रुचि वाले शिष्यों के लिए विवक्षित अभेद नय की अपेक्षा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य ये चार गुण अथवा अनन्तज्ञान, दर्शन और सुखरूप तीन गुण अथवा केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो गुण हैं तथा साक्षात् अभेद नय से एक शुद्ध चैतन्य गुण ही सिद्धों का है। यहाँ तक सिद्धों के गुणों का वर्णन है।

ये सिद्ध भगवान चरम — अन्तिम शरीर से कुछ न्यून आकार वाले हैं। वह जो किञ्चित् न्यूनता है, सो शरीर अंगोपांग नामकर्म से उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों से अपूर्ण (खाली स्थान) होने से ही है। जिस समय सयोगकेवली गुणस्थान के अन्त समय में तीस प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ है। उस समय उनके शरीरांगोपांग कर्म का भी नाश हो गया है अतः उसी समय किञ्चित् ऊनता हुई है, तब आत्मा के प्रदेश उसी छूटने वाले अन्तिम शरीर के आकार के रह गये हैं।

शंका — जैसे दीपक को ढकने वाले पात्र आदि के हटा लेने पर उस दीपक का प्रकाश फैल जाता है, उसी प्रकार देह का अभाव हो जाने पर सिद्धों की आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण हो जाना चाहिए ?

समाधान — जो यह दीपक के प्रकाश का फैलना है सो वह तो पहले से ही स्वभाव से दीपक में रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से संकुचित हो जाता है। वैसे ही जीव का लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशत्व स्वभाव तो है किन्तु प्रदेशों का लोकप्रमाण विस्तार (फैल जाना) स्वभाव नहीं है अर्थात् जीव स्वभाव से

लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी तो है किन्तु प्रदेशों का विस्तार होना यह जीव का स्वभाव नहीं है इसीलिए अन्तिम शरीर छूटने पर आत्मा के प्रदेशों का आकार जैसे का तैसा पुरुषाकार रह जाता है।

शंका — जीव के प्रदेश पहले लोक के बराबर फैले हुए, आवरण रहित रहते हैं पुनः जैसे प्रदीप के ऊपर आवरण होता है उसी तरह जीव प्रदेशों के भी आवरण हो जाता है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव के प्रदेश तो पहले अनादिकाल से सन्तान रूप से चले आ रहे शरीर के आवरण सहित ही (शरीर के आकार) रहते हैं अर्थात् जीव अनादिकाल से शरीररूपी पात्र में ही रहा है। कभी पहले शुद्ध शरीररहित रहा हो पुनः अशुद्ध शरीरधारी हुआ हो, ऐसा है ही नहीं। इस कारण जीव के प्रदेशों का संहार (संकोच) और विस्तार (फैलना) शरीर नामक नामकर्म के आधीन ही है, यह प्रदेशों का संकोच-विस्तार जीव का स्वभाव नहीं है इसीलिए जीव के शरीर का अभाव होने पर प्रदेशों का विस्तार नहीं होता है।

इस विषय में और भी उदाहरण हैं — जैसे किसी मनुष्य की मुट्ठी के भीतर चार हाथ लम्बा वस्त्र बंधा — भिंचा हुआ है। अब यह वस्त्र मुट्ठी खोल देने पर पुरुष के प्रयोग के अभाव में संकोच तथा विस्तार नहीं करता है, जैसा उस पुरुष ने छोड़ा है वैसा ही रह जाता है अथवा गीली मिट्टी का बर्तन बनते समय तो संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता रहता है किन्तु जब वह सूख जाता है तब जल का अभाव होने से वह बर्तन संकोच व विस्तार को प्राप्त नहीं होता है। इसी तरह मुक्त जीव भी जल के अभाव सदृश, शरीर के अभाव में संकोच विस्तार नहीं करता है। जब तक शरीर नामकर्म का उदय है तभी शरीर के बराबर प्रदेशों का संकोच-विस्तार किया करता है किन्तु सम्पूर्ण कर्मों के अभाव में अपने अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून ही आत्मा के प्रदेशों का आकार रहता है इसलिए सिद्ध भगवान् चरमदेह से किंचित् न्यून कहलाते हैं।

जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है

जीव जिस स्थान में सम्पूर्ण कर्मों से छूटता है ठीक उसी स्थान के ऊपर एक समय में ऊर्ध्वगमन करके लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाता है। चूँकि यह ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है।

शंका — जीव जिस स्थान में कर्मों से छूटा है उसी स्थान पर रह जाता है। चूँकि ऊपर जाने का कोई कारण नहीं है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना, क्योंकि ऊर्ध्वगमन करना यह जीव का स्वभाव है।

शंका — पुनः संसार में भी यह तिर्यग्गमन क्यों करता है, जब ऊर्ध्वगमन स्वभाव है तब सतत ऊर्ध्वगमन ही करना चाहिए ?

समाधान — जैसे जीव का पूर्णज्ञानी और सर्वदर्शी होना स्वभाव है किन्तु संसार में कर्मों के आवरण से वह स्वभाव प्रगट नहीं हो पाता है, फिर भी कर्मों के नष्ट होते ही जीव सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है। उसी प्रकार से जीव संसार में कर्मों के निमित्त से ऊर्ध्वगति नहीं कर पाता है किन्तु कर्मों से छूटते ही स्वभाव से ऊर्ध्वगमन कर लेता है। इसके लिए चार दृष्टांत हैं — जैसे कुंभार का चाक पूर्व प्रयोग से (घुमाना छोड़ देने पर भी) घूमता रह जाता है, वैसे ही सिद्धों ने मुनि अवस्था में ध्यान में जो सतत ही ऊर्ध्वगमन का अभ्यास किया है, सो इस समय वे ऊर्ध्वगमन कर जाते हैं। जैसे — मिट्टी का लेप धुल जाने से तुम्बी जल के ऊपर आ जाती है उसी प्रकार से कर्मलेप के छूट जाने से यह आत्मा ऊपर चला जाता है। जैसे — बंध का नाश

होने से एरण्ड का बीज ऊपर को उछलता है वैसे कर्मबंध का नाश होने से यह आत्मा ऊपर को चला जाता है। जैसे—अग्नि की लौ स्वभाव से ऊपर को ही उठती है उसी प्रकार से आत्मा भी स्वभाव से ऊपर को गमन कर जाता है। यह ऊर्ध्वगमन लोक के अग्रभाग तक ही होता है, लोक के आगे नहीं होता है।

शंका—जब आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव ही है तब वह लोकाग्र के भी आगे क्यों नहीं चला जाता है ?

समाधान—नहीं, आगे नहीं जा सकता है क्योंकि लोक के बाहर धर्मास्तिकाय का अभाव है^१, ऐसा आगम वाक्य है। धर्मास्तिकाय का यह लक्षण है कि जो जीव और पुद्गलों को गमन करने में सहकारी हो। अतः सिद्ध जीव भी जीव हैं, उनके गमन में सहकारी कारण धर्मास्तिकाय का आगे अलोकाकाश में अभाव होने से वहाँ पर वे मुक्तजीव भी नहीं जा सकते हैं। परद्रव्य का सहयोग न मिलने से उनका ऊर्ध्वगमन स्वभाव आगे काम नहीं कर पाता है। यह परद्रव्य की पराधीनता कितनी विचित्र है ?

सिद्धजीव नित्य हैं। कभी अपने स्थान और स्वभाव से च्युत नहीं होते हैं।

शंका—हम सदाशिव मतावलम्बियों के यहाँ सिद्ध जीवों का भी पुनरागमन माना है। देखो, सौ कल्प प्रमाण समय के बीत जाने पर जब यह सारा जगत् शून्य हो जाता है तब फिर उन मुक्त जीवों का पुनः संसार में आगमन होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि सिद्ध जीव सदा नित्य माने गये हैं अतएव सैकड़ों कल्पकालों के बीत जाने पर भी उनमें विकार-परिवर्तन या कर्म का संबंध संभव नहीं है। भले ही तीन लोक को कंपा देने वाला उत्पात ही क्यों न हो जाए किन्तु सिद्ध जीवों का पुनः इस संसार में आना नहीं हो सकता है।^२ जैसे एक बार बीज को अग्नि के द्वारा जला देने पर वह पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकता है वैसे ही कर्मरूपी संसार बीज के जल (नष्ट) जाने पर पुनः जन्म-मरण रूप संसार में आगमन नहीं हो सकता है।

ये सभी सिद्ध परमेष्ठी उत्पाद-व्यय से सहित हैं। सर्वथा अपरिणामी, कूटस्थ नित्य नहीं हैं।

शंका—सिद्ध परमात्मा निरन्तर ही निश्चल, अविनश्वर, शुद्ध आत्मस्वरूप हैं। उससे भिन्न नरक आदि गतियों में भ्रमण नहीं करते हैं अतः उनमें उत्पाद, व्यय कैसे घटेगा ?

समाधान—उन सिद्धों में अगुरुलघु गुण के षट्हानि-वृद्धि रूप से अर्थपर्यायरूप परिणमन पाया जाता है जो कि आगमगम्य है, वचन के अगोचर है। इस अर्थपर्यायरूप से ही उनमें उत्पाद-व्यय होता है अथवा ज्ञेय पदार्थ अपने-अपने जिस-जिस उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप से परिणमते हैं, उन-उनके आकार से निरिच्छुक वृत्ति से सिद्धों का ज्ञान भी परिणमता है। इस कारण भी सिद्धों में उत्पाद-व्यय घटित हो जाता है अथवा सिद्धों में व्यंजन पर्याय की अपेक्षा से संसार-पर्याय का नाश, सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्यपने से ध्रौव्य अवस्था विद्यमान है। इस प्रकार अगुरुलघु गुण की षट्हानि वृद्धिरूप, ज्ञेयाकार से ज्ञान के परिणमन रूप और व्यंजन पर्याय की अपेक्षा सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति और संसार पर्याय के नाशरूप आदि नय विभागों से सिद्धों में उत्पाद, व्यय भी माना जाना आगमसम्मत है।

आत्मा के ३ भेद हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा।

निज शुद्ध आत्मतत्त्व से बहिर्भूत इन्द्रियसुख में आसक्त आत्मा बहिरात्मा है। निज शुद्ध आत्मतत्त्व की

१. धर्मास्तिकायाभावात् (तत्त्वार्थसूत्र अ. १०, सूत्र ८)।

२. काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्याः। उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः।

(श्री समन्तभद्रस्वामी)

रुचि से सहित आत्मा अन्तरात्मा है तथा पूर्ण निर्मल केवलज्ञान, दर्शन से सहित सर्वज्ञदेव परमात्मा हैं। इन परमात्मा के विष्णु, ब्रह्मा आदि अनेक नाम हैं—

जो अपने केवलज्ञान के द्वारा लोक-अलोक को व्याप्त कर लेता है, जान लेता है वह 'विष्णु' है।

परब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत का पान करने से जो तृप्ति को प्राप्त हैं पुनः उर्वशी, तिलोत्तमा, रंभा आदि देवकन्याओं द्वारा जिनका ब्रह्मचर्य खण्डित नहीं हुआ है, ऐसे आत्मा ही 'परब्रह्म' परमात्मा हैं।

केवलज्ञान आदि गुणरूपी ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिनके पद की अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिनकी आज्ञा का पालन करते हैं ऐसे जीव ही 'ईश्वर' कहलाते हैं।

केवलज्ञान शब्द से वाच्य 'सु' (उत्तम) 'गत' (ज्ञान) है जिनका, वे 'सुगत' बुद्ध हैं। अथवा 'सु' (शोभायमान) अविनश्वर मुक्तिपद को प्राप्त हुए सो 'सुगत' हैं।

शिव — परम कल्याणरूप निर्वाण एवं अक्षयज्ञानरूप मुक्त पद को जिन्होंने प्राप्त किया है, वे 'शिव' हैं।

काम, क्रोध आदि दोषों को जीत लेने से वे परमात्मा अनन्त गुणों के धारक 'जिन' कहलाते हैं इत्यादि रूप से परमात्मा के परमागम में एक हजार आठ नाम कहे गये हैं।

इस प्रकार से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा को गुणस्थानों में घटाते हैं। मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में तारतम्य — न्यूनाधिक भाव से बहिरात्मा हैं।

अविरत गुणस्थान में उसके योग्य लेश्या से परिणत जघन्य अन्तरात्मा हैं और क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं तथा अविरत और क्षीणकषाय गुणस्थानों के बीच में जो सात गुणस्थान हैं उनमें मध्यम अन्तरात्मा हैं अर्थात् पाँचवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक मध्यम अन्तरात्मा हैं। सयोगी और अयोगी इन दोनों गुणस्थानों में विवक्षित एक देश शुद्धनय की अपेक्षा से सिद्ध के समान परमात्मा हैं और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा हैं ही।

यहाँ बहिरात्मा तो हेय है और उपादेयभूत अनन्तसुख का साधक होने से अन्तरात्मा उपादेय है तथा परमात्मा साक्षात् उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार यह जीव जीव है, उपयोगमयी है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेह परिमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

अजीव द्रव्य

पुद्गल औ धर्म अधर्म तथा, आकाश काल ये हैं अजीव।

इन पाँचों में पुद्गल मूर्तिक, रूपादि गुणों से युत सदीव।।

बाकी के चार अमूर्तिक हैं, स्पर्श वर्ण रस गंध रहित।

चैतन्य प्राण से शून्य अतः, ये द्रव्य अचेतन ही हैं नित।।१५।।

अजीव द्रव्य के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच भेद हैं, ऐसा जानो। इनमें से पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है क्योंकि वह रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण वाला है, बाकी शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं।

उपयोग के दो भेद हैं—शुद्धोपयोग और अशुद्धोपयोग। सकल, विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों शुद्धोपयोग हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चारों ज्ञान तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीनों दर्शन ये सब अशुद्ध उपयोग हैं।

चेतना के भी तीन भेद हैं—कर्मफल चेतना, कर्मचेतना और शुद्ध चेतना (ज्ञानचेतना)। अव्यक्त सुख-दुःख के अनुभव रूप कर्म फल चेतना है। अपनी इच्छापूर्वक इष्ट-अनिष्ट विकल्परूप से विशेष राग-द्वेष रूप परिणमन कर्मचेतना है और केवलज्ञान रूप शुद्ध (ज्ञान) चेतना है।

ये उपयोग और चेतना जिनमें नहीं हैं, वे अजीव हैं।

पुद्गल द्रव्य—उनके पाँच भेदों में पुद्गल का लक्षण है—पूरण गलन स्वभाव। इसमें पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श ये बीस गुण पाये जाते हैं। इस पुद्गल के अणु और स्कंध की अपेक्षा दो भेद भी होते हैं। दो अणु, तीन अणु आदि से लेकर अनंत अणुओं तक मिलकर स्कंध बनते हैं। अणु में दो स्पर्श—स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक और शीत-उष्ण में से कोई एक, एक वर्ण, एक रस और एक गंध ऐसे पाँच गुण ही रहते हैं। यह अणु शुद्ध माना जाता है अतः इसके गुण भी शुद्ध ही माने जाते हैं किन्तु स्कंध अशुद्ध माना जाता है।

अब इसी पुद्गल द्रव्य की पर्यायों को बताते हैं—

ये शब्द और जो बंध कहे, सूक्ष्मत्व और स्थूलपना।

आकार भेद तम छाया औ, उद्योत तथा आतप जितना।।

ये सब पुद्गल की पर्यायें, जो हैं विभाव व्यंजन जानो।

इन सबसे विरहित निज आत्मा, को निश्चयनय से पहचानो।।१६।।

शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद-खण्ड, अंधकार, छाया, उद्योत और आतप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं अर्थात् इन्हें विभाव व्यंजन पर्याय कहते हैं। निश्चयनय से आत्मा इन सभी पुद्गल पर्यायों से रहित है ऐसा समझना चाहिए।

शब्द—शब्द के दो भेद हैं—भाषात्मक और अभाषात्मक। इनमें से भाषात्मक भी अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार का है। अक्षरात्मक भाषा भी संस्कृत, प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पैशाची आदि भाषाओं के भेद से आर्य और म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार का कारण है अतः इसके अनेक भेद हो जाते हैं। अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय पशु-पक्षियों में पाई जाती है जिसमें अक्षर, वर्ण, पद, वाक्य स्पष्ट नहीं रहते हैं।

सर्वज्ञ की वाणी—दिव्यध्वनि को भी अनक्षरात्मक कहा है^१।

अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैश्रसिक के भेद से दो प्रकार का है। इसमें से प्रायोगिक के तत, वितत, घन और सुषिर भेद माने गये हैं। वीणा आदि के शब्द को 'तत' कहते हैं। ढोल आदि के शब्द का 'वितत' नाम है। मंजीरा, घण्टा, ताल आदि के शब्द 'घन' कहलाते हैं और वंशी आदि के शब्द को सुषिर नाम है। ये सभी शब्द मनुष्यों के द्वारा प्रयोग किये जाते हैं इसलिए इनका प्रायोगिक यह नाम सार्थक है।

वैश्रसिक का अर्थ है जो स्वभाव से—बिना किसी की प्रेरणा या प्रयोग से प्रगट होते हैं। ये मेघ, गर्जना आदि से होने वाले हैं इसीलिए इनके अनेक भेद हो जाते हैं।

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है कि संसारी जीव शब्द आदि मनोज्ञ और अमनोज्ञ पंच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर सुस्वर अथवा दुस्वर नामकर्म का बंध करते हैं। उदय में आकर वही कर्म जीव के स्वर को अच्छा या बुरा बना देता है। वहाँ पर यद्यपि ये शब्द जीव के दिखते हैं फिर भी ये सब पुद्गल की ही पर्यायें

हैं। जीव के संयोग से उत्पन्न होने के निमित्त से व्यवहारनय की अपेक्षा ये जीव के कहे जाते हैं किन्तु निश्चयनय से ये शब्द पुद्गलरूप ही हैं।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

‘शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्’^१। शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास ये सब पुद्गल के उपकार हैं जो कि जीव में होते हैं।

बंध—मिट्टी आदि में जो पिण्डरूप से बंध होता है वह मात्र पुद्गल बंध है। जीव और पुद्गल के संयोग से जो बंध होता है वह कर्मबंध और नोकर्मबंध कहा जाता है।

यहाँ यह बात विशेष है कि जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्य बंध है और अशुद्ध निश्चयनय से रागादि परिणाम रूप भाव बंध है तथा शुद्ध निश्चयनय से जीव में बंध नहीं है। मात्र पुद्गल की ही बंध पर्याय है।

सूक्ष्मत्व—बेल, नारंगी आदि की अपेक्षा बेर में सूक्ष्मता है और परमाणु में साक्षात् सूक्ष्मता है अर्थात् वह किसी की अपेक्षा से नहीं है।

स्थूलत्व—बेर आदि की अपेक्षा बेल, नारियल आदि में स्थूलता—बड़ापन है। तीन लोक में व्याप्त महास्कंध में सबसे अधिक स्थूलता है अर्थात् इससे बड़ा और कोई नहीं है।

संस्थान—संस्थान अर्थात् आकार। इस संस्थान के ६ भेद हैं—समचतुरस्र, त्र्यगोघ, सातिक—स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक। व्यवहारनय से ये संस्थान जीव के हैं किन्तु निश्चयनय से ये जीव के नहीं हैं प्रत्युत पुद्गल के ही हैं। चूँकि जीव चेतन चमत्कार परिणाम वाला है अतः जीव से भिन्न पुद्गल के ही गोल, त्रिकोण, चौकोन आदि प्रगट, अप्रगट अनेक आकार माने गये हैं। ये सब पुद्गल की ही पर्यायें हैं।

भेद—गेहूँ आदि के दलिया, आटा तथा घी, शक्कर आदि के प्रकार से भेद भी अनेक प्रकार का होता है।

तम—अंधकार की ‘तम’ संज्ञा है। यह दृष्टि को रोकने वाला है। यह भी पुद्गल की पर्याय है।

छाया—पेड़ आदि के आश्रय से होने वाली छाया है। मनुष्य, घर आदि वस्तुओं की जो परछाई पड़ती है, उसे भी छाया कहते हैं। जो फोटो-चित्र खिंचते हैं, टेलीविजन आदि में चित्र दिखते हैं, ये सब छाया ही हैं।

उद्योत—चन्द्रमा के विमान से जो चांदनी छिटकती है, वह उद्योत है उसी प्रकार से जुगनू आदि तिर्यच जीवों के भी उद्योत नामकर्म के उदय से उद्योत होता है। यह सब प्रकाश भी पुद्गल की ही पर्यायें हैं।

आतप—सूर्य के विमान में तथा सूर्यकांत आदि मणिरूप पृथ्वीकाय में ‘आतप’ जानना चाहिए। सूर्य के विमान में रहने वाले एक इन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीव के आतप नामकर्म का उदय पाया जाता है तथा सूर्यकांत मणि से जो प्रकाश निकलता है, आतप—घाम, जिसे धूप भी कहते हैं, यह पुद्गल की ही पर्यायें हैं। यह आतप नामकर्म भी जीव में अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से पाया जाता है। शुद्ध निश्चयनय से जीव में आतप आदि कुछ भी नहीं हैं।

जीव से सर्वथा भिन्न ऐसे पुद्गल द्रव्य का वर्णन पढ़ा है। इसमें पुद्गल के भेद अणु-स्कंध व पुद्गल के गुण रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा पुद्गल की पर्यायें शब्द, बंध आदि बताई गई हैं। संसार में जो भी दिख रहा है, वह सब पुद्गल ही है। चूँकि धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य रूप, रसादिरहित अमूर्तिक ही

हैं। वे कथमपि दृष्टिगोचर नहीं हो सकते हैं। उन्हें मात्र आगमज्ञान से या अनुमान से अथवा केवलज्ञान रूप प्रत्यक्षज्ञान से ही जाना जा सकता है। जीव द्रव्य भी वस्तुतः अमूर्तिक है किन्तु जब तक वह संसारी है तब तक पुद्गल से निर्मित शरीर आदि के संबंध से मूर्तिक हो रहा है और वही मूर्तिक जीव ही दिख रहा है अथवा यों कहिए कि जीव का शरीर ही दिख रहा है। श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है —

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।

क्व रुप्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥

जो भी दिख रहा है, वह सब अचेतन है और चेतना दिखता नहीं है अतः मैं किसमें रोष या द्वेष करूँ और किसमें संतोष या राग करूँ इसीलिए मैं अब मध्यस्थ भाव को अर्थात् समताभाव को धारण करता हूँ। इसी वीतराग अवस्था को प्राप्त करने के लिए स्वाध्याय आदि साधन हैं।

धर्मद्रव्य —

गति क्रियाशील जो जीव और, पुद्गल नित गमन करें जग में।

इन दोनों के ही चलने में, यह धर्मद्रव्य सहकारि बने॥

जैसे मछली को चलने में, जल सहकारी बन जाता है।

नहिं रुकी हुई को प्रेरक हो, वैसे यह द्रव्य कहाता है॥१७॥

गमन करते हुए जीव और पुद्गल को जो गति क्रिया में सहकारी है, वह धर्म द्रव्य है। जैसे जल मछलियों को गमन में सहकारी है किन्तु वह नहीं चलते हुए को नहीं ले जाता है अर्थात् जैसे जल प्रेरक नहीं है वैसे यह द्रव्य प्रेरक नहीं है।

यह धर्मद्रव्य धर्म नाम का जीव का स्वभाव नहीं है प्रत्युत यह एक स्वतंत्र द्रव्य है।

अधर्मद्रव्य —

पुद्गल औ जीव ठहरते हैं, उनको जो होता सहकारी।

वह द्रव्य अधर्म कहाता है, नहिं बल से ठहराता भारी॥

जैसे चलते पथिकों को तरु, छाया नहिं रोके बलपूर्वक।

रुकते को मात्र सहायक है, वैसे यह द्रव्य सहायक बस॥१८॥

ठहरते हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में जो सहायक है वह अधर्म द्रव्य है। जैसे — छाया पथिकों को ठहरने में सहकारी है किन्तु यह द्रव्य चलते हुए को रोकता नहीं है।

आकाशद्रव्य —

जीवादी द्रव्यों को नित ही, अवकाश दान के योग्य रहे।

जिनदेव कथित आकाश द्रव्य, उसके भी हैं दो भेद कहे॥

पहला है लोकाकाश कहा, औ दुतिय अलोकाकाश सही।

बस एक अखण्ड द्रव्य के भी, दो भेद हुए कारणवश ही॥१९॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल इन द्रव्यों को अवकाश देने में योग्य आकाश द्रव्य है, ऐसा तुम जानो। जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित इस आकाश द्रव्य के लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भेद होते हैं।

लोकाकाश-अलोकाकाश विभाजन—

जितने आकाश प्रदेशों में, पुद्गल औ जीव सभी रहते।

औ धर्म अधर्म व काल रहें, बस लोकाकाश उसे कहते।।

उसके बाहर में सभी तरफ है, वृहत् अलोकाकाश रहा।

जिससे बढ़कर नहीं कोई है, फिर भी यह चेतनशून्य कहा।।२०।।

धर्म, अधर्म, काल, जीव और पुद्गल ये पाँचों द्रव्य जितने आकाश में रहते हैं, वह लोकाकाश है और उससे परे चारों तरफ अलोकाकाश है फिर भी यह आकाश चैतन्य शून्य अचेतन ही है।

कालद्रव्य—

द्रव्यों में परिवर्तनकारी, व्यवहारकाल कहलाता है।

परिणाम क्रियादिक लक्षण से, यह जग में जाना जाता है।।

व्यवहार और निश्चय से जो, दो भेद रूप भी हो जाता।

बस मात्र वर्तना लक्षण से, परमार्थकाल जाना जाता।।२१।।

कालद्रव्य के दो भेद हैं—व्यवहार और निश्चय। जो द्रव्यों में परिवर्तन कराने वाला है और परिणाम, क्रिया आदि लक्षण वाला है वह व्यवहारकाल है तथा वर्तना लक्षण वाला परमार्थकाल है।

जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों के परिवर्तन में अर्थात् नई या जीर्ण अवस्थाओं के होने में काल द्रव्य सहायक हैं, इनमें घड़ी, घण्टा, दिन, रात आदि व्यवहार काल है और वर्तना रूप सूक्ष्म परिणमन रूप निश्चयकाल है।

कालद्रव्य कितने हैं—

सब लोकाकाश प्रदेशों में, इक-इक प्रदेश पर एक-एक।

कालाणू संस्थित हैं सदैव, सब पृथक् रहें नहीं एकमेक।।

रत्नों की राशी के समान, वे अलग-अलग ही रहते हैं।

वे हैं असंख्य कालाणु द्रव्य, जो लोकाकाश प्रमित ही हैं।।२२।।

लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है जो कि रत्नों की राशि के समान पृथक्-पृथक् है। काल द्रव्य असंख्यात हैं अर्थात् लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश पर अलग-अलग एक-एक कालद्रव्य स्थित है इसलिए वे कालद्रव्य असंख्यात हैं।

यहाँ पर अजीव के अन्तर्गत धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य और कालद्रव्य का वर्णन किया है। संसारी जीवों के लिए ये चारों द्रव्य सहकारी तो हैं ही हैं किन्तु मुक्त जीवों के लिए भी सहकारी कारण हैं। देखिए, जब यह आत्मा कर्मों से छूटता है, तब धर्म की सहायता से ही इस मध्यलोक से ऊपर सात राजू जाकर सिद्धशिला से आगे लोक के अग्रभाग में पहुँचता है। लोकाकाश के बाहर क्यों नहीं चला जाता ? तो आगे धर्म द्रव्य का अभाव है। उसी प्रकार वहाँ लोकाग्र पर ठहरने में अधर्म द्रव्य सहकारी कारण है। वैसे ही आकाश द्रव्य में ही सिद्ध जीव निवास कर रहे हैं अतः लोकाकाश ने अवकाश भी दिया है। साथ ही प्रतिसमय अनंतगुणों में षट्गुण हानि वृद्धि रूप सूक्ष्म परिणमन भी काल द्रव्य की सहायता से हो रहा है इसलिए सिद्धों के लिए भी ये द्रव्य सहकारी कारण हैं तो हम और आपके लिए तो हैं ही हैं। यद्यपि प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र है फिर भी निमित्त कारण अवश्य मिलते हैं। निश्चयनय की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य का

परिणमन स्वतंत्र है और अपने में ही है किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से पर की सहायता स्वीकार किये बिना सिद्धांत ग्रंथों से बाधा आती है। स्वयं श्री कुन्दकुन्ददेव ने भी नियमसार में कहा है कि—

कर्म से रहित आत्मा लोक के अग्रभाग पर चला जाता है क्योंकि जीवों और पुद्गलों का गमन जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहीं तक जानो। यह मुक्त जीव धर्मास्तिकाय के अभाव में लोकाकाश से बाहर नहीं जा सकते हैं।

इस प्रकार से इन द्रव्यों के अस्तित्व को तथा कार्य को आगम से जानकर उस पर दृढ़ श्रद्धान रखना ही सम्यग्दर्शन है।

द्रव्य और अस्तिकाय

इस विधि से ये छह भेद रूप, जो द्रव्य कहे परमागम में।

वे जीव अजीवों के प्रभेद, से ही माने जिनशासन में।।

इनमें से कालद्रव्य वर्जित, जो पाँच द्रव्य रह जाते हैं।

वे ही अर्हंतदेव भाषित, पंचास्तिकाय कहलाते हैं।।२३।।

मूल में द्रव्य के जीव और अजीव ये दो ही भेद हैं। इसी में अजीव के पाँच भेद होने से द्रव्य के जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह भेद हो जाते हैं।

इन छहों द्रव्यों में काल द्रव्य को छोड़कर पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। ग्रंथकार स्वयं अस्तिकाय का लक्षण बतलाते हैं—

जिस हेतु से ये 'सन्ति' हैं, इस हेतु से ही 'अस्ति' कहे।

इस विध श्रीजिनवर कहते हैं, ये विद्यमान ही सदा रहें।।

ये बहुप्रदेशयुत काय सदृश, इसलिए 'काय' माने जाते।

दोनों पद मिलकर 'अस्तिकाय', संज्ञा से ये जाने जाते।।२४।।

ये द्रव्य 'सन्ति' अर्थात् विद्यमान हैं इसलिए इन्हें 'अस्ति' अर्थात् 'हैं' ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं और जिस हेतु से ये काय—शरीर के समान बहुत प्रदेशी हैं उसी हेतु से ये काय इस नाम को प्राप्त हैं अतः ये पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' इस सार्थक नाम वाले हैं।

यद्यपि इन पाँचों द्रव्यों में संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि से परस्पर में भेद है फिर भी अस्तित्व की अपेक्षा से अभेद है अर्थात् अस्तित्व की दृष्टि से सभी द्रव्य एक रूप ही हैं। इसी अस्तित्व को न समझकर ही ब्रह्माद्वैत आदि 'अद्वैत' मतों की स्थापना हो गई है।

प्रत्येक द्रव्य में सामान्य और विशेष ऐसे दो प्रकार के गुण माने गये हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं और ज्ञान, दर्शन, रूप, रस आदि विशेष गुण हैं। शुद्ध जीवास्तिकाय में सिद्धत्व लक्षण शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय है, केवलज्ञान आदि विशेष गुण हैं और इसी शुद्ध मुक्त जीव में अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं। ऐसे ही सिद्धजीव में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भी होते हैं। उनमें अव्याबाध, अनंतसुख आदि अनंत गुणों की प्रगटता रूप कार्य समयसार का उत्पाद हुआ है। रागादि विभाव रहित परम स्वास्थ्यरूप कारण समयसार का विनाश हो गया है और कार्य-कारण समयसार दोनों के आधारभूत परमात्म

१. कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयगगपज्जंतं।।१८३।।

जीवाण पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी। धम्मत्थि कायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति।।१८४।। (नियमसार)

द्रव्यरूप से वो ही आत्मा ध्रौव्य स्थिर रूप हैं। ये तीनों एक ही समय में होते हैं।

जैसे — गुण, पर्याय और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण से सहित सिद्ध जीवों का अस्तित्व है, वैसे ही संसार अवस्था में अशुद्ध गुण, पर्याय और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से सहित सम्पूर्ण जीव समूह का भी अस्तित्व है। ऐसे ही सभी द्रव्यों का भी अस्तित्व है अतः शुद्ध-अशुद्ध सभी द्रव्यों में अस्तित्व गुण समान रूप से पाया जाता है।

इस कारण छहों द्रव्य अस्तिरूप हैं किन्तु काय का लक्षण काल द्रव्य में घटित न होने से उसे छोड़कर शेष पाँच द्रव्य कायरूप हैं अतः पाँच द्रव्य ही 'अस्तिकाय' कहलाते हैं। बहुत से प्रदेशों का प्रचय जिसमें पाया जाए, उसे ही काय संज्ञा है।

किसमें कितने प्रदेश हैं, अब इसे स्पष्ट करते हैं —

इक जीव धर्म व अधर्म में, माने प्रदेश हैं असंख्यात।

नभ में अनंत होते प्रदेश, औ लोकाकाश में असंख्यात।।

पुद्गल में त्रिविध प्रदेश कहे, जो संख्य असंख्य अनंते भी।

बस काल में एक प्रदेश कहा, नहीं काय नाम है अतः सही।।२५।।

एक जीव द्रव्य में, धर्मद्रव्य में और अधर्मद्रव्य में असंख्यात प्रदेश होते हैं। एक जीव में असंख्यात प्रदेश हैं यदि वे फैल जावें तो लोकाकाश प्रमाण हो जाए किन्तु संसार अवस्था में कर्म से सहित जीव को जितना छोटा या बड़ा शरीर मिलता है उतने ही प्रमाण में संकुचित होकर या विस्तृत होकर रहते हैं, शरीर से बाहर नहीं जाते हैं। आगम में सात प्रकार के समुद्घात कहे हैं। उन प्रसंगों में आत्मा से बाहर भी प्रदेश चले जाते हैं तथा इसी में एक केवली समुद्घात है उसकी अपेक्षा से जीव के प्रदेश पूरे लोकाकाश में फैल जाते हैं। आकाश द्रव्य में अनंत प्रदेश हैं अर्थात् आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश दो भेद हैं। उनमें से लोकाकाश में एक जीव के बराबर असंख्यात प्रदेश हैं और अलोकाकाश में अनंत प्रदेश हैं। मूर्तिक पुद्गल द्रव्य में संख्यात, असंख्यात और अनंत ऐसे तीनों प्रकार के प्रदेश हैं। काल द्रव्य का एक प्रदेश होता है इसीलिए वह 'काय' नहीं कहलाता है। तात्पर्य यही है कि कालद्रव्य एकप्रदेशी होने से 'काय' नहीं है इसीलिए वह द्रव्य तो है किन्तु अस्तिकाय नहीं है। इस बात से यह शंका सहज ही हो जाती है कि पुद्गल का परमाणु भी 'एक प्रदेशी है' उसे भी 'काय' नहीं कहना चाहिए। उसी के समाधान में आचार्य कहते हैं —

जो एकप्रदेशी भी अणु है, वह कारण बहु स्कंधों का।

उपचार विधी से कहलाता, वह बहुत प्रदेशी जो होगा।।

इसलिए काय संज्ञा अणु की, सर्वज्ञदेव बतलाते हैं।

पर कालद्रव्य में बहुप्रदेश, की शक्ती भी नहीं पाते हैं।।२६।।

अणु — परमाणु यद्यपि एक प्रदेश वाला है फिर भी वह अनेक प्रदेशी स्कंधों का कारण है अर्थात् आगे द्वयणुक, त्र्यणुक आदि होकर अनेक प्रदेशी स्कंध बन सकता है इसीलिए वह अणु भी उपचार से बहुप्रदेशी माना जाता है अतः यह अणु भी 'काय' संज्ञक होने से अस्तिकाय है किन्तु काल द्रव्य कभी भी दो आदि बहुत प्रदेश वाला नहीं हो सकता है, यही कारण है कि वह 'अस्ति' तो है किन्तु 'काय' नहीं है।

अब प्रदेश का लक्षण और उसकी योग्यता को बतलाते हैं —

इस जितने मात्र नभस्तल को, अविभागी इक पुद्गल अणु ने।
 रोका है उतने नभ को ही, इक प्रदेश संज्ञा दी प्रभु ने॥
 ऐसा जो एक प्रदेश कहा, वह युगपत् सब परमाणू को।
 ठहरा सकता है अपने में, तुम जानो इतना क्षम उसको॥२७॥

जितने मात्र आकाश को एक अविभागी पुद्गल के परमाणु ने रोका है उतने मात्र को तुम 'प्रदेश' जानो। वह प्रदेश सभी परमाणु को ठहराने में समर्थ हो सकता है। तात्पर्य यह है कि आकाश के एक प्रदेश में असंख्यात और अनंत परमाणुओं का स्कंध भी रह सकता है। ऐसी आकाश में अवकाश देने की योग्यता विद्यमान है, तभी तो असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनंतानंत जीव और उनसे भी अनंतगुणे पुद्गल रह रहे हैं।

कहा भी है—

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
 सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥

एक निगोदिया जीव के शरीर में द्रव्य प्रमाण से अतीतकाल के सब सिद्धों से भी अनंतगुणे जीव देखे गये हैं और निगोदिया जीव की अवगाहना बहुत ही छोटी मानी गई है। उदाहरणस्वरूप सुई की नोक के अग्रभाग पर अनंत निगोदिया जीव रह जाते हैं।

उपसंहार— इस प्रकार द्रव्यसंग्रह ग्रंथ के प्रथम अधिकार में छहों द्रव्य और पाँच अस्तिकाय का वर्णन किया गया है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय हैं, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

॥ प्रथम अधिकार पूर्ण॥

द्वितीय अधिकार तत्त्व और पदार्थ

हैं जीव अजीव इन्हीं दो के, सब भेद विशेष कहे जाते।
 वे आस्रव बंध तथा संवर, निर्जरा मोक्ष हैं कहलाते॥
 ये सात तत्त्व हो जाते हैं, इनमें जब मिलते पुण्य-पाप।
 तब नव पदार्थ होते इनको, संक्षेप विधी से कहूँ आज॥२८॥

जीव और अजीव का वर्णन किया गया है। इन दो के ही विशेष भेद रूप आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष होते हैं। ये ही सात तत्त्व हैं अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें ही पुण्य और पाप मिलाने से नव पदार्थ कहलाते हैं। उनको यहाँ संक्षेप से बताया जा रहा है—

कर्मों का आना आस्रव है। उसके दो भेद हैं— भावास्रव और कर्मास्रव। उन्हीं का लक्षण—

आत्मा के जिन परिणामों से, कर्मों का आना होता है।
 जिनराज कथित परिणाम वही, भावास्रव जाना जाता है॥

जो कर्मों का आना होता, वह द्रव्यास्त्रव कहलाता है।

आस्त्रव के कारण समझ जीव, सब आस्त्रव से छुट जाता है॥२९॥

आत्मा के जिन परिणामों — भावों से कर्म आते हैं, उन परिणामों को ही जिनेन्द्रदेव ने भावास्त्रव कहा है और आत्मा में कर्मों का आना ही द्रव्यास्त्रव है। इन्हीं का स्पष्टीकरण —

मिथ्यात्व पाँच अविरती पाँच, पंद्रह प्रमाद त्रय योग कहे।

क्रोधादि कषायें चार कहीं, सब मिलकर बत्तिस भेद लहे।।

आत्मा के इन सब भावों से, कर्मों का आस्त्रव होता है।

जो इन भावों से बचता है, वह द्रव्यास्त्रव को खोता है॥३०॥

पाँच मिथ्यात्व, पाँच अविरति, पंद्रह प्रमाद, तीन योग और चार कषाय ये बत्तीस भेद भावास्त्रव के हैं। इनका विस्तार यह है कि प्रत्येक संसारी जीव चाहे मनुष्य हो या तिर्यच, देव हो या नारकी, प्रतिक्षण उसके कुछ न कुछ भाव होते ही रहते हैं। चाहे वो भाव व्यक्त हों या अव्यक्त, स्वयं की जानकारी में हों या न भी हों, फिर भी जो भी परिणाम — भाव होते हैं वे सब भाव इन पाँच प्रत्ययों — कारणों में शामिल हो जाते हैं। इन पाँच के प्रभेद ३२ हैं अथवा मिथ्यात्व ५, अविरति १२, प्रमाद १५, कषाय २५ और योग १५ ऐसे ५+१२+१५+२५+१५=७२ भेद भी होते हैं।

मिथ्यात्व ५ —

एकांत — जीव नित्य ही है, अनित्य ही है, ऐसी एकांत बात पकड़ लेना मिथ्यात्व है।

विपरीत — जीवहिंसा-जीव बलि आदि से स्वर्ग मानना विपरीत मिथ्यात्व है।

विनय — सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और झूठे कल्पित देव, शास्त्र, गुरु सबको समान कहकर सबकी विनय करना विनय मिथ्यात्व है।

संशय — निर्वस्त्र दिगम्बर वेष से मुक्ति होगी या सवस्त्र इत्यादि में संशय करते रहना संशय मिथ्यात्व है।

अज्ञान — अज्ञान से ही मुक्ति मानना अज्ञान मिथ्यात्व है।

मिथ्या — असत्य या कल्पित विचारधारा को मिथ्यात्व कहते हैं। इस मिथ्यात्व के ३६३ भेद भी माने गये हैं।

अविरति ५ — हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँचों पापों का सेवन करना — त्याग नहीं करना अविरति है।

महाव्रती मुनि इन पापों को सर्वथा त्याग देते हैं और श्रावक इन पाँचों पापों का एकदेश त्याग करते हैं इसलिए मुनिगण महाव्रती कहलाते हैं और श्रावक अणुव्रती कहलाते हैं।

प्रमाद — विकथा ४, कषाय ४, इन्द्रिय ५, निद्रा १, प्रणय — स्नेह १, ऐसे १५ हैं। स्त्री कथा, भोजन कथा, राष्ट्र कथा और राजकथा विकथा हैं। इनमें भी कर्मों का आस्त्रव होता रहता है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनको वश में नहीं रखने से आस्त्रव होता रहता है। निद्रा और स्नेह को सभी जानते हैं।

योग ३ — मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का नाम योग है।

कषाय ४ — क्रोध — गुस्सा करना, मान — घमंड करना, माया — किसी को भी ठगना, लोभ — लालच करना। ये कषायें हमेशा आत्मा को कसती हैं — दुःख देती हैं। इन्हीं के कारण यह जीव संसार में

दुःख उठा रहा है।

प्रत्येक मिथ्यादृष्टि संसारी जीव के ये पाँचों ही कारण मौजूद हैं। जो सम्यग्दृष्टि हैं, उनके मिथ्यात्व को छोड़कर चार कारणों से कर्म आते हैं। इनसे आगे जो अणुव्रती श्रावक हैं उनके अविरति का एकदेश त्याग हो जाने से वे विरताविरत या संयतासंयत कहलाते हैं। चूंकि इनके त्रसहिंसा का पूर्णतया त्याग हो चुका है।

जो महाव्रती मुनि हैं, सम्पूर्ण आरंभ और परिग्रह के त्यागी हैं, उनके मिथ्यात्व, अविरति दो कारणों से अतिरिक्त आगे के तीन कारण हैं।

जो प्रमाद से रहित, अप्रमत्त मुनि ध्यान में लीन हैं, उनके कषाय और योग मात्र दो ही कारण हैं।

महाध्यानी मुनि के दशवें गुणस्थान में कषाय का पूर्णतया नाश हो जाने से बारहवें गुणस्थान में अकषायी — क्षीणमोह महामुनि निर्ग्रथ हो जाते हैं।

इसके आगे केवली भगवान के भी योग के निमित्त से आस्रव तो होता रहता है, वह टिकता नहीं है। मात्र सातावेदनीय रूप से आता है, चला जाता है, इसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

आज हमारे^१ मिथ्यात्व और एकदेश अविरति रहित चार कारण हैं।

द्रव्यास्रव —

ज्ञानावरणादी कर्मों के, जो योग्य कहे पुद्गल जग में।

वे आते हैं उनको समझो, द्रव्यास्रव वह हो क्षण-क्षण में।

श्री जिनवर ने द्रव्यास्रव के, हैं भेद अनेकों बतलाए।

वे आठ तथा इस सौ अड़तालिस औ असंख्य भी बतलाए॥३१॥

ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों के योग्य जो पुद्गल वर्गणाओं का आस्रव होता है, वही द्रव्यास्रव है। उसके ज्ञानावरण आदि आठ भेद हैं। इन्हीं आठ के मति ज्ञानावरण आदि १४८ भेद हो जाते हैं। इन्हीं के असंख्यात लोकप्रमाण भी भेद हो जाते हैं।

इन सब आस्रव के कारणों को जानकर मिथ्यात्व, अविरति आदि से दूर हटकर अपनी आत्मा को सम्यग्दृष्टि, व्रती बनाना चाहिए।

भाव बंध और द्रव्य बंध

जिन चेतन के परिणामों से, ये कर्म जीव से बंधते हैं।

उन भावों को ही भावबंध, संज्ञा श्रीजिनवर कहते हैं।

जो कर्म और आतम प्रदेश, इनका आपस में मिल करके।

अति एकमेक हो बंध जाना, यह द्रव्यबंध है बहुविध से॥३२॥

आत्मा के जिन भावों से कर्म बंधता है, वह आत्मा का भाव ही भाव बंध है। कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर में प्रवेश हो जाना — एकमेक हो जाना द्रव्य बंध है।

मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि रूप जो अशुद्ध भाव हैं वे आत्मा में उत्पन्न होते हैं अतः आत्मा ही उनका उपादान कारण है। इन अशुद्ध परिणामों में जो कर्म बंधता है, वह भाव बंध है। भाव बंध के निमित्त से कर्म के प्रदेशों का और आत्मा के प्रदेशों का जो दूध और जल की तरह एक-दूसरे में मिल जाना सो द्रव्य बंध है।

बंध के भेद और कारण—

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग बंध, औ प्रदेश बंध ये चार कहे।

इनमें से योगों के वश से, प्रकृति प्रदेश दो बंध कहे।।

होते कषाय से स्थिति औ, अनुभाग बंध बहु दुखकारी।

इनके ही वश से जीव भ्रमों, अतएव कषाय दुखद भारी।।३३।।

प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध इन भेदों से बंध चार प्रकार का है। इनमें से प्रकृति और प्रदेश बंध योग के निमित्त से होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

प्रकृति का अर्थ है स्वभाव—

ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति यानी स्वभाव क्या है ? जैसे देवता को पर्दा आच्छादित कर देता है — ढक देता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को ढक देता है — प्रगट नहीं होने देता है। यही ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति है — स्वभाव है। ऐसे ही दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन को नहीं होने देता है, जैसे कि द्वारपाल राजा के दर्शन नहीं होने देता है।

वेदनीय कर्म का स्वभाव है सुख-दुःख का वेदन — अनुभव कराना है। जैसे कि शहद से लिपटी हुई तलवार की धार चाटने से कुछ सुख होता है और दुःख अधिक होता है।

मोहनीय कर्म का स्वभाव आत्मा को मोहित कर देने का है। जैसे — मदिरा को पीने वाला मनुष्य हेय-उपादेय के ज्ञान से रहित हो जाता है। आयु कर्म का स्वभाव उस-उस भव में रोके रखने का है। जैसे — बेड़ी मनुष्य को इच्छित स्थान में जाने से रोक देती है।

नाम कर्म का स्वभाव है अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे शरीर के आकार बना देना, जैसे कि चित्रकार अनेक चित्र बना देता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव है, उच्च-नीच बनाना, जैसे कि कुंभार छोटे-बड़े घट आदि बना देता है और अन्तराय का स्वभाव है — दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न डालना। जैसे कि भंडारी राजा को देते हुए रोक कर लेने वाले के लिए विघ्न डाल देता है। इस प्रकार इन आठ कर्मों का प्रकृति बंध अपने नाम के अनुसार कार्य करता है।

जैसे — बकरी, गाय, भैंस आदि का दूध दो प्रहर आदि समय तक अपने मधुर रस में रहता है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशों के साथ जितने काल तक कर्मबंध रहता है, उतने काल को स्थिति बंध कहते हैं। आयु कर्म यदि १०० वर्ष तक बंधा है, तो १०० वर्ष बाद उसके निषेक फल देकर समाप्त हो जाते हैं, तब मरण हो जाता है। यह आयु कर्म का स्थिति बंध है।

जीव के प्रदेशों में स्थित जो कर्मों के प्रदेश हैं, उनमें जो सुख-दुःख देने में समर्थ शक्ति विशेष है उसको अनुभाग बंध कहते हैं। जैसे — बकरी आदि के दूध में कम-अधिक मीठापन, चिकनाई शक्ति रूप अनुभाग कहा जाता है। वह घाति कर्म से संबंध रखने वाली शक्ति लता, काष्ठ, हड्डी और पाषाण के भेद से चार प्रकार की है। उसी तरह अशुभ अघातिया कर्मों में नीम, कांजीर, विष तथा हालाहल रूप से चार प्रकार की है। शुभ अघातिया कर्म प्रकृतियों की शक्ति गुड़, खांड, मिश्री तथा अमृत इन भेदों से चार प्रकार की है।

आत्मा के कर्मों के प्रदेश का आकर चिपट जाना प्रदेश बंध है। एक-एक आत्मा के प्रदेश में सिद्धों से अनंतैक भाग और अभव्य जीवराशि से अनंतगुणे ऐसे अनंतानंत परमाणु प्रत्येक क्षण में बंध को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार प्रदेश बंध का स्वरूप है। बंध के चार भेदों का लक्षण संक्षेप से कहा गया है।

योग से प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं तथा कषाय से स्थिति बंध और अनुभाग बंध होते हैं। निश्चयनय से आत्मा के प्रदेशों में क्रिया नहीं है किन्तु व्यवहारनय से उन आत्मप्रदेशों में जो परिस्पंदन — हलन चलन होता है उसे योग कहते हैं। उस योग से प्रकृतिबंध होता है तथा प्रदेश बंध होता है। आत्मा के शुद्ध गुणों के प्रतिबंधक जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें हैं ये सदा ही आत्मा को कषती हैं, दुःख देती रहती हैं इन कषायों के निमित्त से ही कर्मों में स्थिति — मर्यादा और अनुभाग — सुख दुःख रूप फल देने की शक्ति पड़ती है।

दशवें गुणस्थान तक कषायें रहती हैं अतः वहीं तक स्थिति अनुभाग बंध पड़ता है किन्तु इससे ऊपर वीतराग छद्मस्थ अवस्था में ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में तथा केवलज्ञानी भगवान के तेरहवें गुणस्थान में भी योग के निमित्त से प्रकृति-प्रदेश बंध होता रहता है। फिर भी वहाँ पर स्थिति अनुभाग न पड़ने से वह बंध कार्यकारी नहीं होता है, नाम मात्र का ही है। बंध व्यवस्था को समझने से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ पर मात्र साता प्रकृति का ही बंध होता है वह भी एक समय मात्र का बंध है इसीलिए इसे ईर्यापथ आस्रव संज्ञा दी है। इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये कषायें ही जीवों को संसार में भ्रमण कराने वाली हैं, उनको हटाने का प्रयत्न करना चाहिए किन्तु जब तक कषायों को हटा नहीं सकते, तब तक पुरुषार्थ के बल से उन्हें घटाने का प्रयत्न करना ही चाहिए।

प्रश्न — यहाँ पर कषाय से ही स्थिति, अनुभाग बंध माना है अतः बंध में मिथ्यात्व अकिंचित्कर ही रहा ?

उत्तर — ऐसा नहीं समझना, क्योंकि अनंतानुबंधी कषायों के साथ मिथ्यात्व रहता ही रहता है और उस मिथ्यात्व से सहचरित ही अनंतानुबंधी कषायें अनंत संसार का कारण बनती हैं। जब मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है तब कषायें भी अनंत संसार के लिए कारण ऐसे स्थिति अनुभाग बंध को नहीं करा सकती हैं।

उपशम सम्यक्त्व के काल में यदि कदाचित् किसी के अनंतानुबंधी में से किसी एक का उदय आ जाता है तब वह सम्यक्त्व से गिरकर द्वितीय सासादन गुणस्थान में आ जाता है लेकिन इस गुणस्थान का काल मात्र एक समय से लेकर अधिकतम भी छह आवली प्रमाण है, जो कि सेकेण्ड से भी छोटा है। इसके बाद वह जीव नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में आता ही आता है इसलिए अनंतानुबंधी कषायें मिथ्यात्व की सहचारिणी हैं। अथवा यों कहिये मिथ्यात्वरूपी पति के मर जाने के बाद अनंतानुबंधी कषायें अनंत संसार की सृष्टि परम्परा नहीं चला सकती हैं प्रत्युत् वह भी पति के पीछे सती हो जाती हैं। इस कारण मिथ्यात्व बंध में अकिंचित्कर नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में आचार्य श्री उमास्वामी ने कहा है —

“मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः।^१”

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के कारण हैं। पुनः मिथ्यात्व को बंध के कारणों से कैसे हटाया जा सकता है। श्री कुंदकुंददेव ने भी समयसार ग्रंथ में बंध के चार प्रत्यय — कारण माने हैं —

“मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार आस्रव के भेद हैं। ये चेतन और पुद्गल के विकार अचेतन रूप से दो-दो भेद रूप हैं। उनमें जो चेतन के भावरूप आस्रव हैं, जीव में ही होते हैं, अनेक भेद रूप

हैं तथा जीव से अभिन्न होने से जीव के ही परिणाम हैं। ये चारों आस्रव ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों के बंधने के कारण हैं और इन मिथ्यात्व आदि भावों के लिए भी राग, द्वेष आदि भावों को करने वाला जीव कारण माना गया है।^१ इन गाथाओं के अर्थ से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मिथ्यात्व बंध के लिए कारण है, अकिंचित्कर नहीं है इसलिए किसी भी आगम की गाथा या सूत्र का अर्थ करते समय अन्य ग्रंथों के गाथा सूत्रों पर भी लक्ष्य रखना चाहिए। किसी एक पंक्ति के अर्थ को पकड़कर सिद्धान्त को विसंवाद का विषय नहीं बनाना चाहिए।

भाव संवर और द्रव्य संवर

आत्मा का जो परिणाम हुआ, कर्मों का आस्रव रोकन में।

हेतू होता वह कहा भाव, संवर जावे जिनवर वच में।।

जो द्रव्यास्रव के रोधन में, कारण होता है श्रुतख्याता।

वह कहा द्रव्य संवर जाता, इन दोनों से भव नश जाता।।३४।।

आत्मा का जो परिणाम कर्मों के आस्रव के रोकने में कारण है वह परिणाम ही भावसंवर है और द्रव्यास्रव के रोकने में जो कारण है वह द्रव्य संवर कहलाता है।

निश्चयनय से यह आत्मा स्वयं सिद्ध होने से अन्य कारणों की अपेक्षा से रहित है, अविनाशी होने से नित्य है, परम प्रकाश स्वभाव होने से स्व-पर प्रकाशन में समर्थ है, अनादि-अनंत होने से आदि, मध्य और अन्त रहित है। देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगों की आकांक्षा रूप निदान बंध आदि समस्त रागादिक विभाग मल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल है, परम चैतन्यविलास लक्षण का धारक होने से चित्-चमत्कार स्वरूप है, स्वाभाविक परमानंद स्वरूप होने से सब कर्मों के रोकने में कारण है, ऐसा यह शुद्ध आत्मा परमात्मस्वरूप है। उस परमात्मा के स्वभाव से उत्पन्न हुआ जो शुद्ध चेतन परिणाम है सो भावसंवर है और कारण रूप भावसंवर से उत्पन्न हुआ जो कार्यरूप नवीन द्रव्यकर्मों का आना रुक जाना सो द्रव्यसंवर है।

संवर के विषय में नयों की अपेक्षा घटाते हैं—

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान तक ऊपर-ऊपर मंदता के तारतम्य से अशुद्ध निश्चयनय वर्तता है और उसके मध्य में गुणस्थानों के भेद से शुभ-अशुभ और शुद्ध अनुष्ठानरूप तीन योगों का व्यापार रहता है। मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मंदता से अशुभ उपयोग रहता है। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक और प्रमत्त नामक जो तीन गुणस्थान हैं, इनमें परम्परा से शुद्ध उपयोग या साधक ऐसा शुभ उपयोग रहता है अर्थात् चौथे, पाँचवें और छठें में शुभोपयोग तरतमता से है। तदनंतर अप्रमत्तविरत नामक सातवें गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय तक छह गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एकदेश शुद्धनयरूप शुद्धोपयोग वर्तता है। आगे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण शुद्धनय रूप शुद्धोपयोग है अथवा शुद्धोपयोग का फल है।

इनमें से मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में तो संवर है ही नहीं और सासादन आदि गुणस्थानों में बंध व्युच्छेद त्रिभंगी में कहे हुए कर्म के अनुसार ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों में अधिकता से संवर होता है। उसका

१. मिच्छन्तं अविमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु। बहुबिहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा।।१६४।।

णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होति। तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादि भावकरो।।१६५।। (समयसार)

स्पष्टीकरण ऐसा है कि—

‘मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान में क्रम से १६, २५, ०, १०, ४, ६, १, ३६, ५, १६, ० और ० (शून्य) प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति होती है।’

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन सोलह प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति हो गई है आगे सासादन गुणस्थान में उनका बंध न होने से संवर माना जाता है। आगे-आगे इन प्रकृतियों का बंध रुक जाना ही द्रव्यसंवर है। इन प्रकृतियों के नाम आदि गोम्मतसार कर्मकाण्ड में देखने चाहिए।

इस प्रकार से यहाँ पर अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि बारह गुणस्थानों में अशुभ, शुभ और शुद्धरूप तीनों उपयोगों को घटित कर दिखाया है।

प्रश्न— इस अशुद्ध निश्चयनय में शुद्ध उपयोग किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर— शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो स्व-आत्मा है वह ध्येय होता है। इस कारण शुद्ध ध्येय होने से, शुद्ध अवलंबन होने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है। वह शुद्धोपयोग संसार के कारणभूत मिथ्यात्व, राग आदि अशुद्ध पर्यायों की तरह अशुद्ध न होने से ‘संवर’ इस शब्द से कहा जाता है। इस कारण ही वह अशुद्ध नहीं है तथा फलभूत केवलज्ञानस्वरूप शुद्ध पर्याय की तरह शुद्ध भी नहीं है किन्तु उन अशुद्ध और शुद्ध दोनों पर्यायों में विलक्षण शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप निश्चय रत्नत्रयमय है, मोक्ष का कारण है और वह एकदेश में प्रकट रूप तथा एकदेश में निरावरण ऐसी तीसरी अवस्थान्तर रूप कहा जाता है।

यहाँ तात्पर्य यही है कि आत्मा के जिन परिणामों से कर्मों का आना रुक जाता है, वही भावसंवर है। यह भावसंवर मुनियों के ही होता है। गृहस्थों के मात्र जिनपूजा, गुरुभक्ति आदि के समय अशुभ कर्मों का आना ही रुकता है। इस दृष्टि से उनके अशुभ कर्मों का संवर कहा जाता है।

अब किन-किन कारणों से संवर होता है, सो ही देखिए—

व्रत पाँच समिति भी पाँच गुप्ति, हैं तीन धर्म दशरूप कहे।

अनुप्रेक्षा बारह परिषहजय, बाईस सु चारित पाँच कहे।।

ये कहे भावसंवर जिनने, सब बासठ भेद समझ लीजे।

इनके पालन से आत्मा में, कर्मास्त्रव का रोधन कीजे।।३५।।

व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ये बहुत प्रकार के भावसंवर के विशेष-भेद जानना चाहिए।

यहाँ पर व्रत से महाव्रत ५, समिति ५, गुप्ति ३, धर्म १०, अनुप्रेक्षा १२, परीषहजय २२ और चारित्र ५ ये सब मिलकर ६२ भेद भावसंवर के होते हैं।

अन्यत्र ग्रंथ में संवर के १०८ भेद भी माने हैं। यथा—

३ गुप्ति, ५ समिति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परीषह, १२ तप, ९ प्रायश्चित्त, ४ विनय, १० वैयावृत्य, ५ स्वाध्याय, २ व्युत्सर्ग, १० धर्मध्यान और ४ शुक्लध्यान ये (३+५+१०+१२+२२+१२+९+४+१०+५+२+१०+४=१०८) एक सौ आठ भेद संवर के होते हैं^१।

१. सोलसपणवीसणभं दस चउछक्केक्कबंधवोछिण्णा। दुगतीसचदुरपुव्वे पण सोलह जोगिणो एक्को।। २. तत्त्वार्थवार्तिक, अ. १, सूत्र ७ की टीका।

ये सब संवर के भेद महामुनियों के ही होते हैं। संवर के अनंतर होने वाली निर्जरा के पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भावनिर्जरा-द्रव्यनिर्जरा

जिन परिणामों से यथाकाल, फल देकर पुद्गल कर्म झड़ें।

और जिन भावों से तप द्वारा, फल दें अकाल में कर्म झड़ें।।

बस भावनिर्जरा कहलाता, है भाव वही ऐसा जानो।

है द्रव्यनिर्जरा कर्मों का, झड़ना यह बात सही मानो।।३६।।

यथासमय — उदय काल में फल देकर अथवा तप के द्वारा आत्मा के जिन भावों से कर्म झड़ जाते हैं, वह भाव निर्जरा है और कर्मपुद्गलों का आत्मा से अलग हो जाना द्रव्यनिर्जरा है। इस प्रकार निर्जरा के सविपाक और अविपाक ऐसे दो भेद हैं।

जैसे आम आदि फल अपने समय पर पककर वृक्ष की डाल से गिर जाते हैं, वैसे ही अंतरंग और बहिरंग निमित्त को प्राप्त कर जब कर्म अपने उदय में आकर फल देकर झड़ जाते हैं उसे ही अविपाक निर्जरा कहते हैं तथा जैसे आम आदि फलों को पलाल आदि में रखकर बिना समय के भी पका लिया जाता है, उसी प्रकार असमय में ही कर्मों का फल देकर या बिना फल दिये निर्जीण हो जाना अविपाक निर्जरा है।

प्रश्न — जो सविपाक निर्जरा है वह तो नरक आदि गतियों में अज्ञानियों के भी होती हुई देखी जाती है। इसलिए सम्यग्ज्ञानियों के सविपाक निर्जरा होती है, यह नियम नहीं है ?

उत्तर — यहाँ पर जो संवरपूर्वक निर्जरा होती है उसी को ग्रहण करना चाहिए क्योंकि वही मोक्ष का कारण है किन्तु जो अज्ञानियों के निर्जरा होती है वह तो गजस्नान के समान निष्फल है क्योंकि अज्ञानी जीव थोड़े से कर्मों की तो निर्जरा करता है और बहुत से कर्मों को बाँध लेता है। इस कारण अज्ञानियों की सविपाक निर्जरा को यहाँ नहीं लेना चाहिए।

जो सराग सम्यग्दृष्टियों के निर्जरा होती है वह यद्यपि अशुभ कर्मों का नाश करती है, शुभ कर्मों का नाश नहीं करती है फिर भी जीव की संसार स्थिति को थोड़ा करती है अर्थात् जीव के संसार परिभ्रमण को घटाती है। उसका पुण्य कर्मों का आस्रव भी तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्यबंध का कारण हो जाता है, जो कि परम्परा से मोक्ष का ही कारण है और वीतराग सम्यग्दृष्टियों के पुण्य तथा पाप दोनों का नाश होने पर उसी भव में वह अविपाक निर्जरा मोक्ष का कारण हो जाती है।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्ददेव ने कहा है —

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि, भवसदसहस्सकोडीहिं।

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमित्तेण।।

अज्ञानी जिन कर्मों का एक लाख करोड़ वर्षों में नाश करता है उन्हीं कर्मों को ज्ञानी जीव मन, वचन, काय की गुप्ति द्वारा एक उच्छ्वासमात्र में नष्ट कर देता है।

यहाँ ज्ञानी जीव के लिए जो 'तिहिं गुत्तो' विशेषण दिया है, उससे निर्विकल्प ध्यान करने वाले तीन गुप्ति के धारक महामुनि को ही लिया है। ये मुनि शुक्लध्यानी होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। श्री कुन्दकुन्ददेव की उपर्युक्त गाथा का ही पं. दौलतराम जी ने छहढाला में अनुवाद किया है —

कोटि जन्म तप तपें, ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन माहिं, त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते॥

यहाँ कोई शिष्य प्रश्न करता है —

सम्यग्दृष्टि के वीतराग विशेषण किसलिए लगाया है क्योंकि 'रागादि भाव हेय हैं — त्याज्य हैं, ये मेरे नहीं हैं।' ऐसा भेद विज्ञान हो जाने पर भले ही वह राग का अनुभव करे तो भी उसके ज्ञानमात्र से मोक्ष हो जाता है।

इसका उत्तर आचार्य देते हैं —

अंधकार में दो मनुष्य हैं, एक के हाथ में दीपक है और दूसरा बिना दीपक के है। उस दीपक रहित पुरुष को अंधेरे के कारण न तो कुएँ का पता चलता है और न सर्प आदि का ही पता लगता है इसलिए वह अंधकार में यदि कुएँ आदि में गिर जाता है तो दोष नहीं किन्तु जिसके हाथ में दीपक है तो भी यदि वह मनुष्य देखकर भी कुएँ आदि में गिर जावे तो उसके हाथ में दीपक होने का कोई फल नहीं हुआ। यदि वह अंधकार में दीपक का प्रकाश लेकर कुएँ आदि में गिरने से बचता है, उसके ही दीपक लेने की सार्थकता है। इस दृष्टांत के अनुसार कोई मनुष्य तो 'राग आदि भाव हेय हैं, मेरे नहीं हैं' इस प्रकार के भेद विज्ञान को नहीं जानता है, वह तो कर्मों से बंधता ही है और दूसरा मनुष्य भेद विज्ञान के होने पर भी जितने अंशों से वह रागादि का अनुभव करता है उतने अंशों से वह बंधता ही है अतः उसके रागादि के भेद विज्ञान का भी फल नहीं है और जो राग आदि से भेद विज्ञान होने पर राग आदि भावों का त्याग कर देता है उसी के भेद विज्ञान का फल है, यह समझना चाहिए। कहा भी है —

चक्खुस्स दंसणस्स य सारो, सप्पादि दोस परिहारो।

चक्खू होदि निरत्थं, दट्ठूण विले पडंतस्स^१॥

नेत्रों से देखकर मार्ग में सर्प आदि से बचना ही देखने का फल है और जो नेत्रादि के द्वारा सर्प आदि को देखकर भी सर्प के बिल में पड़ता है, उसके नेत्रों का होना व्यर्थ है।

यही कारण है कि यहाँ 'सम्यग्दृष्टि' में वीतराग विशेषण लगाया है। वीतराग सम्यग्दृष्टि रागादि को हेय जानकर उनसे अपने आपको छुड़ाकर शुद्धोपयोग में स्थित होकर निर्विकल्प समाधि के द्वारा अपने आत्म गुणों का ही अनुभव करता है। ये जीव आठवें गुणस्थान से प्रारंभ कर बारहवें तक होते हैं। इनमें भी पूर्ण वीतराग सम्यग्दृष्टि ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में ही माने गये हैं क्योंकि उन्हीं के सर्वथा रागरूप मोहकर्म का अभाव है। उन्हीं के यथाख्यात चरित्र है अतः उन्हीं का भेद विज्ञान मोक्ष का कारण है। उनसे अतिरिक्त जो सराग सम्यग्दृष्टि हैं, चौथे या पाँचवें गुणस्थान में रहने वाले गृहस्थ हैं उनके लिए वीतराग विशेषण नहीं घटता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि के सराग और वीतराग दो भेद किये हैं। समयसार में श्री जयसेन स्वामी ने कहा है कि जिस सम्यग्दर्शन के स्वामी सरागी हैं उनका सम्यग्दर्शन भी सराग कहलाता है और जिस सम्यग्दर्शन के स्वामी वीतरागी महाध्यानी मुनि हैं, उनका सम्यग्दर्शन वीतराग कहलाता है।

इस निर्जरा तत्त्व के प्रकरण में वीतराग सम्यग्दृष्टि जीवों के जो संवरपूर्वक निर्जरा होती है, वही मुख्यरूप से विवक्षित है क्योंकि आस्रव और बंध तत्त्व संसार के कारण हैं और संवर तथा निर्जरा तत्त्व मोक्ष के लिए कारण है, ऐसा समझना चाहिए।

भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष

जो निज आत्मा का भाव सभी, कर्मों के क्षय में हेतू है।

बस भाव वही है भावमोक्ष, जो अक्षय सुख में हेतू है।।

आत्मा से कर्म पृथक् होना, सो द्रव्य मोक्ष कहलाता है।

बस इसीलिए इन तत्वों का, श्रद्धान कराया जाता है।।३७।।

आत्मा का जो परिणाम सभी कर्मों के क्षय में हेतू है उस परिणाम को ही भाव मोक्ष जानना चाहिए और आत्मा से कर्मों का पृथक् हो जाना ही द्रव्यमोक्ष कहलाता है।

यद्यपि सामान्य रूप से सम्पूर्णतया कर्ममल कलंक रहित, अशरीरी आत्मा के आत्यंतिक, स्वाभाविक, अचिन्त्य, अद्भुत तथा अनुपम सकल, विमल, केवलज्ञान आदि गुणों के स्थानरूप जो एक अवस्थान्तर — भिन्न ही अवस्था है वही मोक्ष कहा जाता है, फिर भी विशेषता से वह मोक्ष दो प्रकार का होता है — भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष।

भावमोक्ष — सर्वद्रव्य, भावरूप मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन चार घातिया कर्मों के नाश का कारण जो निश्चयरत्नत्रयरूप कारण समयसार है, उस रूप आत्मा का परिणाम ही भावमोक्ष है।

द्रव्यमोक्ष — टंकोत्कीर्ण शुद्ध-बुद्ध स्वरूप एक स्वभाव के धारक परमात्मा के आयु आदि शेष चार अघातिया कर्मों का सर्वथा भिन्न हो जाना — नाश हो जाना सो द्रव्यमोक्ष है, यह अयोगकेवली नाम के चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव के अंतिम समय में होता है।

सर्व कर्मों से छूट जाने पर मुक्त जीवों को कैसा सुख होता है ? निज आत्मा रूप उपादान कारण से सिद्ध, स्वयं अतिशययुक्त, बाधा से शून्य, विशाल, वृद्धि-हास से रहित, विषयों से रहित, प्रतिद्वन्द-प्रतिपक्षता से रहित, अन्य द्रव्यों की अपेक्षा से मुक्त, उपमारहित, अपार, नित्य और सर्वकाल में उत्तम तथा अनंतसार युक्त जो परमसुख है, वह इस मोक्ष से उन सिद्धों को हुआ है।

शंका — जो सुख इन्द्रियों से उत्पन्न होता है, उसी का नाम सुख है। सिद्ध जीवों के न इन्द्रियाँ हैं, न शरीर, अतः उन्हें सुख कैसे हो सकता है ?

समाधान — जो सांसारिक सुख है वह तो मधुर भोजन, स्त्री सेवन आदि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से ही उत्पन्न होता है। वह इन्द्रिय सुख कहलाता है किन्तु सिद्धों के अतीन्द्रिय सुख होता है। लोक में भी देखा जाता है कि यदि कोई पुरुष शांतचित्त पाँचों इन्द्रियों के व्यापार से रहित होकर और आकुलतारहित बैठा है, वह अपने आपको सुखी मान रहा है। उसका वह सुख आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है अथवा कोई अच्छे वस्त्र पहनकर या मिष्टान्न, भोजन करके अपने को सुखी मान रहा है किन्तु कोई दूसरा मनुष्य किसी मानसिक वेदना या शारीरिक वेदना से दुःखी है तो वह सुन्दर वस्त्र और सुन्दर भोजन के होने पर भी दुःखी हो रहा है। इससे विपरीत कोई आंतरिक शांति होने से सूखी रोटी और मोटे वस्त्र में भी सुख मान रहा है। इससे मालूम होता है कि बाह्य वस्तुएँ सुख का कारण न होकर सुख का कारण कुछ और ही है। वह है निराकुलता — निश्चिंतता। अतएव सुख आत्मा में ही है वहीं से उत्पन्न होता है न कि बाह्य पदार्थों से। इन्द्रिय तथा विषय आदि तो निमित्तमात्र ही हैं।

इससे अतिरिक्त पाँचों इन्द्रियों से तथा मन से होने वाले विकल्पों से रहित और निर्विकल्प ध्यान में

स्थित परमयोगियों के राग आदि के अभाव में जो स्वसंवेद्य सुख है, वह अपने आत्मा के अनुभव से ही उत्पन्न हुआ आत्मिक सुख है। वह अतीन्द्रिय (कथंचित्-इन्द्रियों से परे) सुख है। जब महायोगियों के निर्विकल्प ध्यान के सुख को अतीन्द्रिय माना है पुनः सिद्धों के तो समस्त भावकर्म तथा द्रव्यकर्म नष्ट हो चुके हैं, ऐसे उन मुक्त जीवों के समस्त आत्मप्रदेशों में आल्हादरूप परमानंदरूप परमसुख होता है, वह अत्यन्त अतीन्द्रिय-परम अतीन्द्रिय सुख कहलाता है।

शंका — संसारी जीवों के निरन्तर कर्मों का बंध होता रहता है और इसी प्रकार सर्वदा कर्मों का उदय भी होता रहता है। इस कारण उनके शुद्ध आत्मा के ध्यान का प्रसंग ही नहीं है, तब मोक्ष कैसे होता है ?

समाधान — जैसे कोई बुद्धिमान मनुष्य अपने शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर अपने मन में विचार करता है कि 'यह मेरे मारने का अवसर है-इस समय यह मेरा शत्रु दुर्बल है अतः यह इसको मार डालने का उपयुक्त अवसर है।' ऐसा सोचकर उद्यम करके वह बुद्धिमान अपने शत्रु को मार डालता है। इसी प्रकार कर्मों की भी सदा एक रूप अवस्था नहीं रहती है। जब कर्मों का स्थितिबंध और अनुभागबंध कम-कम होता है तब कर्म लघु-हल्के रहते हैं, उस समय बुद्धिमान भव्य जीव दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय को नष्ट करने का पुरुषार्थ करता है।

दर्शनमोहनीय को नष्ट करने के लिए आगम भाषा में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और कारण ये पाँच लब्धियाँ मानी गई हैं। इनमें से चार लब्धियाँ तो सामान्य हैं-भव्य अभव्य सभी जीवों के हो सकती हैं किन्तु करणलब्धि विशेष है। उसके होने पर सम्यक्त्व या चारित्र नियम से हो जाता है। अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध आत्मा के सम्मुख जो परिणाम होता है जो कि आत्मा की निर्मल भावना विशेष रूप है, इसी निर्मल परिणामरूप विशेष खड्ग के द्वारा यह भव्य जीव कर्मों को नष्ट करने में समर्थ हो जाता है।

जो अंतः कोड़ाकोड़ी प्रमाण कर्मों की स्थिति रूप तथा लता और काष्ठ के समान अनुभागरूप से कर्मों का भार हल्का हो जाने पर भी अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक भावों रूप पुरुषार्थ को कभी भी नहीं कर सकता है, वह अभव्य है, ऐसा जानना चाहिए अर्थात् करण लब्धि के ही ये तीन भेद हैं। ये दर्शनमोहनीय को नष्ट करने के लिए भी होते हैं तथा चारित्रमोहनीय को नष्ट करने के लिए भी होते हैं। ये करणलब्धिरूप भाव भव्यों के ही होते हैं, अभव्यों के नहीं।

यह पुरुषार्थ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय रत्नत्रय ही है। इसी रत्नत्रय के बल से यह जीव कर्मों को नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

शंका — अनादिकाल से मोक्ष को जाते रहने से यह जगत कभी जीवों से बिल्कुल शून्य हो जायेगा अर्थात् जीव सदा मोक्ष जाते ही रहेंगे, तो एक न एक दिन यह जगत जीवों से रहित हो ही जायेगा ?

समाधान — जैसे क्रम से व्यतीत होते हुए समय भविष्यत् काल के समय हैं उनसे यद्यपि भविष्यत् काल के समयों की राशि में कमी होती है। फिर भी उस समय की राशि का अंत कभी भी नहीं होगा। इसी प्रकार मुक्ति में जाते हुए जीवों से यद्यपि जगत में जीवराशि की न्यूनता होती है तो भी उस जीवराशि का अंत कभी भी नहीं होगा। यही कारण है कि पूर्व के अतीतकाल में अनंतानंत जीव सिद्ध हो चुके हैं फिर भी इस समय जीवों की शून्यता नहीं देखी जाती है। आज भी जगत में जीव अनंतानंत ही हैं और भविष्य में भी अनंतानंत ही रहेंगे। चूँकि संसार में यह जीव राशि अक्षय अनंत कही गई है। दूसरी बात यह है कि अभव्य जीव और अभव्य के समान ही दूरानुदूर भव्य जीव ये कभी मोक्ष जाते नहीं हैं अतः इनसे भी संसार खाली

नहीं होने से सदा भरा ही रहता है। फिर जगत की शून्यता कैसे हो सकती है।

शंका — जब संसार में जीव के साथ कर्मों का संबंध अनादिकाल से है। उसकी आदि कभी नहीं थी तो पुनः उन कर्मों का अंत भी कैसे हो सकता है। जैसे कि सुमेरु पर्वत आदि अकृत्रिम वस्तुएँ अनादि हैं तो अनंत हैं। इनका अंत भी कभी नहीं माना है ?

समाधान — जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज होते रहने से बीज वृक्ष की परम्परा अनादि है, फिर भी यदि आज कोई बीज को जला दे तो पुनः उसका वृक्ष न उग सकने से उस बीज के वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार यद्यपि जीव के साथ कर्मबंध की परम्परा अनादि है फिर भी एक बार रत्नत्रय को धारण कर ध्यानरूपी अग्नि से कर्मों के बीजभूत कार्माण शरीर को या मोहनीय कर्म को अथवा सर्व कर्मों को ही जला देने से पुनः कर्मबंध की परम्परा समाप्त हो जाती है अतः जैसे बीज की परम्परा अनादि होने पर अंत हो जाता है उसी प्रकार जीव के साथ कर्मों की बंध परम्परा अनादि होने पर उसका अंत होना माना जाता है। यह जीव और कर्म का संबंध जैसे अनादि होकर भी शांत है वैसे सुमेरु पर्वत आदि नहीं है। (ये अनादि अनंत ही हैं) इस प्रकार से यह मोक्ष पदार्थ का संक्षिप्त वर्णन हुआ है।

पुण्य-पाप पदार्थ

शुभ भाव सहित ये जीव नियम से, पुण्यरूप हो जाते हैं।

और अशुभ भाव से पापरूप, मिल नव पदार्थ कहलाते हैं।।

साता प्रकृति शुभ आयु नाम, शुभगोत्र सुपुण्य प्रकृतियाँ हैं।

इनसे उलटी जो अशुभ आयु, नामादिक पाप प्रकृतियाँ हैं।।३८।।

शुभ और अशुभ भावों से सहित जीव नियम से पुण्यरूप और पापरूप होते हैं। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र, ये पुण्यरूप हैं, इनसे भिन्न शेष कर्म पापरूप होते हैं।

पुण्य और पाप ये दो पदार्थ हैं, ये भी भाव और द्रव्य की अपेक्षा दो-दो भेदरूप हैं। भाव पुण्य, द्रव्य पुण्य तथा भाव पाप और द्रव्य पाप। पुण्य भावों से सहित जीव पुण्य जीव हैं और पाप भावों से सहित जीव पाप जीव हैं तथा पुण्य रूप कर्म प्रकृतियाँ द्रव्य पुण्य हैं और पापरूप प्रकृतियाँ द्रव्य पाप हैं। यही अर्थ गाथा में विवक्षित है। इसीलिए यहाँ आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने —

सुह असुहभावजुत्ता पुण्यं पावं हवन्ति खलु जीवा।

अर्थात् शुभ-अशुभ भावों से युक्त जीव ही पुण्य और पाप जीव कहलाते हैं, ऐसा कहा है।

शुभ उपयोग रूप पुण्य भावों का लक्षण बतलाते हैं —

हे भव्य जीव ! तुम मिथ्यात्वरूपी विष का वमन करो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो, भाव नमस्कार मंत्र में लीन रहो और सदा ही ज्ञान में अपना उपयोग लगाओ अर्थात् अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी बनो। पाँच महाव्रतों की रक्षा करो, क्रोध आदि कषायों का पूर्णरूप से निग्रह करो, प्रबल इन्द्रिय शत्रुओं को जीतो तथा बाह्य अभ्यंतर तप की सिद्धि के लिए उद्योग करो।

इन सर्व क्रियाओं का करना ही शुभोपयोग रूप परिणाम है। इन भावों से सहित जीव ही पुण्य जीव होते हैं अथवा इन्हीं भावों को भाव पुण्य कहते हैं। इनसे विपरीत मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदि के भाव ही पाप परिणाम होने से अशुभोपयोग कहलाते हैं। इनसे युक्त जीव पाप जीव हैं अथवा वे पापरूप भाव ही भाव पाप

कहलाते हैं।

पुण्य-पाप जीवों का वर्णन अन्यत्र भी आया है —

‘जीव के दो भेद हैं — एक पुण्य जीव, दूसरे पाप जीव। जो सम्यक्त्व गुण से या व्रत से युक्त हैं उनको पुण्यजीव कहते हैं और इनसे जो विपरीत हैं वे पाप जीव हैं।’

अब द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप का वर्णन करते हुए कर्म प्रकृतियों को दो रूप से विभाजित करते हैं —

साता वेदनीय, तिर्यच, मनुष्य और देवायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देव गत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ३ अंगोपांग, शुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श इनके २० भेद, समचतुरस्र संस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन, अगुरुलघु, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, निर्माण, त्रस, बादर, प्रत्येक, पर्याप्त, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थकर ये ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरूप मानी गई हैं।

इनसे विपरीत ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, मोहनीय की २८ और अंतराय की ५ ये घातिकर्म की ४७, असातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, अशुभ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के २० भेद, प्रथम संस्थान से अतिरिक्त पाँच संस्थान, प्रथम संहनन से अतिरिक्त ५ संहनन, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशस्कीर्ति ये १०० प्रकृतियाँ पापरूप हैं।

इनमें जो वर्णादि २० भेद हैं, वो शुभ और अशुभ दोनों रूप होने से दोनों में गिनाये गये हैं चूँकि कर्म प्रकृतियाँ कुल १४८ ही हैं। पुण्य प्रकृतियों का फल शुभ रूप होता है इसीलिए इन्हें पुण्य प्रकृति, शुभ प्रकृति या प्रशस्त प्रकृति कहते हैं तथा पापरूप प्रकृतियाँ दुःखरूप फल देने वाली हैं इसीलिए इन्हें पाप प्रकृति, अशुभ प्रकृति या अप्रशस्त प्रकृति कहते हैं। इनमें भी तिर्यचगति को तो पाप प्रकृतियों में लिया है और तिर्यचायु को पुण्य प्रकृतियों में। इसका कारण यही है कि तिर्यचगति में कोई जाना नहीं चाहता है अतः वह पाप प्रकृति है तथा वहाँ जाकर कोई मरना नहीं चाहता है अतः तिर्यच आयु को पुण्यरूप में गिनाया गया है।

१. दर्शनविशुद्धि, २. विनयसम्पन्नता, ३. अतिचार रहित शील व्रतों का आचरण, ४. निरन्तर ज्ञान उपयोग, ५. संवेग, ६. शक्ति अनुसार त्याग, ७. शक्ति अनुसार तप, ८. साधुसमाधि, ९. वैयावृत्य करना, १०. अर्हंत की भक्ति, ११. आचार्य की भक्ति १२. बहुश्रुत (उपाध्याय) की भक्ति, १३. प्रवचन की भक्ति १४. आवश्यक क्रियाओं में हानि न करना, १५. मार्गप्रभावना और १६. प्रवचनवात्सल्य ये सोलहकारण भावनाएँ तीर्थकर प्रकृति के बंध के लिए कारण हैं। इन भावनाओं से उत्पन्न तीर्थकर नामकर्म विशिष्ट पुण्य है। इन सोलह भावनाओं में २५ मलदोष रहित सम्यग्दर्शन की भावना ही दर्शनविशुद्धि नाम की प्रथम भावना है, वह अवश्य होना चाहिए। ३ मूढ़ता, ८ मद, ६ अनायतन और शंकादि ८ दोष ये सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले होने से २५ मल दोष कहलाते हैं।

जो सम्यग्दर्शन २५ मल दोषों से रहित है तथा निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, इस प्रकार की अध्यात्म रुचिरूप है, वह सम्यग्दर्शन ही आगे की सब भावनाओं में प्रधान है। ये सब भावनाएँ भी पुण्यरूप ही हैं।

शंका — सम्यग्दृष्टि जीव के तो पुण्य तथा पाप ये दोनों त्याज्य हैं, फिर भला वह पुण्य कैसे करेगा ?

१. जीवदुर्ग उत्तुङ्ग, जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा। वदसहिदावि य पावा, तच्चिवरीया भंतित्ति॥६२॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ४१, ४२, ४३, ४४ तक।

समाधान — जैसे कोई मनुष्य अन्य देश में विद्यमान किसी मनोहर स्त्री के पास से आए हुए मनुष्यों का उस स्त्री की प्राप्ति के लिए दान, सन्मान आदि करता है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी निज शुद्ध आत्मा को ही भाता है परन्तु जब तक चारित्र्यमोह के उदय से उस निज शुद्ध आत्मा की भावना में असमर्थ होता है तब तक दोष रहित परमात्मस्वरूप अर्हत, सिद्धों का और उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओं की भक्ति करता है। चूँकि वह स्वयं परमात्मपद की प्राप्ति के लिए और भोगों की वांछा आदि से रहित जो परिणाम हैं, उनसे कुटुम्बियों को पलाल (भूसा) के समान समझकर निस्पृहरूप से विशिष्ट पुण्य का आस्रव करता है। जैसे किसान जब चावलों की खेती करता है तब उसका मुख्य उद्देश्य चावल पैदा करने का रहता है और चावलों का पलाल जो घास है उसमें उसकी इच्छा नहीं रहती, तो भी उसको बहुत सा पलाल मिल ही जाता है। इसी प्रकार मोक्ष को चाहने वालों को बिना वाँछा भी भक्ति करने से पुण्य का आस्रव होता है पुनः उस पुण्य से स्वर्ग में इन्द्रपद, लौकांतिक देव आदि की विभूति प्राप्त हो जाती है फिर भी वह भव्य जीव स्वर्ग संबंधी जो देव विमान और देव-देवियों का परिवार है उन सबको जीर्ण तृणवत् समझता हुआ पंच महाविदेहों में जाकर देखता है —

‘यह वही समवसरण है, ये वो ही वीतराग सर्वज्ञ भगवान हैं, ये वे ही भेद-अभेद रत्नत्रय की आराधना करने वाले गणधर आदि देव हैं जिनका कि वर्णन मैंने पहले शास्त्रों में पढ़ा था। इन सबको आज मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।’ वह ऐसा मानकर अधिक रूप से धर्म में बुद्धि को दृढ़ करके चौथे गुणस्थान के योग्य जो अविरत अवस्था है, उसमें रहते हुए भी सम्यक्त्व और धर्मप्रेम को न छोड़ते हुए भोगों का सेवन करने पर भी धर्मध्यान के बल से देव आयु के काल को पूर्ण कर स्वर्ग से आकर तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त कर लेता है। वह यहाँ मनुष्य भव में आकर पूर्व जन्म में भावित सम्यक्त्व आदि तथा भेद विज्ञान की वासना के बल से मोह को प्राप्त नहीं होता है प्रत्युत जैनैश्वरी दीक्षा लेकर घोरतिघोर तपश्चरण के द्वारा पुण्य-पाप से रहित शुद्ध निज परमात्मध्यान के द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

जो मिथ्यादृष्टि हैं वे तीव्र निदान बंध के पुण्य से चक्रवर्ती, नारायण तथा रावण आदि प्रतिनारायणों के समान भोगों को भोगकर नरक चले जाते हैं। इस प्रकार से सम्यग्दृष्टि का जो पुण्य है वह परम्परा से मोक्ष का कारण है तथा मिथ्यादृष्टियों का पुण्य संसार के अनेक सुख देकर भी दुर्गति का कारण बन जाता है। चूँकि वे भोगों में ही मरकर नरकगति-तिर्य्यचगति में चले जाते हैं। कदाचित् मिथ्यादृष्टि जीव भी पुण्य करके परिणामों को उज्ज्वल बनाकर आगे सम्यक्त्व और व्रतों को ग्रहण करने में सक्षम हो जाते हैं अतः पुण्य सर्वथा हेय नहीं है।

पाप कार्य तो सर्वथा हेय ही हैं। इनको करने वाले जीव दुर्गति में जाकर अनंतकाल तक एकेन्द्रिय आदि नरक निगोदों के दुःख उठाया करते हैं। इस प्रकार से पापों से डरकर पुण्य कार्य करते रहना चाहिए और सम्यक्त्व तथा व्रतों के लिए प्रयास करना चाहिए। यदि प्राप्त कर लिया है तो उसमें प्रमाद नहीं करना चाहिए, अगले भव तक ले जाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

इन पुण्य-पाप पदार्थों को जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों में मिला देने से नव पदार्थ हो जाते हैं। उन्हीं नव पदार्थों का प्रकरण अब यहाँ पूर्ण किया जाता है। यह आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के द्वारा रचित द्रव्य संग्रह ग्रंथ के आधार से है तथा श्री ब्रह्मदेव विरचित टीका के आधार से इसमें कुछ विस्तार भी लिया गया है।

॥ द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ ॥

तृतीय अधिकार व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग

सम्यग्दर्शन औ ज्ञान चरित, ये मुक्ती के कारण जानो।

व्यवहारनयापेक्षा कहना, तीनों के लक्षण पहचानो।।

इन रत्नत्रयमय निज आत्मा, निश्चयनय से शिव का कारण।

इन उभय नयों के समझे बिन, नहीं होता शिवपथ का साधन।।३९।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये व्यवहारनय से मोक्ष के कारण हैं और निश्चयनय से इन रत्नत्रय से परिणत हुई अपनी आत्मा ही मोक्ष का कारण है, ऐसा तुम जानो।

यहाँ पर व्यवहारनय भेद को विषय करने वाला है न कि अभूतार्थ को, चूँकि यह भेद रत्नत्रय ही अभेद रत्नत्रय का साधन है। वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थ इनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इनका जानना-समझना सम्यग्ज्ञान है और व्रत आदि को धारण करना सम्यक् चारित्र है, यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

अपने निरंजन शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धान, उसी का ज्ञान, उसी में तन्मयता — एकाग्र परिणति, वही हुआ चारित्र, यह अभेदरत्नत्रय है, यही निश्चयमोक्षमार्ग है अथवा यों समझिये कि स्वर्णपाषाण को शुद्ध करने के लिए जैसे अग्नि साधक है — कारण है, वैसे ही अशुद्ध आत्मा को शुद्ध करने के लिए व्यवहाररत्नत्रय साधन है। सुवर्ण के सदृश निर्विकार स्वात्मा की उपलब्धि को प्राप्त कराने वाला निश्चयरत्नत्रय है। यही मोक्षमार्ग है, यह साध्य है। इस एक गाथा में ही पूर्वार्ध में व्यवहार और उत्तरार्ध में निश्चय मोक्षमार्ग बतला दिया है।

अब आचार्य कहते हैं कि अभेदरूप से अपनी शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप है इसलिए निश्चय से आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है अथवा पूर्वकथित निश्चयमोक्षमार्ग को अन्य प्रकार से कहते हैं —

आत्मा को छोड़ न रह सकता, यह रत्नत्रय परद्रव्यों में।

अतएव इन्हीं रत्नत्रयमय, आत्मा ही हेतू मुक्ती में।।

निज शुद्ध चिदात्मा की श्रद्धा, सुज्ञान उसी में रत होना।

यह निश्चय रत्नत्रय होता, एकाग्रमयी परिणति होना।।४०।।

आत्मा को छोड़कर रत्नत्रय अन्य द्रव्यों में नहीं रहता है इसलिए उन रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्ष का कारण होता है। इस हेतु से आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है।

रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित चित्त्वमत्कार भाव से उत्पन्न मधुर रसास्वाद सुख का अनुभव करने वाला “मैं” हूँ, इस प्रकार निश्चय से दृढ़ श्रद्धानरूप भाव निश्चय सम्यग्दर्शन है, अपने स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा समस्त विभावों से पृथक् उसी सुख का अनुभव करना निश्चय का जानना सम्यग्ज्ञान है और देखे, सुने तथा अनुभव में आये हुए जो भोगों की आकांक्षा आदि समस्त अपध्यानरूप मनोरथ, इन मनोरथों से उत्पन्न हुए नाना संकल्प विकल्प समूह, इन सबका त्याग करके उसी स्वात्मसुख में रत हुए — संतुष्ट हुए — तृप्त हुए आत्मा में एकाकारस्वरूप परम समरसी भाव से द्रवीभूत चित्त का पुनः-पुनः स्थिर होना सो निश्चय सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार लक्षण वाला जो निश्चय रत्नत्रय है वह शुद्धात्मा को छोड़कर अन्य बाह्य द्रव्यों में नहीं रहता है इसलिए अभेदनय से वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, वह आत्मा

ही सम्यक्चारित्र है और वह आत्मा ही स्वात्मतत्त्व है। इस प्रकार उपर्युक्त निश्चय रत्नत्रय लक्षण से युक्त अपनी शुद्ध आत्मा ही मुक्ति का कारण है अर्थात् यह निश्चय रत्नत्रयस्वरूप शुद्धात्मा ही अथवा शुद्धोपयोग ही निश्चय मोक्षमार्ग है, ऐसा समझो।

सम्यक्त्व

अब सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं—

जीवादी तत्त्वों की श्रद्धा, करना सम्यक्त्व कहाता है।

वह आत्मा का ही है स्वरूप, जो निज में निज को पाता है।।

जिसके होने पर निश्चित ही, संशय आदिक से रहित ज्ञान।

सम्यक् हो जाता है उसको, सम्यग्दर्शन समझो महान्॥४१॥

जिसके होने पर ज्ञान दुरभिप्राय रहित समीचीन हो जाता है, ऐसा जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है जो कि आत्मा का स्वरूप ही है अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है, उसके पूर्व नहीं।

वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे हुए शुद्ध जीवादि तत्त्वों का चल, मलिन, अगाढ़ दोष रहित जो श्रद्धान है, रुचि है, निश्चय है वही सम्यग्दर्शन है। वही 'तत्त्व यही है, ऐसा ही है' इस प्रकार की निश्चयबुद्धि रूप होता है। इस सम्यक्त्व के होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। वह सम्यग्ज्ञान संशय, विमोह और विभ्रम से रहित होता है। सामने किसी सूखे टूट को देखकर दूर से न पहचान कर 'यह पुरुष है या टूट' ऐसे चलायमान ज्ञान को संशय कहते हैं। सीप के टुकड़े में चांदी के ज्ञान की तरह जो विपरीत ज्ञान है, वह विमोह है तथा चलते हुए पैर में तृण का स्पर्श हो जाने पर 'यह क्या है ?' जो ऐसा अनिर्णीत ज्ञान है वह विभ्रम या अनध्यवसाय कहलाता है, ज्ञान के ये तीन दोष हैं। इनसे रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होते ही ये तीनों दोष निकल जाते हैं, इस हेतु से वह पूर्व का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान बन जाता है। इसका उदाहरण प्रसिद्ध है—

गौतम, अग्निभूति और वायुभूति नाम के तीन ब्राह्मण थे। ये पाँच-पाँच सौ ब्राह्मण शिष्यों के उपाध्याय थे। चार वेद, ज्योतिष्क, व्याकरण आदि छह अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृतिशास्त्र, भारत आदि अठारह पुराण और मीमांसा, न्याय आदि इन सभी लौकिक शास्त्रों को यद्यपि जानते थे फिर भी उनका ज्ञान सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञान ही था। ये तीनों ही जब वर्धमान स्वामी तीर्थंकरदेव के समवसरण में पहुँचे, वहाँ मानस्तंभ के दर्शन से ही मान के गलित हो जाने पर आगमभाषा में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षय हो जाने से और अध्यात्म भाषा में अपनी शुद्ध आत्मा के अभिमुख परिणाम से कालादि लब्धि के मिल जाने पर मिथ्यात्व नष्ट हो गया, उसी समय उनका मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया।

इसके बाद 'जयति भगवान्' इत्यादि चैत्यभक्ति पढ़कर नमस्कार करके उसी क्षण जैनेश्वरी दीक्षा लेकर केशलोच के अनंतर ही मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय इन चार ज्ञान और सात ऋद्धियों से सम्पन्न होकर ये तीनों ही भगवान के गणधर हो गये। इनमें से श्री गौतमस्वामी प्रथम गणधर थे, इन्होंने भव्य जीवों के उपकार हेतु द्वादशांग श्रुत की रचना की है। अनंतर ये तीनों ही निश्चयरत्नत्रय की भावना से मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं। इनके पन्द्रह सौ ब्राह्मण शिष्य भी जैनेश्वरी दीक्षा लेकर यथासंभव स्वर्ग-मोक्ष को प्राप्त कर चुके हैं किन्तु अभव्यसेन मुनि ग्यारह अंग का पाठी होते हुए भी सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञानी हो रहा है। इसी प्रकार

सम्यक्त्व के माहात्म्य से ज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम और ध्यान आदि मिथ्यारूप भी समीचीन हो जाते हैं और सम्यक्त्व के अभाव में विषमिश्रित दूध के समान सभी ज्ञान, चारित्र आदि मिथ्या ही रहते हैं।

वह सम्यग्दर्शन पच्चीस मल दोष रहित होना चाहिए। देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और समयमूढ़ता ये तीन मूढ़ता हैं। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और रूप इन आठों का आश्रय लेकर घमण्ड करना मद है। इन आठ के भेद से मद के भी आठ भेद हो जाते हैं। मिथ्यादेव, मिथ्यातप, मिथ्याशास्त्र तथा इनके तीनों के आराधक ये छह अनायतन कहलाते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ शंकादि दोष हैं। इस प्रकार ३ मूढ़ता, ८ मद, ६ अनायतन और ८ शंकादि दोष ये पच्चीस मल दोष हैं, ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले हैं, सरागसम्यग्दृष्टि के लिए ये छोड़ने योग्य हैं, यही सराग सम्यक्त्व ही व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है।

इस सराग सम्यक्त्व के द्वारा ही वीतराग नाम का निश्चय सम्यक्त्व साध्य है। वह शुद्धोपयोग नामक वीतराग चारित्र के साथ ही होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन से ही निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जाता है। इन दोनों में साध्य-साधन भाव है।

सम्यग्दर्शन से पूर्व यदि आयु बंध नहीं हुआ है तो उस सम्यग्दृष्टि के भले ही व्रत, चारित्र नहीं हैं तो भी वह मरकर नरक, तिर्यचगति में जन्म नहीं लेता है, स्त्रीवेद और नपुंसकवेदी नहीं होता है, नीच कुल में जन्म नहीं लेता है, विकृत अंग वाला नहीं होता है, अल्पायु और दरिद्री भी नहीं होता है तथा भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में भी जन्म नहीं लेता है। स्वर्गों में भी प्रकीर्णक, आभियोग्य — वाहनदेव और किल्बिषक देवों में भी जन्म नहीं लेता है और यदि पहले से नरक, तिर्यच या मनुष्य की आयु बांध ली है बाद में सम्यक्त्व — क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो वह नरकों में से पहले नरक में ही जाता है। तिर्यचों में भोगभूमि का तिर्यच होता है और मनुष्यों में भी भोगभूमि का मनुष्य ही होता है इसलिए सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर विदेहक्षेत्र में कर्मभूमि का मनुष्य नहीं हो सकता है यह नियम है।

इस प्रकार यहाँ सम्यक्त्व का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

सम्यग्ज्ञान

संशय विपरीत तथा विभ्रम, इन दोषों से वर्जित होकर।

अपने स्वरूप औ परस्वरूप को, ग्रहण करे निश्चित होकर।।

सविकल्परूप बहुभेद सहित, वह सम्यग्ज्ञान कहाता है।

जो स्वपर प्रकाशी ज्ञान सदा, निज पर का भान कराता है।।४२।।

आत्मा के स्वरूप का और पर के स्वरूप का संशय, विपरीत और अनध्यवसाय रहित ग्रहण करना — जैसे को तैसा जानना सो सम्यग्ज्ञान है, जो कि साकार — सविकल्प और अनेक भेद सहित है।

शुद्ध आत्मतत्त्व आदि के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र 'ज्ञान' कहलाते हैं। यहाँ पर कारण में कार्य का उपचार करके शास्त्रों को ही ज्ञान कह दिया है। वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे गये पदार्थ सत्य हैं या अन्यमतियों द्वारा कहे गये पदार्थ सत्य हैं ? इस प्रकार का विचार संशय है। परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नयों के अनुसार द्रव्य, गुण और पर्यायों को नहीं जानना विमोह है, इसी का नाम अनध्यवसाय है। जैसे रास्ते में चलते हुए तृण आदि का स्पर्श हो जाने पर 'कुछ लगा' परन्तु क्या लगा यह स्पष्ट नहीं हुआ है। अनेकांतात्मक

वस्तु को 'यह नित्य ही है यह अनित्य ही है' ऐसा एकांतरूप निर्णय कर लेना विभ्रम है, इसे ही विपरीत कहते हैं, जैसे सीप को चाँदी समझ लेना।

इन तीन दोष रहित अपने और पर के स्वरूप का जानना सम्यग्ज्ञान है। सहज, शुद्ध केवलज्ञान दर्शन स्वभाव यह आत्मा का स्वरूप है, संसारी जीव संबंधी द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ये सब औपाधिक भाव हैं। पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अचेतन हैं, इत्यादि परद्रव्यों का स्वरूप आत्मा से भिन्न है, यह सब जानना सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान साकार अर्थात् निश्चयरूप है और अनेक भेद-प्रभेद वाला है।

सम्यग्ज्ञान के भेद—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये ज्ञान के पाँच भेद हैं अथवा श्रुतज्ञान की अपेक्षा अंग और अंगबाह्य ऐसे दो भेद हैं।

इनमें भी अंग के बारह भेद हैं—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग और दृष्टिवादांग ये द्वादश अंगों के नाम हैं। इनमें से अंतिम दृष्टिवाद अंग के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पाँच भेद हैं। परिकर्म भी चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति के भेद से पाँच प्रकार का है। सूत्र और प्रथमानुयोग में भेद नहीं हैं। पूर्वगत के १४ भेद हैं—उत्पादपूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणानुवाद, क्रियाविशाल और लोकसार ये १४ पूर्वों के नाम हैं। चूलिका के भी जलगता, स्थलगता, आकाशगता, मायागता और रूपगता ये पाँच प्रकार हैं। ये सब भेद बारहवें अंग के अन्तर्गत हैं।

अंगबाह्य के १४ भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैयर्थिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक और अशीतिक, इन्हें चौदह प्रकीर्णक भी कहते हैं। ये अंग और अंगबाह्य की अपेक्षा श्रुतज्ञान के भेद हैं अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोग या चार वेदरूप श्रुतज्ञान है। जिसमें तीर्थंकर आदि महापुरुषों का चरित कहा जाता है वह प्रथमानुयोग है। जिसमें लोक का कथन है वह करणानुयोग है। जिसमें मुनि और श्रावकों के धर्म का कथन है वह चरणानुयोग है और जिसमें द्रव्यों का कथन किया जाता है वह द्रव्यानुयोग है।

अथवा निश्चयज्ञान और व्यवहारज्ञान की अपेक्षा ज्ञान के दो भेद हैं। उनमें से व्यवहार ज्ञान हेय और उपादेय रूप दो प्रकार का है। छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नवपदार्थ इनमें निश्चयनय से अपना शुद्ध आत्मद्रव्य, शुद्ध जीवास्तिकाय, शुद्ध जीवतत्त्व और निज शुद्ध आत्मपदार्थ ही उपादेय है। इनके सिवाय शुद्ध-अशुद्ध, अन्य जीव, अजीव आदि सभी हेय हैं, इत्यादि प्रकार से तत्त्व हेय और उपादेय रूप से जानने योग्य है।

माया, मिथ्या और निदान शल्यरूप विभाव परिणाम आदि समस्त शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प से रहित, परम निज स्वभाव के अनुभव से उत्पन्न, परमानन्द सुखामृत से तृप्त अपनी आत्मा के द्वारा जो निज स्वरूप का संवेदन—अनुभव है, वही निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान निश्चयज्ञान है।

यह निश्चयज्ञान व्यवहारज्ञान के द्वारा ही साध्य है अतः व्यवहारज्ञान साधन है, यहाँ ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के भेदों का संक्षेप से नाममात्र कथन किया है। विस्तार से सम्पूर्ण वाङ्मय

सम्यग्ज्ञान ही है, उसे श्रुतकेवली ही जानते हैं। अब दर्शन का लक्षण कहते हैं—

जो भावों का आकार नहीं, करके सामान्य ग्रहण होता।

अर्थों में नहीं विशेष करे, वह दर्शन नाम कहा जाता।।

जिनशासन में इस विध से यह, दर्शन उपयोग कहा जाता।

भावों की सत्ता का ग्राहक, यह निराकार समझा जाता।।४३।।

पदार्थों में विशेषता — भेद नहीं करके और उनके आकार को ग्रहण नहीं करके जो पदार्थ का सामान्य सत्तामात्र ग्रहण करना है, वह जैन आगम में 'दर्शन' इस नाम से कहा जाता है।

'यह सफेद है, यह काला है, यह छोटा है, यह बड़ा है' इत्यादि विकल्प न करके जो पदार्थों की सत्ता का प्रतिभास होता है, वह दर्शन है यह निराकार-निर्विकल्प होता है। यह तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन नहीं है चूँकि यह सभी जीवों में पाया जाता है। इसके चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद हैं। यह दर्शन कब किनको होता है ?

दर्शनपूर्वक ही ज्ञान सदा, छद्मस्थजनों को होता है।

इसलिए नहीं युगपत् दोनों, उपयोग उन्हीं के होता है।।

पर केवलियों भगवन्तों के, युगपत् दोनों उपयोग रहें।

वे लोकालोक प्रकाशी जिन, बस एक समय में सर्व रहें।।४४।।

छद्मस्थ — अल्पज्ञानियों के पहले क्षण में दर्शन पुनः ज्ञान इस प्रकार दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि उनके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं किन्तु केवली भगवान के दोनों उपयोग एक साथ होते हैं।

चक्षुदर्शन या अचक्षुदर्शनपूर्वक मतिज्ञान होता है और मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। अवधिदर्शनपूर्वक अवधिज्ञान होता है तथा केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ प्रगट होते हैं।

श्रुतज्ञान दो तरह का है — लिंगत्र और शब्दज। एक पदार्थ को जानकर उसके द्वारा जो दूसरे पदार्थ का जानना है वह लिंगज श्रुतज्ञान है और शब्दों के सुनने से जो ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान है। यहाँ श्रुतज्ञान को उत्पन्न करने वाला अवग्रह मतिज्ञान है और मनःपर्यय ज्ञान को उत्पन्न करने वाला ईहा मतिज्ञान है। यह अवग्रह, ईहा मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक ही होता है अतः वह मतिज्ञान भी उपचार से दर्शन कहलाता है। इस कारण श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को भी दर्शनपूर्वक ही जानना चाहिए।

छद्मस्थ जीव ज्ञानावरण आदि के आवरण से सहित अल्पज्ञानी हैं। इस कारण उनको पहले दर्शन होता है पुनः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा आदि रूप ज्ञान होता है। केवली भगवान का ज्ञान क्षायिक है, जैसे — मेघपटल के हट जाने पर सूर्य के प्रगट होते ही आतप और प्रकाश एक साथ होते हैं वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण के नष्ट होते ही उनके केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ प्रगट हो जाते हैं, ऐसा समझना, क्योंकि केवली भगवान एक समय में एक साथ सम्पूर्ण लोक-अलोक और चराचर पदार्थों को देख भी लेते हैं और जान भी लेते हैं। यह केवली भगवान का ही माहात्म्य है।

इस प्रकार सामान्य ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान ही सम्यक्त्व के प्रगट होने पर सम्यग्ज्ञान हो जाता है वही मति, श्रुतरूप समीचीन ज्ञान चारित्र के बल से अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान हो जाता है पुनः वही ज्ञान चारित्र के विशेष भेद शुक्लध्यान को प्राप्त कर केवलज्ञान बन जाता है। ज्ञान स्वयं में पंगु के समान है, जब

सम्यक्त्व का अवलंबन मिलता है तब वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है और जब चारित्र का आश्रय मिलता है तब वह केवलज्ञान रूप महान पूर्ण ज्ञान बन जाता है।

सम्यक्चारित्र

जो अशुभ क्रियाओं से विरती, औ शुभ में सदा प्रवृत्ति है।

उसको ही तुम चारित जानो, वह व्रत समिति औ गुप्ती है।।

इन रूप चरित्र कहा जिनने, व्यवहारनयापेक्षा समझो।

इन बिन निश्चय चारित्र न हो, इसलिए इन्हें साधन समझो।।४५।।^१

अशुभ क्रियाओं से विरक्त होना और शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना चारित्र है जो कि व्रत, समिति और गुप्ति रूप है, ऐसा तुम जानो। यह चारित्र व्यवहारनय की अपेक्षा से जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित है।

मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक है। उसमें चारित्र तीसरा अवयव है जो कि सम्यग्दर्शन, ज्ञानपूर्वक होता है। उस चारित्र के भी वीतराग चारित्र और सराग चारित्र ऐसे दो भेद हैं। अपनी शुद्ध आत्मा की अनुभूतिरूप शुद्धोपयोग लक्षण वीतराग चारित्र है। उसका परम्परा से साधक सराग चारित्र है, जो व्रत, समिति और गुप्ति से तेरह प्रकार का है।

इसी सरागचारित्र का एकदेश अवयवभूत देशचारित्र होता है। सम्यग्दृष्टि अत्रती जब देशव्रतों को ग्रहण कर लेता है तभी वह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक कहलाता है। इस देशचारित्र के ग्यारह भेद माने हैं। इन्हें ही ग्यारह प्रतिमा कहते हैं— दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा, रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा अथवा दिवामैथुनत्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरंभ त्याग प्रतिमा, परिग्रहत्याग प्रतिमा, अनुमतित्याग प्रतिमा और उद्दिष्टत्याग प्रतिमा। इन ग्यारह प्रतिमाओं में रहने वाले श्रावकों में से छह प्रतिमा तक व्रतों के पालने वाले श्रावक तरतमता से जघन्य श्रावक कहलाते हैं। सातवीं, आठवीं और नवमीं प्रतिमा के धारी श्रावक तरतमता से मध्यम हैं और दशवीं तथा ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक उत्तम हैं। अंतिम ग्यारहवें स्थान के श्रावक पिच्छी-कमण्डलुधारी क्षुल्लक-ऐलक होते हैं, छठी प्रतिमाधारी तक गृहस्थाश्रम में रहते हैं। सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी कोई घर में भी रहते हैं, कोई मुनि संघों में रहते हैं तथा कोई घर का त्याग भी कर देते हैं।

इस एकदेश चारित्र के अनंतर सकलचारित्र को कहा है—

वह सकल चारित्र अशुभ से हटकर शुभ में प्रवृत्ति करने रूप होता है। अशुभ क्या है ?

जिसका उपयोग विषयों और कषायों में गाढ़ लगा हुआ है, जो छोटे शास्त्र सुनने में दुष्टचित्त — दुष्ट अभिप्राय में और दुष्ट गोष्ठी — संगति में तत्पर हैं, उग्र तथा उन्मार्ग — बुरे मार्ग में लगे हुए हैं उनकी जो प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब अशुभ हैं।

शुभ क्या है ?

पाँच पापों के सर्वथा त्याग रूप पाँच महाव्रत धारण करना, पाँच समिति रूप प्रवृत्ति करना और तीन गुप्ति धारण करना ये अपहृत संयम कहलाता है। इसी को शुभोपयोग लक्षण सरागचारित्र कहते हैं। इस शुभ प्रवृत्ति में बाह्य विषयों में पंचेन्द्रिय के विषयों का परित्याग होता है और अंतरंग में रागादि का परिहार होता है,

१. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं। वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं।।४५।।

यह सब सरागचारित्र है जो कि तरतमता से दशवें गुणस्थान तक माना गया है। अध्यात्म ग्रंथ में शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान से ध्यानावस्था से माना गया है। उस अपेक्षा से निर्विकल्प ध्यान में भी वीतराग चारित्र माना गया है किन्तु सिद्धांत की अपेक्षा मोहनीय के अभाव में ग्यारहवें गुणस्थान से ही वीतरागता होती है।

यहाँ अभिप्राय यही है कि जो अत्रती हैं यदि वे वीतराग चारित्र की भावना भाते रहें और देशचारित्र भी न ग्रहण करें तब तो वे बेचारे चारित्रमोहनीय कर्म से ही स्वयं ठगे गये हैं और व्रत, प्रतिमा आदि चारित्र की उपेक्षा करके दूसरों को भी उधर से हटाकर मोक्षपथ से वंचित कर रहे हैं क्योंकि जब तक पाँच महाव्रतरूप व्यवहार चारित्र नहीं धारण करेंगे तब तक निश्चय चारित्र की प्राप्ति असंभव ही है, पुनः उसकी चर्या मात्र से क्या लाभ ? अतः क्रम से एकदेश आदि चारित्र धारण करते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

अब जो इसी व्यवहारचारित्र से साध्य है ऐसे निश्चयचारित्र का लक्षण कहते हैं^१ —

भव कारण के नाशन हेतू, ज्ञानी के बाह्य क्रियाओं का।

औ आभ्यंतरी क्रियाओं का, इन सबका जो रोधन होता॥

वह जिनवर द्वारा कहा गया, निश्चय सम्यक्चारित्र सही।

जो साधू उसको पा लेते, वे पा लेते हैं मोक्ष मही॥४६॥

ज्ञानी जीव के संसार के कारणों का नाश करने के लिए जो बाह्य और अभ्यंतर क्रियाओं का रोकना है वह जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित परम सम्यक्चारित्र है।

परमचारित्र, परमोपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र, निश्चय चारित्र, अभेद रत्नत्रय, शुद्धोपयोग अथवा निश्चय रत्नत्रय ये सब पर्यायवाची नाम हैं। निर्विकार स्वसंवेदनरूप शुद्धोपयोग से अविनाभावी वह निश्चयचारित्र है। बाह्य विषयों में शुभ-अशुभ वचन और काय के व्यापार रूप क्रिया बाह्य क्रिया है तथा शुभ-अशुभ मन के विकल्परूप क्रिया अंतरंग क्रिया है। इन बाह्य और अभ्यंतर क्रियाओं के पूर्णरूप से रुक जाने पर जो निर्विकल्प ध्यानावस्था होती है वही निश्चय चारित्र है। यह पाँच प्रकार के संसार का नाश करने वाला है। यह चारित्र निश्चय रत्नत्रय से परिणत अभेदज्ञानी महामुनि के ही होता है। उस अवस्था में ध्यान, ध्याता और ध्येय का विकल्प भी उनको नहीं रहता है।

इस उत्कृष्ट चारित्र को प्राप्त करने के लिए ही महाव्रतरूप सरागचारित्र धारण किया जाता है। जिस प्रकार आम के वृक्ष में ही आम के फल लगते हैं उसी प्रकार से इन नग्न दिगम्बर मुनि के वेष में ही यह चारित्र होता है। आज तक किसी ने भी वस्त्र में रहते हुए इस निश्चय चारित्र को नहीं प्राप्त किया है। चक्रवर्ती भरत ने भी जब दैगम्बरी दीक्षा ली थी तभी उनके यह निर्विकल्प ध्यानरूप निश्चयचारित्र हुआ था अतः महाव्रत को धारण कर देशसंयमी बनना चाहिए, बिना व्रत के जीवन नहीं बिताना चाहिए, चूँकि मनुष्य पर्याय में व्रत और संयम ही सार है।

ध्यान और ध्याता

मुनिवरगण ध्यान लगा करके, इन द्विविध मोक्ष के कारण को।

जो निश्चय औ व्यवहार रूप, निश्चित ही पा लेते उनको॥

अतएव प्रयत्न सभी करके, तुम ध्यानाभ्यास करो नित ही।

सम्यक् विधि पूर्वक बार-बार, अभ्यास सफल होता सच ही॥४७॥

मुनिराज निश्चित ही ध्यान के द्वारा व्यवहार और निश्चय इन दोनों प्रकार के मोक्ष के कारण को प्राप्त कर लेते हैं इसलिए तुम प्रयत्नपूर्वक चित्त को एकाग्र करके उस ध्यान का अभ्यास करो।

निश्चयरत्नत्रय ही निश्चयमोक्षमार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय व्यवहारमोक्षमार्ग है। इनमें निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। साधन से ही साध्य की सिद्धि होती है, इस नियम के अनुसार मुनिराज व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करते हैं। इन दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को ध्यान के बल पर ही प्राप्त किया जाता है इसलिए यहाँ ध्यान के लिए प्रेरणा दी है।

ध्यान करने वाला ध्याता पुरुष कैसा होना चाहिए, सो ही बताते हैं —

सब इष्ट अनिष्ट पदार्थों में, मत मोह करो मत राग करो।

मत द्वेष करो इन तीनों का, जैसे होवे परिहार करो।।

इस विध के ध्यान सुसाधन के, हेतू यदि तुम अपने मन को।

स्थिर करना चाहो तो तुम, बस सब विभाव से दूर हटो।।४८।।

यदि तुम अनेक प्रकार का ध्यान सिद्ध करने के लिए मन को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग मत करो और द्वेष मत करो।

माता, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, मकान, चंदन, तांबूल, वस्त्र, आभूषण आदि पाँचों इन्द्रियों के लिए रुचिकर सामग्री इष्ट विषय है। इनसे विपरीत सर्प, विष, कांटा, शत्रु, रोग आदि अप्रिय वस्तुएँ अनिष्ट हैं।

मोह, राग और द्वेष इन इष्ट-अनिष्ट विषयों में ही होता है। इनके छोड़े बगैर ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि ये सब वस्तुएँ और मोहादि आकुलता को उत्पन्न करते रहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के इच्छुक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मन की एकाग्रता के लिए इन विषयों का त्याग कर देवे।

ध्यान के भेद-प्रभेद — ध्यान के चार भेद हैं — आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन चारों के भी चार-चार भेद हैं।

आर्तध्यान के ४ भेद — इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदना और निदान।

अपने इष्ट का वियोग हो जाने पर बार-बार उसके प्राप्त होने की चिंता करना इष्टवियोगज आर्तध्यान है।

अनिष्ट का संयोग हो जाने पर, यह मेरे से कैसे दूर हो ? ऐसा बार-बार सोचते रहना अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान है। रोग आदि के हो जाने पर, यह कैसे मिटे ? ऐसा चिंतन करते रहना वेदनाजन्य आर्तध्यान है। आगामी काल में भोगों की वांछा करना निदान आर्तध्यान है। ये चारों आर्तध्यान तरतमता से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों तक पाए जाते हैं। इनमें निदान आर्तध्यान मुनियों के नहीं होता है। यद्यपि ये दुर्ध्यान हैं और मिथ्यादृष्टि आदि जीवों को तिर्यचगति में ले जाने वाले हैं फिर भी सम्यग्दृष्टि, देशव्रती अथवा महाव्रती मनुष्य अपनी शुद्ध आत्मा को ही उपादेय मानते हैं इसलिए विशेष भावना के बल से उनके परिणामों में तिर्यचगति के लिए कारण ऐसा संक्लेश नहीं होता है।

रौद्रध्यान के ४ भेद — हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषयसंरक्षणानन्द।

हिंसा करने में आनन्द मानना हिंसानन्द है। झूठ बोलने में आनन्द मानना मृषानन्द है। चोरी करने में आनन्द मानना चौर्यानन्द है और पंचेन्द्रियों के विषयों के संरक्षण में आनन्द मानना विषयसंरक्षणानन्द है। इसे परिग्रहानन्द रौद्रध्यान भी कहते हैं।

यह तरतमता से पहले गुणस्थान से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक जीवों के होता है। यह रौद्रध्यान

मिथ्यादृष्टि जीवों के नरकगति का कारण है तो भी जिस सम्यग्दृष्टि ने नरक आयु बांध ली है उसके सिवाय अन्य सम्यग्दृष्टियों के नरकगति का कारण नहीं होता क्योंकि सम्यग्दृष्टि के देवायु के सिवाय अन्य आयु का बंध नहीं होता, यह नियम है और इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि निज शुद्ध आत्मा को ही उपादेय मानता है अतः उसके नरकगति या तिर्यचगति के लिए कारणभूत ऐसे तीव्र संक्लेश परिणाम नहीं हो सकते हैं।

यह दोनों ध्यान अप्रशस्त कहलाते हैं। इन्हें संसार का हेतु ही कहा है अतः इन दुर्ध्यानों से बचने के लिए धर्मध्यान का अवलम्बन लेना चाहिए।

धर्मध्यान के ४ भेद—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। यह ध्यान तरतमता से असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक, प्रमत्तसंयत मुनि और अप्रमत्तसंयत मुनि तक इन चार गुणस्थानों में होता है। यह मुख्य रूप से पुण्यबंध का कारण होते हुए भी परम्परा से मुक्ति का कारण है।

अब क्रम से इन चारों का लक्षण देखिए—

स्वयं की बुद्धि मंद है और विशेष उपाध्याय गुरु मिल नहीं रहे हैं, ऐसे समय यदि कदाचित् जीव आदि पदार्थों में या अन्य किसी भी विषय में सूक्ष्मता होने से समझ में नहीं आ रहा है, तब यह सोचना कि 'जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये वाक्य—तत्त्व सूक्ष्म हैं, उनका किसी हेतु आदि के द्वारा खण्डन नहीं हो सकता है, इसलिए उनकी आज्ञा को प्रमाण मानकर इन पर श्रद्धान करना है क्योंकि 'नान्यथावादिनो जिनाः' जिनेन्द्र भगवान असत्यवादी नहीं हैं।' ऐसा चिंतन करके जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को प्रमाण मानकर प्रवृत्ति करना आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान है।

भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्मों का नाश कब होगा ? ऐसा बार-बार सोचना अपायविचय धर्मध्यान है।

यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुभ-अशुभ कर्म के विपाक फल से रहित है फिर भी अनादिकालीन कर्मबंध के निमित्त से पाप के उदय से अनेक दुःखों को भोग रहा है और पुण्य के उदय से देवादि के सुखों का अनुभव करता रहता है। इस प्रकार कर्मों के उदय-फल, बंध, सत्त्व आदि का बार-बार चिंतन करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

लोक के आकार का, उसके ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक आदि के विस्तार का, जंबूद्वीप, धातकी खण्ड आदि के स्वरूप का बार-बार चिंतन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में भी यह धर्मध्यान ही होता है न कि शुक्लध्यान। इस ध्यान का ही सतत अभ्यास करना चाहिए।

शुक्लध्यान के ४ भेद—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

प्रथम शुक्लध्यान उपशम श्रेणी में चढ़ने वाले मुनि के आठवें, नवमें, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थान में होता है। क्षपकश्रेणी में आरोहण करने वाले मुनियों के आठवें, नवमें और दशवें गुणस्थान में होता है।

दूसरा ध्यान बारहवें गुणस्थान में होता है। इसी से घातिया कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

तीसरा शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थान में होता है और चौथा शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान में माना गया है।

यद्यपि केवलियों के भावमन का अभाव होने से 'एकाग्रचिंतानिरोध' लक्षण ध्यान नहीं घटता है फिर भी

कर्मों का क्षयरूप कार्य ध्यान से माना है अतः उपचार से केवली भगवान के भी ध्यान कहे गये हैं।

इन चारों ध्यानों में एक धर्मध्यान ही वर्तमान में हम और आपके लिए उपयोगी है। अध्यात्मभाषा से सहज शुद्ध परम चैतन्यस्वरूप, परिपूर्ण आनंद का धारी भगवान आत्मा ही निज आत्मा है, उपादेय बुद्धि करके ‘अनंतज्ञानोऽहं, अनंतसुखोऽहं’ मैं अनन्तज्ञान का धारक हूँ, मैं अनंत सुखस्वरूप हूँ इत्यादि रूप जो भावना है सो अंतरंग धर्मध्यान है। पंचपरमेष्ठी की भक्ति, पूजा आदि तथा उनकी आज्ञा के अनुकूल शुभ अनुष्ठान का करना बहिरंग धर्मध्यान है। उसी प्रकार निज शुद्ध आत्मा में विकल्प रहित ध्यानावस्था शुक्लध्यान है।

इन सब ध्यान का स्वामी चेतन आत्मा ही है। गुणस्थान की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि धर्मध्यान के अधिकारी हैं।

पदस्थ ध्यान

धर्मध्यान के अंतर्गत जो चौथा संस्थानविचय भेद है, उसके भी चार भेद माने हैं — पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

संक्षेप में इनका लक्षण यह है कि —

“पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिंतनम्।

रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम्॥”

अनेक मंत्र वाक्यों का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है, अपनी आत्मा का चिंतन करना पिंडस्थ ध्यान है, जिसमें सर्व चिद्रूप का चिंतन हो अथवा जिसमें अर्हंत भगवान के स्वरूप का चिंतन हो वह रूपस्थ ध्यान है और निरंजन परमात्मा का अर्थात् सिद्ध परमात्मा का जो ध्यान है, वह रूपातीत ध्यान है।

ध्यान के प्रतिबंधक कारण — ध्यान को रोकने वाले बाधक कारण ध्यान के प्रतिबंधक कहलाते हैं, वे मोह, राग और द्वेष इन तीन भागों में विभाजित हैं।

शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न करने वाला जो मोह है वह दर्शन मोह है जो कि मिथ्यात्व रूप है। इसे ही “मोह” शब्द से जानना चाहिए। यह मोह सतत पर में अपनेपन की बुद्धि को कराने वाला है अतः मूलरूप में यही अनंत संसार का कारण है।

निर्विकार निज आत्मानुभव रूप वीतराग चारित्र्य है, उसको रोकने वाला जो चारित्र्यमोह है, वह राग और द्वेष इन दो रूप वाला है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि चारित्र्य मोह राग, द्वेष रूप कैसे है ?

उसका उत्तर यह है कि चारित्र्य मोह की कषायों में क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार भेद हैं। उनमें से क्रोध और मान ये दो कषाय द्वेष के अंग हैं और माया तथा लोभ ये दोनों कषाय राग के अंग हैं। नव नोकषायों में स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य और रति ये पाँच कषायें तो रागरूप हैं और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चार कषायें द्वेषरूप हैं। इस प्रकार ये पच्चीस कषायें राग और द्वेष इन दो रूप में विभाजित हो जाती हैं।

प्रश्न — रागादि भाव कर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से ?

उत्तर — जैसे पुत्र माता और पिता दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है अथवा जैसे चूना और हल्दी इन दोनों के मूल से लाल रंग बन जाता है उसी प्रकार जीव और कर्म इन दोनों के संयोग से ही राग-द्वेष आदि

भाव उत्पन्न होते हैं। जब नयों की विवक्षा लगाते हैं तब विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से यह विभाव भाव कर्म से उत्पन्न हुए कहलाते हैं और अशुद्ध निश्चयनय से ये जीव से उत्पन्न हुए कहलाते हैं क्योंकि इनका उपादान कारण जीव ही है। यह अशुद्ध निश्चयनय शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय ही है।

प्रश्न— साक्षात् शुद्ध निश्चयनय से ये राग द्वेष किसके हैं ?

उत्तर— शुद्ध निश्चयनय से ये रागद्वेष आदि विभाव भाव हैं ही नहीं, क्योंकि इस नय से तो जीव सदा काल शुद्ध ही है। जैसे— स्त्री-पुरुष के संयोग बिना पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती है, वैसे ही जीव और कर्म इनके संयोग बिना राग-द्वेष आदि भाव नहीं होते हैं। शुद्ध निश्चयनय संयोगज अवस्था को देखता ही नहीं है इसीलिए ये रागद्वेष न केवल कर्मजनित हैं न जीवजनित प्रत्युत दोनों से उत्पन्न हुए हैं और इनको कहने वाला अशुद्धनय ही है न कि शुद्धनय।

इस प्रकार से ध्याता, राग द्वेष आदि से मन को हटाकर धर्मध्यान का अवलंबन लेता है। यहाँ पर ध्यान के अनेक भेद बतलाये हैं, वे सब विचित्र ध्यान हैं।

इन पिण्डस्थ आदि ध्यानों में सबसे सरल पदस्थ ध्यान है उसी को यहाँ आचार्यदेव कहते हैं—

परमेष्ठी के वाचक पैतिस, अक्षरयुत महामंत्र शाश्वत।

सोलह छह पाँच चार दो औ, एकाक्षर ॐ अकारादिक।।

गुरु के उपदेशों से बहुविध, के अन्य मंत्र को भी पाकर।

नित जाप करो तुम ध्यान करो, जैसे हो मन स्थिरता कर।।४९।।

परमेष्ठी के वाचक पैतिस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर वाले मंत्रों का तथा गुरु के उपदेश से अन्य भी मंत्रों का तुम जाप करो और ध्यान करो।

यहाँ इन मंत्रों में से कुछ मंत्र दिये जाते हैं। वैसे तो इस णमोकार मंत्र से ८४ लाख मंत्र निकलते हैं अथवा सम्पूर्ण द्वादशांग इस मंत्र में भरा हुआ है।

३५ अक्षरी मंत्र—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

इस महामंत्र में ३५ अक्षर हैं। इसकी एक जाप्य करने से एक उपवास का फल कहा है फिर जो इसका ध्यान करते हैं वे महाफल प्राप्त कर लेते हैं।

१६ अक्षरी मंत्र— अरिहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहू।

६ अक्षरी मंत्र— अरिहंत सिद्ध। ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

५ अक्षरी मंत्र— अ सि आ उ सा।

२ अक्षरी मंत्र— सिद्ध, अर्ह।

१ अक्षरी मंत्र— 'अ' अथवा ॐ।

यह 'ओम्' शब्द पंचपरमेष्ठी का वाचक है। अरिहंत का 'अ', सिद्ध अशरीरी होते हैं अतः अशरीरी का 'अ' इस प्रकार अ+अ 'समानः सर्वे दीर्घा भवति परश्च लोपम्' सूत्र के अनुसार अ+अ=आ बन गया। पुनः आचार्य का 'आ', आ +आ इसी सूत्र से 'आ' हो गया। उपाध्याय का उ, आ + उ मिलकर 'उवर्णे ओ' सूत्र से संधि होकर 'ओ' हो गया। पुनः साधु से मुनि लेने पर उसका आदि अक्षर म् लेने से 'ओम्' बन गया है।

इन मंत्र पदों का जाप भी करना चाहिए और ध्यान भी करना चाहिए। ये मंत्रपद मंत्रशास्त्र के सभी पदों में सारभूत हैं। इस लोक तथा परलोक में इष्टफल को देने वाले हैं। इन पदों का अर्थ भी गुरुमुख से समझना चाहिए और उस अर्थ का स्मरण करते हुए इन पदों का जाप्य करना चाहिए। यदि स्थिरता रख सकें तो ध्यान में इन मंत्रों का ध्यान करते हुए ध्यानाभ्यास करना चाहिए। ललाट में, हृदय में, नाभि में अथवा अन्य किन्हीं भी उत्तम स्थानों में इन 'णमो अरिहंताणं' आदि पदों को स्थापित कर बुद्धि से उन्हें देखने का प्रयत्न करना चाहिए।

शुभोपयोग में जो मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति रुक जाती है उस समय धर्मध्यान होता है अथवा तीन गुप्ति से सहित निर्विकल्प ध्यान में शुद्धोपयोग अवस्था में भी इन पाँचों परमेष्ठी का ध्यान होता है।

इन मंत्रों के सिवाय अन्य मंत्र भी गुरु के उपदेश से समझकर जपने चाहिए।

बारह हजार श्लोक प्रमाण 'पंच नमस्कार माहात्म्य' नाम का कोई ग्रंथ है। आज यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है फिर भी 'णमोकार मंत्रकल्प' आदि ग्रंथों के आधार से मंत्रों को देखना चाहिए। यद्यपि कई एक मंत्रशास्त्र प्रकाशित हो चुके हैं फिर भी गुरु से ही मंत्र लेकर जाप्य करना उचित है यही शास्त्र की आज्ञा है अन्यथा लाभ के बजाय हानि की संभावना रहती है। इसी प्रकार से लघुसिद्धक, वृहत् सिद्धक इत्यादि पूजन के विधान को दिगम्बर गुरुओं से समझकर उनका भी ध्यान करना चाहिए। यह सब पदस्थ ध्यान का संक्षिप्त स्वरूप कहा है।

इस तरह पाँचों इन्द्रिय और मन को वश में करने वाले मुनिगण या श्रावक ध्याता — ध्यान करने वाले हैं। यथावस्थित पदार्थ ध्येय — ध्यान के विषय हैं। एकाग्र होकर जो विचार करना है वह ध्यान है और कर्मों के संवर तथा निर्जरा का होना यह ध्यान का फल है।

पंचपरमेष्ठी ध्यान के विषय हैं

अर्हत परमेष्ठी —

जिन घाति चतुष्टय कर्म हरा, दर्शन सुख ज्ञान वीर्यमय हैं।

सु अनंतचतुष्टयरूप परम, औदारिक तनु में स्थित हैं॥

अष्टादश दोष रहित आत्मा, वे ही अरिहंत परमगुरु हैं।

वे ध्यान योग्य हैं नित उनको, तुम ध्यावो वे त्रिभुवनगुरु हैं॥५०॥

जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, जो अनंत चतुष्टयमय हैं, जो शुभ — परमौदारिक शरीर में विराजमान हैं, जो शुद्ध — दोष रहित हैं ऐसे आत्मा अरिहंत परमेष्ठी हैं, उनका ध्यान करना चाहिए।

अरिहंत भगवान् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों को नाश करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य इन चार चतुष्टयरूप हो चुके हैं। सात प्रकार की धातुओं से रहित परमौदारिक दिव्य — शुभ शरीर में स्थित हैं, यह उनका शरीर हजारों सूर्यों के समान देदीप्यमान है।

क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मरण, स्वेद, खेद, मद, अरति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद ये १८ दोष हैं। ये इन दोषों से रहित होते हैं इसीलिए शुद्ध कहलाते हैं।

'अरि' अर्थात् मोहनीय कर्म, 'रज' से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और 'रहस्य' से अंतराय। इस प्रकार अरि, रज, रहस्य इन तीनों को हनन करने वाले — नष्ट करने वाले होने से अरिहंत कहलाते हैं तथ इन्द्र आदि देवों द्वारा गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाणकल्याणक के समय की गई महापूजा को प्राप्त होने से 'अर्हन्' कहलाते हैं। इनके १००८ नाम आगम में कहे गये हैं। ऐसे अर्हत जिन भट्टारक ध्यान के विषय हैं। इनका

ध्यान पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान के अंतर्गत है।

सिद्ध परमेष्ठी —

अष्ट कर्म तनु नष्ट किया, औ शाश्वत लोकालोक सकल।

उसके ज्ञाता औ दृष्टा हैं, जो पुरुषाकार तथा निष्कल।।

जो लोकशिखर पर स्थित हैं, वे आत्मा सिद्ध कहाते हैं।

तुम सब जन उनका ध्यान करो, वे सबको सिद्ध बनाते हैं।।५१।।

जिन्होंने आठ कर्मरूपी शरीर का नाश कर दिया है, जो लोक-अलोक के जानने और देखने वाले हैं, पुरुषाकार हैं, लोक के अग्रभाग पर स्थित हैं, ऐसे आत्मा सिद्ध परमेष्ठी हैं तुम सब लोग उनका ध्यान करो।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय इन कर्मरूपी शरीर को जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा नामकर्म के अंतर्गत औदारिक, तैजस, कार्मण आदि शरीर से भी रहित हैं इसलिए अशरीरी हैं, निराकार हैं, फिर भी ज्ञानशरीरी हैं, चैतन्य धातु की मूर्ति स्वरूप हैं। परम ज्ञान कांड की भावना के फलस्वरूप निर्मल पूर्ण ज्ञान और दर्शन के द्वारा सर्वलोक-अलोक को तथा उनके अन्तर्गत सम्पूर्ण पदार्थों को और उनकी भूत-वर्तमान-भविष्यत् ऐसी तीनों काल संबंधी पर्यायों को एक साथ जानने और देखने वाले होने से सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं।

निश्चयनय से इन्द्रियों के अगोचर हैं, मूर्तिरहित होने से निराकार हैं फिर भी व्यवहारनय से भूतपूर्व नय की अपेक्षा अंतिम शरीर से कुछ कम आकार वाले होने से पुरुषाकार हैं। जैसे मोमरहित मूस के बीच का आकार होता है अथवा छाया के प्रतिबिम्ब का आकार होता है, ऐसे हैं। इसीलिए जिस आसन से — पद्मासन या खड्गासन से मोक्ष गये हैं, उसी आसन से पुरुषाकार हैं।

अंजनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध और मायासिद्ध आदि लौकिक सिद्धि से रहित अपने आत्मा के स्वरूप की उपलब्धिरूप सिद्धि से सहित होने से ही ये सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं।

ये मोहनीय के अभाव से सम्यक्त्व, ज्ञानावरण-दर्शनावरण के अभाव से ज्ञान-दर्शन, अन्तराय के अभाव से वीर्य, वेदनीय के अभाव से अव्याबाध, आयु के अभाव से अवगाहनत्व, नाम के अभाव से सूक्ष्मत्व और गोत्र के अभाव से अगुरुलघुत्व इस प्रकार आठ कर्मों के नष्ट हो जाने से आठ गुणों को प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि ये आठ गुण मुख्य हैं फिर भी इनके अनंतगुण प्रगट हो चुके हैं। ऐसे सिद्ध भगवान लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं, उनका ध्यान करना चाहिए। देखे, सुने, अनुभव में आए ऐसे पंचेन्द्रिय विषयों का त्याग कर सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प अवस्था में तीन गुप्ति से सहित होकर 'रूपातीत' धर्मध्यान में एकाग्र होकर इन सिद्धों का ध्यान करना चाहिए।

आचार्य परमेष्ठी —

दर्शन औ ज्ञान प्रधान जहाँ, ऐसे जो वीर्याचार तथा।

चारित्र महातप ये पाँचों, आचार कहाते सौख्यप्रदा।।

इन पंचाचारों में निज को, पर को जो नित्य लगाते हैं।

वे ध्यान योग्य हैं श्रेष्ठ मुनि, वे ही आचार्य कहाते हैं।।५२।।

जिनमें ज्ञानाचार-दर्शनाचार प्रधान हैं ऐसे वीर्याचार, चारित्राचार और तप आचार में जो अपने को और पर को लगाते हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं जो कि ध्यान करने योग्य हैं।

निश्चयनय का विषयभूत 'शुद्ध समयसार' इस शब्द से वाच्य, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म आदि समस्त परपदार्थों से भिन्न और परम चैतन्य का विलासरूप निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचि का नाम सम्यग्दर्शन है। उसमें जो परिणमन — आचरण है, उसी का नाम दर्शनाचार है।

उसी शुद्ध आत्मा को स्वसंवेदनरूप भेद ज्ञान के द्वारा रागादि पर भावों से भिन्न जानना ज्ञानाचार है।

वीतराग चारित्र के लिए कारण ऐसे व्यवहार चारित्र में प्रवृत्ति करना चारित्राचार है।

समस्त परद्रव्यों की इच्छा के रोकने से तथा अनशन आदि बाह्य तपों को तपते हुए जो आचरण है, सो तप आचार है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनकी रक्षा के लिए अपनी शक्ति को नहीं छिपाना वीर्याचार है।

आचार्यों के लिए ये पाँच आचार प्रधान हैं। वैसे आचार्यों के छत्तीस गुण माने हैं। १२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति ये ३६ गुण हैं। इन गुणों से युक्त आचार्यदेव ध्यान के विषय हैं। इनका ध्यान पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत है।

उपाध्याय परमेष्ठी —

जो रत्नत्रय से युक्त सदा, धर्मोपदेश में तत्पर हैं।

जो यति पुंगव में श्रेष्ठ रहें, सो आत्मा उपाध्याय गुरु हैं।।

उनको नित नमन हमारा है, वे ज्ञानामृत बरसाते हैं।

मोहादी विष से मूर्च्छित को, जिनवच औषधी पिलाते हैं।।५३।।

जो रत्नत्रय सहित हैं और नित्य ही धर्मोपदेश देने में तत्पर रहते हैं, वे यतीश्वरों में श्रेष्ठ आत्मा उपाध्याय परमेष्ठी हैं उनको मेरा नमस्कार होवे।

जो व्यवहारनय और निश्चयनय इन दोनों का अवलम्बन लेकर शिष्यों को पढ़ाते हैं और धर्म का उपदेश देना ही जिनका एक कार्य है, वे उपाध्याय गुरु हैं। इनके २५ गुण माने हैं। ग्यारह अंग, चौदह पूर्वरूप श्रुत का पढ़ना-पढ़ाना ये ही इनके २५ गुण हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी भी नग्न दिगम्बर साधुओं में ही होते हैं अतः ये भी ध्यान के विषय हैं।

साधु परमेष्ठी —

जो दर्शन ज्ञान सहित ऐसा, चारित्र कहा शिव का मारग।

जो नित ही शुद्ध कहा जाता, उस रत्नत्रय के जो साधक।।

वे ही साधू कहलाते हैं, जो करें साधना शिवपथ की।

रत्नत्रयमय उन साधू को, हो मेरा नमस्कार नित ही।।५४।।

जो मुनि मोक्षमार्ग के स्वरूप दर्शन और ज्ञान से सहित, नित्य ही शुद्ध ऐसे चारित्र को साधते हैं, वे साधु परमेष्ठी हैं, उनको मेरा नमस्कार होवे।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान से सहित चारित्र की साधना करते हैं, वे साधु कहलाते हैं। इनके २८ मूलगुण माने हैं — ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियनिरोध, ६ आवश्यक, केशलोच, आचेलक्य — पूर्ण वस्त्रादि त्याग, अस्नान, पृथ्वी पर शयन, दन्तधावन त्याग, खड़े होकर भोजन और एक बार भोजन ये २८ मूलगुण हैं। इनके पालन करने वाले नग्न दिगम्बर मुनि ही साधु कहलाते हैं। ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार प्रकार की आराधना में लगे रहते हैं। सदा व्यवहार-निश्चय चारित्र के बल से शुद्ध आत्मा की साधना करते रहते हैं,

इसीलिए ये ध्यान करने योग्य हैं।

महामंत्र — णमोकार मंत्र में इन पाँचों परमेष्ठी को ही नमस्कार किया है। ये परमपद में स्थित हैं इसीलिए परमेष्ठी कहलाते हैं। इनमें से अरहंत, सिद्ध ये दो परमेष्ठी तो दिखते नहीं हैं। सिद्ध तो सदा ही नहीं दिख सकते, चतुर्थकाल में अरहंत भगवान का समवसरण दिखता रहता है। आज तो इस पंचमकाल में आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों परमेष्ठी दृष्टिगोचर होते हैं। परोक्ष में अरहंत, सिद्ध की, प्रत्यक्ष में आचार्यादि की वंदना, स्तुति करना तथा इन्हीं के नाममंत्र की जाप्य करना, एकाग्रचित्त हो ध्यान करना चाहिए, ये ही मोक्षमार्ग हैं इसलिए इनका ध्यान भी मोक्षमार्ग की सिद्धि कराने वाला है।

निश्चय ध्यान

जं किंचि वि चिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।

लध्दूणय एयत्तं तदाहु तं णिच्छयं झाणं॥५५॥

जब साधूजन एकाग्रमना, होकर जो कुछ भी ध्याते हैं।

वे इच्छारहित तपोधन ही, निज समरस आनंद पाते हैं॥

बस उसी समय निश्चित उनका, वह निश्चय ध्यान कहाता है।

वह ध्यान अग्निमय हो करके, सब कर्म कलंक मिटाता है॥५५॥

जब साधु एकाग्रता को प्राप्त होकर जिस किसी भी पदार्थ का चिंतन करता हुआ इच्छा से रहित हो जाता है, उसी समय उन साधु का वह ध्यान निश्चय ध्यान कहलाता है।

इस गाथा के प्रथम चरण में ध्येय का लक्षण है। द्वितीय चरण में ध्याता का लक्षण है। तृतीय चरण में ध्यान का लक्षण है और चतुर्थ चरण में नयविभाग को दिखलाया है।

ध्येय — ध्यान प्रारंभ करने की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है उसमें विषय-कषायों को दूर करने के लिए तथा चित्त को स्थिर करने के लिए पाँचों परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। फिर अभ्यास के मन से स्थिर हो जाने पर शुद्ध-बुद्ध अपना चिदानंद स्वरूप आत्मा ही ध्येय रहता है।

ध्याता — बहिरंग और अंतरंग परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि ही निस्पृह वृत्ति वाले होते हैं। वे ही यहाँ ध्यान करने के पात्र ध्याता माने गये हैं। कदाचित् श्रावक और अविरत सम्यग्दृष्टि भी ध्याता होते हैं।

ध्यान — एकाग्रता को प्राप्त कर लेना, मन का पूर्वोक्त किसी एक विषय पर स्थिर हो जाना ही ध्यान है। ध्यान में ध्येय की एकता, तन्मयता, एकलीनता हो जाती है।

नयविभाग — यहाँ निश्चय शब्द से प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा व्यवहार रत्नत्रय के अनुकूल निश्चयनय लेना तथा जो ध्यान सिद्धि कर चुके हैं ऐसे निष्पन्न योगी महामुनियों की अपेक्षा शुद्धोपयोग लक्षण वाला विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय लेना है।

पुनरपि परम ध्यान का लक्षण बताते हैं —

तुम कुछ भी तन की चेष्टा को, मत करो वचन भी मत बोलो।

मन से भी चिंतन कुछ न करो, जैसे होवे स्थिर हो लो॥

इस विध जब आत्मा-आत्मा में, स्वयमेव लीन हो जाता है।

तुम समझो जग में यही ध्यान, बस सबसे श्रेष्ठ कहाता है॥५६॥

तुम कुछ भी क्रिया मत करो, मत बोलो और मत कुछ सोचो, जिससे कि आत्मा स्थिर होकर आत्मा में ही रत हो जावे, बस यही परम उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है।

कुछ भी चेष्टा करना काय की क्रिया है, बोलना वचन की क्रिया है और सोचना मन की क्रिया है। इन तीनों को रोक देने से आत्मा आत्मा में ही तन्मय हो जाता है, बस वही सर्वोत्कृष्ट ध्यान कहलाता है। यहाँ पर शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के मन-वचन-काय के व्यापार को मना किया है। यह तीन गुप्ति से सहित अवस्था महामुनियों के चतुर्थकाल में ही संभव है। आज तो अशुभ योग से मन को रोक कर शुभ में स्थिर कर लेना ही कष्टसाध्य है। इस निश्चय रत्नत्रय से परिणत महामुनियों के जो वीतराग परमानंद सुख प्रतिभासित होता है वही निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप है। उसके अनेक पर्यायवाची नाम हैं उनमें से कुछ नामों को यहाँ दिखाते हैं—

वही शुद्धात्मा का स्वरूप है, वही परमात्मा का स्वरूप है, वही एकदेश में प्रगट रूप विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से निज शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृत जल के सरोवर में राग आदि मलों से रहित परमहंस स्वरूप है। यह एकदेश शुद्ध निश्चयनय सभी नामों के साथ संबंधित है, ऐसा समझना।

वही परमब्रह्म स्वरूप है, वही परमविष्णु रूप है, वही परमशिव रूप है, वही परम बुद्ध स्वरूप है, वही परम निज स्वरूप है, वही परम निज आत्मा की उपलब्धि रूप है, वही सिद्ध स्वरूप है, वही निरंजन स्वरूप है, वही निर्मल स्वरूप है, वही स्वसंवेदनज्ञान है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्म दर्शन है, वही परम अवस्था रूप है, वही परमात्मदर्शन है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मज्ञान है, वही ध्यान करने योग्य शुद्ध पारिणामिक भाव रूप है, वही ध्यानभावना रूप है, वही शुद्ध चारित्र है, वही अंतरंग तत्त्व है, वही परमतत्त्व है, वही शुद्ध आत्मतत्त्व है, वही परमज्योति है, वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वही आत्म प्रतीति है, वही आत्मसंवित्ति है, वही स्वरूप की उपलब्धि है, वही नित्य पदार्थ की उपलब्धि है, वही परमसमाधि है, वही शुद्धात्म पदार्थ के अध्ययनरूप है, वही परम स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्रचिंता निरोध है, वही परमबोध है, वही शुद्धोपयोग है, वही परमयोग है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है, वही अध्यात्मसार है, वही समता आदि छह आवश्यक स्वरूप है, वही अभेद रत्नत्रय स्वरूप है, वही वीतराग सामायिक है, वही परम शरण, परम उत्तम और परम मंगल है, वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, वही सकलकर्म के क्षय का कारण है, वही निश्चय चतुर्विध आराधना है, वही परमात्म भावना है, वही शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूति रूप परमकला है, वही दिव्यकला है, वही परम अद्वैत है, वही परमामृत परमध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही रागादि विकल्प से रहित ध्यान है, वही निष्कल ध्यान है, वही परम स्वास्थ्य है, वही परम वीतराग है, वही परमसाम्य है, वही परमएकत्व है, वही परम भेदज्ञान है और वही परम समरसी भाव है, इत्यादि रूप से समस्त रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित परम आल्हादक सुख लक्षण ध्यान स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को कहने वाले और भी बहुत से पर्यायवाची हैं।

अभिप्राय यही है कि निश्चयरत्नत्रय, शुद्धोपयोग, परमसमाधि, निर्विकल्पध्यान, एकाग्रपरिणति और निश्चय मोक्षमार्ग ये सब एकार्थवाचक हैं। यह अवस्था सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होती है और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है पुनः तेरहवें गुणस्थान में इस शुद्धोपयोग का फल केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इस निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति के लिए व्यवहार रत्नत्रय रूप निर्ग्रंथ मुनियों की चर्या अनिवार्य है और जब तक उस चारित्र को नहीं ग्रहण कर सकते तब तक एकदेश चारित्ररूप अणुव्रत ग्रहण ही कर लेना चाहिए। यही मोक्षमार्ग में लगने का क्रम है।

ध्याता कैसा होता है ?

जिस कारण से तप, श्रुत और व्रत, इनका धारक जो आत्मा है।

वह ध्यानमयी रथ की धुरा का, धारक हो ध्यान धुरंधर है॥

अतएव ध्यान प्राप्ति हेतु, इन तीनों में नित रत होवो।

तप, श्रुत और व्रत बिन ध्यान सिद्धि, नहीं होती अतः प्रतिक होवो॥५७॥

जिस हेतु से तप, श्रुत और व्रतों का धारक आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला हो जाता है उसी कारण ध्यान की प्राप्ति के लिए तप, शास्त्र और व्रत इन तीनों में सदा लीन हो जावो।

यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष कैसा हो ? और ध्यान के लिए सामग्री क्या-क्या हो ? यह कई प्रकार से बता चुके हैं। पुनरपि यहाँ उपसंहार रूप से ध्याता पुरुष और ध्यान सामग्री को इस ५७वीं गाथा में बताया है—

तपश्चर्या, ज्ञानाराधना और व्रतों से विभूषित तपोधन — महाव्रती मुनि ही ध्यान रूप रथ की धुरा को धारण करने में समर्थ हो सकते हैं यही कारण है कि ये मुनि ही ध्यान के स्वामी माने गये हैं। यदि गृहस्थ भी ध्यान में सक्षम हो जावें तो पुनः गृहस्थाश्रम को त्याग कर मुनि बनने की आवश्यकता ही क्यों रहे ? हाँ, गृहस्थ तो ध्यान का अभ्यास करते हैं।

अनशन, अवमौर्दर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यंतर तप हैं। अभ्यंतर तपों की सिद्धि के लिए बाह्य तप साधन हैं और साधन अभ्यंतर तप में कहा गया है। ये बारह तप व्यवहार तप हैं और इनके सहयोग से शुद्ध आत्मा के स्वरूप में प्रतपन करना — स्थिर होना निश्चय तप है।

इसी प्रकार मूलाचार, भगवती आराधना आदि द्रव्यश्रुत हैं, उन शास्त्रों के आधार से जो निज स्वसंवेदन ज्ञान होता है, वह भावश्रुत है। इसी तरह छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग अहिंसा महाव्रत है और रागादि भावों को दूर कर आत्मा के ऊपर दया करके उसमें लीन होना भाव अहिंसा महाव्रत है, इत्यादि प्रकार सभी में समझ लेना चाहिए।

यहाँ पर तप, श्रुत और व्रत को ही ध्यान के लिए परिकर सामग्री कहा है। अन्यत्र ग्रंथों में भी कहा है—

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं, नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।

परीषहजयश्चेति, पंचैते ध्यानहेतवः^१॥

वैराग्य, तत्त्वों का विशेष ज्ञान, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि अवस्था, समताभाव और परीषहों का जय ध्यान के लिए ये पाँच हेतु — साधन माने गये हैं। ये पाँचों इन तीन में गर्भित हैं।

प्रश्न — भगवन् ! ध्यान तो मोक्षमार्ग रूप है। मोक्ष के इच्छुकजन व्रतों को पुण्य का ही कारण कहते हैं अतः व्रत तो छोड़ने योग्य हैं पुनः व्रतों को ध्यान का कारण कैसे कहा ?

उत्तर — व्रत ही छोड़ने योग्य हों, ऐसी बात नहीं है प्रत्युत हिंसा आदि रूप जो अव्रत हैं जो कि पाप बंध के लिए कारणभूत हैं वे भी तो छोड़ने योग्य हैं अतः पहले हिंसा आदि छोड़कर व्रतों में स्थिर होवो पुनः निर्विकल्प ध्यान में वे व्रत स्वयं छूट जायेंगे, उन्हें छोड़ना नहीं पड़ेगा। श्री पूज्यपाद स्वामी ने यही बात कही है —

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।

त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः^१॥

पहले अव्रतों को छोड़कर व्रतों में स्थित होवे पुनः आत्मा के परमपद को प्राप्त करके उन्हें भी छोड़ देवे।

प्रश्न—भरत चक्रवर्ती ने व्रतों को नहीं पाला फिर भी केवली बन गये ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, वे भी जैनेश्वरी दीक्षा लेकर विषय कषाय आदि के त्यागरूप व्रत परिणामों के बल से ही शुद्धोपयोग रूप, वीतराग सामायिक नामक निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर केवली हुए हैं।

प्रश्न—इस काल में ध्यान नहीं है क्योंकि उत्तम संहनन का अभाव है और दश पूर्व अथवा चौदह पूर्व रूप श्रुतज्ञान का भी अभाव है ?

उत्तर—शुक्लध्यान नहीं है किन्तु धर्मध्यान है। श्री कुन्दकुन्ददेव ने कहा है—

“भरतक्षेत्र में इस पंचमकाल में ज्ञानी मुनियों को आत्मा के स्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है किन्तु जो ऐसा नहीं मानते, वे अज्ञानी हैं।”

श्री नागसेन आचार्य ने तो स्पष्ट कहा है—

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनेत्तमाः।

धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम्^२॥

आज इस काल में जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं किन्तु उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से पहले गुणस्थानों में रहने वाले मुनियों के धर्मध्यान कहते हैं।

दश पूर्व या चौदह पूर्वज्ञानी श्रुतकेवलियों के ही ध्यान होता है, यह कथन भी उत्सर्ग है। अपवाद व्याख्यान से पाँच समिति, तीन गुप्ति के प्रतिपादक सारभूत श्रुत से भी ध्यान होता है बल्कि केवलज्ञान भी हो जाता है। कहा भी है—

“तुसमासं घोसंतो सिवभूदी केवली जादो।”

तुष-माष को रटते हुए शिवभूति मुनि केवली हो गये हैं।

प्रश्न—यद्यपि शिवभूति मुनि को द्रव्यश्रुत प्रवचन मातृका मात्र था किन्तु उन्हें भावश्रुत पूर्ण था ?

उत्तर—नहीं, उनके पाँच समिति और तीन गुप्ति इन आठ प्रवचनमातृका रूप तो भावश्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था अन्यथा वे “मा तूसह मा रूसह” इस एक पद को क्यों नहीं जान सके। यह व्याख्यान मैंने कल्पित नहीं किया है किन्तु चारित्रसार आदि ग्रंथों में भी यह वर्णन है। देखिए—“अंतर्मुहूर्त में जो केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे १२वें गुणस्थान में रहने वाले “निर्ग्रथ” ऋषि कहलाते हैं। उनके उत्कृष्ट से ११ अंग, १४ पूर्व पर्यंत ज्ञान होता है और जघन्यरूप से पाँच समिति, तीन गुप्ति मात्र ही श्रुतज्ञान होता है”।

प्रश्न—इस काल में मोक्ष नहीं है पुनः ध्यान की क्या आवश्यकता ?

उत्तर—आज भी परम्परा से मोक्ष है। देखो, ध्यानी मुनि निज शुद्धात्मा की भावना के बल से संसार की स्थिति को अल्प करके स्वर्ग में जाते हैं और वहाँ से मनुष्य भव में आकर भेदाभेद रत्नत्रय के बल से मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। जो भरत चक्रवर्ती, रामचंद्र, पांडव आदि मोक्ष गये हैं वे सब पूर्व भवों में संसार स्थिति को घटाकर ही आये थे तभी इस भव से मोक्ष गये हैं क्योंकि एक ही भव से सभी को मोक्ष हो जावे यह बहुत कठिन है, कोई विरले जीव ही ऐसे हुए हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि अल्प श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है किन्तु उसके साथ वैराग्यपूर्वक चारित्र और तपश्चरण अवश्य चाहिए।

अब ग्रंथकार अपना अभिमान दूर करते हुए कहते हैं —

श्री नेमिचंद्र मुनि अल्पसूत्र, ज्ञाता जो मैंने कहा सही।

यह ग्रंथ द्रव्य संग्रह नामा, जो सार्थक नामा रचा सही।।

जो रागद्वेष दोषादि रहित, श्रुत में परिपूर्ण मुनीश्वर हैं।

वे इसका संशोधन कर लें, जो मुझसे श्रेष्ठ ज्ञानधर हैं।।५८।।

मुनि अल्पज्ञानी नेमिचंद्र मुनिराज ने जो यह 'द्रव्य संग्रह' नाम का ग्रंथ रचा है, दोष समूह से रहित और श्रुत में परिपूर्ण ऐसे मुनियों के नाथ — महामुनि इसका संशोधन करें।

यहाँ पर सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचंद्राचार्य ने अपनी लघुता प्रगट करते हुए ही ऐसा कहा है कि मैं अल्पज्ञानी हूँ, मेरे से भी विशेष जो कोई श्रुत के पारंगत विशेष विद्वान्, वीतरागी पक्षपात रहित महामुनि होवें, वे इसका संशोधन कर सकते हैं। आज उनके बराबर ज्ञान के धारी मुनि ही नहीं हैं पुनः उनसे विशेष ज्ञानी मुनि कौन हो सकते हैं जो कि उनकी कृति के संशोधन का अधिकार रखें अर्थात् कोई भी नहीं हो सकते हैं। फिर भी यदि कोई साहस करना चाहे तो उसका यह दुःसाहस या अनधिकारी चेष्टा ही समझनी चाहिए।

यह द्रव्यसंग्रह नामक ग्रंथ सार्थक नाम वाला है। इसमें छह द्रव्यों का ही मुख्य रूप से वर्णन है। फिर भी पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों का भी वर्णन किया गया है। अनन्तर तृतीय अधिकार में व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का वर्णन है। यह ग्रंथ यद्यपि लघुकाय — अतीव छोटा है, फिर भी इसमें 'गागर में सागर' की उक्ति के अनुसार महान प्रमेय भरा हुआ है। इसकी खास विशेषता यह है कि इसमें एक-एक गाथा में ही व्यवहार और निश्चय नयों के द्वारा जीव के स्वरूप को कहा है, पुनः मोक्षमार्ग में भी नयों का अच्छा खुलासा है। यह ग्रंथ मुझे अतीव प्रिय है।

आठ दश दिन के शिक्षण शिविरों में आबाल-गोपाल इसे अच्छी तरह पढ़ लेवें और मनन कर लेवें, इसी उद्देश्य से मैंने इसका पद्यानुवाद किया था, जो वक्ता-श्रोताओं को तथा पढ़ने और फढ़ने वालों को अति रुचिकर हुआ है।

॥ तृतीय अधिकार पूर्ण हुआ ॥

प्रशस्ति

सैद्धान्तिक चक्रीश श्री-नेमिचन्द्र मुनिनाथ।

रचा द्रव्यसंग्रह सरस, ललित मधुर प्रख्यात।।१।

वीर अब्द पच्चीस सौ-दो जग में विख्यात।

अक्षय तृतिया शुभ दिवस, मास शुक्ल वैशाख।।२।।

ज्ञानमती श्रमणी किया, भाषामय अनुवाद।

गद्य पद्य रचना मधुर, करो भव्य जन पाठ।।३।।

॥ द्रव्य संग्रह ग्रंथ पूर्ण हुआ ॥



१४. सोलहकारण भावनाएँ

(षट्खण्डागम ग्रंथ के आधार से)

दिगम्बर जैन परम्परा में 'षट्खण्डागम ग्रंथ' सिद्धान्त के सर्वोपरि ग्रंथ माने हैं। इस षट्खण्डागम में छह खण्डों के — १. जीवस्थान, २. क्षुद्रकबंध, ३. बंधस्वामित्वविचय, ४. वेदनाखण्ड, ५. वर्गणाखण्ड और ६. महाबंध, ये नाम हैं।

इनमें से षट्खण्डागम का जो तृतीय खण्ड है — “बंधस्वामित्वविचय” इस ग्रंथ में जीव के साथ कर्मों के बंध के लिए जो प्रत्यय — कारण — निमित्त आदि हैं इनका भी विस्तार से कथन है। वर्तमान में मुद्रित षट्खण्डागम (धवला टीका समन्वित) में आठवीं पुस्तक में सर्वप्रथम गुणस्थानों में प्रकृतियों के बंध और अबंध को कहा है। धवलाटीका में श्री वीरसेन स्वामी ने बंध के विषय में तेईस प्रकार के प्रश्न उठाये हैं पुनः उन्हीं के उत्तर दिये हैं। सूत्र ६ की टीका में प्रत्ययों — कारणों को कहा है। यथा — “मिच्छतासंजमक-सायजोगा इदि एदे चत्तारिमूलपच्चया।” मूल प्रत्यय ४ हैं — मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग।

इनके उत्तर भेद ५७ हैं — मिथ्यात्व के ५, असंयम के १२, कषाय के २५ और योग के १५ भेद हैं।

इसी तृतीय खण्ड ग्रंथ में तीर्थंकर प्रकृति के बंध के कारणों का भी सुंदर वर्णन आया है। यथा —

कदिहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ? ॥३९॥

तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं बंधंति ॥४०॥

दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झ-णदाए लब्धिसंवेगसंपण्णदाए यथाथामे तधातवे साहूणपासु-अपरिचागदाए समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ॥४१॥

अर्थ — किन कारणों से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म को बांधते हैं ? ॥३९॥

वहाँ इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म को बांधते हैं ॥४०॥

१. दर्शनविशुद्धता, २. विनयसम्पन्नता, ३. शील व्रतों में निरतिचारता, ४. छह आवश्यकों में अपरिहीनता, ५. क्षणलव-प्रतिबोधनता, ६. लब्धिसंवेगसम्पन्नता, ७. यथाशक्तितप, ८. साधुओं को प्रासुक-परित्यागता, ९. साधुओं की समाधिसंधारणता, १०. साधुओं की वैयावृत्ययोगयुक्तता, ११. अरहंत भक्ति, १२. बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचन भक्ति, १४. प्रवचनवत्सलता, १५. प्रवचनप्रभावना और १६. अभीक्षण-अभीक्षण ज्ञानोपयोगयुक्तता, इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र को बांधते हैं ॥४१॥

मैंने इस ग्रंथ की 'सिद्धान्तचिंतामणिटीका' नाम की टीका में संक्षेप में इनके लक्षण व तत्त्वार्थसूत्र में कथित भावनाओं के अंतर को दिखाया है। जैसे कि —

अब यहाँ संक्षेप से इन सोलह कारणों के नाम और लक्षण कहेंगे —

१. दर्शनविशुद्धता भावना — शंका आदि आठ मलदोष और तीन मूढ़ता से रहित जो सम्यग्दर्शन होता है, वही दर्शनविशुद्धता है।

२. विनयसम्पन्नता — ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद से विनय तीन प्रकार का है, उससे सहित विनयसम्पन्नता है।

३. शीलव्रतेषु निरतिचारता — सम्यक्त्व सहित पाँच व्रतों में और व्रतों के रक्षण लक्षण वाले शीलों में अथवा गुणव्रत-शिक्षाव्रत आदि सात व्रतों — शीलों में अतिचाररहितपना नाम की यह तीसरी भावना है।

४. आवश्यकों में अपरिहीनता — समता, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओं में हीनता नहीं करना अर्थात् यथासमय आवश्यक क्रियाओं को करना, यह अर्थ है।

५. क्षणलवप्रतिबुद्धता — क्षण और लव ये कालविशेष के वाची हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत, शील, और गुण इनको उज्ज्वल करना, इनके कलंक — दोषों को प्रक्षालित करना अथवा इनको — दोषों को जला देना। प्रत्येक क्षणों में — लवों में सम्यग्दर्शन आदि गुणों को उज्ज्वल करना यह अभिप्राय है।

६. लब्धिसंवेग सम्पन्नता — सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जीव का समागम लब्धि है और संवेग का अर्थ हर्ष है। लब्धिसंवेग की संप्राप्ति नाम की यह भावना है।

७. यथाथाम तथातप — यथाशक्ति बारह प्रकार के तपों में प्रवृत्ति करना चाहिए।

८. साधुप्रासुकपरित्यागता — साधुओं को दर्शन, ज्ञान, चारित्र का दान देना। यह भावना साधुओं में ही संभव है।

९. साधुसमाधि संधारणता — साधुओं को रत्नत्रय में सम्यक् प्रकार से अवस्थित करना चाहिए।

१०. साधु और वैयावृत्ययोगयुक्तता — साधुओं की वैयावृत्ति में — सेवा में योगयुक्त होना, यह भावना होती है।

११. अर्हद्भक्ति — घातिया कर्मों से रहित अर्हत्तों की और सिद्धों की भक्ति, ऐसी अर्हद्भक्ति नाम की यह भावना है।

१२. बहुश्रुतभक्ति — द्वादशांग के ज्ञानी — उपाध्याय गुरुओं की भक्ति करना, ऐसी यह भावना है।

१३. प्रवचनभक्ति — सिद्धान्त को प्रवचन कहते हैं, उसकी भक्ति नाम से यह भावना है।

१४. प्रवचनवत्सलता — प्रवचन अर्थात् सिद्धान्त, उसमें होने वाले — उसमें रत हुए ऐसे देशव्रती, महाव्रती और असंयतसम्यग्दृष्टी हैं। उनमें अनुराग होना, ये मेरे हैं ऐसा भाव होना प्रवचनवत्सलता है।

१५. प्रवचनप्रभावना — आगम का अर्थ प्रवचन है, उसकी वृद्धि करना प्रवचनप्रभावना नाम की भावना है।

१६. अभीक्षण-अभीक्षण ज्ञानोपयोगयुक्तता — नित्य ही ज्ञानोपयोग में युक्तपना — तन्मयता का होना यह सोलहवीं भावना है।

यहां तक इस सूत्र द्वारा कथित सोलह कारण भावनाओं को कहा गया है। अब विस्तार से कहते हैं —

श्री भूतबलि आचार्यवर्य ने इन उपर्युक्त सोलह कारणों को कहा है। वर्तमानकाल में “तत्त्वार्थसूत्र” ग्रंथ में कथित जो तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारणभूत सोलहकारण भावनाएं हैं, उनके क्रमों में और इनके क्रमों में अन्तर है। उसे ही दिखाते हैं —

१. दर्शनविशुद्धि २. विनयसम्पन्नता ३. शील व्रतों में अनतिचार ४. अभीक्षण ज्ञानोपयोग ५. संवेग

६. शक्तितस्त्याग ७. शक्तितस्तप ८. साधुसमाधि ९. वैयावृत्यकरण १०. अर्हद्भक्ति ११. आचार्यभक्ति १२. बहुश्रुतभक्ति १३. प्रवचनभक्ति १४. आवश्यक अपरिहाणि १५. मार्गप्रभावना और १६. प्रवचनवत्सलत्व, ये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव हैं॥२४॥

यहाँ पर श्री भट्टाकलंकदेव आचार्य के द्वारा कथित इन भावनाओं का संक्षिप्त लक्षण कहते हैं —

१. जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में रुचि और निःशंकित आदि आठ अंगों का पालन करना दर्शनविशुद्धि भावना है।

२. ज्ञानादि में और उनके धारियों में आदर करना अथवा कषायों की निवृत्ति होना विनयसम्पन्नता है।

३. चारित्र के भेदरूप शीलव्रतों में निर्दोष प्रवृत्ति, शीलव्रतों में निरतिचारता है — यह शीलव्रतेष्वनतिचार भावना है।

४. ज्ञानभावना में नित्य ही युक्त — उपयोग लगाना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना है।

५. संसार के दुःखों से नित्य ही भयभीत रहना संवेग भावना है।

६. पर की प्रीति के लिए अपने धन का त्याग करना त्याग भावना है।

७. अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर जिनशास्त्रों से अविरोधी कायक्लेश आदि करना तप भावना है।

८. भाण्डागार की अग्नि प्रशमन के समान मुनिगणों के तप का संधारण करना समाधि भावना है।

९. गुणवानों पर दुःख के आ जाने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना वैयावृत्य भावना है।

१०. अर्हत्तों की भक्ति करना, भावविशुद्धियुक्त अनुराग होना अर्हद्भक्ति भावना है।

११. आचार्यों की भक्ति करना आचार्यभक्ति भावना है।

१२. बहुश्रुत — उपाध्यायों की भक्ति — बहुश्रुतभक्ति भावना है।

१३. प्रवचनों की भक्ति करना — अनुराग करना प्रवचनभक्ति भावना है।

१४. छहों आवश्यक क्रियाओं को यथासमय करना आवश्यक अपरिहाणि भावना है।

१५. ज्ञान, तप, जिनपूजा विधि से धर्म को प्रकाशित करना मार्गप्रभावना भावना है।

१६. जैसे बछड़े में गाय का प्रेम होता है वैसे ही सहधर्मियों में स्नेह भाव रखना प्रवचनवत्सलत्व भावना है।

ये सोलह कारण सम्यक् प्रकार से भावित किये गये कतिपय हों या संपूर्ण हों, ये तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारण हैं ऐसा श्रद्धान करना चाहिए।

पूर्वोक्त षट्खण्डागम सूत्र में कथित भावनाओं में और तत्त्वार्थसूत्र में कथित भावनाओं में पंद्रह भावनाएँ तो समान ही हैं, केवल यहाँ षट्खण्डागम में “क्षणलवप्रतिबुद्धता” नाम की भावना है और वहाँ तत्त्वार्थसूत्र में आचार्यभक्ति नाम की भावना है। दोनों के लक्षण में भी अन्तर है।

अन्यत्र — अनगारधर्माभूत ग्रंथ में इन सोलहकारण भावनाओं के साथ अपायविचय धर्मध्यान भी विशेष रूप से लिखा गया है।

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलदुःखदाव-

स्कंधे चक्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान्।

इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्-भावनोपात्तपुण्य-

प्रकान्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योऽहन् स नोऽव्यात्॥२॥

जैसे कि — इस भवरूपी भीषण वनों में दुःखरूपी दावानल बड़े वेग से जल रही है और श्रेयोमार्ग से अनजान ये बेचारे प्राणी अत्यन्त भयभीत होकर इधर-उधर भटक रहे हैं। 'मैं इनका उद्धार करूँ' इस बढ़ते हुए परोपकार के भावनारूपी रस से विशेष रूप से शोभायमान भावना से संचित पुण्य से उत्पन्न हुए वचनों के द्वारा जो उसके योग्य प्राणियों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं वे अर्हंतदेव हमारी रक्षा करें॥२॥

इसकी स्वोपज्ञटीका में लिखा है —

श्रेयोमार्ग अर्थात् व्यवहार से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय और निश्चय से तन्मय — रत्नत्रयमय स्वात्मा ही श्रेयोमार्ग है। उससे अनभिज्ञ — सम्यक् प्रकार से मुक्ति के उपाय में जो मूढ़ हैं। इस भव गहन में — संसाररूपी अटवी में जहाँ दुःखरूपी दावानल — अग्नि धधक रही है, उसमें झुलस रहे हैं ऐसे इन बेचारे प्राणियों को उस संसाररूपी वन से निकलने के उपाय का उपदेश देकर मैं उनका उद्धार करूँ — उपकार करूँ। ऐसी यह तीर्थकर प्रकृति के बंध को कराने वाली भावना मुख्यरूप से 'अपायविचय' धर्मध्यानरूप है। 'इस प्रकार मैं एक साथ तीनों जगत के प्राणियों का उद्धार करने में समर्थ होऊँ' इस प्रकार परम करुणा से अनुरक्त अंतःकरणरूप चैतन्य परिणाम लक्षण आत्मस्वरूप से परिणत होते हुए क्षण-क्षण में वृद्धिगंत अनुग्रह के योग्य प्राणियों के प्रति जो अनुग्रह भाव होता है वही हुआ करुणारस, उससे शोभायमान जो भावना है, वह सामान्य केवली आदि में पूर्व में नहीं पाई जा सकती है, जो कि अन्य में नहीं हो सके ऐसी असाधारण भावना से शोभित भव्यों के हृदय की जो परम पुण्य तीर्थकर नामकर्म के लिए कारण ऐसे पुण्यस्वरूप और दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारणस्वरूप नमस्कार के संस्काररूप है। ऐसे कारणों से तीर्थकर प्रकृति का बंध करके कालान्तर में उसके उदय के होने पर अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा जो मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं वे अर्हंत भगवान हमारी रक्षा करें।

लोक में भी देखा जाता है कि जो परोपकार में तत्पर हैं ऐसे महापुरुष घोर जंगल में भटके लोगों को मार्ग दिखा देते हैं। यहाँ जंगल को दिखाया है कि वह जंगल जहाँ दावानल अग्नि खूब जोरों से धधक रही है और तमाम वृक्ष, जंतु आदि को जला रही है। दुर्दैव के निमित्त से जो पथिक उस वन में भटक गये हैं और वहाँ से निकलने के मार्ग को नहीं जान रहे हैं, जो कि पुनः उसी दावानल आदि की ओर ही भाग रहे हैं ऐसे लोगों को घबराए हुए देखकर करुणा से आर्द्रचित्त होकर उनको सम्यक् प्रकार से निकलने के मार्ग का उपदेश देने की इच्छा रखते हैं। उसी प्रकार से यहाँ जानना चाहिए। कहा भी है —

दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं से उत्पन्न हुए तीर्थकर प्रकृति के उदय से जो दुःखों को नष्ट करने के इच्छुक ऐसे आयुष्मान भव्यों को इष्टकारी धर्मतीर्थ का उपदेश देते हैं वे ही अर्हंतदेव हैं।

अब दिव्यध्वनि का लक्षण कहते हैं —

जो समस्त प्राणियों के लिए हितकर है, वर्णसहित नहीं है, जिसके बोलते समय दोनों ओष्ठ नहीं हिलते हैं, जो इच्छापूर्वक नहीं है, न दोषों से मलिन है, जिसका क्रम श्वास से रुद्ध नहीं होता, जिन वचनों को पारस्परिक वैर भाव त्यागकर प्रशांत पशुगणों के साथ सभी श्रोता सुनते हैं, समस्त विपत्तियों को नष्ट कर देने वाले सर्वज्ञ देव के अपूर्व वचन हमारी रक्षा करें।

शंका — यह दिव्यवाणी अहोरात्र कितने काल पर्यंत खिरती है ?

समाधान — पूर्वाण्ह में, मध्याण्ह में, अपराण्ह में और मध्यम रात्रि में छह-छह घड़ी दिव्यध्वनि खिरती है, जैसा कि सूत्रों के अर्थ में कहा है — जैनागम में कहा है।

ऐसी तीर्थकर प्रकृति को कर्मभूमिया मनुष्य ही बांधते हैं, स्त्री अथवा नपुंसक नहीं बांधते हैं। किन्तु जो कोई द्रव्यवेद से पुरुष हैं और भाव से स्त्रीवेदी हैं या भाव से नपुंसकवेदी हैं ऐसे पुरुष भी तीर्थकर प्रकृति का बंध कर सकते हैं।

पंचसंग्रह ग्रंथ में भी कहा है—

स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में भी तीर्थकर और आहारक का बंध विरुद्ध नहीं है क्योंकि उदय का ही पुरुषवेद में नियम है।

ये भाववेदी जीवन भर उसी भाव से रहते हैं।

कहा भी है— कषाय के समान भाववेद अन्तर्मुहूर्त स्थायी हो, ऐसा नहीं है, प्रत्युत जन्म से लेकर मरणपर्यंत उसी भाववेद का उदय रहता है अर्थात् द्रव्य से कोई पुरुष है और भाव से स्त्रीवेदी, तो यह भाववेद भी उस पुरुष के जीवन भर रहता है।

कथा ग्रंथ में द्रव्यस्त्रियों के भी तीर्थकर प्रकृति का बंध सुना जाता है वह भी परम्परा से पुरुषवेद में ही है न कि स्त्रीभव से।

जैसे कि षोडशकारण व्रत की कथा में कहा है—

जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में मगधदेश में राजगृही नगरी के राजा हेमप्रभ थे, उनकी रानी विजयावती थीं। उनके राजभवन में महाशर्मा नाम का एक नौकर था, उसकी पत्नी प्रियंवदा थी। इनके एक कालभैरवी नाम की कुरूपा पुत्री थी। एक बार इस कन्या ने मतिसागर नाम के महामुनि के मुखकमल से अपने पूर्वभव सुनकर धर्म में रुचि रखते हुए सोलहकारण व्रत ग्रहण किये। वह ब्राह्मण कन्या विधिवत् व्रत का अनुष्ठान करके अन्त में समाधिपूर्वक मरण करके स्त्रीपर्याय को छेदकर अच्युत स्वर्ग में देव हो गई। पुनः परम्परा से विदेहक्षेत्र में अमरावती देश के गंधर्व नगर में राजा श्रीमंदर की रानी महादेवी से 'सीमंधर' नाम के तीर्थकर पुत्र हुए हैं। ऐसा 'जैन व्रतकथा संग्रह' में कहा है।

ऐसे ही एक श्रुतस्कंधव्रत की भी कथा है—

जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में अंगदेश के पटनानगर में राजा चन्द्ररुचि की चन्द्रप्रभा रानी थीं। उनके एक 'श्रुतशालिनी' नाम की पुत्री थी। एक समय 'वर्द्धमान' नाम के महामुनि से अपने पूर्वभव को सुनकर और श्रुतस्कंधव्रत के माहात्म्य को जानकर उस श्रुतशालिनी कन्या ने श्रुतस्कंध व्रत को ग्रहण कर विधिवत् करके अन्त समय समाधिपूर्वक मरण कर स्त्रीपर्याय से छूटकर इन्द्रपद प्राप्त किया। पुनः पश्चिम विदेहक्षेत्र में कुमुदवती देश के अशोकपुर नगर में पद्मनाभ राजा की पट्टरानी जितपद्मा के गर्भ में आकर 'नयंधर' नाम के तीर्थकर हुए हैं, इन्होंने चक्रवर्ती और कामदेव पद भी प्राप्त किया है। यहाँ भी परम्परा से ही तीर्थकर प्रकृति का बंध जानना चाहिए।

अथवा, स्त्रीपर्याय को छेदकर देवों में उत्पन्न होकर पुनः वहाँ से च्युत होकर मनुष्यों में उत्पन्न होकर कोई पुरुष तीर्थकर आदि के पादमूल में तीर्थकर प्रकृति को बांध लेते हैं, उनके दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं। किन्हीं के दीक्षा के अनन्तर तीर्थकर प्रकृति का बंध होने पर दो कल्याणक होते हैं। इस प्रकार के नियम से इन कालभैरवी और श्रुतशालिनी कन्याओं ने दो अथवा तीन कल्याणक को प्राप्त करने वाले तीर्थकर पद को प्राप्त किया होगा क्योंकि विदेहक्षेत्रों में दो कल्याणक वाले या तीन कल्याणक वाले तीर्थकर होते हैं, ऐसा आगम में सुना जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि—

यदि कर्मभूमिया मनुष्य ही तीर्थकर प्रकृति का बंध करते हैं तब तो इस मध्यलोक में कितनी कर्मभूमियाँ हैं और कहाँ-कहाँ हैं ?

आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

“ढाईद्वीप और दो समुद्रों में पंद्रह कर्मभूमियाँ हैं।” ऐसा सामायिक दण्डक में पढ़ा जाता है अतः पंद्रह कर्मभूमियाँ हैं। पुनश्च विस्तार से ‘कल्याणालोचना’ में एक सौ सत्तर कर्मभूमियाँ मानी हैं—

एक सौ सत्तर क्षेत्रों में होने वाले भूतकालीन, भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन जो एक सौ सत्तर तीर्थकर हुए हैं, होते हैं, होवेंगे। उन-उनकी जो विराधना की है, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

प्रतिक्रमण भक्ति में भी कहा है—

दश भरत-ऐरावत में और पाँच महाविदेहों में, जो लोक में साधु, संयत और तपस्वी हैं ये सब मेरे लिए मंगल करें और मुझे पवित्र करें।

यहाँ अभिप्राय यह है कि संक्षेप में ढाईद्वीप में पंद्रह कर्मभूमियाँ हैं और विस्तार से एक सौ सत्तर कर्मभूमियाँ हैं।

अब यहाँ एक सौ सत्तर कर्मभूमियों का स्पष्टीकरण करते हैं—

इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के मध्य में ठीक बीचोंबीच में जंबूद्वीप नाम का पहला द्वीप है। यह एक लाख योजन विस्तृत गोलाकार थाली के समान है। इसे वेष्टित कर दो लाख योजन व्यास वाला लवणसमुद्र है। उसको वेष्टित कर चार लाख योजन व्यास वाला धातकीखण्ड द्वीप है। उसको वेष्टित कर आठ लाख योजन व्यास वाला कालोदधि नाम का समुद्र है। इसे वेष्टित कर सोलह लाख योजन व्यास वाला पुष्कर द्वीप है। इस पुष्करद्वीप के मध्य— ठीक बीच में वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है, इस पर्वत के निमित्त से आभ्यंतर पुष्करद्वीप और बाह्य पुष्करद्वीप ऐसे दो भेद हो जाते हैं। इसीलिए आधे-आधे पुष्कर होने से इसे ‘पुष्करार्ध’ कहते हैं। इस आभ्यंतर पुष्करार्ध द्वीप में कर्मभूमि की व्यवस्था है और मनुष्यों का अस्तित्व यहीं तक है अतः यहाँ तक यह मर्त्यलोक—मनुष्यलोक कहलाता है। पुनः इस मानुषोत्तर पर्वत से आगे के बाह्य भाग में भोगभूमि की व्यवस्था है।

दूने-दूने विस्तार से मानुषोत्तर पर्वत पर्यंत यह मनुष्यलोक पैतालिस लाख योजन विस्तार वाला है। इतने प्रमाण मात्र का ही ‘सिद्धलोक’ है।

इस जंबूद्वीप में हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी नाम वाले छह कुलाचल पर्वत हैं। इन पर्वतों से विभाजित हुए भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

इन सातों में से भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रों में विजयार्ध पर्वत और गंगा-सिंधु तथा विजयार्ध पर्वत व रक्ता-रक्तोदा नदियों के निमित्त से छह-छह खण्ड हो जाते हैं। इन भरत और ऐरावत क्षेत्रों में छह काल परिवर्तन के निमित्त से अशाश्वत कर्मभूमियाँ हैं। श्री उमास्वामी आचार्यदेव ने तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में कहा भी है—

भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह कालों से वृद्धि और ह्रास होते हैं। १२७।।

विदेहक्षेत्र के ठीक मध्य में ‘सुदर्शनमेरु’ नाम का सुमेरुपर्वत है। इस सुमेरु की विदिशाओं में चार गजदंत पर्वत हैं। इस मेरु के दक्षिण और उत्तर में देवकुरु और उत्तरकुरु नाम की दो उत्तम भोगभूमियाँ हैं। इस

मेरु के पूर्व और पश्चिम में सीता और सीतोदा नदियाँ हैं इसलिए इन सीता-सीतोदा नदी के निमित्त से पूर्व विदेह-पश्चिम विदेह में दक्षिण-उत्तर ऐसे भेद होकर विदेहक्षेत्र के चार भेद हो गये हैं।

पूर्व विदेह में सीतानदी के उत्तर भाग से प्रारंभ करके दक्षिण भाग पर्यंत चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट, एकशैलकूट, त्रिकूट, वैश्रवण, अंजन और आत्मांजन नाम के आठ वक्षार पर्वत हैं। इन्हीं के मध्य गाधवती, हृदवती, पंकवती, तप्तजला, मत्तजला, उन्मत्तजला नाम की छह विभंगा नदियाँ हैं। इन वक्षार और विभंगा नदियों के निमित्त से सोलह विदेह देश पूर्व विदेहक्षेत्र में हो गये हैं।

इसी प्रकार से पश्चिम विदेह सीतोदा महानदी के दक्षिण भाग से प्रारंभ कर उत्तर भाग पर्यंत क्रम से श्रद्धावान, विजटावान, आशीविष, सुखावह, चंद्रमाल, सूर्यमाल, नागमाल और देवमाल ये आठ वक्षार पर्वत हैं तथा क्षारोदा, सीतोदा, स्रोतोवाहिनी, गंभीरमालिनी, फेनमालिनी और ऊर्मिमालिनी नाम से छह विभंगा नदियाँ हैं। इन सोलह वक्षार और छह विभंगा नदियों के निमित्त से यहाँ भी पश्चिमविदेह क्षेत्र में सोलह विदेह क्षेत्र हो जाते हैं। ये सभी विदेह देश — क्षेत्र मिलाकर बत्तीस हो जाते हैं।

इन बत्तीस विदेह क्षेत्रों के नाम कहते हैं —

कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला, पुष्कलावती ये विदेहदेश सीतानदी के उत्तर तट पर भद्रसाल वेदी के आगे से क्रम से स्थित हैं पुनः इसी सीता नदी के दक्षिण तट पर देवारण्य वेदिका के आगे से प्रारंभ होकर वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, सुरम्या, रमणीया और मंगलावती ये आठ विदेह क्षेत्र हैं पुनः सुमेरु के पश्चिम भाग में सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर भद्रसाल वेदी के आगे से क्रम से पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंखा, नलिनी, कुमुदा और सरित् ये आठ विदेह क्षेत्र हैं। आगे इसी सीतोदा नदी के उत्तर तट पर देवारण्य वेदिका से आगे से लेकर वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गंधा, सुगंधा, गंधिला और गंधमालिनी ये आठ विदेह क्षेत्र हैं।

इन प्रत्येक बत्तीस विदेह क्षेत्रों में विजयार्थ पर्वत और गंगा-सिंधु नदी के निमित्त से छह-छह खण्ड हो जाते हैं। सीता-सीतोदा के दक्षिण भाग में नदियों के नाम रक्ता-रक्तोदा हैं यह विशेष जानना। इन छह खण्डों में पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं और एक-एक आर्यखण्ड हैं।

अब पूर्वोक्त कच्छ आदि विदेह क्षेत्रों में आर्यखण्ड के मध्य में स्थित जो राजधानी हैं, उनके नाम कहते हैं—

क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, औषधि, पुण्डरीकिणी। सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरा, अंका, पद्मावती, शुभा, रत्नसंचया। अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, वीतशोका। विजया, वैजयंती, जयंता, अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या और अवध्या ये क्रमशः बत्तीस राजधानी हैं।

इस प्रकार जंबूद्वीप में भरत और ऐरावत क्षेत्र में एक-एक आर्यखण्ड ऐसे दो आर्यखण्ड हैं। ये बत्तीस देश-बत्तीस विदेह क्षेत्रों के बत्तीस आर्यखण्ड और भरत-ऐरावत के मिलकर चौतीस आर्यखण्ड हैं। ये ही चौतीस कर्मभूमियाँ हैं।

धातकी खण्ड में पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड में चौतीस-चौतीस कर्मभूमियाँ हैं। इसी प्रकार पुष्करार्थ द्वीप में पूर्व पुष्करार्थ और पश्चिम पुष्करार्थ रूप से दोनों में चौतीस-चौतीस कर्मभूमियाँ हैं।

इस तरह ढाई द्वीपों में एक सौ सत्तर कर्मभूमियाँ हैं। इनमें से एक सौ साठ (१६०) कर्मभूमियाँ शाश्वत हैं। पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों की दश कर्मभूमियाँ अशाश्वत हैं।

इन कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए मनुष्य ही केवली भगवान अथवा श्रुतकेवली महामुनियों के पादमूल में सोलहकारण भावनाओं को भा करके और तद्रूप से परिणत हो करके तीर्थंकर प्रकृति के बंध को करने में समर्थ हो सकते हैं, अन्य जीव नहीं, ऐसा जानना।

यहाँ तात्पर्य यह है कि — यह सब जानकर कर्मभूमियों में उत्पन्न होकर प्रतिदिन दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं को भाते हुए तथा तीर्थंकर पद के लिए कारणभूत ऐसी इन भावनाओं रूप से परिणमन करते हुए चिंतन करना चाहिए कि हमें तीर्थंकर भगवान, केवली भगवान अथवा श्रुतकेवली महामुनियों का पादमूल — चरणसान्निध्य कब प्राप्त होगा ? ऐसा चिंतन करते हुए हमें अपना सम्यग्दर्शन दृढ़ करना चाहिए। चूँकि ऐसी भावनाओं के करते रहने से एक न एक दिन हमें तीर्थंकर भगवन्तों के समवसरण का सौभाग्य अवश्य प्राप्त होगा तथा सम्यग्दर्शन, रत्नत्रय अथवा एकदेशसंयम के माहात्म्य से नियम से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। वहाँ पर अवधिज्ञान से एवं दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं की भावना के संस्कार के निमित्त से विदेहक्षेत्र में जाकर वहाँ श्री सीमंधर भगवान के समवसरण में पहुँचकर हम और आप साक्षात् जिनेन्द्रदेव, श्री तीर्थंकर भगवान का बार-बार दर्शन करके अपने सभी मनोरथों को पूर्ण करेंगे।



स्वाध्याय का माहात्म्य

निरस्त सर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः।

प्ररूढजन्माङ्कुरशोषपूषा स्वाध्यायतोऽन्योस्ति ततो न योगः॥

गुणाः पवित्राः शमसंयमाय्य विबोधहीनाः क्षणतश्चलन्ति।

कालं कियन्तं तलपुष्पपूर्णास्तिष्ठन्ति वृक्षाः क्षतमूल बंधाः॥

अर्थ—जिस स्वाध्याय के द्वारा प्राणीवर्ग की समस्त इन्द्रियों और कषायों को प्रवृत्ति से रहित किया जाता है और जो बढ़ते हुए भावाङ्कुर के सुखाने के लिए सूर्य सदृश है, ऐसे स्वाध्याय से बढ़कर अन्य कोई योग-ध्यान नहीं है अर्थात् स्वाध्याय करते समय पाँचों इन्द्रियों का अशुभ व्यापार छूट जाता है और कषायों की प्रवृत्ति भी नहीं दिखती है, मन केवल अर्थ के चिन्तन में शांत रहता है तथा संसार की परम्परा घट जाती है। आज के युग में इस स्वाध्याय के अतिरिक्त और ध्यान क्या किया जा सकता है?

कषायों की मंदतारूप प्रशम भाव और संयम आदि जितने भी पवित्र गुण हैं वे सब यदि ज्ञान से रहित हैं तो क्षणमात्र में चलायमान हो जाते हैं। जिन वृक्षों का मूल जड़-बंधन विनष्ट हो गया है, ऐसे पत्र, पुष्पों से परिपूर्ण भी वृक्ष कितने समय तक खड़े रह सकते हैं? अर्थात् जैसे जड़ के उखड़ जाने से हरे-भरे वृक्ष भी गिर जाते हैं वैसे ही ज्ञान के बिना शम-संयम आदि गुण अधिक काल नहीं टिक पाते हैं। इसलिए सतत ही जैन आगम का स्वाध्याय करना चाहिए।

— श्री अमितगतिसूरि

१५. दस धर्म महत्त्व

सिद्धिप्रासादनिःश्रेणी-पंक्तिवत् भव्यदेहिनाम्।

दशलक्षणधर्मोऽयं, नित्यं चित्तं पुनातु नः॥१॥

भव्य जीवों के सिद्धिमहल पर चढ़ने के लिये सीढ़ियों की पंक्ति के समान यह दशलक्षणमय धर्म नित्य ही हम लोगों के चित्त को पवित्र करे।

उत्तम क्षमा धर्म

सर्वं यो सहते नित्यं क्षमादेवीमुपास्य सः।

पार्श्ववत् जायते जित्वोपसर्गाश्च परीषहान्॥१॥

शांतिः किं स्यात्क्रुधा किं नु नश्येत् वैरं हि वैरतः।

रक्तेन रञ्जितं वस्त्रं, किं रजसा विशुद्ध्यति॥२॥

अपकर्त्रे हि कोपश्चेत्, किं न कोपाय कुप्यसि।

क्रोधोऽयं ते महाशत्रुर्लोकद्वयविनाशकृतः॥३॥

मुनयः पांडवाद्याश्च प्राणहारिरिपूनपि।

क्षान्त्वा सर्वसहाः सिद्धा जातास्तेभ्यो नमोऽस्तु मे॥४॥

द्रव्यं भावं द्विधा क्रोधं भित्वाहं स्वात्मचिंतनात्।

उत्तमक्षांतियुक्स्वात्मज्ञानं लप्स्ये सुखं ध्रुवम्॥५॥

जो क्षमा देवी की उपासना करके हमेशा सभी कुछ सहन कर लेता है वह उपसर्गों और परीषहों को जीतकर पार्श्वनाथ तीर्थकर के सदृश महान हो जाता है। क्या क्रोध से शांति हो सकती है ? क्या बैर से बैर का नाश हो सकता है ? क्या खून से रंगा हुआ वस्त्र खून से ही साफ हो सकता है ? यदि अपकार करने वाले के प्रति तुझे क्रोध आता है तो फिर तू क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करता है ? क्योंकि यह क्रोध तो तेरे दोनों लोकों को विनाश करने वाला महाशत्रु है। पांडव, गजकुमार आदि महामुनि अपने प्राणों का घात करने वाले महाशत्रुओं को भी क्षमा करके 'सर्वसह' सिद्ध हो गये हैं उनको मेरा नमस्कार होवे। द्रव्य और भाव इन दो प्रकार के क्रोध को मैं अपने आत्मचिन्तन के बल से भेदन करके उत्तम क्षमा से युक्त अपने ज्ञान और सौख्य को निश्चित रूप से प्राप्त करूँगा, हमेशा ऐसी भावना भाते रहना चाहिये॥१-५॥

उत्तम मार्दव धर्म

मार्दवः स्यान्मृदोर्भावो, मानशत्रोर्विमर्दकः।

चतुर्धा विनयोपेतो, वर्जितः सोऽष्टभिर्मदैः॥१॥

इन्द्रवत् खग इन्द्राख्यो, रावणेन विनिर्जितः।

रावणोऽपि स्वयं नष्टः, किं मानेन प्रयोजनम्॥२॥

उच्चं नीचं धृतं सर्वं, पर्यायं भुवने मया।

इन्द्रसौख्यमवाप्तं हा! निगोदेष्वपि दुःखितः॥३॥

चक्रभृत् भरतेशोऽपि, वृषभाद्रिं व्यलोकयत्।
 स्फेटयित्वाक्षरं तत्र, स्वप्रशस्तिं लिलेख सः॥४॥
 स्वात्मगुणस्य सन्मानैः स्वात्मानंदामृतं स्वदे।
 स्वाभिमाने पदे स्थित्वा ज्ञानादिगुणमाप्नुयाम्॥५॥

मृदु का भाव मार्दव है, यह मार्दव मानशत्रु का मर्दन करने वाला है, यह आठ प्रकार के मद से रहित है और चार प्रकार की विनय से संयुक्त है। देखो, इन्द्र नाम का विद्याधर इन्द्र के समान वैभवशाली था फिर भी रावण के द्वारा पराजय को प्राप्त हुआ है और वह रावण भी एक दिन मान के वश में नष्ट हो गया, अतः मान से क्या लाभ है ? मैंने इस संसार में ऊँच और नीच सभी पर्यायों धारण की हैं। अहो ! मैंने इन्द्रों के सुख भी प्राप्त किये हैं और हा ! खेद है कि निगोद पर्याय में दुःख भी प्राप्त किये गये हैं। देखो, चक्ररत्न को धारण करने वाले भरत चक्रवर्ती भी वृषभाचल पर्वत को देखता है पुनः उस पर से अक्षर को मिटाकर वह अपनी प्रशस्ति को लिखता है। अपने आत्मगुणों के सन्मान से अपने आत्मा के आनन्दरूपी अमृत को चखना चाहता हूँ। अपने स्वाभिमानमय पद में स्थित होकर मैं ज्ञानादिगुण को प्राप्त कर लूँ, मेरी यही भावना है, प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी भावना सदा भाते रहना चाहिये॥१-५॥

उत्तम आर्जव धर्म

आर्जवः स्यादृजोर्भावः त्रियोगं सरलं कुरु।
 तिर्यग्योनिर्भवेल्लोके माययानंतकष्टदा॥१॥
 छद्मतः सगरो राजाऽवमेने मधुपिंगलः।
 सोऽपि कालासुरो भूत्वा हिंसायज्ञमकारयत्॥२॥
 साधुर्मृदुमतिः छद्मभावात् हस्ती बभूव च।
 धिक् धिक् मायामहादेवी यत्प्रसादाद् भुवि भ्रमेत्॥३॥
 ऊर्ध्वगः ऋजुभावेन कौटिल्येन चतुर्गतिः।
 यत्ते रोचेत तत्कुर्याः किमन्यैर्बहुजल्पनैः॥४॥
 विश्वासं परतः त्यक्त्वा, स्थित्वा स्वस्मिन् स्वयं स्वतः।
 त्रियोगमचलं कृत्वा स्वकं रत्नत्रयं लभे॥५॥

ऋजु अर्थात् सरलता का भाव आर्जव है अर्थात् मन-वचन-काय को कुटिल नहीं करना। इस मायाचारी से अनंतों कष्टों को देने वाली तिर्यक् योनि मिलती है। सगर राजा ने सुलसा से स्वयंवर में मायाचारी से मधुपिंगल का अपमान किया था पुनः वह मधुपिंगल मरकर 'काल' नाम का असुर देव हो गया और उसने द्वेष में आकर हिंसामयी यज्ञ को चला दिया। मृदुमति नाम के मुनि ने मायाचारी की, जिसके फलस्वरूप वह त्रिलोकमंडन हाथी हो गया। इसलिये इस माया नाम की महादेवी को धिक्कार हो ! धिक्कार हो ! कि जिसके प्रसाद से यह जीव संसार में परिभ्रमण करता है। सरल भाव से ऊर्ध्वगति होती है। इसका अर्थ यह भी है कि ऋजुगति से जीव मोक्ष गमन करता है और कुटिलता से चारों गतियों में अर्थात् वक्रगति में संसार में भ्रमण करता है अतः बहुत अधिक कहने से क्या? इसमें से तुझे जो रुचता है सो कर। पर वस्तु से विश्वास को त्याग

कर मैं अपने में आप स्वयं स्थित होकर मन-वचन-काय को स्थित करके अपने रत्नत्रय को प्राप्त करूँगा, ऐसी भावना प्रतिदिन भाते रहना चाहिये॥१-५॥

उत्तम सत्य धर्म

सत् सम्यक् च प्रशस्तं स्यात् सत्यं पीयूषभृद् वचः।
 मिथ्यापलापकं वाक्यं धर्मशून्यं सदा त्यज॥१॥
 गर्हितं निन्दितं हिंसापैशून्याप्रियकर्कशं॥
 आक्रोशक्रोधवैरादिसावद्योत्सूत्रकं त्यजेः॥२॥
 मंत्री श्रीवन्दकोऽसत्यैर्वाक्यैर्दृग्भ्यां च्युतः क्षणात्।
 वसुगजाप्यसत्पक्षात् सप्तमं नरकं गतः॥३॥
 सत्यं प्रियं हितं वाक्यं सुन्दरं सर्वसिद्धिदं।
 विश्वासघातवल्लोके महापापं न वर्तते॥४॥
 स्वस्मात् भिन्नं परद्रव्यं मा कुर्वात्मन्! स्वकीयकम्।
 सम्यक् स्वस्मिन् स्वकं ध्यात्वा, स्वात्माह्लादं सुखं भज॥५॥

सत् अर्थात् समीचीन और प्रशस्त वचन सत्य कहलाते हैं। ये वचन अमृत से भरे हुये हैं। मिथ्या अपलाप करने वाले और धर्मशून्य वचन सदा छोड़ो। गर्हित, निन्दित, हिंसा, चुगली, अप्रिय, कठोर, गाली-गलौज, क्रोध, वैर आदि के वचन, सावद्य के वचन और आगम विरुद्ध वचन इन सबको छोड़ो। देखो! श्रीवन्दक नामक बौद्ध मंत्री असत्य वचनों के द्वारा क्षण मात्र में आँखों से अंधा हो गया। वसु राजा भी असत्य के पक्ष में सातवें नरक में चला गया। सत्य, प्रिय, हितकर और सुन्दर वचन सर्वसिद्धि को देने वाले हैं। इस लोक में विश्वासघात के समान महापाप कोई नहीं है। हे आत्मन्! अपने से भिन्न परद्रव्य को अपना मत बनाओ और अपने में अपने को अच्छी तरह से ध्याकर अपनी आत्मा के आह्लादमय सुख को प्राप्त करो, ऐसी भावना सतत भाते रहना चाहिये॥१-५॥

उत्तम शौच धर्म

शुचेर्भावो भवेत् शौचमन्तर्लोभो निवार्यताम्।
 या निर्लोभवती देवी त्वया नित्यमुपास्यताम्॥१॥
 कामधेनुं ऋषिं हत्वा कृतवीरोऽहरत् ततः।
 जघानैकविंशतिशः क्षत्रियान् जमदग्निजः॥२॥
 देहीति वाक्यतो नूनं, नाऽप्यणुवल्लघुर्भवेत्।
 दाता गगनवल्लोके, विशालः स्याच्च कीर्तिमान्॥३॥
 जलाद्यैर्बाह्यशुद्धिं च, कुर्वति श्रावकाः सदा।
 स्वात्मशुद्धिं च कुर्वति साधवो ब्रह्मचारिणः॥४॥

ज्ञानामृतैरहं शश्वदात्मकर्ममलं नुदन्।
स्वयं शौचगुणैः लप्स्ये स्वात्मसौख्यामृतं शुचि॥५॥

शुचि—पवित्रता का भाव शौच है अर्थात् अंतरंग के लोभ को दूर कीजिये और जो निर्लोभवती देवी है उसकी नित्य ही उपासना कीजिये। राजा कृतवीर ने जमदग्नि ऋषि को मारकर उसकी कामधेनु का अपहरण कर लिया। तब ऋषि पुत्र परशुराम ने भी क्रुद्ध होकर इक्कीस बार राजवंश को समूल नष्ट कर दिया। 'देहि' अर्थात् देओ ! इस वाक्य से निश्चित ही वह मनुष्य अणु के समान लघु हो जाता है और देने वाला दाता लोक में आकाश के समान विशाल और कीर्तिमान हो जाता है। श्रावक हमेशा जल आदि से बाह्य शुद्धि करते हैं और साधुगण तथा ब्रह्मचारी जन आत्मशुद्धि करते हैं। मैं ज्ञानरूपी अमृत से हमेशा आत्मा के कर्ममल को दूर करते हुए स्वयं शौच गुणों से पवित्र अपनी आत्मा के सुखरूपी अमृत को प्राप्त करूँगा, प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा ऐसी भावना करते रहना चाहिये॥१-५॥

उत्तम संयम धर्म

प्राणीन्द्रियैर्द्विधा प्रोक्तः, संयमः संयतैः जनैः।
षट्कायजीवरक्षा स्यात् पंचेन्द्रियमनोजयः॥१॥
जीवानां संकुले लोके, कुर्वे ह्याचरणं कथम्।
भाषे भुंजे कथं स्वामिन्! यतो पापं न बध्यते॥२॥
यत्नादाचरणं कुर्याः, यत्नात् भाषण भोजनम्।
यत्नात् सर्वा क्रियां कृत्वा त्वया पापं न बध्यते॥३॥
एकव्रतयुतं शत्रुं सीताचरोऽपि रावणम्।
सम्यक्त्वं ग्रहयित्वा सोऽकार्षीत् वैरविमोचनम्॥४॥
संयम्येन्द्रियचेतोऽहं वाञ्छामि स्वात्मनि स्थितिं।
कर्म कर्मफलं भुंजन, मनाक् खेदमनाप्नुयाम्॥५॥

संयत मुनियों में प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम की अपेक्षा दो भेद हैं। पाँच स्थावर और त्रस ऐसे षट्काय जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है और पाँच इन्द्रियों तथा मन का जय करना इन्द्रिय संयम है। हे भगवन्! जीवों से ठसाठस भरे हुये इस संसार में मैं कैसे प्रवृत्ति करूँ? कैसे बोलूँ? और कैसे भोजन करूँ? कि जिससे पाप का बन्ध नहीं होवे। इस प्रकार से प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि यत्नपूर्वक आचरण करो, यत्नपूर्वक भाषण और भोजन करो तथा यत्नपूर्वक संपूर्ण क्रिया करने से तुम्हें पाप का बन्ध नहीं होगा। देखो! सीता का जीव जब अच्युतेन्द्र हुआ तब 'एक व्रत को धारण करने से रावण मेरे साथ बलात्कार करने के लिये प्रयत्नशील नहीं हुआ' ऐसा सोचकर वह अच्युतेन्द्र नरक में जाकर रावण को सम्यक्त्वं ग्रहण कराकर वैर का त्याग कर देता है। मैं सर्व इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित करके अपनी आत्मा में स्थित करना चाहता हूँ कि जिससे कर्म और कर्म के फल को भोगता हुआ किंचित् मात्र खेद को न प्राप्त होऊँ, प्रतिदिन ऐसी भावना भाते रहना चाहिये॥१-५॥

उत्तम तप धर्म

तपो द्वादशधा प्रोक्तं, बाह्याभ्यंतरसंयुतम्।
 बाह्यमनशनादि स्यात्, प्रायश्चित्तादि चांतरम्॥१॥
 सम्यक् तपांसि रुन्धन्ति, पतनं भववारिधौ।
 कायं कृष्ट्वा समाप्नोति नरोऽनंतबलं सुखम्॥२॥
 मयनाममुनीशं सा स्पृष्ट्वा सिंहेन्दुकं पतिं।
 अस्त्राक्षीत् तत्क्षणं सोऽपि, निर्विषस्तमपूजयत्॥३॥
 तपोभिर्दीप्ततप्ताद्याः ऋद्धयः प्रभवन्त्यरम्।
 निस्पृहा अपि ते सन्तः कथ्यन्तेऽत्र तपोधनाः॥४॥
 इच्छां सर्वां निरुध्याशु, तप्त्वा सम्यक् तपः स्वयं।
 ध्यानाग्नौ कर्मकाष्ठानि क्षिप्त्वा शुद्धो भवाम्यहम्॥५॥

तप के बाह्य और आभ्यंतर से युक्त बारह भेद कहे गये हैं। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशयनासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान ये छह अंतरंग तप हैं। सम्यक् तप जीव के संसार समुद्र में पतन को रोक लेते हैं। मनुष्य काय को कृश करके अपने अनंतबल और सुख को प्राप्त कर लेता है। एक रानी ने मय नाम के ऋद्धियुक्त मुनि का स्पर्श करके विष से मूर्छित अपने पति राजा सिंहेन्दु का स्पर्श किया तो उसी क्षण वे निर्विष हो गये पुनः उन मुनि की पूजा की। तप के प्रभाव से दीप्त तप, तप्ततप आदि ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं फिर भी वे साधु उनसे निस्पृह रहते हैं अतः वे 'तपोधन' इस सार्थक नाम से पुकारे जाते हैं। संपूर्ण इच्छाओं का निरोध करके मैं सम्यक् तप को तपकर ध्यानरूपी अग्नि में कर्म ईंधन को डालकर शुद्ध हो जाऊँगा, ऐसी भावना से ही कर्म नष्ट होते हैं॥१-५॥

उत्तम त्याग धर्म

रत्नत्रयस्य दानं स प्रासुक त्याग उच्यते।
 चतुर्धा दानमप्यार्षात् त्रिधा पात्राय दीयते॥१॥
 वज्रजंघो नृपो राज्ञया श्रीमत्या सह कानने।
 भुक्तिं ददौ मुनिभ्यां स तीर्थेशो वृषभोऽभवत्॥२॥
 भूत्वा श्रीमत्यपि श्रेयान् दानतीर्थं प्रवर्तकः।
 श्रीकृष्ण औषधेर्दानात् पुण्यभाक् भावितीर्थकृत्॥३॥
 सच्छास्त्रदानतो गोपः काँडेशः श्रुतपारगः।
 वसते दानमाहात्म्यात् घृष्टिः स्वर्गतिमाप्तवान्॥४॥
 रत्नत्रयमहं दत्त्वा स्वस्मै सर्वगुणात्मकम्।
 स्वात्मतत्त्वं लभेयाशु स्वस्मिन्नेव लयं पुनः॥५॥

‘रत्नत्रय का दान देना वह प्रासुक त्याग कहलाता है और तीन प्रकार के पात्रों के लिए चार प्रकार दान

देना भी त्याग है' ऐसा आर्ष ग्रंथ में कहा है। राजा वज्रजंघ ने रानी श्रीमती के साथ वन में युगल मुनि को आहारदान दिया था, जिसके फलस्वरूप वे वृषभ तीर्थकर हुए हैं तथा उनकी रानी श्रीमती भी उसी के प्रभाव से आगे राजा श्रेयांस होकर दानतीर्थ के प्रवर्तक हुए हैं। श्रीकृष्ण ने एक मुनि को औषधिदान दिया था, जिससे वे भविष्य में पुण्य के स्थान ऐसे तीर्थकर होवेंगे। सच्चे शास्त्र के दान से एक ग्वाला अगले भव में कौंडेश मुनि होकर श्रुतज्ञानी हुआ। वसतिका के दान के प्रभाव से सूकर ने स्वर्ग को प्राप्त कर लिया। मैं भी रत्नत्रय का दान अपने को देकर सर्व गुणों से परिपूर्ण स्वात्म तत्त्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेऊँ और उसी में लीन हो जाऊँ, ऐसी भावना प्रत्येक व्यक्ति को भाते रहना चाहिए॥१-५॥

उत्तम आकिंचन्य धर्म

अकिञ्चनो न मे किञ्चित् आत्मानंत गुणात्मकः।
 परद्रव्यात् सदा भिन्नस्त्रैलोक्याधिपतिर्महान्॥१॥
 अणुमात्रं परं स्वस्य, मत्वा जीवो भवे भ्रमेत्।
 कायेऽपि निर्ममो भूयात् लोकाग्रे निवसेत्तदा॥२॥
 जमदग्निमुनिर्मिथ्यातापसोऽभूत् परिग्रही।
 भवाब्धौ पतितो दीर्घभारैः स्यात्कथमूर्ध्वगः॥३॥
 पिच्छि कमंडलु शास्त्रं गृण्हाति देहनिः स्पृहः।
 आतापनादियोगेषु तिष्ठेत् स्वात्मैक्यसंगतः॥४॥
 भगवन्। त्वत्प्रसादान्मे शक्तिः प्रादुर्भवेत्त्वरम्।
 गिरिकंदर दुर्गेषु स्वं ध्यायन्, सिद्धिं माप्नुयाम्॥५॥

‘न मे किञ्चन अकिञ्चनः’ मेरा कुछ भी नहीं है अतः मैं अकिञ्चन हूँ। फिर भी मेरी आत्मा अनंत गुणों से परिपूर्ण है। मैं सदा परद्रव्य से भिन्न हूँ और तीन लोक का अधिपति महान् हूँ। यह अणुमात्र भी परवस्तु को जब तक अपनी मानता रहता है तब तक संसार में भ्रमण करता रहता है और जब काय से भी निर्मम हो जाता है तब लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाता है। जमदग्नि मुनि ने मिथ्या तापसी होकर स्त्री आदि का परिग्रह स्वीकार कर लिया अतः वह संसार समुद्र में डूब गया। सच है, दीर्घ भार लेकर मनुष्य ऊपर कैसे गमन कर सकता है ? शरीर से भी निःस्पृह हुए साधु पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र को ग्रहण करते हैं फिर भी अपनी आत्मा में एकाग्र होते हुए आतापन आदि योगों में स्थित हो जाते हैं। हे भगवन् ! आपके प्रसाद से शीघ्र ही मुझ में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जावे कि मैं पर्वत पर, कन्दराओं में और दुर्ग आदि प्रदेशों में अपनी आत्मा का ध्यान करते हुए सिद्धि पद को प्राप्त कर लेऊँ, ऐसी भावना सदा भाते रहना चाहिए॥१-५॥

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

आत्मैव ब्रह्म तस्मिन् स्यात् चर्येति ब्रह्मचर्यभाक्।
 वासो वा गुरुसंघेऽपि ब्रह्मचारी स उत्तमः॥१॥
 एकमंकं विनाऽसंख्यविंदूनां गणना नु का ?
 ऋते ब्रह्मव्रताल्लोकेऽन्यव्रतानां फलं कुतः ?॥२॥

अभुक्त्वापि परित्यक्तं विश्वमुच्छिष्टवत् पुरा।
 यैस्तान्नमामि भवत्याहं कौमारब्रह्मचारिणः॥३॥
 अणुब्रह्मव्रती श्रेष्ठी यशस्वीह सुदर्शनः।
 सीतायाः शीलमाहात्म्यात् अग्निर्वारिसरोऽभवत्॥४॥
 स्वब्रह्मणि रमित्वाहं हित्वा सर्वान् विकल्पकान्।
 लब्ध्वा ज्ञानवतीं लक्ष्मीं भविष्यामि जगत्पतिः॥५॥

‘आत्मा ही ब्रह्म है उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा में चर्या करना सो ब्रह्मचर्य है अथवा गुरु के संघ में रहना भी ब्रह्मचर्य है। इस विध चर्या को करने वाला उत्तम ब्रह्मचारी कहलाता है। जिस प्रकार से एक (१) अंक को रखे बिना असंख्य बिन्दु भी रखते जाइये, किन्तु क्या कुछ संख्या बन सकती है ? नहीं, उसी प्रकार से एक ब्रह्मचर्य के बिना अन्य व्रतों का फल कैसे मिल सकता है अर्थात् नहीं मिल सकता। पहले बिना भोगे भी जिन्होंने इस विश्व को उच्छिष्ट के सदृश समझकर छोड़ दिया है, मैं उन बाल ब्रह्मचारियों को नमस्कार करता हूँ। देखो ! सुदर्शन सेठ ने ब्रह्मचर्याणुव्रत का ही पालन किया था, फिर भी वे आज तक यशस्वी हैं। सीता के शील के माहात्म्य से अग्नि भी जल का सरोवर हो गई थी। मैं भी सर्व विकल्पों को छोड़कर अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मा में रमण करके ज्ञानवती लक्ष्मी को प्राप्त करके पुनः निश्चित हो तीनलोक का स्वामी हो जाऊँगा, ऐसी भावना सतत करनी चाहिए॥१-५॥

दश धर्म एक कल्पवृक्ष है

क्षमामूलं मृदुत्वं स्यात्, स्कंध शाखाः सदाज्वलम्।
 शौचं कं सत्यपत्राणि, पुष्पाणि संयमस्तपः॥१॥
 त्यागश्चाकिञ्चनो ब्रह्म मंजरी सुमनोहरा।
 धर्मकल्पद्रुमश्चैव दत्ते श्वश्च शिवं फलम्॥२॥
 धर्मकल्पतरो ! त्वाहं समुपास्य पुनः पुनः।
 ज्ञानवत्या श्रिया युक्तं, याचे मुक्त्यैकसत्फलम्॥३॥

क्षमा जिसकी जड़ है, मृदुता स्कंध है, आर्जव शाखाएँ हैं, उसको सिंचित करने वाला शौचधर्म जल है, सत्यधर्म पत्ते हैं, संयम, तप और त्याग रूप पुष्प खिल रहे हैं, आकिञ्चन और ब्रह्मचर्य धर्मरूप सुन्दर मंजरियाँ निकल आई हैं। ऐसा यह धर्मरूप कल्पवृक्ष स्वर्ग और मोक्षरूप फल को देता है। हे धर्मकल्पतरो ! मैं तुम्हारी पुनः-पुनः उपासना करके तुमसे ज्ञानवती लक्ष्मी से युक्त मुक्तिरूप एक सर्वोत्कृष्ट फल की ही याचना करता हूँ॥१ से ३॥

क्षमावणी

पर्यूषण पर्व का प्रारंभ भी क्षमाधर्म से होता है और समापन भी क्षमावणी पर्व से किया जाता है। दश दिन धर्मों की पूजा करके, जाप्य करके जो परिणाम निर्मल किये जाते हैं और दश धर्मों का उपदेश श्रवण कर जो आत्म शोधन होता है, उसी के फलस्वरूप सभी श्रावक-श्राविकाएँ किसी भी निमित्त परस्पर में होने वाली मनोमलिनता को दूरकर आपस में क्षमा कराते हैं क्योंकि यह क्रोध कषाय प्रत्यक्ष में ही अग्नि के समान

भयंकर है। क्रोध आते ही मनुष्य का चेहरा लाल हो जाता है। ओंठ काँपने लगते हैं, मुखमुद्रा विकृत और भयंकर हो जाती है किन्तु प्रसन्नता में मुखमुद्रा सौम्य, सुन्दर दिखती है। चेहरे पर शांति दिखती है। वास्तव में शांत भाव का आश्रय लेने वाले महामुनियों को देखकर जन्मजात वैरी ऐसे क्रूर पशुगण भी क्रूरता छोड़ देते हैं। यथा—

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नंदिनी व्याघ्र पोतं।

मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकांता भुजंगीम्।।

वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जंतवोऽन्ये त्यजन्ति।

श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्।।

हरिणी सिंह के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है, गाय व्याघ्र के बच्चे को दूध पिलाती है, बिल्ली हंसों के बच्चों को प्रीति से लालन करती है एवं मयूरी सर्पों को प्यार करने लगती है। इस प्रकार से जन्मजात भी वैर को क्रूर जंतुगण छोड़ देते हैं। कब ? जबकि वे पापों को शांत करने वाले मोहरहित और समताभाव में परिणत ऐसे योगियों का आश्रय पा लेते हैं अर्थात् ऐसे महामुनियों के प्रभाव से हिंसक पशु अपनी द्वेष भावना छोड़कर आपस में प्रीति करने लगते हैं। ऐसी शांत भावना का अभ्यास इस क्षमा के अवलंबन से ही होता है।

क्रोध कषाय को दूर कर इस क्षमाभाव को हृदय में धारण करने के लिए भगवान् पार्श्वनाथ का चरित्र, श्री संजयंत मुनि का चरित्र और तुंकारी की कथाएँ पढ़नी चाहिए तथा क्षमाशील साधु पुरुषों का आदर्श जीवन देखना चाहिए। चरित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी आदि साधुओं ने इस युग में भी उपसर्ग करने वालों पर क्षमा भाव धारण करके सदैव प्राचीन आदर्श प्रस्तुत किया है। बहुत से श्रावक भी क्षमा करके-कराके अपने में अपूर्व आनंद का अनुभव करते हैं। अतः हृदय से क्षमा करना तथा दूसरों से क्षमा कराना ही क्षमावणी पर्व है।



धर्म एक सर्वश्रेष्ठ समुद्र है

चारुगुणसलिलपउरं संजमउत्तुंगउम्मिसंघायं।

णिम्मलतवपायालं समिदि महामच्छ संछण्ण।।

जमणियमदीवपउरं वरगुत्तिगंभीर सीलमज्जादं।

णिव्वाणरयणणिवहं धम्मसमुद्दं णमंसामि।।

अर्थ—सुन्दर गुणों रूप जल की प्रचुरता से संयुक्त, संयम रूप उन्नत ऊर्मि समूहों से सहित, निर्मल तपरूप पातालों से परिपूर्ण, समितियों रूपी महामत्स्यों से व्याप्त, यम-नियम रूप प्रचुर द्वीपों (जलजन्तु विशेषों) से संयुक्त, श्रेष्ठ गुप्तियों एवं गंभीर शीलरूप मर्यादा से सहित और निर्वाणरूप रत्नसमूह से सम्पन्न ऐसे धर्मरूप समुद्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

—जम्बूद्वीपपण्णत्ति-आचार्य पद्मनंदि

१६. न्यायदीपिका सार

(१) सामान्य प्रकाश

मंगलाचरण

श्री वर्धमानमहन्तं नत्वा बालप्रबुद्धये।

विरच्यते मितस्पष्टसन्दर्भ-न्यायदीपिका॥१॥

अन्तरंग केवलज्ञानादि रूप और बाह्य समवशरण आदि रूप लक्ष्मी से युक्त श्री वर्धमान भगवान को नमस्कार करके जो व्याकरण, काव्य, कोष, छंद, अलंकार आदि अनेक ग्रंथों में प्रवीण हैं परन्तु “न्यायशास्त्र” में अनभिज्ञ हैं उनको न्यायशास्त्र में प्रवेश कराने के लिए मैं धर्मभूषण यति संक्षिप्त और सरल रचनयुक्त न्यायदीपिका की रचना करता हूँ।

॥“प्रमाणनयैरधिगमः”॥

प्रमाण और नय के द्वारा जीवादिक पदार्थों का ज्ञान होता है इस प्रकार से महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में कहा है। वह परम मोक्ष पुरुषार्थ के लिए साधनभूत सम्यग्दर्शनादिक और उनके विषयभूत जीवादि तत्त्वों के जानने के उपाय को बताता है अर्थात् प्रमाण और नयों के द्वारा ही जीवादि तत्त्वों का सम्यक् प्रकार से ज्ञान होता है क्योंकि प्रमाण और नय के बिना तत्त्वों को जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं है इसलिए जीवादि को जानने के उपायभूत प्रमाण और नयों का वर्णन करना चाहिए। प्रमाण और नयों का वर्णन करने वाले प्राचीन शास्त्र बहुत से हैं फिर भी उनमें से कुछ शास्त्र विस्तारपूर्वक हैं, कुछ शास्त्र गंभीरता लिए हुए हैं तथा कुछ गंभीर अर्थ को लिए हैं। उनमें बालकों का प्रवेश नहीं है इसलिए उन बालकों को सुखपूर्वक प्रमाण नयात्मक न्यायशास्त्रों का पूर्णतया बोध कराने के लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

यहां पर प्रमाण और नयों का वर्णन करने में उद्देश्य, लक्षण निर्देश तथा परीक्षा इन तीन की आवश्यकता है क्योंकि जिसका कथन नहीं किया है उसका लक्षण निर्देश नहीं बन सकता तथा जिसका लक्षण निर्देश नहीं किया उसकी परीक्षा नहीं हो सकती और जिसकी परीक्षा नहीं की है उसका विवेचन भी नहीं हो सकता, लोक में और शास्त्र में भी उसी प्रकार से वस्तु विवेचन की प्रसिद्धि है।

॥ विवेक्तव्यनाममात्रकथनमुद्देशः ॥

जिस वस्तु का विचार करना है उसके नाम मात्र कहने को उद्देश्य कहते हैं।

॥ व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम् ॥

वस्तु समूह में से किसी एक विवक्षित वस्तु के (निश्चय) पृथक कराने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं। इसी प्रकार अकलंकदेव ने भी कहा है—

॥ परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम् ॥

परस्पर मिली हुई वस्तु में से किसी एक वस्तु की भिन्नता जिसके द्वारा समझी जाए उसको लक्षण कहते हैं। उस लक्षण के दो भेद हैं—

१. आत्मभूत २. अनात्मभूत

जो वस्तु के स्वभाव से अभिन्न है उसको आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे — अग्नि का लक्षण उष्णता

है क्योंकि उष्णता अग्नि का स्वरूप है और वह अग्नि को जलादि से पृथक् करा देती है।

जो वस्तु के स्वरूप से भिन्न है उसको अनात्मभूत लक्षण कहते हैं, जैसे — पुरुष का लक्षण दण्ड। किसी ने कहा “दण्डिनम् आनय” अर्थात् दण्डा जिसके हाथ में है उसको लाओ। दण्ड, यह पुरुष का स्वभाव न होकर भी पुरुष को अन्य पुरुषों से पृथक् कर देता है।

॥ असाधारणधर्मवचनं लक्षणम् इति केचित् ॥

असाधारण धर्म के कथन को लक्षण कहते हैं, ऐसा किन्हीं-किन्हीं मत वालों का कथन है। यह ठीक नहीं है क्योंकि लक्ष्य धर्मी वचन का लक्षण धर्म वचन के साथ समानाधिकरण के अभाव का प्रसंग आ जायेगा क्योंकि दण्डादि वस्तु के धर्म न होते हुए भी लक्षण माने जाते हैं तथा अव्याप्त नाम का लक्षणाभास भी इसी प्रकार है। सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं।

लक्षणाभास—जो लक्षण के समान दिखे परंतु लक्षण नहीं हो, उसके ३ भेद हैं—

१. अव्याप्त, २. अतिव्याप्त, ३. असम्भवि।

॥ लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम्, यथा गोः शावलेयत्वम् ॥

जो लक्षण के एकदेश में रहे उसे अव्याप्त कहते हैं। जैसे गाय का लक्षण — चितकबरापना।

॥ लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम् ॥

जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहे उसे अतिव्याप्त कहते हैं। जैसे — गाय का लक्षण पशुपना।

॥ बाधित लक्ष्यवृत्त्यसम्भवि, यथा नरस्य विषाणित्वं ॥

जिसके लक्ष्य में रहने में बाधा आती हो उसे असम्भवि कहते हैं, जैसे — मनुष्य का लक्षण सींग। यहां पर असाधारण धर्म लक्षण, लक्ष्य के एकदेश में रहने से अव्याप्त दोषयुक्त है। लक्ष्यभूत में पूर्णतया व्याप्त नहीं है इसलिए उपर्युक्त लक्षण ही निर्दोष है उसका कथन करना लक्षण निर्देश कहलाता है।

परीक्षा का लक्षण—विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्ययावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। सा खल्वेवं चेदेवं न स्यादेवं चेदेवं स्यादित्येवं प्रवर्तते।

विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए विचार को परीक्षा कहते हैं।

वह परीक्षा यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए, इस प्रकार से प्रवृत्त होती है।

प्रमाण और नय का भी उद्देश्य सूत्रों में ही किया गया है अब उनका लक्षण निर्देश करना चाहिए और परीक्षा यथावसर होगी। उद्देश्य के अनुसार लक्षण का कथन होता है। इस न्याय के अनुसार प्रधान होने के कारण प्रमाण का पहले लक्षण किया जाता है।

॥ सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं ॥

समीचीन ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, यहां प्रमाण लक्ष्य है तथा सम्यग्ज्ञानत्व उसका लक्षण है।

जैसे — गाय का लक्षण “सास्नादिमत्त्व” एवं अग्नि का लक्षण ‘उष्णता’। यहां सम्यक् पद संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय के लिए किया गया है क्योंकि ये तीनों ज्ञान अप्रमाण हैं।

॥ विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ॥

विरुद्ध अनेक कोटि का स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है। जैसे — यह स्थाणु ‘दूँठ’ है अथवा

पुरुष। स्थाणु और पुरुष दोनों में साधारण रूप से रहने वाले ऊंचाई आदि साधारण धर्मों के देखने से और विशेष धर्म स्थाणुगत टेढ़ापन कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत सिर, पैर आदि साधक प्रमाणों का अभाव होने से नाना जातियों का अवगाहन करने वाला ही संशय ज्ञान है।

॥ विपरीतैककोटि-निश्चयोः विपर्ययः, यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्॥

विपरीत एक कोटि के निश्चय कराने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे — सीप में “यह चांदी है” का ज्ञान। इस ज्ञान में सदृशता आदि कारणों से सीप से विपरीत चांदी में निश्चय होता है इसलिए विपर्यय है।

॥ किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः, यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम्॥

क्या है ? इस प्रकार के अनिश्चय रूप सामान्य ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे —

मार्ग में चलते हुए तृण आदि के स्पर्श हो जाने पर “यह क्या है” ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान नाना कोटि का अवलंबन न करने से संशय भी नहीं है, विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से विपर्यय भी नहीं है इसलिए दोनों ज्ञानों से पृथक् यह ज्ञान ही अनध्यवसाय ज्ञान है। यह तीनों ज्ञान अपने विषय में प्रमिति (सच्चे ज्ञान) को उत्पन्न नहीं कर सकते इसलिए अप्रमाणिक हैं। सम्यक् नहीं हो सकते इसलिए सम्यक् पद से उपरोक्त तीनों ज्ञानों का निराकरण — खण्डन किया। ज्ञान पद से प्रमाता, प्रमिति और “च” शब्द से जानने योग्य पदार्थ प्रमेय की व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि निर्दोष होने से इनमें भी सम्यक्त्व है परंतु ज्ञानत्व नहीं है।

शंका—प्रमिति का कर्ता जो प्रमाता है वह ज्ञाता है किन्तु स्वयं ज्ञान नहीं है इसलिए यद्यपि प्रमाता की ज्ञान शब्द से व्यावृत्ति हो सकती है तथापि प्रमिति की व्यावृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि प्रमिति भी यथार्थ ज्ञान स्वरूप ही है।

समाधान—ऐसा तब हो सकता था जबकि यहां पर ज्ञान शब्द भाव साधन होता किन्तु यहां पर इस ज्ञान शब्द को माना है करण साधन। उसकी व्याकरण के अनुसार “ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्” ऐसी निरुक्ति भी होती है तथा ‘करणा धारे चानट्’ इस व्याकरण सूत्र से करण अर्थ में अनट् प्रत्यय होता है। जो ज्ञान शब्द भाव साधन है वह प्रमिति का ही वाचक है किन्तु भाव साधन ज्ञान शब्द से करण साधन ज्ञान शब्द एक भिन्न ही शब्द है। इसी प्रकार प्रमाण शब्द को भी “प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्” ऐसी निरुक्ति के अनुसार यहां पर करण साधन ही समझना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो प्रमाण शब्द की सम्यक्ज्ञान शब्द के साथ एकाधिकरणता नहीं बन सकेगी। इससे यह बात सिद्ध हुई कि प्रमिति क्रिया के जानने रूप क्रिया के प्रति जो करण है, वह प्रमाण है। प्रमाण निर्णय में भी ऐसा ही कहा है कि—“प्रमाण की प्रमाणता यही है कि जो प्रमिति रूप क्रिया के प्रति साधकतम रूप से करण हो।”

शंका—प्रमाण में प्रमाणता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति कैसे होती है ?

समाधान—मीमांसक मत वाले प्रमाण की उत्पत्ति स्वतः मानते हैं और यौग मत वाले प्रमाण की उत्पत्ति की तरह ज्ञप्ति भी पर से ही मानते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है।

जैनियों ने प्रमाणता की उत्पत्ति पर से ही मानी है परन्तु प्रमाणता की ज्ञप्ति अभ्यस्त दशा में स्वतः और अनभ्यस्त दशा में पर से होती है।

बौद्धों के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा—

॥ अविस्वादी ज्ञानं प्रमाणं॥

जो ज्ञान विस्वादा रहित है उसे प्रमाण कहते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि यह असम्भवि दोष से

दूषित है। बौद्ध ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो भेद माने हैं। बौद्धों ने प्रत्यक्ष को निर्विकल्प — निर्णय रहित माना है और वह अपने विषय का निश्चय कराने वाला न होने से समारोप का विरोधी नहीं है तथा उनके मत के अनुसार अनुमान भी अपरमार्थभूत (अवास्तविक) है इसलिए उनके माने हुए प्रमाण लक्ष्य में (अविसंवादिज्ञान) यह लक्षण घटित नहीं होता इसलिए असम्भवि दोष है।

भाट्टों के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा—

॥ अनधिगत-तथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम् ॥

पहले नहीं जाने हुए तथा यथार्थ अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है ऐसा भाट्टों का कहना है किन्तु यह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित है क्योंकि इन्हीं के द्वारा प्रमाण रूप से माने हुए धारावाहिक ज्ञान अपूर्व अर्थग्राही नहीं हैं। यदि वे कहें कि धारावाहिक ज्ञान में उत्तरोत्तर क्षण विशेषों से युक्त पदार्थ का प्रतिभास होता है इसलिए वह पहले से अज्ञात पदार्थों को ही ग्रहण करता है किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि क्षण अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिए हमारे जैसे लोगों को उसका आभास भी नहीं हो सकता है। इस कारण से भाट्टों का लक्षण सदोष है।

प्रभाकरों के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा—

॥ अनुभूतिः प्रमाणम् ॥

अनुभूति को प्रमाण का लक्षण प्रभाकर मत वाले मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि अनुभूति शब्द भाव साधन है और प्रमाण शब्द करण साधन है और उन्होंने करण व भाव दोनों ही को प्रमाण माना है।

सालिकानाथ ने कहा है कि—

जब प्रमाण शब्द को ॥ प्रमिति प्रमाणं ॥ भाव साधन करते हैं तब ज्ञान ही प्रमाण है। ॥ प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणं ॥ इस प्रकार करण साधन करने पर आत्मा और मन का सन्निकर्ष प्रमाण होता है अतः अनुभव को प्रमाण का लक्षण मानने में अव्याप्ति दोष आता है।

नैयायिक के प्रमाण-लक्षण की परीक्षा—

॥ प्रमाकरणं प्रमाणं ॥

जानने रूप क्रिया के प्रति जो करण 'हेतु' है उसे प्रमाण कहते हैं किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है। उनके यहां उदयन आचार्य ने कहा है—कि “तन्मे प्रमाणं शिवः” वह महेश्वर को प्रमाण मानते हैं और महेश्वर को प्रमाज्ञान का अधिकरण मानते हैं करण नहीं मानते हैं इसीलिए महेश्वर जाननेरूप क्रिया के आधार हैं, हेतु नहीं हैं इसीलिए जब “प्रमाकरणं प्रमाणं” कहेंगे तब महेश्वर से अव्याप्ति आयेगी और जब महेश्वर प्रमा का अधिकरण मानकर प्रमाण कहेंगे तब उपर्युक्त लक्षण में अव्याप्ति आवेगी।

इस प्रकार पर के द्वारा माने गए प्रमाण के लक्षण सभी सदोष हैं इसलिए स्व और पर को जानने में समर्थ, सविकल्प और अग्रहीत को ग्रहण करने वाला सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है ऐसा अर्हन्त भगवान का मत है।

द्वितीय प्रकाश-प्रत्यक्ष प्रकाश—

प्रमाण के दो भेद हैं—१. प्रत्यक्ष २. परोक्ष।

“विशद प्रतिभासं प्रत्यक्षम्”—स्पष्ट प्रतिभास को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। चार्वाक लोग एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं तथा बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण मानते हैं।

नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ऐसे चार प्रमाण मानते हैं। इन्हीं चारों में अर्थापत्ति मिलाकर प्रभाकर लोग पांच प्रमाण मानते हैं इन्हीं पांचों में सहानुपलब्धि मिलाकर भाट्ट लोग छह प्रमाण मानते हैं। पौराणिक लोग उपरोक्त छह में संभव तथा ऐतीह्य ये दो और मिलाकर आठ प्रमाण मानते हैं।

बौद्धों के प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण—

कल्पना पोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं—जो कल्पना से रहित अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान है और समीचीन अर्थात् भ्रांति रहित है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो निर्विकल्प है वह समारोप का विरोधी नहीं है इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। जो पदार्थों का निर्णय कराता है वही प्रमाण कहलाता है। (नैयायिक और वैशेषिक) यौग मत वाले सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं।

सन्निकर्ष का लक्षण—इन्द्रियों का पदार्थों को स्पर्श करके जानना सन्निकर्ष कहलाता है अतः यह सन्निकर्ष चेतन न होने से प्रमिति क्रिया के प्रति करण नहीं हो सकता इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि चक्षु अप्राप्यकारी है वह पदार्थ को स्पर्श न करके भी रूप ज्ञान को कराने में कारण है इसीलिए सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। नैयायिक कहता है कि चक्षु पदार्थ को स्पर्श करके ही जानती है स्पर्शन इन्द्रिय की तरह परन्तु इस कथन में चक्षु शब्द से कौन सी चक्षु को समझना ? लौकिक अर्थात् गोलक रूप अथवा अलौकिक 'किरणरूप'। यदि गोलकरूप चक्षु पदार्थ को स्पर्श से जानती है ऐसा कहो तो प्रत्यक्ष से बाधा आती है और किरणरूप चक्षु को मानो तो यह बात भी ठीक नहीं है इसलिए सन्निकर्ष में अव्याप्ति दोष आता है।

इस प्रकार बौद्धों के द्वारा माना गया निर्विकल्प प्रत्यक्ष और नैयायिकों के द्वारा माना गया इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष में दोनों प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—१. सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष—“देशतो विशदं सांख्यवहारिकं प्रत्यक्षं” एक देश स्पष्ट ज्ञान को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद—१. अवग्रह २. ईहा ३. अवाय ४. धारणा।

अवग्रह की व्याख्या—इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए सामान्य अवभास (दर्शन) के अनन्तर होने वाले और अवान्तर सत्ता जाति से युक्त वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञान विशेष को अवग्रह कहते हैं जैसे—यह पुरुष है।

ईहा—अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं।

जैसे—यह पुरुष दक्षिणी है या उत्तरी।

अवाय—भाषा, वेश आदि विशेष को जानकर निश्चित करना अवाय है। जैसे—यह दक्षिणी ही है।

धारणा—अवाय से जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में न भूलना धारणा कहलाता है।

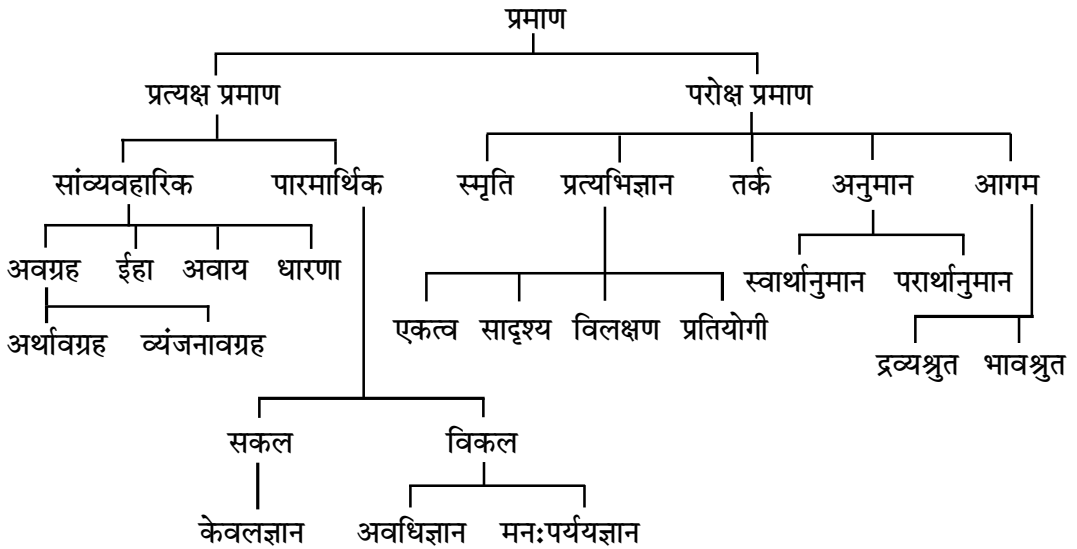
धारणा से ही स्मृति की उत्पत्ति होती है अतः इसका दूसरा नाम संस्कार भी है।

शंका—यह ईहादिक ज्ञान पहले-पहले ज्ञान से जाने हुए पदार्थ को ही जानते हैं अतः धारावाहिक ज्ञान की तरह अप्रमाण हैं ?

समाधान—भिन्न विषय होने से अगृहीत ग्राही हैं। जो पदार्थ अवग्रह का विषय है वह ईहा का नहीं है और जो ईहा का है वह अवाय का नहीं है एवं जो अवाय का है वह धारणा का नहीं है इसलिए इनका विषय

भेद बिल्कुल स्पष्ट होने से यह धारावाहिक नहीं है। ये अवग्रहादिक चारों ज्ञान जब इन्द्रियों से जाने जाते हैं तब इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहे जाते हैं और जब मन से उत्पन्न होते हैं तब अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

पांच इन्द्रिय और मन इन दोनों के निमित्त से होने वाला अवग्रहादिकरूप ज्ञान लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है।



इसलिए इसे सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तव में मति और श्रुतज्ञान को तत्त्वार्थसूत्र में परोक्ष माना है इसलिए यहां मतिज्ञान को उपचार से प्रत्यक्ष समझना चाहिए।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष का लक्षण—

॥ सर्वतो विशदं पारमार्थिकं ॥

सम्पूर्ण रूप से स्पष्ट ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उसके दो भेद हैं—

१. सकल पारमार्थिक २. विकल पारमार्थिक

१. **सकल पारमार्थिक**—ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों के नाश से प्रगट हुआ समस्त द्रव्य और समस्त पर्यायों को जानने वाला केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

२. **विकल पारमार्थिक**—कुछ पदार्थों को स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को विकल पारमार्थिक कहते हैं। इसके दो भेद हैं—

१. अवधिज्ञान, २. मनःपर्ययज्ञान।

अवधिज्ञान का लक्षण—अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले तथा मूर्तिक द्रव्य मात्र को विषय करने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्यय ज्ञान का लक्षण—मनःपर्यय ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए और दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—ये तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हैं ?

उत्तर—ये तीनों ज्ञान आत्मा की अपेक्षा लेकर उत्पन्न हैं। इंद्रिय आदिक पर पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखते इसीलिए प्रत्यक्ष है।

प्रश्न—केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक है परन्तु अवधि, मनःपर्यय ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष नहीं कह सकते हैं क्योंकि ये दोनों सम्पूर्ण द्रव्य पर्यायों को नहीं जानते हैं ?

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, जिस प्रकार केवलज्ञान आत्मा से उत्पन्न होता है और पदार्थों को स्पष्टरूप से जानता है उसी प्रकार से दोनों ज्ञान भी आत्मा से उत्पन्न होते हैं तथा रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानते हैं अतः ये दोनों ज्ञान पारमार्थिक ही हैं।

प्रश्न—कोई कहता है कि अक्ष नाम इंद्रिय का है और इंद्रिय से जो उत्पन्न हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं ?

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यहां अक्ष नाम आत्मा का है इसीलिए अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष हैं एवं मति, श्रुत इंद्रिय के निमित्त से होते हैं इसलिए वास्तव में ये परोक्ष हैं किन्तु यहां न्यायशास्त्र में इन्हें सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा उपचार से प्रत्यक्ष माना है।

शंका—अतीन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है और वह अरहन्त भगवान में पाया जाता है क्योंकि अरहन्त भगवान सर्वज्ञ हैं।

शंका—जब सर्वज्ञ की ही सिद्धि नहीं है तब अरहन्त भगवान सर्वज्ञ हैं यह कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं क्योंकि सर्वज्ञ की सिद्धि अनुमान से होती है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥

सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि ये अनुमान के विषय हैं, जैसे—अग्नि आदि। इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। सूक्ष्म अर्थात् जो स्वभाव से दूरवर्ती हैं, जैसे—परमाणु आदि।

अन्तरित अर्थात् जो काल से दूरवर्ती हैं, जैसे—राम, रावण आदि। दूरार्थ अर्थात् जो पदार्थ क्षेत्र से दूरवर्ती हैं, जैसे—मेरु आदि।

ये सभी पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय अवश्य हैं क्योंकि ये पदार्थ अनुमान ज्ञान के विषय हैं। जो-जो अनुमान के द्वारा जाने जाते हैं वे पदार्थ किसी न किसी ज्ञान के विषय अवश्य होते हैं, जैसे—अग्नि आदि।

शंका—यह बात तो हम मान सकते हैं कि सूक्ष्मादि पदार्थ को जानने वाला कोई न कोई सर्वज्ञ अवश्य है और उस सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष है कन्तु वह ज्ञान अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता है यह कैसे ?

समाधान—यदि वह ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न होता तो सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं जान सकता है क्योंकि इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं, जैसे—घ्राण इन्द्रिय देखने का कार्य नहीं कर सकती तथा इन्द्रियों का ज्ञान सीमित भी है। सम्पूर्ण पदार्थों को वह एक साथ नहीं जान सकता है इसलिए इन्द्रिय के ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नहीं बन सकता है।

शंका—सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला अतीन्द्रिय ज्ञान तो सिद्ध हुआ परन्तु वह अरहन्त में ही है, यह कैसे ? कपिल, बौद्ध, महादेव आदि सभी में ही अतीन्द्रिय ज्ञान रह सकता है और सभी ही सर्वज्ञ बन सकते हैं ?

सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाला अनुमान—

समाधान—ऐसा नहीं है, अरहन्त भगवान ही सर्वज्ञ हैं क्योंकि ये निर्दोष हैं। जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोष भी नहीं हो सकता, जैसे—रास्ते में चलने वाले साधारण मनुष्य।

ज्ञानावरणादि कर्म तथा रागादिकरूप दोषों से रहित है उसे निर्दोष कहते हैं। यह निर्दोषता सर्वज्ञता के बिना नहीं हो सकती क्योंकि जो अल्पज्ञानी हैं उनमें ज्ञानावरणादि दोष पाये जाते हैं।

इसलिए कपिल, बौद्ध, महादेव आदि सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे सदोष हैं और उनके वचन न्याय और आगम से विरुद्ध हैं। उनके माने हुए एकान्त तत्त्व में प्रमाण से बाधा आती है और सर्वज्ञ भगवान के वचन स्यात्कार अर्थात् कथंचित् शब्द से सहित हैं इसलिए अतीन्द्रिय केवलज्ञान अरहन्त में ही पाया जाता है और उनके वचन की प्रमाणता से अवधि और मनःपर्यय ज्ञान भी अतीन्द्रिय हैं यह सिद्ध हो गया इसलिए प्रमाण के सांख्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद सिद्ध हुए।

परोक्ष-प्रकाश

परोक्ष प्रमाण का लक्षण—

॥ अविशदं प्रतिभासं परोक्षम् ॥

अविशद अर्थात् अस्पष्ट प्रतिभास को परोक्ष प्रमाण कहते हैं। कोई कहता है कि परोक्ष प्रमाण सामान्य मात्र को विषय करता है किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह परोक्ष प्रमाण भी सामान्य और विशेषात्मक वस्तु को विषय करते हैं। परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं—

स्मृति का लक्षण—

१. स्मृति २. प्रत्यभिज्ञान ३. तर्क ४. अनुमान ५. आगम

॥ तदित्याकारा प्रागनुभूत वस्तु विषया स्मृतिः, यथा स देवदत्त इति ॥

पहले ग्रहण किए हुए पदार्थ को विषय करने वाले “वह” इस आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं जैसे—वह देवदत्त।

जिस पदार्थ का पहले कभी अनुभव नहीं हुआ उस पदार्थ की स्मृति भी नहीं हो सकती इसलिए स्मृति का मूल कारण धारणारूप अनुभव ही है।

शंका—धारणा के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थ में ही स्मरण की उत्पत्ति होती है इसलिए यह स्मृति ग्रहीत ग्राही होने से अप्रमाणीक है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ईहादिक की तरह इनके विषय में भी विशेषता है अर्थात् जिस प्रकार ईहादिक ज्ञानों की प्रवृत्ति अवग्रहादिक के द्वारा ग्रहण किए हुए विषय में ही होने पर भी उनके विषय में कुछ न कुछ विशेषता रखती है क्योंकि धारणा का विषय “यह ऐसा है” और स्मरण का विषय “यह ऐसा है” एवं अविसंवादी होने से स्मृति ज्ञान भी प्रमाण है प्रत्यक्षादि की तरह। जिसमें विस्मरण, संशय और विपर्ययास पाया जाता है वह स्मृति न होकर स्मरणाभास रूप अप्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण—

॥ अनुभवस्मृतिहेतुकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं । इदन्तोल्लेखि ज्ञानमनुभूतः तत्तोल्लेखि ज्ञानं स्मरणं ॥

अनुभव तथा स्मृति के निमित्त से होने वाले जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं अर्थात् “यह” इस प्रकार के ज्ञान को अनुभव कहते हैं और “वह” शब्द के उल्लेखि ज्ञान को स्मरण कहते हैं, अनुभव और स्मरण इन दोनों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसके मुख्य चार भेद हैं—१. एकत्व २. सादृश्य ३. विलक्षण ४. तत्प्रतियोगी।

१. यह वही देवदत्त है जिसे कल देखा था।

२. यह गाय रोज के सदृश है।

३. यह भैंस गाय से विलक्षण है।

४. यह इससे दूर है इत्यादि।

शंका—कोई कहता है कि अनुभव और स्मृति को छोड़कर अन्य कोई प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण नहीं है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, अनुभव वर्तमानकालवर्ती पर्याय को ग्रहण करता है और स्मृति भूतकालवर्ती पर्याय को विषय करती है। तब अनुभव या स्मृतिज्ञान भूत और वर्तमान इन दोनों कालों के जोड़रूप एकत्व या सदृशपने को कैसे ग्रहण करेंगे इसलिए स्मृति तथा अनुभव से भिन्न उसके अनन्तर होने वाला दोनों का जोड़रूप ज्ञान एक भिन्न ही मानना चाहिए।

शंका—दूसरे कोई लोग एकत्व प्रत्यभिज्ञान को मानकर उसे प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत करते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि जिस ज्ञान का इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक है वह प्रत्यक्ष है, यह प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है इसलिए प्रत्यक्ष है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियां केवल वर्तमान दशा को ग्रहण करती हैं इसलिए वे भूत और वर्तमान दोनों दशा में रहने वाली एकता को प्रकाशित नहीं कर सकती हैं क्योंकि इन्द्रियां भूतकालीन अविषय में प्रवृत्ति नहीं कर सकती हैं।

शंका—इन्द्रियां वर्तमान दशा को ही ग्रहण करती हैं फिर भी सहकारी कारणों की सामर्थ्य से पूर्वोत्तर दोनों दिशाओं में रहने वाले एकत्व आदिक प्रत्यभिज्ञान को कर लेती हैं। जैसे कि—सिद्ध अंजनादि लगाने पर चक्षु से ढके पदार्थ की भी प्रतीति हो जाती है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि हजार सहकारी कारण मिलने पर भी इन्द्रियां अविषय में प्रवृत्ति नहीं कर सकती। चक्षु को अंजन आदि सहकारी कारण मिलने पर भी रूपादिक पदार्थों का ही ज्ञान होगा, रस और गंध का ज्ञान नहीं हो सकता। रस और गंध का ज्ञान रसना और घ्राण इन्द्रिय को ही होगा इसलिए पूर्वोत्तर दशा में रहने वाले एकत्व का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता अतः उसका ज्ञान कराने के लिए प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण मानना ही चाहिए।

शंका—कोई-कोई सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को उपमान नाम का पृथक् प्रमाण मानते हैं ?

समाधान—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्मृति और अनुभवपूर्वक जो-जो भी जोड़रूप ज्ञान होते हैं वे सभी प्रत्यभिज्ञान ही हैं।

तर्क का लक्षण—

॥ व्याप्तिज्ञानं तर्कः ॥

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन में गम्य और गमक भाव का साधक और

व्यभिचार की गंध से रहित जो संबंध विशेष है उसे व्याप्ति कहते हैं। उसी को अविनाभाव भी कहते हैं।”

उस व्याप्ति के रहने से धूम आदिक हेतु अग्नि आदिक को ही बताते हैं घटादिक को नहीं। इस अविनाभावरूप व्याप्ति के ज्ञान में साधकतम है, यह वही तर्क नाम का प्रमाण है इसे ऊह भी कहते हैं। यह तर्क व्याप्ति को सर्वदेश और सर्वकाल की अपेक्षा से विषय करता है।

तर्क का उदाहरण—

॥ यत्र यत्र धूमत्वं तत्र तत्राग्निमत्वमिति ॥

जहां-जहां धूम है वहां-वहां अग्नि है अर्थात् किसी स्थान में धूम के होने का सद्भाव देखा पुनः-पुनः देखकर यह निश्चय किया कि किसी क्षेत्र और किसी काल में भी धूम अग्नि से व्यभिचरित नहीं होती है। इस प्रकार सब देश, काल के उपसंहारपूर्वक अर्थात् सामान्यरूप से होने वाले साध्य साधन संबंधी ज्ञान को तर्क कहते हैं यह प्रत्यक्षादि से भिन्न है।

शंका—बौद्ध कहता है कि प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाला विकल्प ज्ञान व्याप्ति को ग्रहण करता है ?

समाधान—यह ठीक नहीं है, जैनी उनसे पूछते हैं कि वह विकल्प प्रमाण है या अप्रमाण। यदि अप्रमाण है तो उस विकल्प से ग्रहण की गई व्याप्ति में किस प्रकार विश्वास हो सकता है। यदि प्रमाण है तो प्रत्यक्ष है या अनुमान। प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते क्योंकि उसका प्रतिभास स्पष्ट नहीं है। अनुमान भी नहीं कह सकते क्योंकि उनमें लिंग, दर्शनादि की अपेक्षा नहीं है अतः वह विकल्प प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न तीसरा तर्क नाम का प्रमाण है।

अनुमान का लक्षण—

॥ साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं ॥

साधन से उत्पन्न हुए साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

नैयायिक के अनुमान का लक्षण—

॥ लिंग परामर्शोऽनुमानं ॥ लिंग के ‘परामर्शात्मक’ ज्ञान को अनुमान कहते हैं किन्तु यह कहना ठीक नहीं है। जैन ऐसा कहते हैं कि जैसे स्मृति आदि की उत्पत्ति में अनुभव आदि कारण हैं उसी प्रकार अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में व्याप्ति स्मरण के साथ-साथ उत्पन्न हुआ लिंग परामर्श ज्ञान का कारण है; न कि अनुमान है।

साधन का लक्षण—

॥ निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनं ॥ जिसका साध्य के बिना न होना निश्चित है उसे साधन कहते हैं।

साध्य का लक्षण—

॥ शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यं ॥ जो शक्य तथा अप्रसिद्ध एवं अभिप्रेत है उसे साध्य कहते हैं।

जिसमें प्रत्यक्षादि से बाधा न आवे उसे शक्य कहते हैं।

जिसमें संदेह आदिक मौजूद हों उसे अप्रसिद्ध कहते हैं।

जो वादी को अभिमत हो उसे अभिप्रेत करते हैं।

अतः अविनाभाव ही है मुख्य लक्षण जिसका ऐसे साधन से उत्पन्न हुए शक्य, अभिप्रेत तथा अप्रसिद्ध-रूप साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। उस अनुमान के दो भेद हैं—१. स्वार्थानुमान २. परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान का लक्षण—

॥ स्वयमेव निश्चितात् साधनात् साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानं ॥ स्वयं ही निश्चित साधन से उत्पन्न हुए साध्य के ज्ञान को स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है धूम वाला होने से। स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं—१. धर्मी २. साध्य ३. साधन।

साधन तो गमक अर्थात् ज्ञान कराने वाला है। साध्य गम्य अर्थात् जानने योग्य है एवं धर्मी साध्यरूप धर्म का आधार है इसीलिए ये तीनों स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं।

स्वार्थानुमान के और भी दो अंग हैं—१. पक्ष २. साधन।

पक्ष का लक्षण—साध्य धर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं। धर्मी प्रसिद्ध होता है। धर्मी की प्रसिद्धि कहीं तो प्रमाण से और कहीं विकल्प से और कहीं प्रमाण और विकल्प से होती है।

परार्थानुमान का लक्षण—

॥ परोपदेशमपेक्ष्य साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानं ॥

दूसरे का उपदेश सुनने से साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं।

शंका—नैयायिक कहता है कि दूसरे के वचन को ही परार्थानुमान कहते हैं ?

समाधान—किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि परोपदेश के वचन को गौणरूप से परार्थानुमान कह सकते हैं मुख्यरूप से नहीं।

उस परार्थानुमान प्रयोजक वचन के भी दो अंग हैं—१. प्रतिज्ञा २. हेतु।

प्रतिज्ञा का लक्षण—

॥ धर्म-धर्मीसमुदाय रूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा ॥ यथा पर्वतोयं अग्निमानं।

धर्म और धर्मी के समुदायरूप पक्ष कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है।

हेतु का लक्षण—साध्य के बिना न होने वाले साधन को हेतु कहते हैं। जैसे—

॥ धूमत्त्वान्यथानुपपत्तेः ॥ अथवा ॥ धूमवत्त्वोपपत्तेः ॥

१. अन्यथा यहां पर धूम नहीं हो सकता है।

२. अग्नि रहने पर ही धूम रह सकता है।

इन दोनों में से किसी एक ही हेतु का प्रयोग करना चाहिए।

नैयायिक परार्थानुमान प्रयोग के ५ अवयव मानते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

साधर्म्य उदाहरण का लक्षण—जो-जो धूमवान होता है वह-वह अग्निमान होता है जैसे—रसोईघर, यह अन्वयरूप उदाहरण है।

वैधर्म्य उदाहरण का लक्षण—जो-जो अग्निमान नहीं होता वह-वह धूमवान भी नहीं होता है, जैसे—तालाब, यह व्यतिरेकरूप उदाहरण है।

उपनय का लक्षण—

॥ दृष्टान्तापेक्षया पक्षं हेतोरुपसंहारवचनमुपनयाः ॥

दृष्टान्त की अपेक्षा से पक्ष और हेतु के दोहराने के वचन को उपनय कहते हैं। जैसे—यह भी उसी तरह धूमवान है।

निगमन का लक्षण—

॥ हेतुपूर्वकं पक्षवचनं निगमनं ॥

हेतुपूर्वक पक्ष के दोहराने को निगमन कहते हैं। जैसे—इसीलिए यह अग्रिमान है। ये परार्थानुमान के पांच अवयव हैं।

इनमें से एक के भी न होने पर वीतराग कथा हो या विजिगीषु कथा हो, कहीं भी अनुमान नहीं हो सकता। यह नैयायिकों की मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि वीतराग कथा में शिष्य के आशय के अनुसार यद्यपि अधिक अवयव माने जा सकते हैं तथापि विजिगीषु कथा में प्रतिज्ञा और हेतु इन दो ही अवयवों की आवश्यकता है।

विजिगीषु कथा का लक्षण—वादी और प्रतिवादी अपने-अपने मत का स्थापन करने के लिए जय-पराजय की अपेक्षा रखते हुए जो चर्चा करते हैं उसे विजिगीषु कथा कहते हैं।

वीतराग कथा का लक्षण—गुरु अथवा शिष्यजन अथवा विद्वान्जन तत्त्व निर्णय के लिए जो आपस में चर्चा करते हैं उसे वीतराग कथा कहते हैं।

शंका—बौद्ध कहता है कि हेतु से ही अनुमान समझ में आ जावेगा प्रतिज्ञा की आवश्यकता नहीं है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि केवल हेतु का प्रयोग करने से विद्वान को भी साध्य में संदेह बना रह सकता है इसलिए प्रतिज्ञा का प्रयोग करना ही चाहिए अतः सारांश यह है कि वीतराग कथा में प्रतिज्ञा हेतुरूप दो अथवा तीन अथवा चार एवं पांच अवयवों का भी प्रयोग कर सकते हैं किन्तु विजिगीषु कथा में प्रतिज्ञा और हेतु इन दो ही अवयव का प्रयोग करना चाहिए।

बौद्ध के हेतु का लक्षण—हेतु के तीन रूप—

॥ पक्षे धर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिः ॥ इति हेतोस्त्रीणि रूपाणि ।

पक्ष में धर्म सपक्ष में सत्त्व और विपक्ष में व्यावृत्ति इस प्रकार हेतु के तीन रूप हैं।

जैन कहते हैं यह ठीक नहीं है क्योंकि—

॥ उदेष्यति शकटं कृतकोदयात् ॥

यहां कृतकोदय हेतु पक्षरूप शकट में नहीं रहता है इसलिए इसमें पक्ष धर्मत्व नहीं रहा फिर भी अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) के बल से शकटोदयरूप साध्य का निश्चय कराता ही है इसलिए बौद्ध के द्वारा माना गया हेतु का लक्षण सदोष है।

नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानते हैं—

(१) पक्षधर्मत्व (२) सपक्षसत्त्व (३) विपक्षाद्व्यावृत्ति (४) अबाधित विषयत्व (५) असत्प्रतिपक्षत्व।

१. पक्ष के अन्दर हेतु के रहने को पक्षधर्मत्व कहते हैं।

२. जहां साध्य साधन दोनों उपलब्ध हों उस धर्मी को सपक्ष कहते हैं। उस सपक्ष के एकदेश में अथवा संपूर्ण देश में हेतु के रहने को सपक्षसत्त्व कहते हैं।

३. साध्य के विरुद्ध धर्म वाले स्थल को विपक्ष कहते हैं। ऐसे सम्पूर्ण विपक्षों से हेतु के सर्वथा अलग रहने को विपक्षाद्व्यावृत्ति कहते हैं।

४. साध्य से विपरीतपने को निश्चय कराने वाला प्रबल प्रमाण जिसमें सम्भव न हो उसे अबाधित विषयत्व कहते हैं।

५. समान बल के धारक ऐसे साध्य विपरीत निश्चायक किसी विरुद्ध प्रमाण का सम्भव न होना उसे असत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं।

नैयायिक पंच अवयव वाला अनुमान

॥पर्वतोयमग्निमान् धूमवत्त्वात्॥ (प्रतिज्ञा और हेतु)

अन्वय उदाहरण— ॥यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानसः॥

व्यतिरेक उदाहरण— “यो योऽग्निमान् न भवति स स धूमवान् न भवति, यथा महाहृदः॥

(उपनय और निगमन) ॥ तथा चायं धूमवांस्तस्यादग्निमानेवेति॥

१. प्रतिज्ञा—यह पर्वत अग्निमान है।

२. हेतु—क्योंकि यहां पर धूम है।

अन्वय उदाहरण—जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि है। जैसे—रसोईघर।

व्यतिरेक उदाहरण—जहां-जहां अग्नि नहीं होती है वहां-वहां धूम भी नहीं होता, जैसे—तालाब।

४. उपनय—यह भी उसी प्रकार धूमवान है।

५. निगमन—इसलिए अग्निमान भी होना चाहिए।

यहां धूमवान हेतु पक्ष (पर्वत) में है, सपक्ष रसोईघर में है एवं विपक्ष तालाब में नहीं पाया जाता है। अबाधित विषय भी है और असत्प्रतिपक्षत्व भी है इसलिए साध्य की सिद्धि के लिए हेतु में पांच अवयव होना ही चाहिए। इन पांच अवयवों के विपरीत पांच हेत्वाभास हैं।

हेत्वाभास के भेद—१. असिद्ध २. विरुद्ध ३. अनैकान्तिक ४. कालात्यापदिष्ट ५. प्रकरण सम।

असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण एवं उदाहरण—

॥अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धाः॥

जिस पक्ष का हेतु में रहना निश्चित न हो उसे असिद्ध कहते हैं। जैसे—असिद्ध शब्द अनित्य है क्योंकि चक्षु इन्द्रिय का विषय है।

यह हेतु पक्ष धर्म में न रहने से हेत्वाभास है।

विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण—

॥साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः॥

जिस हेतु की साध्य से विपरीत के साथ व्याप्ति हो उसे विरुद्ध कहते हैं। जैसे—शब्द नित्य है क्योंकि किया हुआ है।

यहां पर ‘किया हुआ’ यह हेतु अनित्य के साथ व्याप्त है इसलिए यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास—॥सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः॥

व्यभिचार सहित हेतु को अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि प्रमेय है। यह प्रमेयत्व हेतु साध्यभूत अनित्य में और विपक्षभूत आकाश आदि नित्य में भी है अतः विपक्ष से व्यावृत्त न होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

कालात्यापदिष्ट हेत्वाभास—जिस हेतु का विषय किसी प्रमाण से बाधित हो उसे कालात्यापदिष्ट हेत्वाभास कहते हैं। जैसे—अग्नि ठंडी है क्योंकि वह पदार्थ है।

प्रकरण सम हेत्वाभास—जिसका विरोधी साधन मौजूद हो उस हेतु को प्रकरण सम हेत्वाभास कहते

हैं। जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि वह नित्य धर्म से रहित है।

नैयायिकों का यह सब कहना ठीक नहीं है क्योंकि कृतिकोदय हेतु पक्ष धर्म में न रहकर भी रोहिणी के उदय को सिद्ध करता है दूसरी बात यह है कि नैयायिक ने हेतु के तीन भेद माने हैं।

१. अन्वयव्यतिरेकी २. केवलान्वयी ३. केवलव्यतिरेकी।

प्रथम भेद अन्वयव्यतिरेकी में पांचों अवयव पाये जाते हैं, शेष दो में पांचों अवयव नहीं पाये जाते फिर भी उसने उन्हें हेतु माना है।

अन्वयव्यतिरेकी का उदाहरण—शब्द अनित्य है क्योंकि वह कृतक है। जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है। जैसे—आकाश शब्द भी कृतक है इसलिए अनित्य ही है।

यहां पर कृतकत्व हेतु शब्दरूप पक्ष में एवं घटादि सपक्ष में रहता है तथा आकाशादि विपक्ष में नहीं रहता है।

केवलान्वयी का उदाहरण—जो हेतु पक्ष और सपक्ष में रहे किन्तु उसका विपक्ष कोई नहीं हो उसे केवलान्वयी कहते हैं। जैसे—अदृष्टादिक 'भाग्य' किसी के प्रत्यक्ष है क्योंकि अनुमेय है, जैसे—अग्नि आदि। यहां अनुमेयत्व हेतु का विपक्ष कोई है ही नहीं। पक्ष-सपक्ष में ही सारा विश्व आ गया अतः विपक्ष से व्यावृत्ति होना सम्भव नहीं है।

केवलव्यतिरेकी का उदाहरण—जो पक्ष में रहे और विपक्ष से व्यावृत्त हो किन्तु जिसका सपक्ष न हो। जैसे कि—जीवित का शरीर आत्मा कर सहित है क्योंकि उसमें स्वासोच्छ्वास है जो आत्मा कर सहित नहीं होता उसमें स्वांसादिक नहीं होता, जैसे—मिट्टी का ढेला।

यह स्वासोच्छ्वास आदि हेतु पक्ष में है और विपक्ष से व्यावृत्त है तथा सपक्ष सम्भव ही नहीं है।

अतः नैयायिक के द्वारा माने गए तीनों हेतुओं में दो हेतु उसी के कथन से दूषित हो जाते हैं।

तीनरूप और पांचरूप कर सहित अनुमान—गर्भ में स्थित मैत्री का पुत्र काला होना चाहिए क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है अन्य मौजूद मैत्री के पुत्रों की तरह, इस मैत्री पुत्र हेतु में बौद्धों के तीनरूप और नैयायिकों के पांचरूप पाये जाते हैं परन्तु अन्यथानुपपत्ति एक लक्षण इसमें नहीं पाया जाता है अतः यह हेत्वाभास है।

कहा भी है— **अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।**

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।। इति बौद्धान् प्रति।।

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।। इति यौगान् प्रति।।

बौद्धों के प्रति उत्तर—अर्थ—जहां पर अन्यथानुपपत्ति है वहां तीनरूप से क्या प्रयोजन है और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहां पांचरूप मानने से भी क्या फल है।

यौगों के प्रति उत्तर—

अर्थ—जहाँ पर अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ पाँचरूप से क्या प्रयोजन है और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ पाँचरूप मानने से भी क्या फल है।

हेतु के भेद—१. विधिरूप २. प्रतिषेधरूप।

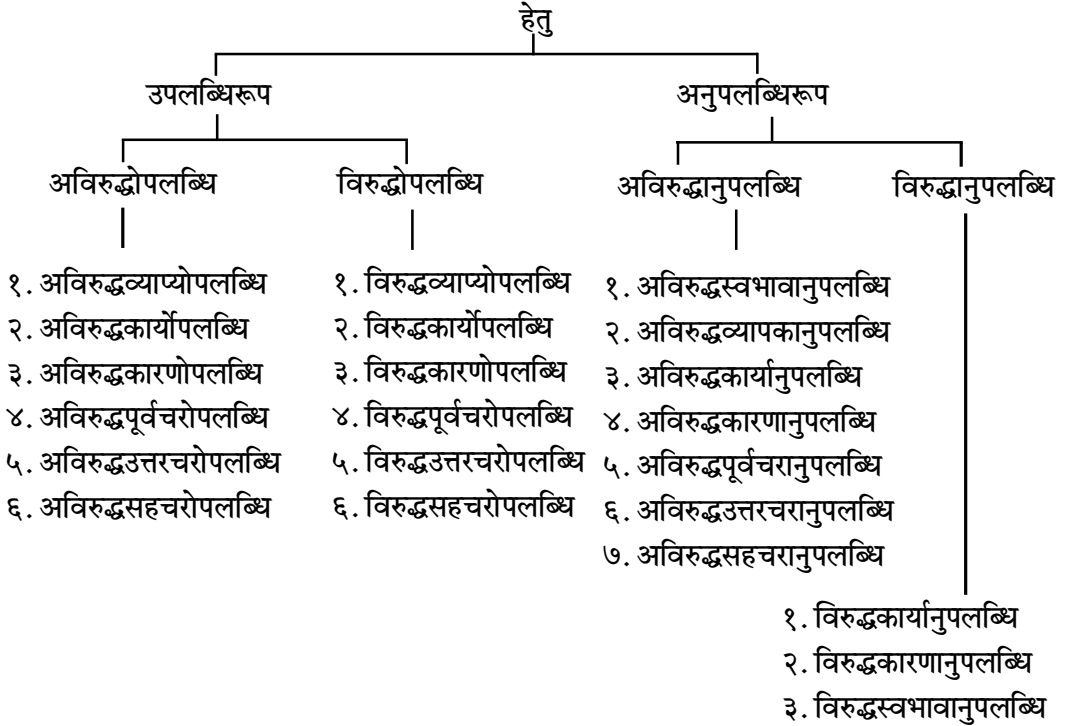
विधिरूप के दो भेद हैं—१. विधि साधक २. प्रतिषेध साधक।

प्रतिषेधरूप के दो भेद हैं—१. विधि साधक २. प्रतिषेध साधक। विधि साधक हेतु का दूसरा नाम अविरुद्धोपलब्धि भी है।

विधि साधक हेतु के भेद—विधिरूप हेतु के अनेक भेद हैं यहां पर ६ भेद बताये हैं।

१. कार्यरूप हेतु का उदाहरण—जैसे—यह पर्वत अग्नि वाला है धूम वाला होने से।

२. कारणरूप हेतु का उदाहरण—जैसे—वृष्टि होवेगी क्योंकि विशिष्ट मेघ हो रहे हैं।



विशेषरूप हेतु (व्याप्यरूप हेतु)—जैसे—यह वृक्ष है क्योंकि शीशमपना इसमें पाया जाता है।
पूर्वचररूप हेतु का उदाहरण—जैसे—एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय होगा क्योंकि उसके पूर्वचर कृतिका का उदय हो रहा है।

उत्तरचररूप हेतु का लक्षण—जैसे—एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय हो चुका है क्योंकि कृतिका का उदय हो रहा है। यहां भरणी का उत्तरचर कृतिका का उदय है।

सहचररूप हेतु का उदाहरण—जैसे—इस बिजौरे में रूप है क्योंकि रूप का सहचर हेतु रस पाया जाता है।

इस प्रकार से ये भावरूप पदार्थ को सिद्ध करते हैं इसलिए इनका अविरुद्धोपलब्धि भी नाम है।

विधिरूप हेतु के दूसरे भेद प्रतिसाधकरूप हेतु का दूसरा नाम विरुद्धोपलब्धि भी है।

विरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध साधक) का उदाहरण—इस प्राणी के मिथ्यात्व नहीं है क्योंकि यदि मिथ्यात्व होता तो आस्तिक्य नहीं हो सकता था। यहां आस्तिक्य हेतु निषेध साधक है। यह आस्तिक्य मिथ्यात्व में नहीं रह सकता। अरहन्त के द्वारा कथित तत्त्वों में रुचि होने को आस्तिक्य कहते हैं। अथवा दूसरा उदाहरण—वस्तु सर्वथा एकान्तरूप नहीं है क्योंकि सर्वथा एकान्तरूप हो तो अनेकात्मकता बन नहीं सकती।

अनेकान्त का लक्षण—सम्पूर्ण जीवादि पदार्थों में भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि

अनेक धर्मों के रहने को अनेकान्त धर्म कहते हैं।

प्रतिषेधरूप साधक के दो भेद—१. विधि साधक २. प्रतिषेध साधक

प्रतिषेधरूप विधि साधक का उदाहरण—इस प्राणी के सम्यक्त्व है क्योंकि इसको विपरीत दुराग्रह नहीं है। विपरीत दुराग्रह न होना प्रतिषेधरूप है। वह सम्यक्त्व के सद्भाव को सिद्ध करता है इसलिए ये प्रतिषेधरूप साधक है।

प्रतिषेधरूप प्रतिषेध का उदाहरण—यहां पर धूम नहीं है क्योंकि अग्नि नहीं दिखती है यह अग्नि अभाव हेतु अभावरूप है और अभावरूप ही धूम के अभाव को सिद्ध करता है इसलिए यह प्रतिषेधरूप प्रतिषेध साधक है।

हेत्वाभास का लक्षण और उसके भेद—हेतु के लक्षण से रहित किन्तु हेतु के समान मालूम पड़े उसे हेत्वाभास कहते हैं।

१. असिद्ध २. विरुद्ध ३. अनैकान्तिक ४. अकिंचित्कर

असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण—जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित है उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. स्वरूपासिद्ध २. संदिग्धासिद्ध।

विरुद्ध का लक्षण—जिस हेतु की विरुद्ध के साथ व्याप्ति हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

अनैकान्तिक का लक्षण—जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहता है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. निश्चित विपक्ष वृत्ति २. शंकित विपक्ष वृत्ति।

अकिंचित्कर का लक्षण—जो हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है उसे अकिंचित्कर हेत्वाभास कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—१. सिद्ध साधन २. बाधित विषय।

बाधित विषय के पांच भेद हैं—१. प्रत्यक्ष बाधित २. अनुमान बाधित ३. आगम बाधित ४. लोक बाधित ५. स्ववचन बाधित।

उदाहरण का लक्षण—दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) अन्वय दृष्टान्त। (२) व्यतिरेक दृष्टान्त।

उदाहरणाभास का लक्षण—जो उदाहरण के लक्षण से रहित है और उदाहरण के समान दिखता है उसे उदाहरणाभास कहते हैं।

उदाहरणाभास के भेद—१. अन्वय उदाहरणाभास २. व्यतिरेकाभास।

उपनय का लक्षण—पर्व की दृष्टान्त के साथ साम्यता का कथन करना उपनय कहलाता है। जैसे—इसीलिए यह धूम वाला है।

निगमन का लक्षण—साधन को दोहराते हुए साध्य के निश्चयरूप वचन को निगमन कहते हैं। जैसे—यह धूम वाला होने से अग्नि वाला है।

इन दोनों का गलत उपयोग करने पर उपनयाभास और निगमनाभास होता है।

आगम का लक्षण—॥ आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥

आप्त के वचनों से होने वाले अर्थ ज्ञान को आगम कहते हैं। जैसे—॥ सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥

आप्त का लक्षण—“आप्तः प्रत्यक्षप्रमितिसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः”

जो प्रत्यक्ष ज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता है और परम हितोपदेशी है, वही आप्त है। समस्त पदार्थों का ज्ञाता कहने से श्रुतकेवली में लक्षण चला जाता इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान से ऐसा शब्द दिया है और परम हितोपदेशी पद से अरहन्त ही ग्रहण किए गए हैं सिद्ध नहीं क्योंकि वे अनुपदेशक हैं इसलिए गौणरूप आप्त हैं अतः नैयायिक आदि के द्वारा माने गए आप्त सर्वज्ञ नहीं हैं इसलिए आप्ताभास हैं।

शंका—नैयायिक के द्वारा माना गया आप्त सर्वज्ञ क्यों नहीं है ?

समाधान—नैयायिकों ने जो आप्त माना है वह अपने ज्ञान का ही ज्ञाता नहीं है क्योंकि उनके यहां ज्ञान को अस्वसंवेदी अर्थात् “स्व” को नहीं जानने वाला माना है। जब वह ज्ञान अपने को नहीं जानता है तो ज्ञान से विशिष्ट अपनी आत्मा को मैं सर्वज्ञ हूं, ऐसा कैसे जानेगा। इस प्रकार जब वह अनात्मज्ञ है तब वह असर्वज्ञ ही है, सर्वज्ञ नहीं है।

अर्थ का लक्षण—अनेकान्त को अर्थ कहते हैं।

अनेकान्त का लक्षण—॥ अनेके अन्ता धर्माः सामान्य-विशेषपर्याया गुणा यस्येति सिद्धोऽनेकांतः॥ जिसमें अनेक अंत अर्थात् धर्म सामान्य विशेष पर्याय और गुण पाये जाते हैं उसे अनेकान्त कहते हैं।

पर्याय के दो भेद—१. अर्थ पर्याय २. व्यंजन पर्याय।

भूत और भविष्यत् का स्पर्श न करने वाले केवल शुद्ध वर्तमानकालीन वस्तु स्वरूप को अर्थ पर्याय कहते हैं।

आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। इसी के एकदेश को मानने वाले क्षणिकवादी बौद्ध हैं।

जो पदार्थों में प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप जल, आनयन आदि अर्थ क्रिया करने में समर्थ पर्याय है वह व्यंजन पर्याय है। जैसे—मिट्टी की पिंड, स्थास, कोश, कुशल, घट, कपाल आदि पर्यायें।

जो संपूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं उन्हें गुण कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—१. सामान्य गुण २. विशेष गुण।

१. जो सभी द्रव्यों में रहे उसे सामान्य गुण कहते हैं।

२. जो एक ही द्रव्य में रहे उसे विशेष गुण कहते हैं।

गुण पर्याय का लक्षणान्तर—॥ क्रमभुवः पर्यायाः, सहवर्तिनः गुणाः॥

द्रव्य का लक्षण—॥ गुणपर्ययवत् द्रव्यं॥ द्रव्य के भेद—१. जीव द्रव्य २. अजीव द्रव्य।

द्रव्य का लक्षणान्तर—द्रव्य का लक्षण सत् भी है। ॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्॥

जैसे—जीव का मनुष्य स्वभाव का विनाश, देव पर्याय का उत्पाद और चेतन स्वभाव ध्रौव्यपना, ये तीनों पाये जाते हैं अतः जीव द्रव्यरूप से अभेदरूप हैं तथा पर्यायरूप से भेदरूप है।

नयों का लक्षण—प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थ के एकदेश को विषय करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

नय के भेद—१. द्रव्यार्थिक नय २. पर्यायार्थिक नय

१. यहां द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से “सुवर्ण लाओ” इतना कहने से कड़ा, कुंडल आदि कोई भी वस्तु लाई जा सकती है।

२. पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से “कुंडल लाओ” इतना कहने से कुंडल ही ला सकते हैं, कड़ा नहीं। इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सुवर्ण कथंचित् एक ही है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से

कथंचित् अनेक भी है। क्रम से दोनों नयों की अपेक्षा कथंचित् एक भी है और अनेक भी है।

एक काल में दोनों स्वभावों की अपेक्षा रखने से कथंचित् अवक्तव्य भी है। यदि द्रव्यार्थिक को प्रधान करें और उसी काल में दोनों स्वभावों की अपेक्षा रखें तो कथंचित् एक और अवक्तव्य भी है एवं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा रखें और उसी काल में दोनों स्वभावों की अपेक्षा रखें, तो अनेक और अवक्तव्य है। इसी प्रकार दोनों नयों की क्रम से और युगपत् प्रवृत्ति की अपेक्षा करने पर वस्तु एक, अनेक और अवक्तव्य है। इस प्रकार नयों के प्रयोग की प्रक्रिया को ही सप्तभंगी कहते हैं।

शंका—एक ही वस्तु में सात भंग कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—जिस प्रकार एक घड़ा रूप, रस, गंध और स्पर्श वाला है उसी प्रकार एक द्रव्य में भी अनेक गुण या धर्मों की अपेक्षा से सप्तभंगी घट जाती है।

नय के परम द्रव्यार्थिक और परम पर्यायार्थिक ऐसे भी दो भेद हैं।

१. परम द्रव्यार्थिक शुद्ध सत्वरूप द्रव्य को विषय करता है।

२. परम पर्यायार्थिक भूत, भविष्यत् पर्याय को छोड़कर वर्तमान की एक समयवर्ती पर्याय को विषय करता है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोर्पितान्नयात्॥१॥

प्रमाण और नय की अपेक्षा से अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है क्योंकि वह अनियत सब धर्मों से युक्त अभेद वस्तुओं को विषय करता है। जहां नय की अपेक्षा है वहाँ एकांत है क्योंकि वह नियत एक धर्म से युक्त वस्तु को विषय करता है।

इस जिनेन्द्र मार्ग का उल्लंघन करके जो यह आग्रह करते हैं कि सर्वथा एक अद्वितीय ब्रह्म है इसके सिवाय कुछ भिन्न नहीं है यह उनका अर्थाभास है और उसके प्रतिपादक वचन आगमाभास हैं क्योंकि प्रत्यक्ष से वस्तु में भेद सज्य है और वास्तविक है। यदि सर्वथा भेद ही माना जाए तो भी यही दोष आवेगा क्योंकि वस्तु अभेदरूप भी है।

शंका—भिन्न-भिन्न सिद्ध होने वाले एक, अनेक आदि धर्म परस्पर में अपेक्षा न रखने से मिथ्या हैं तो इनका समुदाय वह भी मिथ्या ठहरेगा।

समाधान—हम इसको स्वीकार करते हैं। कहा भी है—

मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न मिथ्यैकान्ततास्तिनः।

निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत्॥

प्रश्न—मिथ्या नयों का समूह मिथ्या ही है ?

उत्तर—नय यदि निरपेक्ष हैं तो मिथ्या हैं और यदि वे परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं तो सही हैं और कार्यकारी हैं।

जैसे—वस्त्र अवस्था से रहित अनेक तन्तु मिल जाने पर भी ठंडी को दूर करने का वस्त्ररूप कार्य नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार से नय और प्रमाण के द्वारा तत्त्व की सिद्धि की गई है।

इस प्रकार आगम प्रमाण का वर्णन हुआ।



१७. धर्मोपदेशामृत

(पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रंथ के आधार से विशेषार्थ सहित)

—मंगलाचरण—

सिद्धों को मैं नित नमूं, स्वात्म सिद्धि के हेतु।
अर्हंतों की साधु की, भक्ति भवोदधि सेतु॥१॥
ज्ञानसूर्य के नमन से, हृदय कमल खिल जाए।
गुण सौरभ की सुरभि से, जन-जन मन महकाय॥२॥
पद्मनन्दि मुनिनाथ के, चरण कमल शिर नाय।
सूक्तिसुधा टीका करूं, भाषामय सुखदाय॥३॥
वंदूं त्रिकरण शुद्धि से, वीरसागराचार्य।
जिनके पाद प्रसाद से, लिया महाव्रत धार्य॥४॥
रत्नमती मां आर्यिका, जयवंते इहलोक।
जिनके शास्त्र दहेज से, मिला ज्ञानमति बोध॥५॥

—ग्रंथकर्ता का मंगलाचरण—

कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा।
मध्याह्ने यस्य भास्वानुपरि परिगतो राजते स्मोग्रमूर्तिः॥
चक्रं कर्मन्धनानामतिबहुदहतो दूरमौदास्यवात-
स्फुर्यत्सदध्यानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिंगः॥१॥

श्री नाभिराजा के पुत्र भगवान् ऋषभदेव जिनेन्द्र जयवंत होवें जो महान् आत्मा होने से महात्मा हैं, कायोत्सर्ग मुद्रा से शरीर को लंबायमान करके स्थिर खड़े हुए हैं। जिनके ऊपर आया हुआ मध्याह्न का तेजस्वी सूर्य ऐसा चमक रहा है मानों कर्मरूपी ईधन को जलाने वाली उदासीनता — वीतरागता रूप वायु के निमित्त से स्फुरायमान समीचीन ध्यानरूपी अग्नि का निकला हुआ देदीप्यमान एक स्फुलिंगा ही हो।

भगवान् ऋषभदेव दीक्षा लेकर छह माह का योग लेकर ध्यान में खड़े हुए थे। मध्याह्न में जब उनके मस्तक के ऊपर भाग में सूर्य आ जाता था तब ऐसा मालूम पड़ता था कि भगवान् जो ध्यान कर रहे हैं वह अग्नि के समान है क्योंकि वह ध्यान ही सर्वकर्मों को जलाने वाला है। भगवान् के ध्यान अग्नि का एक स्फुलिंगा ही मानो ऊपर उछलकर चला गया है जो कि सूर्यरूप में प्रकाश फैला रहा है। इससे यह प्रगत होता है कि भगवान् के ध्यान का तेज सूर्य से अनंतगुणा ज्योतिस्वरूप है उस ध्यान की एक किरण अर्थात् तिलंगा ही सूर्य जैसा तेजोमय होता है।

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे सुषमादुःषमा नाम के काल में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष, आठ मास और एक पक्ष शेष रहने पर आषाढ़ कृष्ण द्वितीया के दिन सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर एक अहमिन्द्र देव राजा नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ में आ गए। इस गर्भावतार से छह माह पूर्व ही सौधर्म इंद्र की आज्ञा से कुबेर ने माता के आंगन में रत्नों की वर्षा शुरू कर दी थी जो कि भगवान् के जन्म होने तक पंद्रह मास तक हुई थी।

चैत्र कृष्णा नवमी के दिन भगवान का जन्म हुआ था, इंद्रों ने उसी क्षण बालक तीर्थंकर को महावैभव से सुमेरु पर ले जाकर १००८ कलशों से महाअभिषेक महोत्सव मनाया था।

युवावस्था में अंतिम कुलकर पिता श्री नाभिराय ने भगवान की स्वीकृति लेकर इंद्र की अनुमति से राजा कच्छ, सुकच्छ की बहनें यशस्वती और सुनंदा के साथ श्री वृषभदेव का विवाह कर दिया था। प्रथम रानी से भरत आदि सौ पुत्र और ब्राह्मी पुत्री का जन्म हुआ तथा सुनंदा रानी से बाहुबली एवं सुंदरी पुत्री का जन्म हुआ था। श्री ऋषभदेव ने दोनों पुत्रियों को लिपि एवं अंक विद्या से लेकर सर्व शास्त्र विद्या पढ़ाई थी पुत्रों को भी सर्व विद्याओं में पारंगत किया था। प्रजा को असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट्कर्मों का उपदेश देकर जीने की कला सिखाई थी।

ये प्रथम जिनेन्द्र सुवर्ण वर्ण के थे, पांच सौ धनुष (२००० हाथ) की इनकी ऊँचाई थी। चौरासी लाख वर्ष पूर्व की इनकी आयु थी। उसमें बीस हजार वर्ष पूर्व तो प्रभु के कुमारकाल में व्यतीत हो गये। इसके बाद नीलांजना के नृत्य के समय उसकी अकस्मात् मृत्यु देखकर भगवान विरक्त हुए तब चैत्र वदी नवमी के दिन जैनेश्वरी दीक्षा लेकर प्रभु ध्यान में छह माह के लिए स्थिर खड़े हो गए थे। उस समय के ध्यान को लक्ष्य में लेकर आचार्यश्री ने भगवान के ध्यान को अग्नि की उपमा दी है। यह मात्र कर्मों को नष्ट करने — जलाने की अपेक्षा ही है। वैसे ध्यान में आत्मा का महान् आनंद आता है जैसा कि समाधिशतक में कहा है —

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ।

तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते॥

आत्मा और शरीर के भिन्नतारूप भेद विज्ञान से उत्पन्न हुए आल्हाद से तृप्त हुए मुनि तपश्चर्या से घोर कष्टों को भोगते हुए भी खेदखिन्न नहीं होते हैं। प्रत्युत उनका जो आनंद है वह —

आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मन्धनमनारतं।

न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः॥

यह शुद्धात्मा के ध्यान से उत्पन्न हुआ आनंद संपूर्ण कर्मों को जला देता है, इससे महायोगी बाह्य उपसर्ग, परीषह आदि दुःखों के समय अचेतन — अनुभवहीन होता हुआ खेद को नहीं प्राप्त होता है। यह तो सामान्य योगियों की बात है पुनः आदिनाथ तीर्थंकर जैसे महायोगी के बारे में कुछ सोच पाना या कह पाना ही अशक्य है।

यहां मंगलाचरण में 'जयति' क्रिया से आशीर्वादात्मक नमस्कार है 'जय हो, जयवंत हो' इत्यादिपूर्वक कथन भी नमस्कार ही है।

निश्चल ध्यान क्यों करते हैं ?

नो किञ्चित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न किञ्चिद्दृशोर्दृश्यं यस्य न कर्णयोः किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न। तेनालम्बितपाणिरुज्झितगततिर्नासाग्रदृष्टीरहः संप्राप्तोऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिनः॥२॥

हाथों से करने योग्य कोई — कुछ भी कार्य शेष न रहने से जिन्होंने अपने दोनों हाथ नीचे लटका रखे हैं, चलकर प्राप्त करने योग्य कुछ भी कार्य शेष न रहने से जो गमन से रहित हो चुके हैं, नेत्रों से देखने योग्य कोई भी वस्तु शेष न रहने से जो अपनी दृष्टि को नासा के अग्रभाग पर लगाये हुए हैं तथा कानों से सुनने योग्य कुछ भी शेष न रहने से जो आकुलता से रहित होकर एकांत स्थान में खड़े हुए हैं ऐसे वे ध्यान में एकाग्रचित्त

हुए जिनेन्द्र भगवान जयवंत होवें।

जब भगवान ध्यान में स्थिर खड़े होते हैं तब दोनों हाथ नीचे लटकते रहते हैं, पैर भी अचल रहते हैं, नेत्रों को नासा के अग्रभाग पर टिका रखते हैं और एकांत में निराकुल खड़े रहते हैं। इससे आचार्यश्री ने कल्पना की है कि ऐसे क्यों खड़े हैं ? अब इन्हें संसार में कुछ करने की इच्छा नहीं है, कहीं जाने-आने की इच्छा नहीं है तथा कुछ देखने और सुनने की इच्छायें समाप्त हो चुकी हैं।

भगवान बाहुबली के चरित में उनके ध्यान का वर्णन करते हुए मैंने इसी भाव को पद्य में खींचा है —

करना नहीं रहा कुछ भी, कृतकृत्य प्रभो भुज लंबित हैं।

नहीं भ्रमण करना जग में अब, अतः चरणयुग अचलित हैं।

देख चुके सब जग की लीला, अंतरंग अब देख रहे।

सुन सुन करके शांति न पाई, अतः विजन में खड़े हुए। १४॥

दीक्षा लेकर मुनि या आर्यिका के कर्तव्यों का पालन करते हुए स्वाध्याय के बल से ध्यान का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि ऐसा अचल ध्यान हुए बगैर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। श्रावक को भी जिनपूजा आदि कर-करके परिणामों की विशुद्धि बढ़ाकर कुछ न कुछ रूप में पदस्थ ध्यान 'हीं' 'ऊँ' आदि बीजपदों के ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। इससे वर्तमान में अशुभ कर्मों की निर्जरा, पुण्यकर्मों का बंध और ध्यान का अभ्यास होता है। कभी न कभी इतने उत्कृष्ट महान ध्यान की भी क्षमता प्राप्त होगी।

अर्हन्त भगवान कैसे हैं ?

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तमोहग्रहादस्त्रादेः परिवर्जनाच्च च बुधैर्द्वेषोऽपि सम्भाव्यते।

तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणामानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियतं सोऽहं सदा पातु वः॥३॥

सर्व परिग्रह रूपी पिशाच के दूर हो जाने से जिन्हें किसी भी विषय में राग नहीं है। गदा, त्रिशूल, चक्र आदि अस्त्रों से रहित होने के कारण विद्वानों ने जिनमें द्वेष का भी लेश संभव नहीं कहा है इसीलिए उनके समता भाव और आत्मा का बोध प्रगट हो गया है। इन साम्यभाव और आत्मज्ञान के निमित्त से उनके कर्मों का क्षय हो गया है। इसी हेतु से आनंद — अनंत सुख आदि गुण प्रगट हो चुके हैं, ऐसे वे अर्हन्त भगवान आप लोगों की सदा रक्षा करें।

सर्व धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि परिग्रह को छोड़कर निर्मम हो जाने से मुनियों को कर्मबंध नहीं होता है। कहा भी है —

बद्धयते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत्॥

जो जीव ममता सहित हैं वे कर्मों से बंधते हैं और जो निर्मम हो जाते हैं वे कर्मों से छूट जाते हैं इसलिए सर्व प्रयत्नपूर्वक निर्मम होने के लिए चिंतन करना चाहिए।

इस प्रकार ममत्व से रहित साधु घातियाँ कर्मों का नाश करके वीतरागी बन जाते हैं तब किसी भी वस्तु पर उनका अनुराग या प्रेम नहीं रहता है और राग के अभाव में किसी के प्रति उन्हें द्वेष भावना भी नहीं रहती है तब वे अस्त्र-शस्त्र भला क्यों रखेंगे। ऐसे वीतरागी जिनेन्द्रदेव परम समताभाव से परिणत होकर पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त करके परमानंद आदि अनंत गुणों के सागर हो जाते हैं उनके गुणों का स्मरण ही संसार के

दुःखों से सबकी रक्षा करता है।

इन्द्रस्य प्रणतस्य शेखरशिखारत्नार्कभासानखश्रेणीतेक्षणविम्बशुम्भदलिभृद्दूरोल्लसत्पाटलम्।

श्रीसद्भाङ्घ्रियुगं जिनस्य दधदप्यम्भोजलसाम्यं रजस्त्यक्तं जाड्यहरं परं भवतु नश्वेतोऽर्पितं शर्मणे॥४॥

नमस्कार करते हुए इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग में जड़े हुए रत्नोंरूपी सूर्य की प्रभा से जिनके चरणयुगल कुछ-कुछ श्वेतवर्ण के साथ लाल-लाल वर्ण वाले हो रहे हैं उनकी नख पंक्तियों में इन्द्र के नेत्रों के प्रतिबिंब पड़ते हैं वे भ्रमरों के समान मालूम पड़ते हैं, जो लक्ष्मी के स्थान हैं।

भगवान के चरणयुगल लक्ष्मी के स्थान हैं, कमल की सदृशता को धारण कर रहे हैं फिर भी रज — धूलि से रहित हैं, जड़ता को हरने वाले हैं। वे चरण युगल नमस्कार करते हुए इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग में लगे हुए रत्नरूपी सूर्य की कांति से सुंदर किंचित् लाल वर्ण वाले हो रहे हैं। उन चरणों की नख पंक्तियों में इन्द्र के नेत्रों के प्रतिबिंब पड़ते हैं, वे भ्रमरों की शंका उत्पन्न करते हैं। ऐसे जिनेन्द्रदेव के चरणयुगल हमारे चित्त में विराजमान होकर मोक्षसुख के लिए होवें।

यहाँ जिनेन्द्र भगवान के चरणों को कमल की उपमा दी है। जिस प्रकार कमल पाटल किंचित् सफेदी के साथ लाल होता है उसी प्रकार भगवान के चरणों में जब इन्द्र नमस्कार करता है तब उसके मुकुट में जड़े हुए रत्नों की प्रभा उन पर पड़ती है इसलिए वे कमल के समान लाल हो जाते हैं। कमलों पर भ्रमर आते हैं वैसे ही भगवान के चरण नखों में नमस्कार करते हुए इन्द्र के नेत्रों का प्रतिबिंब पड़ता है व भ्रमरों के समान दिखता है। कमल श्री — लक्ष्मी का आलय है तो भगवान के चरण श्री — उत्कृष्ट शोभा के स्थान हैं। कमल रज — पराग से सहित और जड़ता — अचेतनता से सहित होता है किन्तु भगवान के चरणकमल रज — कर्मरज से रहित और जड़ता — अज्ञानता को हरने वाले हैं, ऐसे चरणयुगल मेरे हृदय में विराजमान होवें और मुझे सर्वसुख प्रदान करें।

श्रीअमितगति आचार्य ने कहा भी है —

मुनीश! लीनाविव कीलिताविव, स्थिरौ निखाताविव बिंबिताविव,

पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा, तमो धुनानौ हृदि दीपिकाविव॥

हे भगवन्! आपके चरणयुगल मेरे हृदय में लीन हो जावें, कीलित जैसे हो जावें, गड़े हुए के समान स्थिर हो जावें, प्रतिबिंबित के समान हो जावें। हे नाथ! आपके चरणयुगल मेरे हृदय के अंधकार को दूर करते हुए दीपक के समान प्रकाश करने वाले हो जावें।

इस प्रकार भगवान के चरणों को हृदय में स्थापित करने से पापों का समूह पलायमान हो जाता है, मोह अंधकार दूर होता है और ज्ञान का प्रकाश प्रगट होता है, जिससे मोक्षसुख नजदीक होता है।

शांतिनाथ की वंदना

जयति जगदधीशः शान्तिनाथो यदीयं स्मृतमपि हि जानानां पापतापोपशान्त्यै।

विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरत्रीलरत्नद्युतिचलमधुपालीचुम्बितं पादपद्मम्॥५॥

शांतिनाथ भगवान् जयशील होवें, जो जगत् के स्वामी हैं, जिनके चरणकमल का स्मरण मात्र भी जीवों के पापरूपी संताप को शांत करने वाला है। इन शांतिनाथ के चरणकमल देवसमूह के मुकुटों में लगे हुए चमकशाली नीलरत्नों की प्रभारूपी चंचल भ्रमरों की पंक्ति से स्पर्शित हैं।

देवों के मुकुटों में लगे हुए नीलमणि रत्न, उनकी कांति भ्रमरों के समान काली होती है। भगवान् शांतिनाथ के चरणकमलों में जब देवों का समूह नमस्कार करता है तब उनके मुकुटों के रत्नों की कांति भ्रमरों की शंका उत्पन्न करती है। ऐसे शांतिनाथ भगवान् तीनों जगत के स्वामी हैं। इन शांतिनाथ भगवान् का नाम स्मरण भी भव्यों के संपूर्ण पाप संताप को शांत कर देता है। यही कारण है कि आज सभी साधुवर्ग प्रत्येक क्रिया के अंत में शांतिभक्ति का पाठ करते हैं और श्रावक भी पूजन के अंत में शांतिपाठ करते हैं।

जिनेन्द्रदेव कथित धर्म ही परमधर्म है।

स जयति जिनदेवो सर्वविद्विश्चनाथोऽवितथवचनहेतुक्रोधलोभाद्विमुक्तः।

शिवपुरपथपांथप्राणिपाथेयमुच्चैर्जनितपरमशर्मा येन धर्मोऽभ्यधायि॥६॥

वे जिनेन्द्रदेव जयवंत होवें, जो सर्वज्ञ हैं, सर्व विश्व के स्वामी हैं, असत्य वचन में कारणभूत जो क्रोध, लोभ आदि कषायें हैं उनसे रहित हैं तथा जिन्होंने मोक्षपुरी के मार्ग में चलते हुए पथिकजनों के लिए पाथेय — कलेवा स्वरूप उत्तम सुख को उत्पन्न करने वाले ऐसे धर्म का उपदेश दिया है।

“कर्मांरातीन् जयतीति जिनः” जो कर्मशत्रुओं को जीतते हैं वे जिन कहलाते हैं। “जिनानां इन्द्रः जिनेन्द्रः” और जो जिनों में भी इंद्र — श्रेष्ठ हैं वे जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर भगवान् हैं उन्होंने जिस धर्म का उपदेश दिया है वह धर्म मोक्ष को प्राप्त करने वाले मुनि तथा श्रावक ऐसे भव्यों के लिए मार्ग में अल्पाहार का काम करता है क्योंकि भूखे रहकर कोई भी मनुष्य लंबा मार्ग नहीं तय कर सकता है वैसे ही मोक्ष को प्राप्त करने के लिए कई भवों तक बीच में यह धर्म ही स्वर्ग सुख और मनुष्यों के अनेक अभ्युदय आदि सुख देता रहता है।

धर्म के भेद

धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद्विधा च त्रयं रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः।

मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागङ्गसङ्गोज्झिता शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते॥७॥

जीवदया धर्म है, यह श्रावक और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। वही धर्म उत्कृष्ट रत्नत्रय के भेद से तीन प्रकार का है तथा उत्तम क्षमा, मार्दव आदि के भेद से दश प्रकार का है फिर भी मोह के निमित्त उत्पन्न हुए मानसिक विकल्प से रहित, वचन एवं शरीर के संसर्ग से भी रहित जो शुद्ध आनंद रूप आत्मा की परिणति है उसे ही ‘धर्म’ इस नाम से कहा जाता है।

‘उत्तमे सुखे धरतीति धर्मः’ जो उत्तम सुख में पहुँचाता है वह धर्म है। वह मुख्य रूप से तो जीवदया रूप ही है पुनः अणुव्रत, महाव्रत, रत्नत्रय और दशधर्म रूप जो भी धर्म हैं वे सब इस जीवदया के ही विस्तार हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने असत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन सबको अहिंसा की रक्षा के लिए ही बतलाया है। जैसे कि —

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।

अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥४२॥

आत्मा के परिणामों की हिंसा में कारण होने से सभी अन्य पाप हिंसारूप ही हैं। जो झूठ, चोरी आदि पाप कहे हैं वे केवल शिष्यों को समझाने के लिए उदाहरणरूप में कहे गये हैं।

अतः यह ‘दयाधर्म’ गृहस्थ के अष्टमूलगुण या अणुव्रत से लेकर मुनियों के महाव्रत, रत्नत्रय और दशधर्म तक व्याप्त है और इससे भी आगे स्वदयारूप से निश्चयधर्म में भी व्याप्त है।

व्यवहारनय की अपेक्षा से जीवदया आदि धर्म माने गये हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा की परिणतिरूप शुद्धोपयोग ही धर्म है, यह निर्विकल्प ध्यानस्वरूप है और शुद्धानन्दमय है। आगे यही परमानन्दमय बन जाता है और गौतमस्वामी ने भी कहा है—

धम्मो मंगलमुद्दिट्ठं अहिंसा संजमो तवो।

देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो।।

अहिंसा, संयम और तपरूप जो धर्म है वह मंगलमय है। जिसका मन सदा धर्म में लगा हुआ है देवगण भी उसे नमस्कार करते हैं।

यह धर्म ही संसार में सर्व सुख देकर मोक्षसुख को प्राप्त कराता है। तब उन धर्म से परिणत महापुरुष को देव भी नमस्कार करते हैं वह तीन लोक का स्वामी बन जाता है।

आद्या सद्व्रतसञ्चयस्य जननी सौख्यस्य सत्सम्पदां मूलं धर्मतरोरनश्चरपदारोहैकनिःश्रेणिका।

कार्या सद्भिर्हिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः धिङ्नामाऽप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः।।८।।

वस्तु के एक-एक अंश को कहने वाला नय है। इसके मुख्य दो भेद हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। जो वस्तु के स्वभाव या शक्ति को बतलाता है वह निश्चयनय है। जैसे जल शीतल है भले ही वह अग्नि के संयोग से खूब गरम हो रहा है फिर भी स्वभावदृष्टि से—निश्चयनय से वह शीतल ही है। ऐसे ही बीज में वृक्ष है, दूध में घी है, यह शक्ति की अपेक्षा है, बीज शक्तिरूप में वृक्ष है। इसी प्रकार यह निश्चयनय आत्मा को स्वभाव दृष्टि से अनंत ज्ञान, दर्शनस्वरूप कहता है। संसारी जीवों को शक्तिरूप से भगवान आत्मा—सिद्ध परमात्मा कहता है।

व्यवहारनय वस्तु के विभाव को कहता है और प्रगट अवस्था का निरूपण करता है। जैसे जल गरम है—खौलते हुए जल को गरम ही कहता है। ऐसे ही बीज को बीज और वृक्ष को वृक्ष कहता है। वैसे ही संसारी जीवों को कर्मसहित नर नरकादि कहता है, संसारी जीव को संसारी और कर्म के बंधन से मुक्त को ही मुक्त—सिद्ध परमात्मा कहता है।

जीवदया धर्म पहले गुणस्थान से लेकर छोटे गुणस्थान तक व्यवहार क्रियारूप से है। आगे निश्चयनय से आत्मा की दयारूप धर्म या रागादि भाव हिंसा के अभावरूप धर्म बारहवें गुणस्थान तक भी है। गृहस्थ का धर्म एकदेश रत्नत्रय है, मुनियों में ही पूर्ण रत्नत्रय होता है। उत्तम क्षमादि धर्म एकदेशरूप में गृहस्थ के हो सकते हैं और मुनियों के वे पूर्णरूप से होते हैं।

जो सबसे प्रथम धर्म जीवदया है वह समीचीन व्रतों की, सर्व सुखों की और उत्तम संपदाओं की जननी है—उत्पन्न करने वाली है। धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है तथा अविनश्चर—मोक्षमहल पर चढ़ने के लिए अपूर्व सीढ़ी का काम करती है इसलिए धर्मात्मा सत्पुरुषों को सबसे पहले सर्व प्राणियों में नित्य ही दया करनी चाहिए। देखो, निर्दय का नाम भी धिक्कार रूप—निंदाजनक है, उसके लिए सर्वत्र दिशायें शून्य जैसी हैं।

एक जीवदया ही ऐसा धर्म है कि जो उत्तम-उत्तम व्रतों को उत्पन्न करने में माता के समान है, सभी सुखों और नवनिधि, चौदह रत्न आदि संपत्तियों को प्रदान करने वाला है। यह धर्म की जड़ है जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं हो सकता है वैसे ही बिना दया के धर्म की बात ही नहीं हो सकती है। यह दया धर्म की ही परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है। उस जीवदया धर्म से अव्रती सम्यग्दृष्टि आदि अपने-अपने पद के

अनुकूल व्रतों का पालन करते हुए क्रम से कर्मों को नष्ट कर मुक्तिपद को भी प्राप्त कर लेते हैं।

संसारं भ्रमतश्चिरं तनुभृतः के के न पित्रादयो जातास्तद्वधमाश्रितेन खलु ते सर्वे भवन्त्याहताः।

नन्वात्मापि हतो यदत्र निहतो जन्मान्तरेऽपि ध्रुवं हन्तारं प्रतिहन्ति हन्त बहुशः संस्कारतो ना क्रुधः॥१॥

इस संसार में अनंत — चिरकाल से भ्रमण करने वाले जीवों के कौन-कौन से जीव पिता, माता, भाई, बहन आदि नहीं हुए हैं ? अतएव उन-उन जीवों के घात में प्रवृत्त हुआ जीव निश्चित ही उन सबको मारता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि वह अपनी आत्मा का ही घात कर लेता है। इस भव में जो दूसरे के द्वारा मारा जाता है वह निश्चित ही भवान्तरों में क्रोध के संस्कार से अपने उस मारने वाले का बहुत बार घात करता है। यह बहुत बड़े आश्चर्य की अथवा खेद की बात है।

अनादिकाल से आज तक प्रत्येक जीव संसार में जन्म-मरण करते हुए भ्रमण कर रहे हैं। चारों गतियों में घूमते हुए नाना भवों में प्रायः सभी जीव एक दूसरे के माता-पिता आदि कुटुम्बीजन बन चुके हैं अतः जो प्राणी निर्दय होकर किसी को भी मारते हैं समझिये कि उन्होंने अपने माता-पिता आदि परिवारजनों का ही घात किया है। इस निमित्त से वह अपना ही घात कर लेता है अथवा वह क्रोध से कभी-कभी अपना आत्मघात ही कर लेता है। यह क्रोध के संस्कार ऐसे होते हैं कि इस जन्म में जिसे किसी ने एक बार मारा है वह आगे भवों में अपने मारने वाले को अनेकों बार मारता है इसलिए क्रोध के निमित्त से किसी का घात करना बुरा है ही है, किसी भी निमित्त से किसी का घात नहीं करना चाहिए।

जीवन देना सबसे महान है

त्रैलोक्यप्रभुभावतोऽपि सहजोऽप्येकं निजं जीवितं प्रेयस्तेन विना स कस्य भवितेत्याकांक्षतः प्राणिनः। निःशेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात्ततो निश्चितं जन्तोर्जीवितदानतस्त्रिभुवने सर्वप्रदानं लघु॥१०॥

रोगी मनुष्य को भी तीनों लोकों की प्रभुता की अपेक्षा एकमात्र अपना जीवन प्रिय होता है। चूंकि वह सोचता है कि जीवन के नष्ट हो जाने पर तीन लोक की प्रभुता भला किसको प्राप्त होगी ? निश्चय से यह जीवन समस्त व्रत, शील एवं अन्य निर्मल गुणों का आधार है अतः संसार में जीव के जीवनदान की अपेक्षा अन्य समस्त संपत्ति आदि का दान भी तुच्छ माना जाता है।

यदि कोई किसी को कहे कि मैं आपके प्राणों को हरकर-आपको मारकर तीन लोक का ऐश्वर्य दिए देता हूँ तो वह यही कहेगा भाई ! मैं जब मर जाऊँगा तब तुम्हारे तीन लोक के ऐश्वर्य से भला क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अतः मुझे तीन लोक की संपत्ति के बजाय प्राण ही प्यारे हैं। इससे मालूम होता है कि किसी एक जीव को जीवनदान देना सर्वसंपत्ति को देने की अपेक्षा भी अधिक श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि किसी को मारने से उसके शरीर का घात होता है, जीवित मनुष्य का शरीर संपूर्ण व्रत, शील, संयम आदि गुणों का आश्रय है शरीर से ही रत्नत्रय की साधना होती है अतः जीववध करने वाले उसके अनेक गुणों को भी नष्ट कर देते हैं इसलिए संसार में सर्वश्रेष्ठ — तीनों लोकों के वैभव की अपेक्षा भी महान जीवनदान है। यही कारण है कि 'जीवदया' सभी धर्मों में प्रधान है और सभी धर्मों का मूल आधार है।

—शार्दूलविक्रीडित—

स्वर्गायाऽव्रतिनोऽपि सार्द्रमनसः श्रेयस्करी केवला सर्वप्राणिदया तथा तु रहितः पापस्तपस्थोऽपि च। तद्दानं बहु दीयतां तपसि वा चेतः स्थिरं धीयतां ध्यानञ्च क्रियतां जना न सफलं किञ्चिद्दयावर्जितम्॥११॥

यदि कोई अन्नदाता है फिर भी उसका चित्त यदि दया से भीगा हुआ है तो उसकी वह एकमात्र सर्वप्राणि दया ही स्वर्ग प्राप्ति के लिए निमित्त है, सर्व कल्याणों को देने वाली है। इससे अतिरिक्त जीवदया से रहित मनुष्य तपश्चर्या करते हुए भी पापी है। इसलिए हे भव्यजीवों! आप चाहे बहुत सा दान दीजिए, चाहे चिरकाल तक खूब तपश्चरण कीजिए अथवा चाहे ध्यान भी कीजिए किन्तु दया धर्म के बिना वह सब कुछ भी सफल नहीं है।

जो कोई मनुष्य अणुव्रत, महाव्रत आदि नहीं लेकर भी अन्नदाता है फिर भी यदि वे जीवों पर दया करते हुए हिंसा से दूर रहते हैं तो उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति भी सुलभ है, अनेक कल्याणकारी संपदायें प्राप्त होती रहती हैं किन्तु इससे विपरीत यदि कोई मनुष्य पंचाग्नि आदि खूब तपश्चरण करे या बहुत सा सुवर्ण, भूमि, भोजन आदि दान देवे अथवा ध्यान भी करे किन्तु यदि प्राणियों की हिंसा में प्रवृत्त है, जीवदया धर्म से रहित है तो यह सब पुण्य कार्य भी उसे स्वर्ग मोक्ष के सुख तो क्या संसार के भी कुटुम्ब, धन, संपत्ति, शांति आदि सुख नहीं दे सकते हैं अतः जीवदया ही सर्वोत्तम धर्म है।

गृहस्थ धर्म भी मान्य है

सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं मुक्तेः परं कारणं रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति काये सति।

वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया भक्त्यार्पिताज्जायते तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः॥१२॥

सर्व सुरेन्द्र और असुरेन्द्रों से पूजित मुक्ति के लिए श्रेष्ठ कारण ऐसा जो रत्नत्रय धर्म है वह तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला है, ऐसे इस रत्नत्रय को साधुजन इस शरीर के रहने पर ही धारण करते हैं उनके शरीर की स्थिति भी उत्कृष्ट भक्ति से दिये गये गृहस्थों के अन्न से ही होती है अतः उन गुणवान् सद्गृहस्थों का धर्म भला किसे प्रिय नहीं होगा ? अर्थात् सभी को प्रिय होगा।

तात्पर्य यह है कि रत्नत्रय धर्म मोक्ष के लिए कारण है, वह शरीर से ही साधा जाता है और शरीर की स्थिति अन्न पर अवलंबित है। मुनिगण रत्नत्रय को धारण कर इस शरीर की रक्षा के लिए उसे एक बार श्रावकों के द्वारा दिये आहार से पोषते हैं। मुनियों को श्रावक आदि आहारदान न देवें तो वे अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते चूंकि जैन मुनि अपने पास सुई मात्र भी परिग्रह नहीं रखते हैं। नग्न दिगंबर होकर मात्र पिच्छी, कमंडलु और शास्त्र ही रखते हैं। उनको आहार देकर श्रावक अपने गृह में रहते हुए भी गृहस्थधर्म का पालन करते हैं तभी वह गृहस्थाश्रम सफल माना जाता है अतः गृहस्थ धर्म अथवा श्रावकधर्म भी मान्य है, बुद्धिमानों को प्रिय है, इष्ट है और ऐसा न होता तो भला तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी गृहस्थाश्रम में क्यों प्रवेश करते ?

कौन सा गृहस्थधर्म मान्य है ?

—स्रग्धरा—

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या। तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतिरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिहपुनर्दुःखदो मोहपाशः॥१३॥

जिस गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्रदेवों की आराधना की जाती है, निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरुओं की विनय-भक्ति की जाती है, धर्मात्मा पुरुषों के साथ प्रेम व्यवहार किया जाता है, पात्रों के लिए दान दिया जाता है, आपत्ति से

ग्रस्त जनों को भी करुणा बुद्धि से दान दिया जाता है, तत्त्वों का अभ्यास किया जाता है, अपने श्रावक के व्रतों में अनुराग होता है और निर्दोष सम्यग्दर्शन धारण किया जाता है वह गृहस्थाश्रम विद्वानों के लिए पूज्य — मान्य है, श्रेष्ठ है। इससे विपरीत गृहस्थाश्रम यहां लोक में दुःखदायक मोह का पाश ही है।

जो गृह में रहते हैं वे गृहस्थ हैं उनका जो आश्रम — निवास — रहना है वही गृहस्थाश्रम है। उस आश्रम में अपने कर्तव्यों का पालन आवश्यक है। वह आवश्यक देवपूजा आदि छह क्रियारूप है जिसे नाम मात्र से यहां बताया जाता है। देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। इनके सिवाय भी छह क्रियायें मानी हैं उनके नाम हैं — इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप। इज्या का अर्थ पूजा है इसके पाँच भेद हैं — नित्यमह, चतुर्मुख, कल्पद्रुम, आष्टाहिक और ऐन्द्रध्वज।

नित्यपूजा — प्रतिदिन घर से जल, चंदन, अक्षत आदि ले जाकर मंदिर में भगवान अर्हन्तदेव की पूजा करना नित्यपूजा है। इसी प्रकार मंदिर निर्माण कराना, जिनप्रतिमा बनवाना, मुनियों को आहारदान देना, पूजा करना आदि नित्यपूजा में शामिल है। 'मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है उसे चतुर्मुख, सर्वतोभद्र या महाभद्र कहते हैं। समस्त याचकों को किमिच्छक — इच्छानुसार दान देते हुए जो चक्रवर्ती के द्वारा जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम कहते हैं। नंदीश्वर पर्व में की जाने वाली पूजा नंदीश्वर पूजा है और इंद्र, प्रतीन्द्र आदि के द्वारा की जाने वाली पूजा ऐन्द्रध्वज पूजा कहलाती है।

वार्ता — असि — तलवार आदि शस्त्र, मषि — लिखने का काम, कृषि — खेती, वाणिज्य — व्यापार, विद्या — पढ़ाकर आजीविका और शिल्प — कला, कौशल आदि से आजीविका करना — धन उपार्जन वार्ता है।

दत्ति — दान देने को दत्ति कहते हैं, इसके चार भेद हैं — दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और सकलदत्ति। दुःखी प्राणियों को दयापूर्वक अभयदान देना दयादत्ति है। रत्नत्रयधारक मुनियों को नवधाभक्तिपूर्वक आहार देना तथा ज्ञान, संयम के शास्त्र, पिच्छी, कमंडलु आदि उपकरण देना, औषधि दान देना और वसतिका देना पात्रदत्ति है। अपने समान आचरण वाले गृहस्थों के लिए कन्या, भूमि, सुवर्ण आदि देना समदत्ति है। अपने निज की संतान परंपरा को कायम रखने के लिए अपने पुत्र को या दत्तक पुत्र को धन और धर्म समर्पण कर देना सकलदत्ति है इसे अन्वयदत्ति कहते हैं।

स्वाध्याय — तत्त्वज्ञान को पढ़ना, पढ़ाना, स्मरण करना स्वाध्याय है।

संयम — पांच अणुव्रतों में अपनी प्रवृत्ति करना संयम है।

तप — उपवास आदि बारह प्रकार का तपश्चरण करना तप है।

आर्यों के इन षट्कर्म में तत्पर रहने वाले गृहस्थ कहलाते हैं।

इस प्रकार जो गृहस्थ भगवान की पूजा करते हैं, गुरुओं की भक्ति, विनय करते हुए आहारदान देते हैं, करुणादान आदि देते हैं। धर्मात्माओं में प्रेम करते हैं और तत्त्वों का अभ्यास करने के लिए स्वाध्याय करते हैं, उनका गृहस्थाश्रम सफल है, वे मोक्षमार्गी हैं। इनसे अतिरिक्त जो गृहस्थ धर्म से शून्य हैं, खाने-पीने में और धन कमाने में ही लगे रहते हैं वे दुःखदायी मोह जाल में फंसे हुए हैं, संसार समुद्र में ही डूब रहे हैं।

गृहस्थ के व्रतों का वर्णन

आदौ दर्शनमुन्नतं व्रतमितः सामायिकं प्रोषधस्यागश्चैव सचित्तवस्तुनि दिवाभक्तं तथा ब्रह्म च।
नारम्भो न परिग्रहोऽननुमतिर्नोद्दिष्टमेकादशस्थानानीति गृहिव्रते व्यसनितात्यागस्तदाद्यः स्मृतः॥१४॥

आदि में उन्नति को प्राप्त दर्शन, इसके बाद व्रत अर्थात् १. दर्शन, २. व्रत, ३. सामायिक, ४. प्रोषध, ५. सचित्त त्याग, ६. दिवाभुक्ति, ७. ब्रह्मचर्य, ८. आरंभत्याग, ९. परिग्रह त्याग, १०. अनुमति त्याग और ११. उद्दिष्ट त्याग ये ग्यारह स्थान गृहस्थ व्रत के हैं। इसी प्रकार उन सबके आदि में जुआ आदि दुर्व्यसनों का त्याग कहा गया है। इन सब प्रतिमाओं में आगे-आगे बढ़ने पर पूर्व-पूर्व की प्रतिमाओं के व्रत होना आवश्यक हैं।

श्रावकों के लिए ग्यारह प्रतिमायें मानी गई हैं। उन सबके पहले जुआ आदि सात व्यसनों को त्याग करना आवश्यक है। यहाँ संक्षेप से इन ग्यारह प्रतिमाओं का लक्षण बताते हैं—

दर्शन प्रतिमा—विशुद्ध सम्यग्दर्शन धारण कर संसार, शरीर और इंद्रिय विषयों से विरक्त होना, पाक्षिक श्रावक के आचार के अभिमुख होना दर्शन प्रतिमा है।

व्रत प्रतिमा—पांच अणुव्रत एवं सप्त शीलव्रतों का निरतिचार पालन करना। माया, मिथ्या और निदान इन शल्यों को छोड़ना यह व्रत प्रतिमा है।

सामायिक प्रतिमा—तीनों संध्या कालों में देववन्दना विधि से सामायिक करना, कम से कम अड़तालीस मिनट तक सामायिक करते हुए अनित्य, अशरण आदि भावनाओं का चिंतन करना सामायिक प्रतिमा है।

प्रोषध प्रतिमा—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी के दिन चतुर्विध भोजन का त्याग करना या एक बार शुद्ध भोजन करके एकाशन करना प्रोषध प्रतिमा है। इसके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेद से तीन प्रकार हैं। उत्कृष्ट में सप्तमी और नवमी को एकाशन करके अष्टमी को उपवास करना होता है। जघन्य में मात्र अष्टमी और चतुर्दशी को एकाशन करना होता है। इसके बीच में तीन एकाशन या जल लेकर उपवास आदि मध्यम के अनेक भेद हैं। प्रोषध शब्द का अर्थ एकाशन और उपवास का अर्थ चार प्रकार के आहार का पूर्णतया त्याग है। इस प्रतिमाधारी को व्रत के आरंभ आदि पाप और शरीर, श्रृंगार आदि का भी त्याग कर देना चाहिए तभी उत्कृष्ट प्रोषधोपवास होता है।

सचित्तत्याग—सचित्त जल, वनस्पति आदि का त्याग करना, जल को प्रासुक या गरम करके वैसे ही हरित वनस्पति को भी प्रासुक करके ग्रहण करना चाहिए।

दिवाभुक्त—दिन में मैथुन का त्याग करना दिवाभुक्ति नाम की छठी प्रतिमा है। इसे रात्रिभोजन त्याग के नाम से भी आचार्यों ने माना है उसका अर्थ है रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग करना अर्थात् दिन में ही भोजन करना अतः इस अर्थ से भी दिवाभुक्ति अर्थात् दिन में भोजन करना, रात्रि में नहीं करना ऐसा सिद्ध हो जाता है।

ब्रह्मचर्य—स्त्रीमात्र से विरक्त होना पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

आरंभत्याग—कृषि, व्यापार आदि आरंभ का त्याग करना आरंभ त्याग प्रतिमा है।

परिग्रह त्याग—धन, धान्य आदि परिग्रह में ममत्व बुद्धि छोड़कर संतोषवृत्ति धारण करना परिग्रह त्याग प्रतिमा है।

अनुमति त्याग—आरंभ, परिग्रह आदि लौकिक कार्यों में अनुमति नहीं देना अनुमतित्याग प्रतिमा है।

उद्दिष्ट त्याग—गृहवास छोड़कर भिक्षावृत्ति से भोजन करना। अपने निमित्त से बनाये हुए भोजन का त्याग करना उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है।

इस ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद हैं — क्षुल्लक और ऐलक।

वसुनंदि श्रावकाचार में इन दोनों का अच्छा वर्णन है। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के दो भेद हैं — क्षुल्लक, ऐलक। क्षुल्लक एकवस्त्र (दुपट्टा) और कौपीन दो वस्त्रों को धारण करते हैं किन्तु ऐलक कौपीन मात्र को धारण करते हैं। क्षुल्लक अपने केशों को कैची या उस्तरा से बनवा सकते हैं, सावधान होकर उपकरण-पिच्छी से स्थान आदि का शोधन करते हैं, पाणिपात्र या थाली आदि पात्र में एक बार बैठकर आहार लेते हैं। चारों पर्वों में उपवास करते हैं, आंगन में ठहर कर 'धर्मलाभ' कहकर स्वयं भिक्षा मांगते हैं, भिक्षा के लाभ-अलाभ में अदीनमुख वहां से शीघ्र ही निकलकर दूसरे घर में जाते हैं, मौन से अपने शरीर को दिखलाते हैं, यदि मार्ग में ही कोई श्रावक कहे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्वघर से प्राप्त अपनी भिक्षा को खाकर शेष वहां के भोजन को लेकर जीमकर आ जाते हैं। यदि कोई भोजन के लिए न कहे तो अपने पेट के पूरण करने प्रमाण भिक्षा प्राप्त कर अंत में एक घर में बैठकर शोधकर भोजन करके पात्र प्रक्षालन कर गुरु के पास आ जाते हैं। यदि किसी को इस विधि से गोचरी करना न रुचे तो वह मुनियों के गोचरी कर जाने के पश्चात् चर्या के लिए प्रवेश करे अर्थात् एक भिक्षा के नियम वाला उत्कृष्ट श्रावक चर्या के लिए किसी श्रावक के घर में जावे, यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले तो फिर किसी के घर न जाकर उपवास कर लेवे, अनंतर गुरु के समीप जाकर विधिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण कर गोचार दोषों की आलोचना करे।

ऐलक भी उत्कृष्ट श्रावक हैं उन्हें नियम से केशों का लोच करना चाहिए, पिच्छी रखना चाहिए और पाणिपात्र में आहार लेना चाहिए।^१

वैसे वर्तमान में आचार्य संघों में रहकर ही ये विधि समझनी चाहिए।

आजकल क्षुल्लक, ऐलक संघों में रहते हैं। मुनि, आर्यिका के बाद आहार को निकलते हैं और पढ़ागहन विधि से किसी के भी घर में आहार के लिए जाते हैं। वहाँ नवधाभक्ति के बाद थाली में या कटोरी में आहार ग्रहण करते हैं। इनकी नवधाभक्ति में अष्टद्रव्य से पूजन न होकर अर्घ्य मात्र चढ़ाया जाता है, यही अंतर है। ये आर्यिकाओं को वंदामि करते हैं चूंकि आर्यिकायें उपचार से महाव्रती हैं। कहा भी है —

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतं।

अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हतिः॥३६॥

अहो आश्चर्य है कि ऐलक लंगोटी में ममत्व परिणाम होने से उपचार से भी महाव्रती नहीं हो सकता है किन्तु आर्यिका साड़ी धारण करने पर भी ममत्व परिणाम रहित होने से उपचार से महाव्रतिनी कहलाती है अर्थात् ऐलक लंगोटी का त्याग कर दिगंबर मुनि बन सकता है फिर भी ममत्व आदि कारणों से धारण किए हैं किन्तु आर्यिका तो साड़ी को त्याग करने में समर्थ नहीं है।

इन क्षुल्लक और ऐलक के हाथ में मयूरपंख की पिच्छिका रहती है जैसा कि पद्मपुराण में सिद्धार्थ क्षुल्लक का वर्णन इस प्रकार है —

अनंतर पुण्ययोग से 'सिद्धार्थ' नाम के एक प्रसिद्ध, शुद्ध हृदय क्षुल्लक राजा वज्रजंघ के घर आये, वे क्षुल्लक महाविद्याओं के द्वारा इतने पराक्रमी थे कि प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायं इन तीनों संध्याओं में मेरुपर्वत पर जाकर वहां के मंदिरों में विराजमान जिनप्रतिमाओं की वंदना कर क्षण भर में अपने स्थान पर आ जाते थे। वे प्रशांत मुख थे, धीर वीर थे, केशलोच करने से उनका मस्तक मुंडित था। उनका चित्त शुद्ध —

उत्तम भावनाओं से युक्त था। वे वस्त्र मात्र परिग्रह के धारक उत्तम अणुव्रती थे, अनेक गुणरूपी अलंकारों से अलंकृत थे, जिनशासन के रहस्य को जानने वाले थे, कलारूपी समुद्र के पारगामी थे, धारण करते हुए सफेद चंचलवस्त्र (दुपट्टे) से ऐसे जान पड़ते थे मानों मृणालों के समूह से वेष्टित मंद-मंद चलने वाला गजराज ही हो। जो 'पिच्छी' को प्रिय सखी के समान बगल में धारणकर अमृत के स्वाद के समान मनोहर 'धर्मवृद्धि' शब्द का उच्चारण कर रहे थे और घर-घर भिक्षा लेते हुए धीरे-धीरे चल रहे थे, इस तरह भ्रमण करते हुए संयोगवश उस उत्तम घर में पहुँचे, जहाँ सीता बैठी थी।

जिनशासन देवी के समान मनोहर भावना को धारण करने वाली सीता ने ज्यों ही क्षुल्लक को देखा त्यों ही वह संभ्रम के साथ नौखंडा महल से उतरकर नीचे आ गई, पास में जाकर हाथ जोड़कर उसने 'इच्छाकार' आदि से नमस्कार कर विधिवत् पूजा करके आहार कराया। चूँकि वह सीता जिनशासन में आसक्त पुरुषों को अपना बंधु समझती थी^१।

इस प्रकार यहाँ ग्यारह प्रतिमा का संक्षेप में वर्णन किया गया है। ये श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें अनादिकाल से उपासकाध्ययन सूत्रों में कही गई हैं। श्रीगौतमस्वामी ने भी प्रतिक्रमणसूत्र में कहा है—

दंसण-वय सामायिय पोसह सचित्त राइभत्ते य।

बंभारंभ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य॥

महुमंसमज्जजूआ वेसादिविवज्जणासीलो।

पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो॥^२

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग ये ग्यारह प्रतिमायें देशविरत श्रावक के लिए हैं तथा मधु, मांस, मद्य, जुआ, वेश्यासेवन आदि व्यसन को त्याग करने वाले श्रावक का पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों से सहित धर्म होता है।

इन ग्यारह प्रतिमाओं में पहली प्रतिमा से लेकर छठी प्रतिमा तक के पालन करने वाले जघन्य श्रावक हैं, ये घर में भी रहते हैं। इसके बाद सप्तम प्रतिमा से लेकर नवमीं प्रतिमा के व्रतों को धारण करने वाले श्रावक मध्यम श्रावक हैं। सप्तम प्रतिमा वाले ब्रह्मचारी गृहविरत भी होते हैं, घर में भी रहते हैं। इसके बाद दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।

इसमें से छठी प्रतिमा तक के श्रावक घर में रहकर असि, मषि आदि क्रियाओं, व्यापार आदि कार्यों को करते हुए देवपूजा, आहारदान, तीर्थयात्रा आदि के द्वारा अपने गार्हस्थ्य जीवन को सफल कर लेते हैं। पद्मपुराण में इस गृहस्थधर्म को मुनिधर्म का छोटा भाई कहा है—

“अयोध्या में जिनमंदिर में स्व और पर शास्त्रों के पारगामी तथा अनेक मुनियों का संघ जिनकी निरंतर सेवा करता था, ऐसे 'द्युति' नाम के दिगम्बर आचार्य रहते थे।” उनके पास जाकर भरत ने प्रतिज्ञा की कि 'मैं राम के दर्शन मात्र से मुनिव्रत धारण करूँगा।' तब अपनी गंभीर वाणी में भगवान् द्युति भट्टारक ने भरत को संबोधित करते हुए कहा—

हे भव्य! राम जब तक वापस आयेंगे तब तक तुम गृहस्थ धर्म के द्वारा अभ्यास कर लो। महात्मा निर्गन्थ मुनियों की चर्या अत्यन्त कठिन है पर जो अभ्यास के द्वारा परिपक्व होते हैं उन्हें उसका साधन करना

सरल हो जाता है। “मैं आगे तप करूँगा” ऐसा कहने वाले अनेक अज्ञानी मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं पर दीक्षा नहीं ले पाते हैं। ‘निर्ग्रन्थ मुनियों का धर्म अमूल्य रत्न के समान है’ ऐसा कहना भी अशक्य है फिर उसकी अन्य उपमा तो भला क्या हो सकती है ?

कनीयांस्तस्य धर्मोऽयमुक्तोऽयं गृहिणां जिनैः।

अप्रमादी भवेत्तस्मिन्निरतो बोधदायिनि॥१४६॥

यथा रत्नाकरद्वीपं मानवः कश्चिदागतः।

रत्न यत्किञ्चिदादत्ते यात्यस्य तदनर्घताम्॥१४७॥

तथास्मिन्नियमद्वीपे शासने धर्मचक्रिणाम्।

य एव नियमः कश्चिद् ग्रहीतो यात्यनर्घताम्॥१४८॥

गृहस्थों के धर्म को जिनेन्द्रदेव ने मुनिधर्म का छोटाभाई कहा है सो बोधि को प्रदान करने वाले इस धर्म में भी प्रमाद रहित होकर लीन रहना चाहिए। जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीप में गया, वहाँ वह जिस किसी भी रत्न को उठाता है वही उसके लिए अमूल्य हो जाता है। उसी प्रकार धर्मचक्र की प्रवृत्ति करने वाले जिनेन्द्र भगवान के शासन में जो कोई इस नियमरूपी द्वीप में आकर जिस किसी भी नियम को ग्रहण करता है वही उसके लिए अमूल्य हो जाता है।

जो अत्यन्त श्रेष्ठ अहिंसारूपी धर्मरत्न को लेकर भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है वह स्वर्ग में परम वृद्धि को प्राप्त करता है। जो सत्यव्रत का धारी होकर मालाओं से भगवान की अर्चा करता है उसके वचनों को सब ग्रहण करते हैं तथा उज्ज्वल कीर्ति से वह समस्त संसार को व्याप्त करता है। जो चोरी का त्याग कर जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है वह रत्नों से परिपूर्ण निधियों का स्वामी होता है। जो जिनेन्द्रदेव की पूजा करता हुआ श्रावक परस्त्रियों में प्रेम नहीं करता है वह सबके नेत्रों को हरण करने वाला परम सौभाग्य को प्राप्त होता है। जो परिग्रह का परिमाण कर भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की अर्चा करता है वह अतिशय विस्तृत लाभों को प्राप्त होता है तथा सब लोग उसकी पूजा करते हैं।

इस प्रकार पांच अणुव्रत श्रावक के धर्म हैं, ऐसे ही आहारदान, गुरुभक्ति, विधिवत् भगवान का अभिषेक आदि का वर्णन करके उनके फलों को बतलाया है पुनः जिनमंदिर निर्माण, जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा कराना तथा जिनबिंब के दर्शन का फल सुंदर कहा है। यथा —

जो मनुष्य जिनमंदिर बनवाते हैं उन सुचेता के भोगों का वर्णन कौन कर सकते हैं ? जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा बनवाते हैं वे शीघ्र ही सुर तथा असुरों के उत्तम सुख प्राप्त कर परम पद को प्राप्त कर लेते हैं, तीनों लोकों और तीनों कालों में व्रत, ज्ञान, तप और दान के द्वारा मनुष्य के जो पुण्यकर्म संचित होते हैं वे भावपूर्वक एक जिनप्रतिमा बनवाने से उत्पन्न हुए पुण्य की बराबरी नहीं कर सकते हैं। इस कहे हुए फल को जीव स्वर्ग में प्राप्त कर जब मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होते हैं तब चक्रवर्ती आदि के पद पाकर वहाँ भी सुखों का उपभोग करते हैं। जो कोई मनुष्य इस विधि से धर्म का सेवन करते हैं वे संसार सागर से पार होकर तीन लोक के शिखर पर विराजमान हो जाते हैं। अब जिनप्रतिमा के दर्शन करने का फल बतलाते हैं —

फलं ध्यानाच्चतुर्थस्य षष्ठस्योद्यानमात्रतः।

अष्टमस्य तदारम्भे गमने दशमस्य तु॥१७८॥

द्वादशस्य ततः किञ्चिन्मध्ये पक्षोपवासजम्।
 फलं मासोपवासस्य लभते चैत्यदर्शनात्॥१७९॥
 चैत्यांगणं समासाद्य याति षण्मासिकं फलं।
 फलं वर्षोपवासस्य प्रविष्य द्वारमश्नुते॥१८०॥
 फलं प्रदक्षिणीकृत्य भुङ्क्ते वर्षशतस्य तु।
 दृष्ट्वा जिनास्यमाप्नोति फलं वर्षसहस्रजं॥१८१॥
 अनन्तफलमाप्नोति स्तुति कुर्वन् स्वभावतः।
 नहि भक्ते जिनेन्द्राणां विद्यते परमुत्तमम्॥१८२॥

जो मनुष्य जिनप्रतिमा का दर्शन करने के लिए चिंतन करते हैं, मन में मात्र सोचते हैं कि भगवान के दर्शन करने जाना है वे बेला — दो उपवास का, जो उद्यम की अभिलाषा करते हैं वे तीन उपवास का, जो जाने का आरंभ करते हैं वे चार उपवास का, जो जाने लगते हैं वे पांच उपवास का, कुछ दूर पहुँच जाने पर बारह उपवास का, बीच मार्ग में पहुँच जाने पर पंद्रह उपवास का, मंदिर का दर्शन हो जाने पर एक मास के उपवास का, मंदिर के आंगन में प्रवेश करने पर छह मास के उपवास का, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का, प्रदक्षिणा देने पर सौ वर्ष के उपवास का, जिनेन्द्रदेव के मुखकमल का दर्शन करने पर हजार वर्ष के उपवास और भक्ति से गद्गद हो स्वभाव से भगवान की स्तुति करने पर अनंत उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है। यथार्थ में जिनभक्ति से बढ़कर उत्तम पुण्य नहीं है।

इस प्रकार आचार्य द्युति कहते हैं — हे भरत! जिनेन्द्रदेव की भक्ति से कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और जिनके कर्म नष्ट हो जाते हैं वे अनुपम सुख से संपन्न परमपद को प्राप्त कर लेते हैं।

इसलिए यहाँ पर गृहस्थधर्म को भी परंपरा से मोक्ष का कारण समझकर उसे यथाशक्ति धारण करना चाहिए।

मुनिधर्म अट्ठाईस मूलगुण रूप है। कोई भी महापुरुष गुरु के पास निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिदीक्षा लेकर हाथ में मयूरपंख की पिच्छी, कमंडलु धारण करते हैं और २८ मूलगुणों को पालते हैं। पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इंद्रियनिरोध, छह आवश्यक क्रिया, केशलोच, आचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त ये २८ मूलगुण हैं। इनका विस्तार मूलाचार आदि से समझना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थधर्म पांच अणुव्रत से लेकर ग्यारह प्रतिमा तक है और मुनिधर्म अट्ठाईस मूलगुण रूप है।

पूर्व-पूर्व की प्रतिमाएँ आगे-आगे आवश्यक हैं ?

—शार्दूलविक्रीडित—

यत्प्रोक्तं प्रतिमाभिरेभिरभितो विस्तारिभिः सूरिभिर्ज्ञातव्यं तदुपासकाध्ययनतो गेहिव्रतं विस्तरात्।
 तत्रापि व्यसनोज्झनं यदि तदप्यासूत्र्यतेऽत्रैवयत्तन्मूलः सकलः सतां व्रतविधिर्याति प्रतिष्ठां पराम्॥१५॥

इन प्रतिमाओं से जिन गृहस्थ — श्रावक के व्रतों को यहां आचार्यों ने कहा है, उन सबको विस्तार से समझने के इच्छुक जनों को उपासकाध्ययन से जानना चाहिए। उस अंग में जो व्यसनों का त्याग कहा गया है उसको यहाँ भी ले रहे हैं क्योंकि सत्पुरुषों की समस्त व्रत आदि क्रियायें इन व्यसनों के त्याग पर ही निर्भर हैं।

ग्यारह अंगों में सातवां उपासकाध्ययन नाम का अंग है। इसमें उपासक — श्रावकों के समस्त व्रतों एवं क्रियाओं का वर्णन है। पहली प्रतिमाधारी से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमाधारी तक के लिए उपासक शब्द का प्रयोग है। श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है —

हिंसातोऽनृतवचनास्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।

कात्स्न्यैक देशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्॥४०॥

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।

यात्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति॥४१॥

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापों का संपूर्ण त्याग और एकदेश त्याग ऐसे चारित्र के दो भेद हो जाते हैं। जो पूर्ण रूप से इन पांचों पापों का त्याग करने वाले हैं वे यति 'समयसार' रूप हैं और जो एकदेश त्याग करने वाले हैं वे उपासक कहलाते हैं।

ये उपासक पांच महाव्रतों की अथवा पांच महाव्रतधारी की उपासना करने वाले हैं इसीलिए इनका उपासक यह नाम सार्थक है। इन उपासकों की चर्या का जहां वर्णन है उस अंग का नाम ही उपासकाध्ययन है।



चारित्र के बिना मात्रज्ञान सिद्धिदायक नहीं है

सत्त्वं पिहि सुदणाणं सद्दु सुगुणिदं पि सुद्दु पढिदं पि।

समणं भट्टचरित्तं णहु सक्को सुगइं णेदुं॥१४॥

जडि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।

जदि सिक्खिऊण अयणं करेदि किं तस्स सिक्ख फलं॥१५॥

अर्थ—संपूर्ण भी श्रुतज्ञान कालादि शुद्धिपूर्वक प्राप्त किया गया है तथा परिणामों की विशुद्धि से बारम्बार उसका अभ्यास भी किया गया है उसका व्याख्यान करने से तथा हृदय से सम्यक्धारण करने पर भी वह ज्ञान भ्रष्ट-चारित्र यति को अथवा चारित्र रहित को सद्गति में पहुँचाने के लिए समर्थ नहीं है। अतः चारित्र ही प्रधान है।

यदि दीपक हाथ में होते हुए भी कोई गट्टे या कुएं में गिरता है तो दीपक उसका क्या करेगा? यदि ज्ञान प्राप्त करके भी कोई अनय-चारित्र का विनाश करता है तो उसकी शिक्षा का क्या फल है? अर्थात् श्रुतज्ञान का फल चारित्र धारण करना है यदि पढ़कर भी चारित्र से विमुख रहा तो वह ज्ञान के फल को नहीं प्राप्त कर सकता है।

—श्री कुन्दकुन्द देव

१८. पंचास्तिकाय सार

यह कथा प्रसिद्ध है कि 'श्री कुमारनंदि सिद्धांतदेव' के शिष्य 'श्री कुंदकुंदाचार्य' जिनके पद्मनंदि, ऐलाचार्य, वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छ ये पांच नाम भी प्रसिद्ध हैं, वे पूर्वविदेह क्षेत्र में गये। वहां वीतराग सर्वज्ञदेव श्री सीमंधर स्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन किए तथा उनके मुखकमल से प्रकट हुई दिव्यध्वनि को सुन करके, उससे पदार्थों को समझकर शुद्ध आत्मीक तत्त्वरूप सार अर्थ को ग्रहण किया, फिर वहां से लौटकर यहां भरतक्षेत्र में आकर उन्होंने अंतरंग तत्त्व और बहिरंग तत्त्व को मुख्य और गौणरूप से बतलाने के लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि के शिष्यों को समझाने के लिए इस 'पंचास्तिकाय' नामक प्राभृत शास्त्र को रचा है^१।

मंगलाचरण गाथा

इंदसदवंदियाणं तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं।

अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं॥१॥

सौ इन्द्रों से वंदनीक, तीन जगत को हितकारी, मधुर और स्पष्ट वचन कहने वाले, अनंत गुणों के धारी तथा भव परम्परा को जीतने वाले अरहंतों को नमस्कार हो।

यह इस मंगलाचरण रूप गाथा का सामान्य अर्थ हुआ। तात्पर्यवृत्ति टीका के कर्ता श्री जयसेनाचार्य ने अपनी टीका में इस गाथा का बहुत ही विशद विवेचन किया है। प्रथम पद है 'इंदसदवंदियाणं' जो भगवान् सौ इन्द्रों से वंदित हैं, वे सच्चे आप्त या सच्चे देव होते हैं। भवनवासी देवों के ४०, व्यंतर देवों के ३२, कल्पवासी देवों के २४, ज्योतिषी देवों के दो (चन्द्र और सूर्य) तथा मनुष्यों में चक्रवर्ती १ और तिर्यचों में सिंह १, ऐसे ४०+३२+२४+२+१+१=१०० इन्द्र होते हैं। इन सभी से वंद्य अरहंत भगवान् पूज्य हैं। दूसरा विशेषण है—

'तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काणं' जिनके वचन तीनों जगत के प्राणियों के लिए हितकर हैं चूंकि मोक्ष का मार्ग बतलाने वाले हैं और सर्व प्राणियों के अभय का, प्राणिमात्र की रक्षा का, अहिंसा का, उपदेश देने वाले हैं। कर्णप्रिय, मन को सुखदायी, परमानन्द सुख को प्रदान करने वाले होने से मधुर हैं। संशय, विपरीत और अनध्यवसाय आदि दोषों से रहित होने से स्पष्ट अर्थात् व्यक्त हैं अर्थात् अरहंत देव के वचन तीनों जगत के जीवों के लिए हितकर, मधुर और विशद हैं अथवा अरहंत देव की दिव्यध्वनि को सर्वजीव अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं इसलिए अरहंतदेव की देशना सर्वभाषामय है अथवा दिव्यध्वनि 'सात सौ अठारह' भाषा रूप मानी गई है। कर्णाटक, मागध, मालवा, लाट, गौड और गुर्जर इन छहों के ३-३ भेद करने से महाभाषा अठारह हो जाती है तथा सात सौ लघु भाषायें हैं। इन १८ महाभाषा और ७०० लघु भाषाओं में प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी भाषाओं में भगवान् के समवशरण में दिव्यध्वनि सुनकर स्पष्ट अर्थबोध प्राप्त कर लेते हैं। अनेक भाषाओं में वह वाणी एक ही साथ सबको अपनी-अपनी भाषा में सुनाई देती है इसलिए विशद है।

अरहंत देव की वाणी के सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों में भी कहा है—

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पंदितोष्टद्वयं।

नो वांछाकलितं न दोषमलिनं नोच्छ्वासरुद्धक्रमं॥

१. 'पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामीतीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा सारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुंदकुंदाचार्यदेवैः पद्मनन्दाद्यपरभिधेयैः....अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते।' (पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति टीका का अंश)

शांतामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः।

तन्नः सर्वविदो विनष्टविपदः पायादपूर्वं वचः॥

जो सभी जीवों का हित करने वाले हैं, वर्ण अक्षररूप नहीं होने से अनक्षर हैं, दोनों ओठों के हलन-चलन बिना प्रगट होते हैं, इच्छा के बिना प्रगट होते हैं, दोषों से मलिन नहीं हैं, उसमें श्वासोच्छ्वास के रुकने का क्रम नहीं है, क्रोधरूपी विष को शान्त कर परस्पर के वैर-भाव से रहित हुए पशुगण भी जिसे सुनते हैं, सर्व विपदाओं को नष्ट करने वाले ऐसे अरहंत देव के अपूर्व वचन हमारी रक्षा करें।

तीसरा विशेषण है—‘अन्तातीदगुणाणं’ जिन में केवलज्ञान आदि अनंतगुण पाये जाते हैं इसलिए वे अरहंत देव गणधर, ऋद्धिधारी महामुनीश्वर आदि के द्वारा भी पूज्य हैं।

चौथा विशेषण है—‘जिदभवानं’ भव अर्थात् संसार, जिन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव, इन पांच परिवर्तनरूप संसार को जीत लिया है—समाप्त कर दिया है वे अरहन्त देव ‘जितभव’ इस विशेषण से विशिष्ट हैं।

अब पांचवा पद जो स्वयं विशेष है, वह णमो जिणाणं है। ऐसे जिनेन्द्रदेव को नमस्कार हो। जो कर्म शत्रुओं को जीतने वाले हैं वे जिन हैं। ऐसे अरहंत देव तीर्थंकर भगवान् ही हैं उन्हें ही नमस्कार किया गया है। नयों की अपेक्षा नमस्कार को देखिए—

अनंतज्ञान आदि गुणों के स्मरणरूप भाव नमस्कार है, यह अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ही है। ‘नमो जिनेभ्यः’ ऐसे वचनों के उच्चारण करने रूप द्रव्य नमस्कार होता है वह असदभूत व्यवहारनय की अपेक्षा से है और अपनी शुद्धात्मा में ही आराध्य-आराधक भाव होना निर्विकल्प ध्यान में ही होता है अतः यह नमस्कार आज संभव नहीं है।

प्रत्येक ग्रंथ के वर्णन में सर्वप्रथम मंगल आदि छह अधिकारों को जान लेना आवश्यक रहता है।

मंगलणिमित्तहेऊ परिमाण्ण णाम तह य कत्तारं।

वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरिओ।।

आचार्य देव मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम तथा कर्ता इन छहों को पहले कहकर अनंतर शास्त्र का व्याख्यान करें।

मंगल—मलं—पापं गालयति विध्वंसयतीति मंगलं अथवा मंगं पुण्यं सुखं तल्लति आदत्त गुणहाति वा मंगलं। ‘मं’ अर्थात् मल या पाप को जो गलावे—विध्वंस करे सो मंगल है अथवा “मंग” अर्थात् पुण्य को—सुख को लावे—देवे सो मंगल है। यहां आचार्यदेव शास्त्र की आदि में मंगल के लिए चार प्रकार के फल को चाहते हुए तीन प्रकार के देवता को तीन प्रकार का नमस्कार करते हैं।

चार प्रकार के फल—शास्त्र के प्रारंभ में मंगल करने से नास्तिकता का परिहार होता है, शिष्टाचार का पालन होता है, पुण्य की प्राप्ति होती है और निर्विघ्न शास्त्र रचना पूर्ण होती है।

तीन प्रकार के देव—एक अपने लिए इष्टप्रिय होते हैं, एक जिनका अधिकार या शासन चल रहा है और एक जो अभिमत—मान्य होते हैं।

तीन प्रकार के नमस्कार—एक आशीर्वाद रूप, दूसरे वस्तुस्वरूप कथनरूप, तीसरे नमस्कार रूप।

यह मंगल दो प्रकार का है—एक मुख्यरूप और दूसरा गौणरूप।

मुख्य मंगल—यह जिनेन्द्र गुणस्तवनरूप ही है। कहा भी है—

ग्रन्थ की आदि में, मध्य में और अंत में मंगल करना चाहिए, जिससे विघ्नों का नाश होता है। वह मंगल

जिनेन्द्रदेव का गुणस्तवनरूप ही है और कहा भी है—

विघ्नाः प्रणश्यन्ति भयं न जातु, न क्षुद्रदेवाः परिलंघयन्ति।

अर्थात्—

यथेष्टांश्च सदा लभन्ते, जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन।।

जिनेन्द्रदेव का स्तवन करने से विघ्नों का नाश हो जाता है, कभी भय नहीं लगता है, न नीच देव उल्लंघन करते हैं तथा निरंतर ही अपने इच्छित पदार्थों का लाभ होता रहता है।

और भी आचार्यों का अभिमत है कि आदि में मंगल करने से शिष्य शीघ्र ही विद्या के पारगामी हो जाते हैं, मध्य में मंगल करने से विद्या बिना विघ्न के आ जाती है व अंत में मंगल करने से विद्या का फल प्राप्त होता है। ये सब बातें जिनेन्द्रदेव के गुणस्तवन से ही होती हैं अतः यह स्तवन ही मुख्य मंगल है।

गौण मंगल—लोकव्यवहार में जिन्हें मांगलिक माना है वे सब वस्तुयें गौण मंगल हैं। जैसे—सिद्धार्थ—सफेद सरसों, पूर्णकुंभ, वंदनमाला, श्वेतछत्र, श्वेत वर्ण, दर्पण, राजा, कन्या और जयपना।

सिद्धार्थ मंगल क्यों हैं ? जिन जिनेन्द्रदेवों ने व्रत, नियम, संयम आदि के द्वारा परमार्थ का साधन किया है उनकी 'सिद्ध' यह संज्ञा है इसलिए नाम साम्य की अपेक्षा "सिद्धार्थ" —सफेद सरसों भी लोकव्यवहार में मंगलीक है।

पूर्णकुंभ मंगल क्यों है ? जो सर्व मनोरथों से और केवलज्ञान से पूर्ण हैं, ऐसे अरहंत इस लोक में पूर्णकुंभ मंगल हैं।

वन्दनमाला मंगल क्यों है ? भरत चक्रवर्ती ने निकलते और प्रवेश करते समय जे वंदनमालायें बंधवाई थीं उनमें चौबीस तीर्थकरों की प्रतिकृति बनवाई थी वे वंघ थीं, इसलिए वंदनमाला—वंदनवार भी लोक में मंगलीक है।

श्वेत छत्र मंगल क्यों है ? सर्व जगत के प्राणियों के लिए अरहंतदेव सुख के कर्ता हैं व छत्र के समान रक्षक हैं इसीलिए लोक में सफेद छत्र मंगलीक है।

श्वेतवर्ण मंगल क्यों है ? अरहंत देव का शुक्लध्यान, शुक्ल लेश्या और अघातिकर्म श्वेत वर्ण के माने गए हैं इसीलिए श्वेतवर्ण भी लोक में मंगल माना गया है।

आदर्श मंगल क्यों है ? जिनेन्द्रदेव के केवलज्ञान में दर्पण के समान सर्वलोक-अलोक झलक रहा है इसीलिये प्रत्येक वस्तु को अपने में प्रतिबिम्बित करने में समर्थ दर्पण भी लोक में मंगलीक माना गया है।

राजा मंगल क्यों है ? जैसे जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ —सर्वलोक के ज्ञाता हैं वैसे ही राजा अपनी प्रजा के सुख दुःख का ज्ञाता है—प्रजा को सुखी रखकर दुःख दूर करता है इसीलिये लोक में न्यायप्रिय राजा मंगलीक माना जाता है।

बाल कन्या मंगल क्यों है ? जिनेन्द्रदेव मोह आदि कर्मों से रहित होने से विकार रहित हैं इसीलिए बालकन्या भी विकार रहित होने से लोक में मंगलीक है।

जय शब्द मंगल क्यों है ? जिनेन्द्रदेव ने कर्मरूपी शत्रुओं को जीतकर 'जिन' इस सार्थक नाम को धारण किया है इसलिए 'जय' शब्द भी लोक में मंगलीक हो गया है।

मतलब यह है कि यदि कोई युद्ध के लिए, व्यापार के लिए या किसी भी इष्ट कार्य के लिए प्रस्थान करता है, तब उसके इष्टजन लोकव्यवहार में सरसों क्षेपण करना, 'जय' बोलना, सामने पूर्णकुंभ, दर्पण आदि रखने रूप मंगलक्रिया करते हैं कि जिससे इसकी यात्रा सफल हो। यही लोकव्यवहार में मंगल माना जाता है। इसमें प्रस्थान या प्रवेश में दही, गरुड़ या भारद्वाज पक्षी, हाथी, मोर, गाय, बैल, बछड़े सहित गाय आदि को

देखने से भी मंगल माना जाता है। इनमें भी उपर्युक्त कारण ही घटायें जा सकते हैं।

मंगल क्यों करना ?

निबद्ध और अनिबद्ध की अपेक्षा भी मंगल के दो भेद हैं। निबद्ध मंगल का लक्षण है कि जो ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं किया जाये, जैसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि। यहां पर भी इस पंचास्तिकाय ग्रंथ में श्री कुंदकुंददेव ने 'इंदसदवंदियाणं' रूप से स्वयं निबद्ध मंगल किया है।

अनिबद्ध मंगल का लक्षण यह है कि जो अन्य ग्रंथ से लिया जाये, जैसे — जगत्त्रयनाथाय नमः, श्री वर्धमानाय नमः इत्यादि।

शिष्य — शास्त्र के प्रारंभ में ग्रन्थकार मंगल के लिए पंचपरमेष्ठी के गुणों का स्तवन किसलिए करते हैं ? जो शास्त्र शुरु किया है उसी को कहें, मंगल की आवश्यकता ही क्या है ?

गुरु — नमस्कार रूप मंगल करने से पुण्य होता है और पुण्य से ग्रंथ की पूर्णतारूप कार्य निर्विघ्न पूर्ण हो जाता है।

शिष्य — ऐसा तो नहीं देखा जाता, कहीं पर तो नमस्कार, दान, पूजा आदि करते हुए भी विघ्न होता दिखाई देता है तथा कहीं पर नमस्कार, दान, पूजा आदि न करते हुए भी निर्विघ्न कार्य दिखाई पड़ता है ?

गुरु — तुम्हारा यह कहना भी योग्य नहीं है, क्योंकि जहां आप्त को नमस्कार या दान, पूजा आदि धर्म के करते हुए भी विघ्न आ जाता है वहां यह समझना चाहिए कि "पूर्व में हुए पाप का ही यह फल है जो कि विघ्न हुए पाप का ही फल है जोकि विघ्न आ गया" इसमें धर्मसाधन मंगल आदि का कोई दोष नहीं है तथा जहां पर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार, दान, पूजा के बिना भी निर्विघ्न कार्य होता देखा जाता है वहां पर ऐसा समझना चाहिए कि 'यह पूर्व में किए हुए धर्म का ही फल है जिससे मेरा कार्य बिना बाधा के सम्पन्न हो गया।'

शिष्य — शास्त्र स्वयं मंगल है या अमंगल है ? यदि स्वयं मंगलरूप है तब पुनः मंगल के लिए मंगल करने का क्या प्रयोजन और यदि अमंगलरूप है तब ऐसे शास्त्र से भला क्या प्रयोजन ?

गुरु — ऐसा कुतर्क नहीं करना, क्योंकि शास्त्र तो मंगलरूप ही हैं, फिर भी भक्ति के लिए मंगल का भी मंगल किया जाता है। जैसा कि कहा है—

प्रदीपेनार्चयेदर्कमुदकेन महोदधिम्।

वागीश्वरीं तथा वाग्भिर्मंगलेनैव मंगलम्॥

दीपक से सूर्य को, जल से समुद्र या नदी को, वाणी से जिनवाणी या सरस्वती को लोग पूजते हैं इसी तरह से मंगल से ही मंगल की पूजा करते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि—इष्ट देवता को नमस्कार करने से उनके प्रति उपकार की स्वीकारता देखी जाती है। कहा भी है—

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः॥

मोक्षमार्ग की सिद्धि या प्राप्ति परमेष्ठी के प्रसाद से होती है इसीलिए मुनिवरो ने शास्त्र के प्रारम्भ में उनके गुणों की स्तुति की है। देखिए—

इष्टफल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है, यह सम्यग्ज्ञान यथार्थ आगम से होता है, वह आगम आप्त — सच्चे देव अरहंत भगवान् से प्रगट होता है इसीलिए अरहंत देव सतत पूज्य हैं। "न हि कृतमुपकारं

साधवो विस्मरन्ति।” क्योंकि साधुजन अपने प्रति किए गए उपकार को कदाचित् भी विस्मरण नहीं करते हैं।

इस तरह यहां तक संक्षेप से मंगल का कथन हुआ है। अब ‘निमित्त’ के विषय में कहते हैं—

निमित्त—जिनके निमित्त यह शास्त्र रचना हुई उस निमित्त कारण को कहते हैं। वीतराग सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि प्रगट होने में कारण भव्य जीवों के पुण्य की प्रेरणा ही है। जैसा कि कहा है—
‘भव्य जीव श्रुतज्ञान रूप दिव्य तेज के द्वारा छह द्रव्य और नव पदार्थों का ज्ञान तथा श्रद्धान करें इसीलिए श्रुतज्ञान रूपी सूर्य का उदय होता है।’

यहां पर इस ‘पंचास्तिकाय’ नामक प्राभूत ग्रन्थ के रचने में निमित्त शिवकुमार नाम के महाराज हैं। जैसे कि द्रव्यसंग्रह आदि की रचना में ‘मोगा सेठ’ आदि श्रावक निमित्त थे। यह संक्षेप से निमित्त का कथन हुआ।

हेतु—

यहां हेतु से फल समझना, क्योंकि वह हेतु ही फल का कारण है इसलिए उपचार से उसे ही फल कह दिया है। उस फल के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष फल के भी दो भेद हैं—साक्षात् और परम्परा। साक्षात् प्रत्यक्ष फल यह है कि इस शास्त्र से अज्ञान का नाश होकर सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती है।

परम्परा फल यह है कि शिष्यों, प्रतिशिष्यों द्वारा पूजा व प्रशंसा होती है तथा शिष्यों की प्राप्ति होती है।

परोक्ष फल के भी दो भेद हैं—सांसारिक ऐश्वर्य सुख की प्राप्ति, मोक्ष सुख का लाभ।

अभ्युदय—सांसारिक ऐश्वर्य क्या है ? राजाधिराज, महाराजा, अर्धमंडलीक, मंडलीक, महामंडलीक, अर्धचक्रवर्ती, चक्रवर्ती, इन्द्र, गणधर देव, तीर्थंकर परमदेव का वैभव, यह सब सांसारिक अभ्युदय हैं। इनमें अठारह (१८) श्रेणी सेना का अधिपति मुकुटधर होता है। पांच सौ मुकुटधरों का अधिपति अधिराजा होता है। आगे इससे दूने-दूने दल के स्वामी सकल चक्रवर्ती तक होना सो ऐश्वर्य सुख है।

मोक्ष या परम कल्याणमय सुख अरहंत और सिद्ध पद की प्राप्ति से ही होता है इसे ही निःश्रेयस सुख कहते हैं।

यहां पर तीर्थंकर देव के गर्भ, जन्म और तप ये तीन कल्याणक के समय इंद्रों द्वारा की गई पूजा व वैभव को अभ्युदय सुख में लिया है और केवलज्ञान कल्याणक के बाद रचा गया समवशरण व मोक्षकल्याणक की पूजा, वैभव आदि निःश्रेयस सुख माने गए हैं।

जिन्होंने चार घातिया कर्मों को नष्ट कर चौंतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य और पांच कल्याणक प्राप्त किए हैं, वे अरहन्त भगवान मेरे लिए मंगलरूप हैं। जो आठ मूल व एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता से छूट चुके हैं, आठ गुणों से युक्त हैं और संसार से पार होकर सिद्धशिला के ऊपर विराजमान हैं वे सिद्ध भगवान मेरे लिए मंगलकारी हैं।

जो कोई भव्य वीतराग सर्वज्ञ देव की परंपरा से कहे हुए इस पंचास्तिकाय प्राभूत आदि शास्त्र को पढ़ते हैं, श्रद्धा में लाते हैं तथा बार-बार इसका चिन्तन-मनन करते हैं वे इसी प्रकार के अभ्युदय सुख को प्राप्त कर निःश्रेयस सुख को प्राप्त कर लेते हैं। यहां तक हेतु का कथन हुआ है।

परिणाम—परिणाम दो प्रकार का है—ग्रन्थ परिणाम और अर्थ परिणाम। ग्रन्थ की गाथा या श्लोक संख्या ग्रन्थ परिणाम है। इस ग्रंथ के प्रथम टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने इसमें एक सौ तिहत्तर गाथायें मानी हैं और द्वितीय टीकाकार श्री जयसेनाचार्य ने एक सौ इक्यासी गाथायें मानी हैं। यह ग्रन्थ परिणाम है और

अर्थपरिमाण तो अनंत है।

नाम—नाम दो प्रकार का है—अन्वर्थ और इच्छित। जैसा ग्रन्थ का नाम हो वैसा ही उसमें अर्थ हो सो अन्वर्थ नाम है, जैसे जो 'तपतीति तपनः सूर्यः' जो तपे सो 'तपन' अर्थात् सूर्य है। वैसे ही यहां पर इस ग्रन्थ में पांच अस्तिकायों का विशद विवेचन होने से यह ग्रन्थ 'पंचास्तिकाय' इस अन्वर्थ नाम वाला है। इच्छित नाम वह है जैसे काष्ठभार ढोने वाले का 'ईश्वर' नाम रख दिया।

ग्रन्थकर्ता—कर्ता के तीन भेद हैं—मूल तन्त्रकर्ता, उत्तर तन्त्रकर्ता और उत्तरोत्तर तन्त्रकर्ता। मूल तन्त्रकर्ता तो इस काल की अपेक्षा से वर्तमान में श्री महावीर स्वामी हैं। उत्तर तन्त्रकर्ता उनके गणधर, चार ज्ञानधारी, सात ऋद्धियों से सहित श्री गौतम स्वामी हैं तथा उत्तरोत्तर तन्त्रकर्ता यथासंभव आचार्य आदि हैं। इस पंचास्तिकाय ग्रंथ के उत्तरोत्तर ग्रन्थकर्ता श्रीकुन्दकुन्द देव हैं।

कर्ता का विवेचन इसलिए करना चाहिए कि कर्ता की प्रमाणता से ही उनके वचनों की प्रमाणता होती है।

इस तरह संक्षेप में मंगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम और कर्ता इन छहों को बतलाया गया है।

समय को नमस्कार हो—

समणमुहग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।

एसो पणमिय सिरसा समयमिमं सुणह वोच्छामि॥२॥

श्रमण—सर्वज्ञदेव के मुख से निकले हुए अर्थमय चार गति का निवारण करने वाले और निर्वाण के लिए कारण ऐसे इस समय आगम को सिर झुकाकर प्रणाम करके मैं उस समय को कहूँगा, उसे तुम लोग सुनो।

'मैं' से यहां पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कह रहे हैं कि जो यह 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ नाम का द्रव्य आगम है वह महाश्रमण, सर्वज्ञ, वीतराग भगवान महावीर के या अनंत तीर्थंकरों के मुखकमल से विनिर्गत है। अर्थरूप से सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि से निकला है इसलिए प्रत्येक जैन आगम के 'अर्थकर्ता' सर्वज्ञदेव ही हैं। ग्रन्थकर्ता गणधर देव से लेकर परम्परा से आये हुए आचार्यदेव हैं।

भगवान के वचन कैसे हैं ?

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं।

कण्ठोष्ठादिवचो निमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतं॥

स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं।

दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः॥

जिनेन्द्रदेव के वचन गंभीर हैं, मधुर हैं—कर्ण और मन को प्रिय हैं। मन को हरण करने वाले हैं, दोषों से रहित हैं, हित के करने वाले हैं, कण्ठ, ओठ आदि वचनों के कारणों से रहित हैं, पवन—श्वास से रुकावट नहीं है, स्पष्ट हैं, अपने-अपने इच्छित पदार्थों के कहने वाले हैं, सर्वभाषा रूप हैं, दूर व निकट बैठे हुए को समान सुनाई देते हैं, समभाव रूप हैं तथा उपमारहित होने से निरुपम हैं ऐसे जैन वचन—जिनागम के वचन हमारी रक्षा करें।

ऐसे द्रव्यागम से क्या लाभ होता है ?

येनाज्ञानतमस्ततिर्विघटते ज्ञेये हिते चाहिते।

हानादानमुपेक्षणं च समभूतस्मिन् पुनः प्राणिनः॥

येनेयं दृगपैति तां परमतां वृत्तं च येनानिशं।

तज्ज्ञानं मम मानसाम्बुजमुदे स्तात्सूर्यवर्धोदयः॥

जिससे अज्ञानरूपी अन्धकार का पसारा दूर हो जाता है, जिससे जानने योग्य हितकर और अहितकर पदार्थों के जान लेने पर प्राणीगण अहित का त्याग, हित का ग्रहण तथा उपेक्षा भाव दोनों प्रकार से रहित में वैराग्य भाव को प्राप्त हो जाते हैं, जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट होकर परमत से श्रद्धा दूर हो जाती है और जिसके द्वारा मिथ्याचारित्र हटकर सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाता है, ऐसे ज्ञानरूपी परमसूर्य का उदय मेरे मनरूपी कमल को विकसित करने के लिए होवे।

सूर्य के उदित होने पर अन्धकार का नाश अच्छे-बुरे मार्ग या वस्तुओं का ज्ञान, नेत्रों द्वारा सही वस्तु का अवलोकन और सही मार्ग में चलना होता है वैसे ही ज्ञानरूपी सूर्य के उदित होने पर अज्ञान अन्धेरे का विनाश, हित-अहित विषय को जान लेने पर अहित से हटकर हित में प्रवृत्ति, सम्यग्दर्शन से समीचीन श्रद्धा, असमीचीन का अभाव तथा सच्चे मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा यह ज्ञानरूपी सूर्य उदय को प्राप्त होकर हमारे मन कमल को खिला देवे, प्रफुल्लित कर देवे। चूंकि ज्ञान के बिना मन कमल बन्द रहता है, कुण्ठित रहता है, इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग द्वेष कर-करके सतत दुःख का अनुभव करता है। सच्ची श्रद्धा से और सही मार्ग में चलने से जीव को वंचित कर देता है इसलिए ज्ञान के समान इस जगत में जीव को कोई भी वस्तु या व्यक्ति वह सुख नहीं दे सकता है जो कि ज्ञान दे सकता है।

यह सम्यग्ज्ञानरूप जैन आगम नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों के दुःखों को दूर करने वाला है तथा सर्व कर्म बंधन से रहित निर्वाण सुख—पूर्ण स्वातन्त्र्य सुख को देने वाला है। ऐसे इस आगम को कहने के लिए श्री कुन्दकुन्ददेव ने उपक्रम किया है अथवा प्रतिज्ञावाक्य कहकर भव्यों को सुनने के लिए आग्रह किया है।

समय शब्द का अर्थ क्या है ?

‘सम’ समीचीन ‘अय’ ज्ञान को समय कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार समय शब्द से यहां आगम शब्द विवक्षित है। इस समय के कितने भेद हैं ?

‘समय’ के यहां तीन भेद लेना—अर्थसमय, शब्दसमय और ज्ञानसमय।

अर्हतदेव ने अर्थरूप से समय को कहा है।

यहां ग्रन्थ रचना में शब्द समय है और इसका पठन-पाठन ज्ञान समय की सिद्धि के लिए किया जाता है अथवा इस शब्द समय—शब्दागम के द्वारा अर्थसमय पदार्थों का समूह वाच्य है—कहा जाता है और उसको सुनकर जो बोध होता है वह ज्ञान ही ज्ञान समय कहलाता है।

बात यह है कि कोई निकट भव्यजीव जिसके संसार का अन्त आ गया है, जल्दी मोक्ष जाने वाला है वह जिनेन्द्रदेव कथित शब्दागम—द्रव्यागम को सुनकर या पढ़कर फिर उससे वाच्य कहने योग्य पंचास्तिकाय लक्षणरूप अर्थ आगम पदार्थों के समूह को जानता है फिर उन पदार्थों में गर्भित शुद्ध जीवास्तिकायरूप पदार्थ में स्थिर होकर चारों गतियों का निवारण करता है, चतुर्गति दुःख के दूर हो जाने से पंचमगति निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वहां पर अपने आत्मा से ही उत्पन्न निराकुल, परमानन्दमय अनंतसुख का अनुभव करता है। यही कारण है कि यहां पर आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने द्रव्यागम रूप शब्द समय को नमस्कार किया है।

समवाओ पंचणहं समउ त्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।

सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं॥३॥

पांच अस्तिकायों का समवाद—समभावपूर्वक निरूपण अथवा समवाय-समूह, वही समय है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। वही लोक है उससे परे अपरिमित अलोक है।

पांच अस्तिकायों का जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांच द्रव्यों का जो सम—मध्यस्थ अर्थात् रागद्वेष से रहित वर्ण, पद, वाक्यों का कथन “समवाय” है। यही “शब्द-समय” है तथा मिथ्यादर्शन के उदय का नाश होने पर उन पांचों द्रव्यों का ही जो सम्यक् अवाय—बोध है वह “ज्ञान-समय” है, पुनः कथन के निमित्त से ज्ञात हुए उन पंचास्तिकाय का ही वस्तुरूप से समवाय समूह वह अर्थ समय है।

सरल शब्दों में पांच द्रव्यों को कहने वाला वर्ण पद वाक्य रूप जो पाठ है उसको द्रव्यागम शब्दसमय कहते हैं पुनः मिथ्यादर्शन के उदय का अभाव होने पर उन्हीं पांचों का संशय, विमोह, विभ्रम रहित यथार्थ अवाय, निश्चय ज्ञान या निर्णय उसे “ज्ञानसमय” कहते हैं। यही भावश्रुत या भावागम कहलाता है। इस ज्ञानसमय से जानने योग्य जो पदार्थों का समूह है वही “अर्थसमय” है।

इस “अर्थसमय” को ही लोक कहते हैं—जहां तक ये जीव, पुद्गल आदि द्रव्य पाये जाते हैं वह “लोक” कहलाता है उससे परे चारों तरफ अनंत “अलोक” है।

प्रश्न—पांच अस्तिकाय कौन हैं ?

उत्तर—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांचों द्रव्य “अस्तिकाय” कहलाते हैं। ये पांचों ही अपने-अपने अस्तित्व में नियत हैं—व्यवस्थित हैं, अनन्यमय हैं—अन्य से बने हुए नहीं हैं, अपनी सत्ता से अपृथग्भूत हैं, और प्रदेश में बड़े हैं अर्थात् बहुप्रदेशी हैं। यहां “अस्तिकाय” में दो पद हैं। “अस्ति” और “काय” उन्हीं को कहते हैं—

सत्ता के दो भेद हैं—एक महासत्ता, दूसरी अवांतर सत्ता अथवा सत्ता सामान्य और सत्ताविशेष।

प्रत्येक वस्तु है—अपने स्वरूप से विद्यमान है, यह सर्व वस्तुओं का अस्तित्व ही महासत्ता है। जैसे पुस्तक है, चौकी है, घड़ा है इस प्रकार अलग-अलग वस्तुओं का अस्तित्व—विद्यमान रहना यह अवांतर सत्ता है।

ये पांचों ही द्रव्य दोनों प्रकार की सत्ता में स्थित हैं। क्योंकि—

द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।

तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किंतु तदुभयायत्ता।।

भगवान् ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अतः उनके शासन में जो भी कथन होता है वह एक नय के अधीन होता है इसलिए ये पांचों ही पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथंचित् अपने से भिन्न होने से अन्यमय भी हैं तथा द्रव्यार्थिक नय से अपने अस्तित्व से अभिन्न होने से अनन्यमय ही हैं इस प्रकार ये द्रव्य अपने-अपने ‘अस्तित्व’ से हैं अतः ‘अस्ति’ कहलाते हैं।

अब ‘काय’ पद का खुलासा करते हैं—

ये पांचों ही द्रव्य बहुत प्रदेशों वाले होने से ‘काय’ कहलाते हैं। एक प्रदेशी पुद्गल का परमाणु भी शक्ति की अपेक्षा बहुप्रदेशी होने से अर्थात् अणु भी दो अणु, तीन अणु आदि मिलकर स्कंध बनकर बहुत प्रदेशी बन सकता है इसी दृष्टि से परमाणु भी उपचार से बहुप्रदेशी होने से ‘अस्तिकाय’ है किन्तु काल द्रव्य के प्रत्येक अणु-कालाणु पृथक्-पृथक् ही रहते हैं, कभी भी मिलकर सघन या एकरूप नहीं होते हैं इसलिए ‘कालद्रव्य’ ‘अस्ति’ तो है किन्तु ‘काय’ न होने से यहां ‘अस्तिकाय’ में उसे नहीं लिया है।

ये पांचों ही अस्तिकाय अपने अनेक गुण और पर्यायों के साथ अस्ति स्वभाव वाले हैं इसीलिए ये 'अस्तिकाय' कहलाते हैं और इन्हीं से यह तीन लोक बना हुआ है।

गुण किसे कहते हैं ?

अन्वयरूप से रहने वाले गुण कहलाते हैं। जैसे आम्रफल में हरा या पीला वर्ण, खट्टा या मीठी सुगन्ध, ये गुण हैं ये सदा काल उस आम में किसी न किसी रूप में रहेंगे ही।

पर्याय किसे कहते हैं ?

व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं अर्थात् जो क्रम-क्रम से एक के बाद एक होती है, एक साथ नहीं होती है वे पर्यायें हैं। जैसे आम जब कच्चा था तब छोटा, कड़ा और हरा था, जब वह पक गया तब बड़ा, मुलायम और पीला दिखने लगा अथवा जीव जब मनुष्य है तब देव या तिर्यच नहीं है।

इन गुण और पर्यायों के स्वभावगुण, स्वभाव पर्याय तथा विभावगुण और विभाव पर्याय ऐसे भेद भी होते हैं अथवा अर्थपर्याय और व्यंजन पर्याय ऐसे भी दो भेद होते हैं।

जीव के गुण पर्यायों को दिखाते हैं—

जीव के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि स्वभाव गुण हैं और सिद्धरूप अवस्था स्वभाव पर्याय है।

संसारी जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, इन्द्रियसुख आदि विभावगुण हैं और मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यच आदि विभाव पर्याय हैं।

पुद्गल के एक अविभागी परमाणु में जो वर्ण, रस, गंध, स्पर्श है वे स्वभाव गुण हैं और शुद्ध परमाणु रूप से रहना ही स्वभाव पर्याय है।

परमाणु का दो अणु, तीन अणु आदि रूप से परिणमन करके स्कंध बन जाना विभाव पर्याय है और स्कंध में जो नाना प्रकार के वर्ण, रस, स्पर्श आदि दिखते हैं वे विभाव गुण हैं।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही विभाव गुण पर्यायें होती हैं अन्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में केवल स्वभाव गुण पर्यायें ही रहती हैं।

अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण कहलाते हैं, ये सर्व द्रव्यों में साधारण रीति से पाये जाते हैं। इस तरह काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्यों का अपने गुण-पर्यायों के साथ सदाकाल 'अस्तित्व' विद्यमान है और ये अपने-अपने मुख्य प्रदेशों से बहुप्रदेशी हैं, ये पांचों ही द्रव्य अपने-अपने अवयव, अंश या प्रदेशों से सहित होने से ही "काय" के समान बहुत अवयवी हैं इसीलिए इन्हें "काय" संज्ञा दी है अतः ये "अस्तिकाय" कहलाते हैं।

छह द्रव्य —

ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा।

गच्छंति दवियभावं परियट्ठण लिंग संजुत्ता।।६।।

अण्णोणं पविसंता दिंता ओगास मण्णमण्णस्स।

मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति।।७।।

जो तीन काल के भावों रूप परिणमित होते हैं, नित्य हैं ऐसे वे ही अस्तिकाय परिवर्तन लिंग वाले काल से सहित द्रव्यपने को प्राप्त होते हैं, द्रव्य कहलाते हैं।

वे छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक दूसरे को अवकाश देते हैं और आपस में एक-दूसरे में

मिल जाते हैं फिर भी वे सदा ही अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

जो तीनों कालों के भावों रूप परिणमित होते हैं तथा नित्य हैं ऐसे वे ही पांच अस्तिकाय, परिवर्तनलिंग वाले काल के साथ द्रव्यत्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पांच अस्तिकाय और काल ये छहों द्रव्य कहलाते हैं।

ये द्रव्य वास्तव में अपने-अपने सहभावी गुणों से तथा क्रम से होने वाली पर्यायों से अनन्य अभेद एक रूप हैं, गुण और पर्यायों के आधारभूत हैं, इन गुण पर्यायों को छोड़कर द्रव्य नाम की कोई चीज नहीं है।

पर्यायार्थिक नय से ये पांचों ही अस्तिकाय तीनों कालों की पर्यायों से परिणत होने के कारण क्षणिक हैं—अनित्य हैं—अविनश्वर हैं फिर भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं—शाश्वत काल रहते हैं इसलिए द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इन दोनों नयों की अपेक्षा ये नित्यानित्यात्मक हैं। जैसे—धुआँ अग्नि को बताने के लिए कार्यलिंग-कार्यहेतु है वैसे ही जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों का परिणमना भिन्न-भिन्न पर्यायों से पलटना ही काल द्रव्य का चिन्ह, गमक, ज्ञापक तथा सूचनारूप है अर्थात् द्रव्यों के परिवर्तन में जो कोई भी निमित्त कारण है वही परिवर्तन लक्षण वाला कालाणु या द्रव्यकाल है।

शंका—यहां गाथा में “कालद्रव्यसंजुता”—ये पांचों अस्तिकाय काल द्रव्य से सहित द्रव्य हैं ऐसा क्यों नहीं कहा ? प्रत्युत ‘परियट्टण लिंगसंजुता’ ऐसा अस्पष्ट वचन क्यों कहा ?

समाधान—यह ग्रन्थ पांच अस्तिकायों का प्रमुखता से वर्णन करने वाला है अतः इस अस्तिकाय के प्रकरण में काल द्रव्य की मुख्यता नहीं है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में नये से पुरानापन होता है, इस परिणति रूप कार्य हेतु से ही काल द्रव्य का ज्ञान होता है इसीलिए इस बात को सूचित करने के लिए ही काल के लक्षण रूप “परिवर्तनलिंग” इस शब्द से काल द्रव्य को कह दिया है।

इन पांच अस्तिकाय और काल सहित छहों द्रव्यों को जानकर हमारा क्या कर्तव्य हो जाता है ?

इन छहों द्रव्यों के मध्य में अनादिकाल से देखे, सुने, अनुभव किए हुए आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि की इच्छा रूप सर्व परद्रव्यों के आलंबन से जो नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, मेरा शुद्ध जीव अस्तिकाय और शुद्धजीव द्रव्य, इन चार संज्ञाओं और सर्व संकल्प-विकल्पों से शून्य है उस अपने शुद्ध जीव का श्रद्धान करना, उसी को जानना और उसी में स्थिर होने रूप चारित्र से परिणत होना यह अभेद रत्नत्रयमयी जो निर्विकल्प समाधि है या परम समताभाव रूप वीतराग भाव है, उस भाव से उत्पन्न हुआ जो वीतराग, सहज, अपूर्व, परमानंद है उस रूप स्वसंवेदन ज्ञान से प्राप्त होने योग्य व अनुभव में आने योग्य अथवा उससे भरपूर, शुद्ध निश्चयनय से अपने ही शरीर के अन्दर विराजमान जो जीव द्रव्य है वही ग्रहण करने योग्य है व अनुभव करने योग्य है। तत्त्वविचार के समय और सामायिक के समय बार-बार ऐसा चिंतन करना चाहिए। यही इन द्रव्यों के जानने का प्रयोजन है।

ये छहों द्रव्य परस्पर में अत्यन्त मिलते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं—

“ये छहों द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर में एक-दूसरे को अवकाश स्थान देते हैं और परस्पर में एक क्षेत्र में रहने से एक-दूसरे में मिल जाते हैं फिर भी ये सदा काल अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।”

ये छहों द्रव्य परस्पर में एक दूसरे को अवकाश देते हुए अपने-अपने ठहरने के काल पर्यन्त ठहरते हैं परन्तु उनमें संकर-व्यतिकर दोष नहीं आते हैं।

संकर दोष—एकमेक हो जाना संकर दोष है जैसे दो तरह के गुलाब की कलम को एक में प्रवेश कराकर लगाने पर एक तीसरे ही रंग का संकर गुलाब फूल आ जाता है।

व्यतिकर दोष—एक द्रव्य का विषय दूसरे द्रव्य में चला जाये उसे व्यतिकर दोष कहते हैं। जैसे—जीव का ज्ञान गुण पुद्गल में आ जाए और पुद्गल के रूप, रस आदि गुण जीव में आ जायें।

ये दोनों दोष इन छहों द्रव्यों में कथमपि नहीं आते हैं। इस गाथ में “अण्णोणं पविस्संता” वाक्य का अर्थ है—जो क्रियावान् या हलन-चलन करने वाले जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, ये परस्पर में एक क्षेत्रावगाही होकर अर्थात् दूध और पानी के समान एक जगह रह जाते हैं। जीव के साथ पौद्गलिक कर्म एक क्षेत्र में ही दूध-पानी के समान एकमेक होकर रह रहे हैं फिर भी जीव अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। पुद्गल भी अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वभाव को या अचेतन—जड़ स्वभाव को नहीं छोड़ता है।

गाथा में “दिंता ओगासमण्णमण्णस्स” इस वाक्य का अर्थ है—आये हुए द्रव्यों को अवकाश देना। मुख्य रूप से निष्क्रिय आकाश द्रव्य अपने में जीव-पुद्गलों को स्थान देता है और गौण रूप से जीव पुद्गलों को व पुद्गल जीव को भी अवकाश देते हैं।

गाथा में “मेलंता वि य णिच्चं” वाक्य से यह समझना—ये द्रव्य सदा ही मिलकर रहते हैं। यह वाक्य निष्क्रिय धर्म, अधर्म, आकाश और काल को मुख्य रूप से विवक्षित करता है और गौणरूप से तो सभी द्रव्य एक दूसरे में मिल ही रहे हैं।

तात्पर्य यही है कि जीव और कर्म में व्यवहार नय की अपेक्षा से एकत्व होने पर भी परस्पर में एक दूसरे के स्वरूप को ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं है। ये जीव और कर्म अपने-अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं और दूसरे द्रव्यों के स्वरूप को कभी भी ग्रहण नहीं करते हैं।

निश्चयनय से अपने शरीर के अंतर्गत शुद्ध जीव अस्तिकाय नाम वाला जीवद्रव्य ही उपादेय है। अशुभ लेश्या, विषय और कषायों को छोड़कर वीतराग, निर्विकल्प समाधिरूप-निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर उस शुद्ध जीव द्रव्य का ही ध्यान करना चाहिए। तभी उस ध्यान के बल से इस संसारी अशुद्ध आत्मा को शुद्ध-पवित्र बनाया जा सकता है।

प्रश्न—निर्विकल्प ध्यान में वीतराग विशेषण क्यों लगाया ?

उत्तर—बाह्य वस्तुओं में राग-द्वेष के निमित्त से जो हर्ष-विषाद होता है वह जब तक है तब तक समता भावरूप वीतरागता नहीं है। तब तक निर्विकल्प ध्यान भी संभव नहीं है इसीलिए इस ध्यान में वीतराग विशेषण महामुनियों की अपेक्षा से है क्योंकि सरागी सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में आर्त-रौद्र ध्यान से सहित है, विषयों में, कषायों में प्रवृत्ति कर रहे हैं, नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों से सहित हैं अतः उनके निर्विकल्प ध्यान नहीं हो सकता है इसी बात को सूचित करने के लिए ध्यान में वीतराग विशेषण दिया गया है।

जब तक हम लोग वीतराग निर्विकल्प अवस्थारूप ध्यान को नहीं प्राप्त कर पाते हैं तब तक हमारा कर्तव्य है कि हम वस्तु के स्वभाव को समझकर उस पर दृढ़ श्रद्धान करें और स्वयं के स्वरूप का ध्यान करने के लिए निरंतर भावना भाते रहें। कभी न कभी हमारे में भी निर्विकल्प ध्यान की योग्यता आएगी ही आएगी, इसमें कोई संदेह नहीं है क्योंकि सतत भाई गई भावना एक न एक दिन अवश्य फलती है।



१९. सर्वज्ञ के ज्ञान का माहात्म्य

जो आत्मा भेदाभेदरत्नत्रय को प्राप्त करके शुद्धोपयोग के बल से घाति कर्मों को नष्ट कर देता है। वह आत्मा अनंतवीर्य तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप तेजोमय हो जाता है पुनः उस केवलज्ञानी भगवान के शरीर संबंधी इंद्रियजन्य सुख और दुःख नहीं रहता है प्रत्युत उसका ज्ञान और सुख अतीन्द्रिय कहलाता है।

इन भगवान के अतीन्द्रिय ज्ञान में कुछ भी परोक्ष नहीं रहता है अर्थात् सर्व लोक-अलोक अपनी त्रैकालिक पर्यायों सहित ज्यों की त्यों प्रत्यक्ष हो जाते हैं। चूँकि एक इंद्रियज्ञान ही ऐसा है कि वह सीमित है और वर्तमानकालीन पदार्थों को विषय करता है तथा भूत-भविष्यत्कालीन पदार्थ जो कि नष्ट हो चुके हैं या अभी उत्पन्न ही नहीं हुए हैं उन्हें नहीं जान सकता है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान की सामर्थ्य तो इंद्रियज्ञान से परे अचिन्त्य है।

जो पर्यायें विनष्ट हो चुकी हैं एवं अभी उत्पन्न ही नहीं हुई हैं। केवली भगवान उन असद्भूत — अविधान पर्यायों को कैसे जानते हैं।

तत्कालिगेव सव्वे सदसम्भूदा हि पज्जया तासिं।

वट्ठंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं॥३७॥

उन प्रसिद्ध द्रव्य समूहों की समस्त सदभूत — वर्तमान और असद्भूत — भूत, भविष्यत् पर्यायें तात्कालिक — वर्तमान पर्यायों की तरह अपनी-अपनी विशेषताओं से सहित होकर उस केवलज्ञान में प्रतिभाषित होती हैं। यहां पर गाथा में जो तात्कालिक इव पद है वह बहुत ही महत्त्व का है जो कि इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि जैसे वर्तमान के मौजूद पदार्थ उन के ज्ञान में स्पष्ट रूप से झलक रहे हैं। ऐसे ही अविधानरूप — भूत और भविष्यत्कालीन पदार्थ भी उनके ज्ञान में प्रत्यक्षरूप से साक्षात् हो रहे हैं। इसी बात को आगे और स्पष्ट कर रहे हैं —

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।

ते होंति असम्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा॥३८॥^१

जो पर्यायें वास्तव में उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा जो पर्यायें वास्तव में उत्पन्न होकर नष्ट हो चुकी हैं वे असद्भूत — अविधान पर्यायें भी केवलज्ञान में प्रत्यक्षरूप से झलकती हैं।

इसी बात को और भी दृढ़ कर रहे हैं —

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेत्ति॥३९॥

यदि सजात — अनुत्पन्नभावी पर्यायें एवं प्रलयित — नष्ट हुई भूत पर्यायें केवलज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं होवें तो वह ज्ञान दिव्य है ऐसा कौन कहेंगे किन्तु सामान्यज्ञान ही कहेंगे।

क्योंकि इंद्रियज्ञान ईहा, अवाय आदि पूर्वक ही पदार्थों को जानता है अतः उस ज्ञान द्वारा परोक्ष पदार्थों को जानना असंभव ही है।

किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान अप्रदेशी — कालाणु को, सप्रदेशी-पाँचों अस्तिकायों को, मूर्तिक — पुद्गल और संसारी जीवों को, अजात — अनागत भावी पर्यायों को और प्रलयगत — विनष्ट हुई अतीत पर्यायों को

अर्थात् सर्व को जान लेता है और तभी उसका अतीन्द्रिय यह नाम सार्थक है।

भगवान् कुंदकुंददेव इसी बात को और भी सुदृढ़ कर रहे हैं —

जं तत्कालियमिदं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।

अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं॥४७॥

जो अतीन्द्रिय ज्ञान युगपत् — एक साथ ही अपने संपूर्ण आत्मप्रदेशों से तात्कालिक — वर्तमानकालीन या अतात्कालिक — भूत, भविष्यत् विचित्र — अनेक प्रकार और विषम — मूर्त, अमूर्त, चेतन-अचेतन आदि अनेक विलक्षण जातिरूप ऐसे संपूर्ण पदार्थों को जानता है अतः वह ज्ञान क्षायिक कहा जाता है।

किन्तु जो ज्ञान एक समय में ही तीनों काल में और तीनों लोकों के संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष नहीं जानता है वह ज्ञान अनंत पर्याय सहित अपने एक आत्मद्रव्य को भी नहीं जान सकता है अर्थात् जो सर्व विश्व को नहीं जान सकता है वह अल्पज्ञ अपने आत्मस्वरूप को भी पूर्णरूप से प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है तथा जो अनंत पर्याय वाले अपने एक आत्मद्रव्य को नहीं जानता है वह युगपत् सर्व अनंत द्रव्य समूह को कैसे जान सकेगा अर्थात् जो सब को जानता है वही सर्वज्ञ है वही अपने को जानता है और जो भूत, भविष्यत और वर्तमान संबंधी अनंत पर्यायों से युक्त अपने को जानता है वही सर्वज्ञ है अतः वह सर्व को जानता ही जानता है।

यदि अतीन्द्रिय केवलज्ञान पदार्थों की अपेक्षा रख करके अर्थात् जो पदार्थ विद्यमान हैं क्रम से उन्हीं के आश्रित होकर उत्पन्न होवे तब तो वह ज्ञान नित्य नहीं रहेगा क्योंकि जब पदार्थ नष्ट होंगे तो वह भी नष्ट हो जायेगा पुनः वह ज्ञान क्षायिक कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकेगा और न वह सर्वगत-सर्वव्यापी — सबको जानने वाला ही हो सकेगा किन्तु ऐसा तो माना नहीं जा सकता अतः ज्ञान पदार्थों के आश्रित न होकर भूत-भविष्यत् सभी पदार्थों को एक समय में ही जान लेता है।

और भी देखिए —

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।

जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं॥५१॥

जिनेन्द्रदेव का ज्ञान तीनों काल संबंधी, नित्य, विषम — अनेक भेद-प्रभेदरूप, सर्वत्र — सर्व लोक में होने वाले चित्र — अनेक प्रकार के समस्त पदार्थों को युगपत् जान लेता है। अहो! यह सर्वज्ञदेव के ही ज्ञान का माहात्म्य है।

इस महिमाशाली ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ही हमारा सर्व पुरुषार्थ है अतएव ऐसे केवलज्ञानी भगवान को मेरा नमस्कार होवे।

यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद्र द्रव्याणि तेषां गुणान्।

पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वदा॥

जानीते युगपत् प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते।

सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः॥



२०. धरती के देवता

सिद्ध पद के इच्छुक जो महापुरुष पंचेन्द्रिय के विषयों की इच्छा समाप्त करके सम्पूर्ण आरम्भ और परिग्रह का त्याग कर देते हैं तथा ज्ञान, ध्यान और तप में सदैव तत्पर रहते हैं, वे ही मुक्तिपथ के साधक होने से सच्चे साधु कहलाते हैं। वे महामना दिगम्बर अवस्था को धारण कर लेते हैं। उनकी चर्या स्वावलम्बी होती है। उनकी जितनी भी क्रियायें रहती हैं उनसे किसी भी मनुष्य अथवा तिर्यच को या किसी भी पशु पक्षी आदि जन्तुओं को यहाँ तक कि क्षुद्र कीट आदिकों को भी बाधा नहीं पहुँचती है, बल्कि सभी को सुख, शांति और अभय मिलता है। किसी संप्रदाय विशेष को भी इन दिगम्बर मुनियों द्वारा बाधा नहीं पहुँचती है क्योंकि किसी न किसी रूप में सभी संप्रदायों में त्याग को और यथाजात प्रकृतिरूप (नग्नत्व) को महत्व दिया ही है इसीलिए ये दिगम्बर मुनि सर्वत्र और सभी के द्वारा पूज्य होते हैं। विश्व के सभी संप्रदाय के मनुष्य ही क्या, व्याघ्र, सर्प आदि क्रूर तिर्यच पशु भी इनके आश्रय में शांति का अनुभव करते हैं। कहा भी है—

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नंदनी व्याघ्रपोतं।

मार्जारी हंसवालं प्रणयपरवशा केकिकांता भुजंगीं।।

वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जंतवोऽन्ये त्यजन्ति।

श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्।।

कलुषता को शांत कर देने वाले मोहरहित और एक साम्यभाव में आरूढ़ हुए ऐसे योगी का आश्रय लेकर हिरणी सिंह के बच्चे को पुत्र के भाव से स्पर्श करती है। गाय व्याघ्र के बच्चे को, बिल्ली हंस के शिशु को और मयूरनी सर्प के बालक को बड़े प्रेम से खिलाती है। यहाँ तक कि अन्य जन्तु भी मदरहित होते हुए भी जन्मजात वैर को भी छोड़ देते हैं अर्थात् योगी तीन प्रकार के होते हैं—निष्पन्न, घटमान और प्रारब्धवान्। जो पूर्णतया योग में सफल हो चुके हैं, उनमें उपर्युक्त विशेषताएँ आ जाती हैं, वे निष्पन्न कहलाते हैं। दूसरे योगसिद्धि की मध्यम स्थिति तक पहुँचे हुए घटमान हैं और तीसरे योग के अभ्यास में तत्पर होने से प्रारब्धमान हैं। वर्तमान में यद्यपि तृतीय श्रेणी वाले साधु होते हैं फिर भी उनसे जनता का हित ही होता है अहित नहीं।

इन तीनों प्रकार के साधुओं को स्वर्ग के इंद्र, देव और दानव भी नमस्कार करते हैं। यही कारण है कि इस धरती पर विचरण करते हुए ये 'धरती के देवता' माने जाते हैं।

१. ज्ञानार्णव—चूँकि इस पृथ्वीतल पर विहार करते हुए ये मुनि पंचेन्द्रिय से लेकर वनस्पति, वृक्ष, अग्नि आदि एकेन्द्रिय जीवों तक की रक्षा करते हैं उन्हें अभयदान—जीवनदान देते हैं, ये परमकारुणिक मुनि विश्ववंद्य, जगद्गुरु भी कहलाते हैं क्योंकि इनका धर्म सभी जीवों का हित करने वाला होने से वह सार्वधर्म या विश्वधर्म कहलाता है। इन मुनियों की चर्या कैसी होती है देखिए—

जीवनचर्या—ये जिन गुणों का पालन करते हैं उन्हें मूलगुण कहते हैं। जैसे मूल के बिना वृक्ष की एवं नींव के बिना महल की स्थिति नहीं है उसी प्रकार से इन गुणों के बिना कोई भी व्यक्ति वेषमात्र से साधु नहीं हो सकता है। इन मूलगुणों के अट्ठाईस भेद होते हैं—

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, केशलोच, षट् आवश्यक, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त।

जो महान — सर्वोत्तम व्रत हैं अथवा जो तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के द्वारा भी पाले जाते हैं अथवा जो महान पुरुषार्थ अर्थात् अंतिम मोक्ष पुरुषार्थ के लिए कारण हैं वे महाव्रत कहलाते हैं। पूर्णरूप से पाँचों पापों का त्याग कर देना ही महाव्रत है।

सम — सम्यक् प्रकार से इति — प्रवृत्ति समिति कहलाती है अर्थात् चलने, बोलने, भोजन करने आदि प्रवृत्तियों में प्रमाद छोड़कर सावधानी से प्रवृत्ति करना ही समिति है।

स्पर्शन, रसना आदि इंद्रियों को अपने वश में रखना उनके इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग द्वेष नहीं करना ही इंद्रियनिरोध व्रत है।

अवश्य करने योग्य क्रियायें आवश्यक कहलाती हैं। इसके अर्थ हैं। प्रत्येक का स्पष्टीकरण देखिए —

१. अहिंसा महाव्रत — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की हिंसा का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है। इस महाव्रत में सम्पूर्ण आरंभ और परिग्रह का त्याग हो जाता है।

२. सत्य महाव्रत — राग, द्वेष, क्रोध आदि से युक्त असत्य वचनों का त्याग करना और अन्य को संतापकारी ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलना सत्य महाव्रत है।

३. अचौर्य महाव्रत — बिना दिये हुए किसी की किसी भी वस्तु को ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत — कामसेवन का त्याग कर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना, बालिका, युवती और वृद्धा में पुत्री, बहन और माता के समान भाव रखना यह त्रैलोक्य पूज्य महाव्रत है।

५. अपरिग्रह महाव्रत — धन्य-धान्य आदि बहिरंग और मिथ्यात्व आदि अंतरंग परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

६. ईर्या समिति — निर्जंतुक मार्ग से सूर्योदय के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना ईर्या समिति है।

७. भाषा समिति — चुगली, हँसी, कर्कश, परनिंदा आदि से रहित हित, मित, प्रिय और संदेह रहित वचन बोलना भाषा समिति है।

८. एषणा समिति — छ्यालीस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित, नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक निर्दोष पवित्र आहार लेना एषणासमिति है।

९. आदाननिक्षेपण समिति — पुस्तक, कमंडलु, पाटा, चटाई आदि को रखते या उठाते समय कोमल पिच्छिका से परिमार्जन करके रखना, उठाना आदाननिक्षेपण समिति है।

१०. उत्सर्ग समिति — हरी घास, चिंवटी आदि या उनके बिलों से रहित निर्जंतुक एकांत स्थान में मलमूत्रादि विसर्जित करना उत्सर्ग समिति है।

११. स्पर्शनेन्द्रिय निरोध — कोमल स्पर्शादि या कंकरीली भूमि आदि में हर्ष विषाद नहीं करना स्पर्शन इन्द्रियनिरोधव्रत है।

१२. रसनेन्द्रिय निरोध — सरस-मधुर भोजन में, नीरस-शुष्क भोजन में, आनंद या खेद नहीं करना रसना इन्द्रियनिरोध है।

१३. घ्राणेन्द्रिय निरोध — सुगन्धित या दुर्गन्धित वस्तु में राग-द्वेष नहीं करना घ्राणेन्द्रिय विजय व्रत है।

१४. चक्षुइन्द्रिय निरोध — स्त्री आदि के सुन्दर रूप या विकृत वेष आदि में रागभाव और द्वेषभाव नहीं

करना चक्षुःन्द्रिय निरोध है।

१५. कर्णेन्द्रिय निरोध—सुन्दर-सुन्दर गीत, वाद्य तथा असुन्दर निंदा, गाली आदि के वचनों में हर्ष विषाद नहीं करना कर्णेन्द्रिय निरोध व्रत है।

१६. समता—जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख आदि में हर्ष नहीं करना—समान भाव रखना समता है। इसे ही सामायिक आवश्यक कहते हैं। त्रिकाल में देववन्दना करना भी सामायिक है यह कम से कम ४८ मिनट तक की जाती है।

१७. स्तव—वृषभदेव आदि तीर्थकरों की स्तुति करना स्तुति आवश्यक है।

१८. वंदना—अर्हत, सिद्ध एवं उनकी प्रतिमा, जिनवाणी और गुरु को कृतिकर्म (विधिवत् भक्तिपाठ) पूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

१९. प्रतिक्रमण—व्रतों में अतिचार आदि लगने पर उनका शोधन करना प्रतिक्रमण है। इसके दैवसिक आदि सात भेद हैं।

२०. प्रत्याख्यान—भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार के अनंतर गुरु के पास पुनः आहार करने तक जो चतुराहार का त्याग किया जाता है अथवा किसी भी वस्तु का जो त्याग किया जाता है वह भी प्रत्याख्यान है।

२१. कायोत्सर्ग—काय—शरीर में ममत्व का उपसर्ग—त्याग करना कायोत्सर्ग है। यह सत्ताईस आदि उच्छ्वासों में णमोकार मंत्र के स्मरण रूप होता है।

२२. लोंच—हाथों से सिर, दाढ़ी और मूँछों के केशों का उखाड़ना केशलोंच है।

२३. अचेलकत्व—सूती, रेशमी आदि वस्त्रों का त्याग करना अचेलकत्व है।

२४. अस्नानव्रत—स्नान, उबटन आदि का त्याग करना अस्नान व्रत है।

२५. क्षितिशयन—निर्जंतुक भूमि में या शिला पर या घास, पाटा अथवा चटाई पर शयन करना क्षितिशयनव्रत है।

२६. अदंतधावन—दंत, मंजन आदि नहीं करना अदंतधावन व्रत है।

२७. स्थितिभोजन—पावों में चार अंगुल का अंतराल रखकर खड़े होकर हाथ की अंजुली में आहार ग्रहण करना स्थितिभोजन व्रत है।

२८. एकभक्त—सूर्योदय से तीन घड़ी बाद से सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक के काल में से दिन में एक बार आहार लेना एकभक्त व्रत है।

जब कोई भी व्यक्ति मुनिपद में दीक्षित होना चाहता है तब गुरुदेव उसे जनसमाज के समक्ष विधिवत् दीक्षा देते हुए अट्ठाईस मूलगुणों को पालन करने का नियम देते हैं। जीवदया हेतु मयूर पंख से निर्मित पिच्छी, शुद्धि के लिए काठ (लकड़ी या नारियल) का कर्मंडलु और सच्चे ज्ञानवर्धन के लिए शास्त्र देते हैं।

मुनि के बाह्य चिन्ह—आचेलक्य, लोंच, शरीरसंस्कार हीनता और प्रतिलेखन दिगम्बर मुनियों के ये चार चिन्ह माने गये हैं।

आचेलक्य—सूत के वस्त्र, रेशम के वस्त्र, ऊन के वस्त्र, चर्म के वस्त्र, (मृगछाला आदि) तथा वृक्षों की छाल, बल्कल, पत्ते और तृण आदि के वस्त्र ऐसे पाँचों प्रकार के वस्त्रों का त्याग करना आचेलक्य व्रत है^१।

यह व्रत स्वयं एक मूलगुण ही है।

प्रश्न — नग्नत्व में गुण तो अगणित हैं किन्तु दोष अणुमात्र भी नहीं है। आगम में कहा है।

“आचेलक्कं वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नग्नत्वमात्रं वा। तच्च संयमशुद्धीन्द्रियजयकषायाभावध्यान-
स्वाध्यायनिर्विघ्नता-निर्ग्रन्थता-वीतरागद्वेषता-शरीरानादर-स्ववशचेतोविशुद्धिप्राकट्यनिर्भयत्वसर्वत्रवि-
स्रब्धत्वप्रक्षालनोद्वेष्टनादि-परिकर्मवर्जनविभूषामूर्च्छत्वलाघवतीर्थकराचरितत्वानिदूढबलवीर्य-ताद्यपरिमितगुणग्रामपि
लंभात्।”

वस्त्रादि परिग्रह का अभाव अथवा नग्नत्व मात्र को आचेलक्य कहते हैं। वस्त्रों के धोने आदि में अनेक जीवों की हिंसा होती है इसलिए उसके त्याग में संयम की शुद्धि है। लज्जनीय शरीर के विकार का निरोध करने के लिए दृढ़ता से प्रयत्न किया जाता है। इसलिए इन्द्रिय विजय होता है। चोरादि के द्वारा वंचना आदि न होने से कषायों का अभाव होता है। सुई, डोरा, कपड़े आदि का अन्वेषण, उनके ग्रहण आदि की चिंता न होने से स्वाध्याय और ध्यान निर्विघ्न होता है। ममत्वादि रूप परिणाम अभ्यंतर ग्रंथि है और वस्त्रादि परिग्रह बाह्य ग्रंथि — गांठ हैं। इन दोनों प्रकार की ग्रन्थियों का त्याग हो जाने से निर्ग्रन्थता होती है। रुचिकर और अरुचिकर वस्त्रों का त्याग हो जाने से रागद्वेष के अभाव रूप वीतरागता और वीतद्वेषता होती है। हवा, आतप, धूप आदि की बाधा सहन करने से शरीर में अनादर होता है। देशांतर गमन आदि से सहाय की अपेक्षा न होने से स्ववशता स्वाधीनता रहती है। लंगोटी आदि से गुह्य अंग का प्रच्छादन न करने से चित्त की विशुद्धि — निर्विकारता प्रगट होती है। चोरादि के द्वारा ताड़न आदि रूप भय का अभाव होने से निर्भयता रहती है। अपहरण करने योग्य वस्तु अपने पास न रहने से सर्वत्र विश्वस्तता रहती है। वस्त्र के नहीं रहने से उनके धोने, सुखाने, धरी करके रखने, संभालने आदि संबंधी क्रियाओं का अपने आप त्याग हो जाता है। नग्न रहने से शरीर को अलंकार आदि से विभूषित करने का सवाल ही नहीं होता है। शरीर से निर्मूर्च्छा — ममत्व भी घट जाता है। वस्त्र मात्र भी अपने पास न होने से लघुता — हलकापन रहता है। तीर्थकरों के आचरण का अनुसरण भी नग्नता से ही होता है। आत्मा में ही छिपे हुए बल पराक्रम का प्रादुर्भाव अथवा वृद्धि भी इसी से हो सकती है इत्यादि अपरिमित गुण इस नग्नता के द्वारा सिद्ध होते हैं। श्री पद्मनंदि आचार्य ने भी कहा है —

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारंभतः संयमो।

नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्॥

कौपीनेऽपि हते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते।

तन्नित्यं शुचिरागहृच्छ्रमवतां वस्त्रं ककुम्भंडलम्॥

साधु यदि कौपीन मात्र भी वस्त्र धारण करते हैं तो कितना उन्हें कष्ट होता है और उनकी महानता तथा संयम में कितने दोष आते हैं सो देखिये — कौपीन के मलिन होने पर उसे धोना पड़ेगा और फिर उसके लिए जल लाने आदि का आरंभ भी करना ही होगा। ऐसी अवस्था में संयम कहाँ रहा ? कदाचित् कौपीन गिर जाए, हवा में उड़ जाए या फट जाए तो मन में व्याकुलता आये बिना नहीं रह सकती अथवा उसके लिए दूसरे से प्रार्थना भी करनी पड़ेगी पुनः ऐसी अवस्था में याचना के निमित्त से उसकी महानता में लघुता आये बिना नहीं रह सकती है। यदि कदाचित् उसको कोई चुरा ले जाये अथवा छीन ले तो क्रोध आये बिना नहीं रहेगा अतएव परम शांति की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं को यही उचित है कि वे दिशाओं को ही वस्त्र के स्थान पर धारण करें। यह दिशारूपी अम्बर — वस्त्र नित्य है — नैसर्गिक होने से कभी भी नष्ट होने वाला या चोरी जाने वाला

नहीं है। समस्त मल दोषों से रहित होने से अत्यंत पवित्र है एवं राग द्वेष को दूर करने वाला है। इसके निमित्त से याचना आदि के द्वारा लघुता प्राप्त नहीं होती और न याचना के व्यर्थ जाने पर मानभंग आदि के द्वारा चित्त में किसी प्रकार की कलुषता ही उत्पन्न होती है अतः संयमियों को यह निर्विकार वस्त्र ही धारण करना चाहिए।

श्री सोमदेव आचार्य ने भी कहा है—

विकारो विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्त्तने।

तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः॥

नैष्किंचन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत्।

ते संगाय यदीहंते बल्कलाजिनवाससाम्॥

विकार में ही विद्वान लोग दोष समझते हैं न कि निर्विकार रूप अवस्था के धारण करने में, अतएव ऐसा कौन विवेकी पुरुष होगा जो कि नैसर्गिक — जन्मजात या प्रकृति से प्रदत्त ऐसी नग्नता के विषय में द्वेष के वश होकर कलुषता को धारण करेगा ? अर्थात् इस प्राकृतिक अवस्थारूप नग्नता में किसी को भी द्वेषभाव संभव नहीं है। संयमी साधुओं का आकिंचन्य — अपरिग्रह और अहिंसा व्रत कैसे हो सकता है ? यदि वल्कल, चर्म या किसी भी तरह के वस्त्र के परिग्रह को धारण करने का प्रयत्न करते हैं या उसका भाव भी रखते हैं अर्थात् किंचित् मात्र भी परिग्रह के रखने से अपरिग्रह और अहिंसा की पूर्णता नहीं हो सकती है।

वास्तव में अंतरंग में विकार उत्पन्न होने पर उसे ढकने के लिए ही वस्त्र धारण किये जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो बालक नग्न ही घूमते रहते हैं। न उसको स्वयं विकार या लज्जा का अनुभव होता है और न देखने वाले ही विकार, लज्जा या ग्लानि आदि का अनुभव करते हैं। इसलिए नग्नता यह निर्विकारता की कसौटी है और अपरिग्रह की चरम सीमा है। यदि किंचित मात्र भी विकार मुनि के मन में उत्पन्न हो जावे तो वह बाहर में प्रगट दीख सकता है किंतु हजारों स्त्रियाँ, युवतियाँ उनके दर्शन को आती हैं, स्तुति, पूजन, वंदन आदि करती हैं किंतु मुनि निर्विकार रहते हैं। उनकी सौम्य मुद्रा से किसी को भी विकार उत्पन्न नहीं हो सकता है। यदि कदाचित् कोई स्त्री अपनी दुर्भावना से मुनियों को विकारी करने का प्रयत्न करे अर्थात् हाव, भाव, कटाक्ष आदि के द्वारा उन्हें ब्रह्मचर्य से च्युत करने का प्रयत्न करे या कोई देवांगना मुनि की दृढ़ता की परीक्षा हेतु भी नृत्य, विलास आदि करे तो मुनि भी परीषह या उपसर्ग समझकर अपनी जितेन्द्रियता रखते हैं और अपने ब्रह्मचर्य में स्वप्न में भी मलिनता नहीं लाते हैं इसीलिए ये हमेशा बालकवत् निर्विकार और निर्भय रहते हैं।

परिग्रह एक प्रकार की ग्रन्थि है। अंतरंग-बहिरंग परिग्रह रूपी ग्रंथि-गांठ को नहीं रखने से ये 'निर्ग्रन्थ' कहलाते हैं। जन्म के समय जो रूप रहता है उसी रूप को धारण करने से ये 'यथाजात' कहलाते हैं। प्रकृति के द्वारा प्रदत्त रूप को धरने से 'प्राकृतिक रूपधारी' कहलाते हैं। नग्नता यह स्वाभाविक अवस्था है इसे धारण करने से 'स्वाभाविक मुद्राधारी' या 'नैसर्गिक मुद्राधारी' कहलाते हैं। तीर्थंकर जिनेन्द्रदेव नग्नमुद्रा धारण करके ही कर्मों का नाश करते हैं अतएव इसे 'जिनमुद्रा' 'जिनरूप जिनलिंग' आदि भी कहते हैं। दिशारूपी वस्त्र को धारण करने से ये दिक् अंबर वस्त्र ऐसे दिगम्बर आशांबर, कष्ठांबर आदि नामों से भी जाने जाते हैं। प्राणिमात्र की दया पालने से और इन्द्रियों को वश में रखने से ये 'संयमी' 'यमी' 'संयत' आदि कहलाते हैं। रत्नत्रय की साधना करने से 'साधु' माने जाते हैं। अवधिज्ञान आदि ज्ञानों की विशेषता से 'मुनि' कहलाते हैं। अनेक ऋद्धियों को प्राप्त कर लेने से 'ऋषि' कहलाते हैं। श्रेणी में आरोहण करने में प्रयत्नशील — तत्पर होने से 'यति' कहलाते हैं। अगार — घर का त्याग कर देने से 'अनगार' कहे जाते हैं।

योग की साधना करने से 'योगी' कहलाते हैं। भिक्षावृत्ति से अर्थात् बिना मांगे पड़गाहन विधि से भोजन करने से 'भिक्षुक' कहे जाते हैं। ये याचना नहीं करते हैं अतः इन्हें याचक नहीं कह सकते हैं। गृहस्थों के घर निमंत्रण से आकर भोजन नहीं करते हैं, अनायास किसी दिन भी आ जाते हैं अतः इनके आने की तिथि निश्चित न होने से ये 'अतिथि' कहलाते हैं। व्रतों के पालन करने से 'व्रती' कहे जाते हैं। अनशन आदि तपश्चरण करने से 'तपस्वी' कहलाते हैं।

पूज्य होने से भट्टारक कहलाते हैं। गुणों से या सभी में महान होने से 'गुरु' कहलाते हैं। स्वयं पाँच आचार्यों का पालन करने से और शिष्यों को शिक्षा दीक्षा आदि देकर पंचाचार का पालन कराने से 'आचार्य' चतुर्विध संघ के अधिपति होने से गणधर, गणी, सूरि आदि अनेक नामों से कहे जाते हैं। अध्ययन-अध्यापन में कुशल होने से 'उपाध्याय' कहलाते हैं इत्यादि अनेकों नाम इन जैन साधुओं के माने गये हैं।

मुख्य रूप से दिगम्बर जैन साधुओं में आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन पद माने गये हैं। पूर्वोक्त कथित अट्ठाईस मूलगुण सभी में समान हैं किन्तु आचार्य और उपाध्याय में और भी आवश्यक गुण रहते हैं फिर भी ये सभी अचेलक अर्थात् नग्नमुद्रा धारी ही होते हैं।

२. लोंच — स्नान नहीं करने से और केशों में तेल डालना आदि संस्कार न करने से उसमें जूँ, लीख आदि उत्पन्न हो जाती हैं पुनः खाज आदि होने से उनकी रक्षा संभव नहीं है। यदि नाई से बाल बनवाये तो पैसे चाहिए, यदि गृहस्थों से माँगे तो याचना दोष होगा अतः जीवहिंसा परिग्रह, अयाचकवृत्ति और दीनता दोष आदि से बचने के लिए साधु अपने हाथ से केशों को उखाड़कर फेंक देते हैं। केशलोंच करते समय गोमय की भस्म (गाय या भैंस के गोबर की राख) को अंगुलियों में लगाते हैं इसका हेतु यही है कि पसीना और केशोत्पादन से रक्त आ जाने से अंगुली फिसल जाती है इसलिये ये राख का सहारा लेते हैं। केशलोंच करने से शरीर से निर्ममता भी प्रगट होती है तथा परिषह और उपसर्ग रूप कष्टों को सहन करने का अभ्यास होता है।

३. शरीर संस्कार हीनता — स्नान न करने से, उबटन आदि संस्कार न करने से, दन्तधावन (दातौन मंजन आदि) न करने से शरीर रूक्ष एवं मलिन हो जाता है जिससे अपने में भी वैराग्य की वृद्धि होती है। यही कारण है कि ब्रह्मचर्य से पवित्र होने से इन्हें स्नान की आवश्यकता नहीं रहती है।

देह में आत्म बुद्धि — अपनत्व भाव होना ही संसार के दुखों का मूल कारण है इसीलिए मुनि सुगन्धित माला, इत्र आदि से शरीर को संस्कारित न करके धूल धूसरित शरीर को धारण करते हुए अपने संयम, ब्रह्मचर्य, अहिंसा व्रत, वैराग्य आदि की रक्षा करते हैं। अस्नान और अदंतधावन दो मूलगुणों में यह शामिल हो जाता है। कदाचित् मल, चर्मादि अशुद्ध वस्तु या अशुद्ध जन के स्पर्श हो जाने से मुनि दण्डस्थान करके प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं।

४. प्रतिलेखन — कार्तिक मास में मयूर स्वयं अपने पंखों को गिरा देता है। ऐसे अति कोमल अर्थात् जिसका नेत्र में भी स्पर्श होने से पीड़ा न हो ऐसे इन मयूर पंखों की पिच्छिका प्रतिलेखन कहलाती है। यह संयम का उपकरण है अर्थात् मुनि प्रत्येक वस्तु — कमंडलु-पुस्तक-पाटा आदि को पहले नेत्र से देखकर पुनः इस कोमल पिच्छी से परिमार्जित करके ही उठाते या रखते हैं जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों को भी बाधा नहीं पहुँचती है। इसमें पाँच गुण होते हैं —

यह धूल को ग्रहण नहीं करती है, पसीने से खराब नहीं होती है, अत्यंत मृदु है, सुकुमार — नमनशील है और लघु — हल्की है। यही कारण कि तीर्थंकरों ने इसे संयम की रक्षा के लिए उपकरण मान कर जैन

मुनियों का चिन्ह बतलाया है।

यदि मुनि बिना पिच्छी के सात कदम से ऊपर गमन कर लें तो प्रायश्चित्त लेना होता है अतः यह जिनमुद्रा का एक चिन्ह है। कहा है —

मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते।

मुद्रा ही सर्वत्र मान्य होती है मुद्रारहित व्यक्ति मान्य नहीं होता है। यदि कोई नग्न हो जावे किन्तु उसके पास पिच्छी न हो वह दिगम्बर जैन साधु नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार संक्षेप में जैन साधु के ये चार चिन्ह बतलाये हैं जो कि बाहर में प्रकट रूप में दिखते हैं।

दैनिक चर्या — मुनि प्रातः, मध्याह्न और सायं इन तीनों की संधि कालों में सामायिक करते हैं। संधिकाल अर्थात् सूर्योदय के पहले ही दो घड़ी से लेकर सूर्योदय होने से दो घड़ी तक ऐसे चार घड़ी काल छोड़कर पूर्वान्ह में, ऐसे ही मध्याह्न के अनंतर अपरान्ह में, पूर्व रात्रि में और पश्चिम रात्रि में ऐसे चार काल स्वाध्याय करते हैं। दिवस के अंत होते समय दैवसिक और रात्रि के अंत होते समय रात्रिक ऐसे दो बार प्रतिक्रमण करते हैं। दिवस के अंत में रात्रियोग ('रात्रि में इसी वसतिका में रहूँगा' ऐसा नियम) ग्रहण करके रात्रि के अंत में रात्रिक प्रतिक्रमण करके उसे समाप्त कर देते हैं।

जब उन्हें भक्तगण नमस्कार करते हैं तब वे आशीर्वाद प्रदान करते हैं। भक्तों के आग्रह पर उन्हें धर्मोपदेश देते हैं। तीर्थयात्रा, गुरुवंदना या धर्मभावना आदि के लिए ईर्यापथ से पैदल विहार करते हैं, आहार के लिए पिच्छी हाथ में लेकर श्रावकों की बस्ती में विचरण करते हैं। उस समय श्रावक भक्ति से "हे स्वामिन्! नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु, अत्र तिष्ठ तिष्ठ" ऐसा बोलकर पड़गाहन करते हैं। तब ये मुनि अपने नियम के अनुसार वहाँ खड़े हो जाते हैं। श्रावकगण उनको तीन प्रदक्षिणा देकर भक्ति से घर के अंदर ले जाकर उच्चासन पर बिठाकर उनके चरण प्रक्षालन करके उनकी पूजा करके थाली में शुद्ध भोजन परोसकर कहते हैं कि हे भगवन्! मन वचन काय शुद्ध है, आहार जल शुद्ध है, भोजन ग्रहण कीजिये। तब ये मुनि पूर्व दिन ग्रहण किये हुए अपने प्रत्याख्यान को समाप्त करके खड़े होकर हाथ की अंजुलि बनाकर उसमें आहार लेते हैं। सरस, नीरस, ठण्डा, गर्म, रुक्ष, स्निग्ध आदि भोजन में रागद्वेष परिणति नहीं करते हुए मात्र संयम, ज्ञान और ध्यान के लिए ही आहार ग्रहण करते हैं। मुनि अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार ही प्रत्येक कार्य करते हुए आपस में साधुओं के साथ वंदना, प्रतिवंदना, विनय और अनुकूलता को रखते हुए प्रवृत्ति करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि इन साधुओं को वनों में ही विचरण करना चाहिए, गाँव या शहर में नहीं, उनको इन साधुओं की व्यवस्था पर ध्यान देना चाहिए। देखिये —

जिनकल्पी-स्थविरकल्पी — मुनियों में दो भेद हैं — जिनकल्पी और स्थविरकल्पी।

जो मुनि उत्तम संहनन (वज्र के सदृश कठोर हड्डियों के) के धारी हैं, ग्यारह अंग और पूर्वादि शास्त्रों के ज्ञाता हैं, उपसर्ग और परीषह सहने में समर्थ हैं, वर्षाऋतु आदि में छह-छह महीने तक एक जगह ध्यान में खड़े रह सकते हैं। प्रायः पर्वत की चोटी पर कंदराओं में, गुफाओं में निवास करते हैं, आहारार्थ गाँव या शहर में आते हैं, पुनः वन में चले जाते हैं, कदाचित् गाँव या शहर में भी रहते हैं किन्तु प्रायः इनका निवास वन में ही रहता है, ये जिनकल्पी कहलाते हैं। इनसे अतिरिक्त हीन संहनन (हीन शक्ति) वाले मुनि अति परिषह और उपसर्गों को सहन करने में असमर्थ होते हुए संघ में रहते हैं, शक्ति के अनुसार प्रतिमायोग और ध्यानादि करते हैं, वर्तमान में पंचमकाल में उत्तम संहनन का अभाव होने से सभी साधु जिनकल्पी नहीं हो सकते हैं।

शास्त्र में कहा है कि—

इस दुःषमकाल में संहनन हीन होने से मुनि पुर, नगर और ग्राम में निवास करते हैं। ये साधु स्थविरकल्प में स्थित हैं^१ ये साधु संघ के साथ विहार करते हुए करते हुए धर्म की प्रभावना करते हैं, भव्यों को धर्मोपदेश देते हैं, शिष्यों को बनाकर उनका संरक्षण करते हैं।

वर्तमान में मुनियों का अस्तित्व— दिगम्बर संप्रदाय में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व अनादिकाल से चला आ रहा है और अनंतकाल तक चलता रहेगा। इस भरत क्षेत्र में युग की आदि में ऋषभदेव भगवान ने दिगम्बर दीक्षा लेकर मुनिमार्ग प्रकट किया था, यह बात अन्य संप्रदाय वालों ने भी स्वीकार की है। तब से लेकर आज तक परंपरा चली आ रही है, आज भी दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व है और पंचमकाल के अंत तक रहेगा ऐसा कथन है। अंतिम कल्की राजा जब मुनि के हाथ का पहला ग्रास कर (टैक्स) रूप में मांगेगा तब मुनि आहार छोड़कर अंतराय करके चले जायेंगे। वे चतुर्विध संघ सहित समाधिपूर्वक मरण करके स्वर्ग प्राप्त करेंगे। उसी दिन धर्म का, राजा का और अग्नि का नाश हो जावेगा पुनः छठा काल प्रारंभ हो जायेगा। उस काल में लोग माँसभक्षी 'धर्म कर्महीन, दुराचारी, दुखी तथा घर और परिवार से रहित होंगे। पशुवत् जीवन व्यतीत करके दुर्गति में जावेंगे अतः वर्तमान में मुनियों का अस्तित्व है ही है और भविष्य में भी रहेगा ही रहेगा। श्री कुंदकुन्द स्वामी ने कहा है—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।

तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।७६।।

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।

लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंतिं।।७७।।

इस भरतक्षेत्र में दुःषमकाल में साधु आत्मा के स्वभाव में स्थित होते हैं और उनके धर्मध्यान होता है ऐसा जो नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं। आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इंद्रपद को अथवा लौकांतिक देव के पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं। श्री सोमदेवसूरि ने भी कहा है कि—

कलौ काले चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।

एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः।।

इस कलिकाल में चित्त चंचल है और शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसी स्थिति में भी जिनरूप के धारण करने वाले मनुष्य विद्यमान हैं। और भी अनेकों उदाहरण हैं।

खास बात यह समझने की है कि इतने हीन संहनन में भी जैन साधुओं की चर्या में अट्टाईस मूलगुणों में परिवर्तन नहीं हो सकता है और न इनमें संशोधन करने का किसी को अधिकार ही है। चूँकि ये मूलगुण जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे गये हैं।

पूर्व काल में साधु तपस्या के बल से अनेकों ऋद्धियों को प्राप्त कर लिया करते थे, जिससे उनके शरीर से स्पर्शित हवा से भी लोगों का विष उतर जाता था। कोई-कोई अक्षीणऋद्धि के धारक होते थे तो जिसके यहाँ आहार करते थे उसके घर में उस दिन चक्रवर्ती का कटक भी जीम जाय तो भी भोजन घटता नहीं था।

१. संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तव पहावेण। पुरणयरगामवासी थविरे कप्पे ठिया जादा।।१२७।।

उनके वचन अमृत के समान गुणकारी हुआ करते थे। इनके सिर पर अंगीठी जला देने पर भी, शेरनी आदि के द्वारा शरीर के खाए जाने पर भी ये अपने ध्यान से चलायमान नहीं होते थे, तभी ये कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लिया करते थे।

आज के युग में यद्यपि ऋद्धियाँ नहीं हैं, फिर भी अनेक साधुओं में अनेकों चमत्कार देखे जाते हैं। चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज कोन्नूर की गुफाओं में ध्यान करते थे तब उनके शरीर पर सर्प बहुत देर तक क्रीड़ा करता रहा था। जयपुर खानिया में पर्वत पर आचार्यकल्प चंद्रसागर महाराज के पास सिंह आकर बैठकर उनका भक्तिपाठ श्रवण करते थे, इत्यादि अनेकों उदाहरण हैं। परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने अपने पैंतीस वर्ष के मुनि जीवन में लगभग साढ़े पच्चीस वर्ष उपवास में व्यतीत किये अर्थात् एक, दो आदि से लेकर कभी दस, कभी सोलह आदि उपवास करते रहते थे। कई साधु मासोपवासी भी हो चुके हैं।

आचार्य श्री शांतिसागर जी के चरण प्रक्षालित जल से एक व्यक्ति का श्वेत कुष्ठ नष्ट हो गया था आदि अनेकों साधुओं के अनेकों उदाहरणों को उनके जीवन परिचय से जाना जा सकता है। आज भी साधुओं के आशीर्वाद से या उनके आहारदान आदि से लोग धन, जन से सम्पन्न, सुखी, समृद्धिशाली हुए देखे जाते हैं। ध्यान में आचार्य श्री नेमिसागर जी महाराज प्रसिद्ध भी हो चुके हैं। आचार्य श्री महावीरकीर्ति महाराज खानिया में रात्रि में १२ घंटे तक ध्यान में खड़े रहे थे। कुछ समय पूर्व आरा नगर (बिहार) में कुछ साधु अग्नि के उपसर्ग को सहन करके शांति से समाधिस्थ हो चुके हैं।

पूर्वकाल में भी साधु जिनमंदिरों में, वसतिका या धर्मशालाओं में रहते थे ऐसे उदाहरण हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र जब अयोध्या का राज्य कर रहे थे उस काल में द्युति^१ नाम के आचार्य ने अपने संघ सहित श्री मुनिसुव्रत भगवान के मंदिर में चातुर्मास किया था। ऐसे अनेकों उदाहरण शास्त्र में देखे जाते हैं इसलिये आज भी साधु गाँव या शहर के मंदिरों में या धर्मशालाओं में रहते हैं। उनसे किसी को कोई बाधा नहीं आती है प्रत्युत लाभ ही रहता है।

महाभारत में कहा है कि युद्ध के लिए प्रस्थान के समय श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—‘आरोरुह रथं पार्थ! गाँडीवं चापि धारय। निर्जितां मेदिनीं मन्ये निर्ग्रन्थो गुरुरग्रतः।’ हे अर्जुन! तुम रथ पर चढ़ जाओ और गाँडीव धनुष को भी धारण करो। मैं इस पृथ्वी को जीती हुई ही समझ रहा हूँ चूँकि निर्ग्रन्थ मुनि सामने दिख रहे हैं।

ज्योतिष शास्त्र में भी कहा है—

पद्मिनी राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः।

यद्देशमभिगच्छन्ति तद्देशे शुभमादिशेत्॥

पद्मिनी स्त्रियाँ, राजहंस और निर्ग्रन्थ तपोधन जिस देश में पहुँचते हैं उस देश में शुभ—मंगल हो जाता है। यद्यपि श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में साधु वस्त्रादि ग्रहण करते हैं फिर भी उनके पुरातन ग्रंथ दिगम्बर वेष को प्राचीन और श्रेष्ठ मानते हैं।

कल्पसूत्र में ऐसा कथन है कि “भगवान वृषभदेव” ने दिगम्बर धर्म का पालन किया था। आचारांग में कहा है कि दिगम्बर वेष इतर वेषों से श्रेष्ठ है। ठाणांग में कहा है कि “भगवान^२ महावीर कहते हैं कि श्रमण

१. पद्मपुराण पर्व। २. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. ६३। ३. “से जहानमए अज्जोमए समणाण णिगंथाण नग्गाभावे मुंडभावे अण्हाणए अदंतवणे अच्छत्तए अणुवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कटुसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे लद्धावलद्धवित्तीओ जाव पण्णत्ताओ एवामेव महापडमेवि अरहा समणाणं णिगंथाणं नग्गाभावे जाव लद्धावलद्धवित्तीओ जाव।” ठाणा. पृ. ८१३।

निर्ग्रथ को नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, अदंतधावन, छत्र नहीं करना, पगरखी नहीं पहनना, भूमिशय्या, फलक शय्या, काष्ठ शय्या, केशलोंच, ब्रह्मचर्य पालन, अन्य के गृह में भिक्षार्थ जाना, आहार की वृत्ति जैसे मैंने कही वैसे ही महापद्म अरिहंत भी कहेंगे।”

श्वेतांबराचार्य आत्माराम जी ने भी अपने तत्त्वनिर्णयप्रासाद में निर्ग्रथ शब्द की व्याख्या दिगम्बर भाव पोषक रूप में दी है। यथा —

“कंथाकौपीनोत्तरा संग्वादीनां त्यागिनो यथाजातारूपधरा निर्ग्रथा निष्परिग्रहाः।” कंथा, कौपीन, उत्तरीय परिग्रह आदि के त्यागी यथाजात रूपधारी निष्परिग्रही ही निर्ग्रथ होते हैं, और भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

अन्य सम्प्रदाय में नग्नता — वैदिक संप्रदाय के ग्रंथों में भगवान् वृषभदेव को आठवां अवतार माना है और वे नग्न दिगम्बर साधु हुए, ऐसा कहा है। यथा —

‘कुलादिबीजं सर्वेषामाद्यो विमलवाहनः।
चक्षुष्मांश्च यशस्वी चाभिचंद्रोऽथ प्रसेनजित्॥
मरुदेवश्च नाभिश्च भरते कुलसत्तमः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेजीत उरुक्रमः॥
दर्शयन् वर्त्मवीराणां सुरासुरनमस्कृतः।
नीतित्रयाणां कर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः॥

सबसे प्रथम कुल के आदि बीज विमलवान् हुए। उनके पश्चात् चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचंद्र और प्रसेनजित् कुलकर हुए। भरतक्षेत्र में छठे कुलकर मरुदेव और सातवें नाभिराज हुए। नाभिराज की पत्नी मरुदेवी से आठवें कुलकर ऋषभदेव हुए, ये वीरों का मार्ग दिखलाते हुए सुरासुरों से नमस्कृत, तीन प्रकार की नीतियों के कर्ता थे और युग की आदि में प्रथम जिन हुए हैं। जैनों के यहाँ ये नाभिराज चौदहवें कुलकर थे और ऋषभदेव प्रथम जिन — तीर्थंकर थे। और देखिए —

“‘बर्हिणि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानां ऋषीणां ऊर्ध्वमंथिन्यां शुक्लया तन्वावतार।”

अर्थात् यज्ञ में परम ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर हे विष्णुदत्त परीक्षित! स्वयं श्री विष्णु भगवान् महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए इनके रनिवास में महारानी मरुदेवी के गर्भ में आये। उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया। यहाँ ‘वातरशना’ शब्द वायु ही जिनके वस्त्र हैं ऐसे दिगम्बर मुनियों के लिए प्रयुक्त है।

ईश्वर के बीस अवतारों में भी नाभिराज और मरुदेवी से ऋषभदेव का आठवां^३ अवतार माना है। और भी देखिये —

“‘एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुवासनार्थं नीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षण परमहंस्यधर्ममुपशिक्ष्यमाणः स्वतनयशतज्येष्ठ परमभागवतं भगवज्जनपरायण भरतं धरणीपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोवरितं शरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णककेश आत्मन्यारोपिताहवनीयों ब्रह्मावर्तात् प्रब्रज’॥२७॥

अर्थात् — “इस प्रकार महायशस्वी और सबसे सुहृद ऋषभ भगवान् ने यद्यपि उनके पुत्र सभी प्रकार कुशल थे, फिर भी मनुष्यों को उपदेश देने के लिए प्रशांत और कर्मबंधन से रहित महामुनियों को भक्तिज्ञान और वैराग्य लक्षण परमहंस आश्रम की शिक्षा देने हेतु अपने सौ पुत्रों में से ज्येष्ठ परम भागवत, भगवज्जनपरायण भरत को पृथ्वीपालन हेतु राज्याभिषेक करके तत्काल ही संसार को छोड़ दिया और आत्मा में होमाग्नि को आरोप कर केश खोल, उन्मत्त की भांति नग्न हो केवल शरीर मात्र को संग ले ब्रह्मावर्त से सन्यास धारण कर चल पड़े।”

अन्य ग्रंथों में भी नग्नत्व को महत्व दिया है।

परमहंसोपनिषद् के निम्न वाक्य देखिये —

‘तदेद्विज्ञाय ब्राह्मणः पात्र कमण्डलुं कटिसूत्रकौपीनं च तत्सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरचरे-
दात्मानमन्विच्छद। यथाजातरूपधरो निर्द्वंद्वो निष्परिग्रहस्तत्त्व ब्रह्ममार्गसम्यक् सम्पन्नशुद्ध मानसः प्राणसंधारणार्थं
यथोक्तकाले पंचगृहेषु करपात्राणायाचिताहारमाहरन् लाभालाभे समो भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः
शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः परमहंसः पूर्णानंदैकबोधः तद् ब्रह्मोऽहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन् भ्रमरकीटकन्यायेन
शरीरत्रय मुत्सृत्य देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषद्।’

ऐसा जानकर ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) पात्र, कमंडलु, कटिसूत्र और लंगोटी इन सब चीजों को जल में विसर्जित कर जातरूप अर्थात् नग्नरूप होकर विचरण करे और आत्मा का अन्वेषण करे। जो यथाजातरूपधारी (दिगम्बर) निर्द्वंद्व, निष्परिग्रही तत्त्व ब्रह्ममार्ग में भले प्रकार सम्पन्न शुद्ध हृदय, प्राण धारण के निमित्त यथोक्त समय पर पाँच घरों में विहार कर करपात्र में अयाचित भोजन लेने वाला लाभ-अलाभ में समचित्त होकर निर्मम रहने वाला ‘शुक्लध्यानपरायण’ अध्यात्मनिष्ठ शुभाशुभ कर्मों के निर्मूलन करने में तत्पर परमहंसयोगी पूर्णानंद का अद्वितीय अनुभव करने वाला ‘वह ब्रह्म मैं हूँ।’ ऐसे ब्रह्म प्रणव का स्मरण करता हुआ भ्रमर कीटक न्याय से तीनों शरीरों को छोड़कर देह त्याग करता है वह कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा उपनिषदों में कहा है।

तुरीयातीतोपनिषद् में भी — संन्यस्य^१ दिगम्बरो भूत्वा इत्यादि वाक्य हैं। ऐसे ही परमहंस^२ परित्राजकोपनिषद् और याज्ञवल्क्योपनिषद् में भी दिगम्बर होने का आदेश दिया है।

महर्षि बाल्मीकि ने लिखा है कि श्रमण मुनि महाराज जनक के यहाँ आहार को जाया करते थे।

यथा ‘श्रमणश्चै^३ भुंजते’ इसकी टीका में ‘श्रमणा दिगम्बरा श्रमणावातरशना इति’ ऐसा वाक्य है।

राजा दशरथ भी श्रमणों को आहार देते थे — ‘तापसा’^४ भुंजते तथा।’ योगवाशिष्ठ^५ में श्री रामचंद्र ‘जिन’ होने की इच्छा प्रगट करते हैं। यथा —

नाहं रामो न मे वांछा भावेषु च न मे मनः।

शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा।।

स्कंधपुराण^६ में शिव को दिगम्बर लिखा है। यथा —

वामनोऽपि ततश्चक्रे तत्र तीर्थावगाहनम्।

यादृग् रूपः शिवो दृष्टः सूर्यबिंबे दिगम्बरः।।

१. दिगम्बर और दिगम्बर जैन मुनि पृ. १८, २८, २९। २-३. दिगम्बर और दिगम्बर जैन मुनि पृ. १८, २८, २९।

४. बाल्मीकि रामायण १४।१२। ५. बाल्मीकि रामायण बालकांड सर्ग १४ श्लोक २२। ६. योगवाशिष्ठ अ. १५, श्लोक ८।

७. स्कंधपुराण प्रभास खंड, पृ. २२१।

श्री भर्तृहरि वैराग्यशतक में लिखते हैं —

एकाकी निस्पृहः शांतः पाणिपात्रो दिगम्बरः।

कदाशंभो! भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

हे शम्भो! मैं अकेला, इच्छा रहित, शांत, पाणिपात्र भोजी और दिगम्बर होकर कर्मों का नाश करने में समर्थ कब हो सकूँगा ?

वे और भी कहते हैं —

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शांतिश्चिरं गेहिनी।

सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः॥

शय्या भूमितलं दिशैकवसनं ज्ञानामृतं भोजनं।

एते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे! कस्माद् भयं योगिनः॥

जिनके धैर्य ही पिता हैं, क्षमा माता है, शांति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया बहन है, मन का संयम ही भाई है, पृथ्वीतल ही शय्या है और दिशाएं ही वस्त्र हैं, ज्ञानामृत ही भोजन है। हे मित्र! जिन योगियों के ये कुटुम्बीजन विद्यमान हैं उन्हें भय कैसे हो सकता है ? अर्थात् वे हमेशा निर्भय हैं।

इस प्रकार से अनेकों पुराणों में, वेदों में, स्मृतिग्रंथों में दिगम्बर का पोषण आया है। वेदों में तो अनेकों मंत्र तीर्थकर अर्हत् के वाचक पाए जाते हैं। यथा — “अर्हत् ये सुदानवो नरो —” इत्यादि।

“नमं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनम्।

ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थकरान्॥

ऋषभाद्या वर्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये।

बौद्ध ग्रंथों में भी भगवान महावीर को दिगम्बर मानकर उनकी प्रशंसा की है।

“मज्झिम^१ निकाय में उन्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा है। दीर्घनिकाय में भी कहा है कि “निर्ग्रथ ज्ञातृपुत्र (महावीर) संघ के नेता हैं, गुणाचार्य हैं, दर्शन विशेष के प्रणेता हैं, विशेष विख्यात हैं, तीर्थकर हैं, बहुत मनुष्यों द्वारा पूज्य हैं, अनुभवशील हैं, बहुत काल से साधु अवस्था का पालन करते हैं और अधिक वय प्राप्त हैं।”

“नेपाल^३ में गूढ और तांत्रिक नाम की एक बौद्ध धर्म की शाखा है। मि. हागसन ने लिखा है हि इस शाखा में नग्न यति रहा करते हैं।”

बौद्धों के और भी ग्रंथों में — विनय पिटक^४ ‘जातक’ आदि में भगवान महावीर को ‘अचेलक नाथ पुत्र’ निर्ग्रथ पुत्र नामों से उल्लेख किया है।

‘बौद्ध’ ग्रंथों में कई जगह लिखा है कि ‘दिगम्बर मुनि उस समय बाजार, घर, शहर आदि में विचरण करते रहते थे।’

इस्लाम धर्म में भी नग्नत्व को आदर दिया है यथा — ‘तुर्किस्तान’ में ‘अब्दुल’ नामक दरवेश मादरजात नंगे रहकर अपनी साधना में लीन बताये गये हैं।”

१. बृद्धारण्यके। २. “निगण्ठो, आवुसो नाथ पुत्तो सव्वज्जु सव्वदस्सावी अपरिसेसं ज्ञाणं दसव परिजानाति।” (मज्झिम निकाय) निगण्ठो नातपुत्तो सधी चेव गणीच गणाचार्यो च ज्ञातो यसस्सी तित्थकरो साधु समस्तो बहु जनस्स रन्तस्सू चिर पव्वजितो अद्धगतो वयो अनुप्पन्ता। (दीर्घ निकाय)। ३. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. ८९। ४. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. १००। ५. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. ३९।

ईसाइयों में भी दिगम्बरत्व का महत्त्व है बाइबिल में स्पष्ट कहा है —

“उसी समय^१ प्रभु ने अमोज के पुत्र ईसायिया से कहा, जा और अपने वस्त्र उतार डाल और अपने पैरों से जूते निकाल डाल और उसने यही किया, नंगा और नंगे पैरों हो वह विचरने लगा।”

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि बाइबिल भी मुमुक्षु को दि. हो जाने का उपदेश देती है और कितने ही ईसाई साधु दिगम्बर वेष में रह भी चुके हैं।

भद्रबाहु चरित्र और वृहत्कथाकोश आदि में मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त को दिगम्बर मुनि हुये माना है।

‘यूनानी’ राजदूत मेगस्थनीज भी चंद्रगुप्त को श्रमणभक्त प्रगट करता है।^२ अशोक^३ ने अपने एक स्तम्भलेख में स्पष्टतः निर्ग्रन्थ साधुओं की रक्षा का आदेश निकाला था तथा ‘सम्राट’^४ संप्रति पूर्णतः जैनधर्म परायण थे। उन्होंने जैन मुनियों के विहार और धर्म प्रचार की व्यवस्था न केवल भारत में ही की बल्कि विदेशों में भी उनका विहार कराकर धर्म प्रचार किया था।^५

जब सिकन्दर^६ ससैन्य यूनान को लौटा तब ‘मुनि कल्याण’ उनके साथ हो लिये थे, ये दिगम्बर मुनि थे।

सुंग और आंध्र राज्यों में दिगम्बर मुनि विचरण करते थे। ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में मुनियों का विहार हो रहा था। एक दिगम्बर जैनाचार्य^७ यूनान गये थे।

हर्षवर्धन^८ तथा हुए नसांग के समय में भी दिगम्बर मुनि निर्बाध विहार करते थे।

राजा भोज^९ ने अपनी राजधानी उज्जयिनी में स्थापित की थी। उस समय भी उज्जयिनी अपने ‘दि० जैन संघ’ के लिए प्रसिद्ध थी। उस समय तक उस संघ में ईस्वी सन् ७०८ से लेकर १०५८ तक अनंतकीर्ति आचार्य से लेकर महीचन्द्र आचार्य तक १९ आचार्य हुए थे।

ईस्वी सन् ९-१० शताब्दी में जब अरब का सुलेमान नामक यात्री भारत में आया तो उसने भी यहाँ नग्न साधुओं को एक बड़ी संख्या में देखा था। सारांशतः मध्यकालीन हिन्दूकाल में दिगम्बर मुनियों का भारत में बाहुल्य था।

पुरातत्त्व में भी दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व अंकित है।

मथुरा का पुरातत्त्व ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी तक का है। वहाँ पर प्रायः सभी मूर्तियाँ नग्न दिगम्बर हैं। एक स्तूप के चित्र में जैन मुनि नग्न, पिच्छी व कमण्डलु लिए हुए दिखाये गये हैं उन पर के लेख दिगम्बर मुनियों के द्योतक हैं।

राजगृह (बिहार) आदि में पुरातत्त्वों में भी दिगम्बर मुनियों की मूर्तियाँ और लेख उपलब्ध हैं। महाराष्ट्र, दक्षिण, केरल, गुजरात आदि में दिगम्बरों का अस्तित्व अतिप्राचीन सिद्ध है।

अजंता और एलोरा की गुफाओं में दिगम्बर मूर्तियाँ अगणित हैं। श्रवणबेलगोल के प्रायः सभी शिलालेख दिगम्बर मुनियों की ही कीर्ति गा रहे हैं।

“लंका”^{१०} में ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी में हिंसल नरेश पाण्डुकाभय ने वहाँ के राजनगर अनिरुद्धपुर में

१. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. ४५। (ईसाम्या २०/२)। २. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. १०६।
 ३. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. १०८। ४. ‘कृणाल सूनुखि खण्ड भरतापिपः परमहितो अनाऽयं देशे एवपि प्रवर्तितश्रमणविहारः संप्रति महाराजा सौऽभवत् । (दि.और मुनि पृ. १०९)। ५. “दिगम्बरत्व-पृ. १११। ६. दिग. पृ. ११७।
 ७. दिग. पृ. १३३। ८. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. १४३। ९. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. १५३।
 १०. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. २४५।

एक जैन मंदिर और जैन मठ बनवाया था। इक्कीस राजाओं के राज्य तक वह मंदिर और मठ मौजूद रहा किन्तु ईस्वी पूर्व ३८ में राजा वट्टमामिनी ने उन्हें नष्ट कराकर उनके स्थान पर बौद्ध विहार बनवाया था।”

मुसलमानी बादशाहत में भी दिगम्बर मुनियों का विहार निर्बाध था। बादशाह^१ अलाउद्दीन के दरबार में दिगम्बर जैनाचार्य ने षट्दर्शन वादियों से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की थी।

बादशाह^२ औरंगजेब ने भी दिगम्बर मुनियों का सम्मान किया था।

ब्रिटिश^३ शासन काल में दिगम्बरों का विहार बेरोक-टोक था। महारानी विक्टोरिया ने अपनी ११वम्बर सन् १८५८ की घोषणा में यह बात स्पष्ट कह दी थी कि ब्रिटिश की छत्रछाया में प्रत्येक जाति और धर्म के अनुयायी को अपनी परम्परागत धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं को पालन करने में पूर्ण स्वाधीनता होगी और कोई भी सरकारी कर्मचारी किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेगा।’

आज भी दिगम्बर मुनियों का विहार भारत के कोने-कौने में निराबाध रूप से हो रहा है। सन् १९३४ में दिगम्बर आचार्य श्री शांतिसागर महाराज ने दिल्ली में चातुर्मास किया था। आज भी दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई, चेन्नई, इंदौर, जयपुर आदि शहरों में दिगम्बर साधुओं के चातुर्मास होते रहते हैं।

निष्कर्ष यही निकलता है कि संप्रदायों में दिगम्बरत्व — नग्नत्व को निराकुलता का और आत्मशांति का साधन स्वीकार किया है और इस वेष को महत्व दिया है।

इसीलिए तो गुणभद्र स्वामी लिखते हैं कि —

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोप्यवितृप्तितः।

कष्टं सर्वेऽपि सीदंति परमेको मुनिःसुखी॥

धन के इच्छुक (निर्धन) धन को नहीं प्राप्त करके दुखी होते हैं और धनी भी तृप्ति के न होने से दुखी हैं। हाँ! बड़े खेद की बात है कि संसार में सभी दुखी हो रहे हैं किन्तु उनमें एक मुनि ही सुखी हैं।

क्योंकि इनकी चर्याएँ स्वावलम्बी होने से वर्तमान में भी इनको सुख देने वाली हैं और परलोक में तो वे सुखी होते ही हैं तथा परम्परा से सर्व कर्मबंधन से छूटकर पूर्ण स्वातंत्र्य सुख प्राप्त करके सदा-सदा के लिए पूर्ण सुखी हो जाते हैं।

अभी ये धरती पर पूज्य होने से ‘धरती के देवता’ हैं, कालांतर में तीनों जगत् के गुरु भगवान बनकर त्रिभुवन के देव परम पिता परमात्मा हो जाते हैं।

और उनका आश्रय लेने वाले भक्तगण भी कभी न कभी उन्हीं के सदृश पूर्ण सुखी हो जाते हैं।

॥ इति शं भूयात् ॥



१. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. २५१। २. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. २६०। ३. “दिगम्बरत्व और दिगम्बर जैन मुनि” पृ. २६५।

२१. सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण

सम्यग्दर्शन किसको, कब और कैसे होता है ? ये तीन बातें ही मुख्यतया ज्ञातव्य हैं।

वह भव्य जीव के ही होता है, अभव्य को नहीं। काललब्धि आदि के मिलने पर ही होता है, उसके बिना नहीं और अन्तरंग तथा बहिरंग कारणों से ही होता है बिना कारण के नहीं !

हम और आप भव्य हैं या अभव्य ? काललब्धि आई है या नहीं ? इसका निर्णय तो सर्वज्ञ के सिवाय अन्य कोई नहीं कर सकता क्योंकि कोई अभव्य जीव ग्यारह अंग का ज्ञानी और निर्दोष, निरतिचार चारित्र का पालन करने वाला महातपस्वी मुनि होकर ही नवमें ग्रैवेयक में जा सकता है, हम और आप जैसे आज के साधारण जन नहीं। उसमें किस रूप से मिथ्यात्व रहता है उसका निर्णय साधारण जन नहीं कर सकते। वह तो सर्वज्ञगम्य ही है।

हां, काललब्धि आदि कारणों को आगम से जान लेने की जिज्ञासा अवश्य होनी चाहिए।

अब सर्वप्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण — सम्यक्त्व की प्राप्ति के उपाय, साधन या हेतु को कारण कहते हैं। आजकल यह 'कारण' ही विसंवाद का मूल कारण हो रहा है।

जिसके होने पर कार्य हो जावे अथवा नहीं भी होवे किन्तु जिसके बिना नहीं होवे वह कारण है। जैसे मुनि मुद्रा के होने पर मोक्ष होवे अथवा नहीं भी होवे किन्तु उसके बिना नहीं हो सकता तथा जिसके होने पर नियम से कार्य हो जावे वह कारण, कारण न कहला कर 'करण' कहलाता है और वह साधकतम माना जाता है। जैसे कि अधःकरण आदि तीन करणरूप करण लब्धि के होने पर नियम से सम्यक्त्व रूप कार्य प्रकट हो जाता है।

कुछ लोग कारणों को अत्यन्त हेय अथवा उपेक्षा बुद्धि से देखते हैं। इन्हीं बातों को इसमें सप्रमाण बताया गया है।

यहां एक बात यह भी समझ लेने की है कि जिस प्रकार से हमें श्रीकुन्दकुन्द आचार्य के वचन प्रमाण हैं उसी प्रकार से श्री गुणधर आचार्य, श्री पुष्पदंत और श्री भूतबलि आचार्य के वचन भी प्रमाण होने चाहिए क्योंकि श्री गुणधर आचार्य का 'कषायपाहुड़' नामक सिद्धांत ग्रंथ तो द्वादशांग का अंश है जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है कि —

पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे, वत्थुम्मि पाहुडे तदिये।

पेज्जं पाहुडम्मि दु हवदि, कसायाणं पाहुडं णाम् ॥१॥

पांचवे (ज्ञानप्रवाद) पूर्व की दसवीं वस्तु में 'पेज्जपाहुड़' नामक तीसरा अधिकार है उससे यह 'कषायपाहुड़' उत्पन्न हुआ है।

ऐसे ही 'षट्खण्डागम' सिद्धांत ग्रंथ भी द्वितीय अग्रायणीय पूर्व के चयनलब्धि नामक पांचवे अर्थाधिकार के चौथे प्राभृत से निकला हुआ है। इसका नाम 'कर्मप्रकृति महाप्राभृत है।'

इन दोनों ग्रंथों की धवला, जयधवला नाम की टीका श्री वीरसेनाचार्य कृत है। वर्तमान में ये धवल, जयधवल ग्रन्थ सर्वोपरि होने से सर्वमान्य हैं। इसी तरह से उमास्वामी आचार्यकृत तत्त्वार्थसूत्र भी महाशास्त्र

के नाम से ही सर्वमान्य है। ऐसे ही और भी अनेक प्रमुख ग्रन्थों के विषय में समझ लेना चाहिए।

यहां सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति यह कार्य है, उसके लिए गुरु उपदेश आदि बहिरंग कारण हैं तथा दर्शनमोहनीय आदि का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होना सो अंतरंग कारण या करण है।

अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव संज्ञी, पंचेन्द्रिय और पर्याप्त हो तो वह चारों गतियों में भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्रगट कर सकता है।

धवला की छठी पुस्तक में सम्यक्त्व के कारणों का बहुत ही सुन्दर विवेचन है उसी को यहां देखिए—
नारकी मिथ्यादृष्टि जीव तीन कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

शंका—यह प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति रूप कार्य तीन कारणों से किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि मुद्गर, लकड़ी, दंड, स्तम्भ, शिला, भूमि व घटरूप विरोध रहित कारणों से खप्पड़ों की उत्पत्ति रूप कार्य देखा जाता है, ऐसा ही यहां समझना।

शंका—वे तीन कारण कौन से हैं ?

समाधान—कितने ही जीव जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही वेदना से अभिभूत होकर सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं।

शंका—धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्व हो जावे सो ठीक किन्तु जातिस्मरण कारण समझ में नहीं आया।
चूंकि सभी नारकी जीव विभंग ज्ञान के द्वारा एक, दो या तीन आदि भवों को जानते हैं इसलिए सभी के जातिस्मरण होता है पुनः सभी के सम्यक्त्व प्रगट हो जाना चाहिए ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, सामान्यरूप से भवस्मरण के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु यदि किसी ने पूर्व भव में धर्मबुद्धि से कुछ अनुष्ठान किए थे और वे वास्तविक धर्मरूप न होने से उनका फल नहीं मिल सका, ऐसा जानकर ही कदाचित् किसी को सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया हो तो वह जातिस्मरण निमित्तक कहलाता है और इस प्रकार की बुद्धि सब नारकी जीवों के होती नहीं है क्योंकि तीव्र मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत नारकी जीवों के पूर्व भवों का स्मरण होते हुए भी उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव है अतः इस प्रकार जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है।

शंका—नारकी जीवों के धर्मश्रवण किस प्रकार संभव है क्योंकि वहां तो ऋषियों के गमन का अभाव है ?

समाधान—कोई-कोई सम्यग्दृष्टि देव किसी नारकी को अपने पूर्वभव का सम्बन्धी ज्ञान लेते हैं और यदि उसको धर्म में लगाना चाहते हैं तो वे वहां नरकों में जाकर धर्मोपदेश देकर सम्यक्त्व ग्रहण करा देते हैं।

शंका—वेदना का अनुभवन सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह अनुभवन तो सब नारकियों के साधारण होता है, यदि वह अनुभव कारण हो तो सभी नारकी जीव सम्यग्दृष्टि हो जावेंगे ?

समाधान—वेदना सामान्य तो सम्यक्त्व उत्पत्ति का कारण नहीं है किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण या अमुक असंयम से उत्पन्न हुई है, उन्हीं जीवों की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होती है अर्थात् पूर्वभव में मैंने अमुक पाप किया, जिसके फलस्वरूप मुझे आज यहां इस नरक में घोर वेदना मिल रही है ऐसा प्रगट हो जाने से उस पाप और मिथ्यात्व से भय उत्पन्न होता है पुनः सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है परन्तु अन्य जीवों की वेदना वहां सम्यक्त्व का कारण नहीं बनती है।

ऊपर की तीन पृथिवियों के नारकी जीवों के लिए तीन कारण होते हैं किन्तु नीचे की चार पृथिवियों में कितने ही जीव जातिस्मरण से और कितने ही वेदना से अभिभूत होकर सम्यक्त्व उत्पत्ति करते हैं चूंकि वहां

देवों के गमन का अभाव होने से धर्मश्रवण कारण असंभव है।

शंका—वहां के सम्यग्दृष्टि नारकी जीव ही अन्य दूसरों को धर्मश्रवण क्यों नहीं करा देते ?

समाधान—भव सम्बन्ध से या पूर्व वैर के सम्बन्ध से परस्पर विरोधी हुए नारकी जीवों के अनुगृह्य-अनुग्राहक भाव उत्पन्न होना असंभव है अर्थात् नारकी परस्पर में एक-दूसरे के प्रति उपकार का भाव नहीं कर पाते हैं ऐसा उस नरक पर्याय का ही प्रभाव है।

तिर्यचों में एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय इनके सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है तथा संमूर्च्छन तिर्यचों के भी प्रथम उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता नहीं है अतः गर्भ से जन्म लेने वाले पर्याप्तक संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच ही इस सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं ?

वे बहुत से दिवस पृथक्त्व के व्यतीत हो जाने पर तीन कारणों से सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। कितने ही जाति स्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिंबों के दर्शन करके।

शंका—जिनबिंब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण किस प्रकार से है ?

समाधान—जिनबिंब के दर्शन से निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्व आदि कर्मसमूह का क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिंब का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण होता है।^१ कहा भी है—

दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्।

शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा।।^२

जिनेन्द्रों के दर्शन से पाप संघात रूपी कुंजर के सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार कि वज्र के आघात से पर्वत के सौ टुकड़े हो जाते हैं।

मनुष्यों में गर्भज, पर्याप्तक, मिथ्यादृष्टि मनुष्य ही इस प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं, सम्मूर्च्छन और अपर्याप्तक नहीं।

ये मनुष्य आठ वर्ष की उम्र से लेकर किसी भी काल में तीन कारणों से सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, उसके नीचे के काल में नहीं।

कितने ही मनुष्य जाति स्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर और कितने ही जिनबिंब के दर्शन करके।

शंका—जिनमहिमा को देखकर भी कितने ही मनुष्य प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं, इसलिए चार कारण कहना चाहिए ?

समाधान—जिनमहिमादर्शन का जिनबिंब दर्शन में अन्तर्भाव हो जाता है अथवा मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के आकाश में गमन करने की शक्ति न होने से उनके चतुर्विध देवनिकायों के द्वारा किये जाने वाले नंदीश्वर द्वीपवर्ती जिनेन्द्र प्रतिमाओं के महामहोत्सवों का देखना संभव नहीं है इसलिए उनके जिनमहिमादर्शन रूप कारण का अभाव है किन्तु मेरुपर्वत पर किये जाने वाले जिनेन्द्र महोत्सवों को विद्याधर मिथ्यादृष्टि देखते हैं इसलिए उपर्युक्त अर्थ नहीं कहना चाहिए ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। अतएव पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना योग्य है।

१. कथं जिनबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ?

जिनबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्सवि मिच्छतादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। (धवला पु. ६, पृ. ४२७)

२. धवला पु. ६, पृ. ४२७।

शंका—लब्धिसंपन्न^१ ऋषियों का दर्शन भी तो प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण होता है पुनः इस कारण को यहाँ पृथक् रूप से क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि लब्धिसंपन्न ऋषियों के दर्शन का भी जिनबिंब दर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। ऊर्जयंत पर्वत तथा चंपापुर व पावापुर आदि के दर्शन को भी जिनबिंब दर्शन के भीतर ही ग्रहण कर लेना चाहिए। क्यों ? क्योंकि उक्त प्रदेशवर्ती जिनबिंबों के दर्शन तथा जिन भगवान के मोक्षगमन के कथन के बिना प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता।

तत्त्वार्थसूत्र में नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व का भी कथन किया गया है, उसका भी पूर्वोक्त कारणों से उत्पन्न हुए सम्यक्त्व में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिए क्योंकि जातिस्मरण और जिनबिंबदर्शन के बिना उत्पन्न होने वाला निसर्गज नामक प्रथम सम्यक्त्व असंभव है।

भावार्थ—निसर्गज सम्यक्त्व के लिए भी जातिस्मरण अथवा जिनबिंबदर्शन निमित्त होना ही चाहिए अन्यथा यह सम्यक्त्व भी प्रगट नहीं हो सकता। हाँ, इसमें धर्मोपदेश की अपेक्षा नहीं है। धर्मोपदेश निमित्त से हुआ सम्यक्त्व अधिगमज कहलायेगा।

देवों में पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि देव अन्तर्मुहूर्त काल से ऊपर कभी भी प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, अन्तर्मुहूर्त से पहले नहीं। देव चार कारणों से सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं—कितने ही जातिस्मरण से, कितने ही धर्मोपदेश सुनकर, कितने ही जिनमहिमा देखकर और कितने ही देवों की ऋद्धि देखकर।

शंका—यहाँ जिनबिंबदर्शन को कारण रूप से क्यों नहीं कहा ?

समाधान—क्योंकि जिनबिंबदर्शन का जिनमहिमा दर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। कारण कि जिनबिंब के बिना जिनमहिमा की उपपत्ति (व्यवस्था) बनती नहीं है।

शंका—स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमणरूप जिनमहिमायें जिनबिंब के बिना की गई देखी जाती हैं इसलिए जिनमहिमा दर्शन में जिनबिंबदर्शन का अविनाभाव नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमण रूप जिनमहिमाओं में भी भावी जिनबिंब का दर्शन निमित्तक नहीं है किन्तु जिनगुणश्रवण निमित्तक है।

शंका—देवर्द्धिदर्शन का जातिस्मरण में समावेश क्यों नहीं होता ?

समाधान—नहीं होता, क्योंकि अपनी अणिमादिक ऋद्धियों को देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ जिनभगवान उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई हैं, तब प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति जातिस्मरण निमित्तिक होती है किन्तु जब सौधर्मेन्द्र आदिक देवों की महाऋद्धियों को देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये ऋद्धियाँ सम्यग्दर्शन से संयुक्त संयम पालन करने के फल से प्राप्त हुई हैं किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्य संयम के फल से इन वाहन आदि नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ तब प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण देवर्द्धिदर्शन निमित्तिक होता है। इससे जातिस्मरण और देवर्द्धिदर्शन ये दोनों कारण एक नहीं हो सकते तथा जातिस्मरण वहाँ पर उत्पन्न होने के प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् ही होता है इसलिए भी उन दोनों कारणों में एकत्व नहीं है।

१. लब्धिसंपन्नरिसिदंसणं पि पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं होदि तमेत्थ पुध किण्ण भण्णदे ? ण, एदस्सं वि जिणबिंबदंसणे अंतर्भावादो। उज्जयंतचंपापावाणयरदि दंसणं पि एदेणेव घेत्तव्वं। कुहो ? तत्थतणजिणबिंबदंसण जिणणिव्वुइ गमणकहणेहि विणा पढमसम्मत्तगहणाभावा। णइसगियमवि पढमसम्मत्तं तच्चट्ठे उतं तं हि एत्थेव दट्ठव्वं। जाइस्सरण जिणबिंबदंसणेहि विणा उपपज्जमाण णइसगियपढमसम्मत्तस्स असंभवादो। (धवला पु. ६, पृ. ४३०)

सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए पांच लब्धि

सबसे पहले अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को उपशम सम्यक्त्व ही उत्पन्न होता है।

कषायपाहुड़ नामक परमागम में कहते हैं—

“दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करने वाला जीव चारों ही गतियों में जानना चाहिए। वह जीव नियम से पंचेन्द्रिय, संज्ञी और पर्याप्तक होता है। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध आदि सर्व नरकों में, सर्व प्रकार के भवनवासी देवों में, सर्वद्वीप और समुद्रों में, व्यंतर देवों में, समस्त ज्योतिष देवों में, सौधर्म स्वर्ग से लेकर नव ग्रैवेयक तक के सर्व विमानवासी देवों में, आभियोग्य अर्थात् वाहन आदि कुत्सित कर्म में नियुक्त वाहन देवों में, उनसे भिन्न किल्बिषक आदि अनुत्तम तथा पारिषद आदि उत्तम देवों में दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम होता है।”

भावार्थ—‘सर्वद्वीप और समुद्रों में’ इस वाक्य से ऐसा समझना कि ढाई द्वीपवर्ती संख्यात या असंख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्य और तिर्यचों के प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करने की योग्यता है किन्तु आगे द्वीप, समुद्रों में यदि यहां के तिर्यचों को कोई पूर्वभव का वैरी देव उठाकर डाल देवे तो उन जीवों के सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता होती है।

धवलाकार सम्यक्त्व के लिए पांच प्रकार की लब्धियों का निरूपण करते हैं—

‘क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि ये पांच लब्धियां होती हैं। इनमें से पहली चार तो सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों के होती हैं किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व होने के समय ही होती है।’

क्षयोपशमलब्धि—पूर्व संचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनंत गुणहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किए जाते हैं, उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है।

भावार्थ—कर्मों के मैलरूप जो ज्ञानावरणादि समूह उनका अनुभाग जिस काल में समय-समय अनंतगुणा क्रम से घटता हुआ उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षयोपशम लब्धि होती है।

विशुद्धि लब्धि—प्रतिसमय अनंत गुणितहीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ साता आदि शुभ कर्मों के बंध का निमित्तभूत और असाता आदि कर्मों के बंध का विरोधी जो जीव का परिणाम है उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है।

भावार्थ—पहली क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न हुआ जो जीव के साता आदि शुभ प्रकृतियों के बंधने का कारणरूप शुभ परिणाम उसकी जो प्राप्ति है वह विशुद्धि लब्धि है क्योंकि अशुभ कर्म का अनुभाग घटने से संक्लेश की हानि और उसके विपक्षी विशुद्धि की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है।

देशनालब्धि—छह द्रव्य और नव पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं।

विशेषार्थ—लब्धिसार में कहते हैं कि—“छह द्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश देने वाले आचार्य का लाभ मिलना देशनालब्धि है अथवा उनके द्वारा उपदेशित पदार्थों के धारण करने का लाभ होना यह तृतीय लब्धि है। आचार्य, उपाध्याय आदि छह द्रव्यादि का उपदेश करने वाले हैं उनका जो मिलना है वही देशना की

प्राप्ति है अथवा चिर अतीत काल में उपदेशित पदार्थ को धारण करने का लाभ होना वह देशना लब्धि होती है। गाथा में 'तु' शब्द है उससे यह अर्थ समझना कि उपदेश करने वालों से रहित नरक आदि पर्यायों में पूर्वभव में सुनकर धारण किया हुआ जो तत्त्वों का अर्थ है उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसा यहां सूचित किया गया है।^१

प्रायोग्य लब्धि—सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अंतःकोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं क्योंकि इन अवस्थाओं के होने पर करण अर्थात् पांचवीं करणलब्धि के योग्य भाव पाये जाते हैं।

विशेषार्थ—यहां पर अनुभाग को घात करके द्विस्थानीय अवस्थान करना, ऐसा कहा है। उसका अभिप्राय यह है कि घातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति लता, दारु, अस्थि और शैल सदृश चार प्रकार की होती है।

अघातिया कर्मों में दो विभाग हैं—पुण्य प्रकृतिरूप और पापप्रकृतिरूप। पुण्य प्रकृतियों की अनुभाग शक्ति गुड़, खांड, शक्कर और अमृत के समान होती है और पाप रूप अघातिया कर्मों की अनुभाग शक्ति नीम, कांजीर, विष और हालाहल के समान हीनाधिकता को लिए हुए होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अभिमुख जीव प्रायोग्य लब्धि के द्वारा घातिया कर्मों के अनुभाग को घटा कर लता और दारु इन दो स्थानों में तथा अघातिया कर्मों की पाप रूप प्रकृतियों के अनुभाग को नीम और कांजीर इन दो स्थानों में अवस्थित करता है, इसी को द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान कहते हैं।^२

लब्धिसार में कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन लब्धि से संयुक्त जीव प्रतिसमय विशुद्धि को बढ़ाता हुआ आयु के बिना सात कर्मों की अंतःकोड़ाकोड़ी मात्र स्थिति अवशेष कर देता है। पूर्व में अनुभाग था, उसमें अनंत का भाग देने से बहुत भागमात्र अनुभाग को छेद कर अवशेष रहे अनुभाग में प्राप्त करा देते हैं। इस कार्य को करने की योग्यता की प्राप्ति ही प्रायोग्यलब्धि है। विशुद्ध्या प्रशस्तप्रकृतीनामनुभागखंडनं नास्ति।^३ चूंकि विशुद्धि से शुभ प्रकृतियों का अनुभाग खंडन नहीं होता है।

संकलेश परिणाम वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के जिस समय कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबंध हो रहा है और उत्कृष्ट स्थिति अनुभाग प्रदेश का सत्त्व है उस समय उसके प्रथमोपशम सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता नहीं है। ऐसे जघन्य स्थिति बंध आदि तो क्षपक श्रेणी में होते हैं अतः वहाँ तो क्षायिक सम्यक्त्व है पुनः इस सम्यक्त्व का प्रश्न ही नहीं उठता अतः प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख होता हुआ यह मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्धि की वृद्धि करता हुआ प्रायोग्यलब्धि के पहले समय से लेकर पूर्व स्थितिबंध के संख्यातवें भाग ऐसी अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण आयु के बिना सात कर्मों की स्थिति बांधता है। इस प्रायोग्यलब्धि में बहुत सी प्रक्रियायें होती हैं उन्हें लब्धिसार तथा धवला ग्रन्थ आदि से विस्तारपूर्वक समझना चाहिए।

करणलब्धि—इस प्रकार स्थिति और अनुभागों में कांडक घात को बहुत बार करके 'गुरु के उपदेश के बल से'^४ अथवा उसके बिना भी अभव्य जीवों के योग्य विशुद्धियों को व्यतीत करके भव्य जीवों के योग्य

१. सप्ततत्त्वान्यत्रैवांतर्भूतानि तेषामुपदेशकराः आचार्योपाध्यायादयः, तेषां लाभो यस्तद्देशनाप्राप्तिः चिरातीतकाले उपदेशितपदार्थधारणलाभो वा स देशनालब्धिर्भवति तु शब्देनोपदेशकरहितेषु नारकादिभवेषु पूर्वभवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कारबलात् सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति, इति सूच्यते। (लब्धिसार गाथा नं. ६, टीका)

२. इन चार लब्धियों का वर्णन धवला पु. ६, पृ. २०४ के आधार से है। ३. लब्धिसार टीका, गाथा ७। ४. धवला पु. ६, पृ. २०६।

अधःप्रवृत्तकरण संज्ञा वाली विशुद्धि में भव्य जीव परिणत होता है अर्थात् करण नाम परिणामों का है। इस करणलब्धि के तीन भेद हैं—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्णकरण और अनिवृत्तिकरण।

अधःकरण—जिस भाव में वर्तमान जीवों के उपरितन समयवर्ती परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के साथ संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा सदृश होते हैं, उन भावों के समुदाय को अधःकरण कहते हैं। इस अधःकरण का काल अन्तर्मुहूर्त है और परिणाम असंख्यात लोक प्रमाण है।

अपूर्वकरण—जिस काल में प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को लिए हुए अपूर्व-अपूर्व परिणाम होते हैं, उन परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण के विभिन्न समयों में वर्तमान जीवों के परिणाम सदृश नहीं होते किन्तु विसदृश या असमान और अनंतगुणी विशुद्धता से युक्त पाये जाते हैं। अधःप्रवृत्तकरण की अपेक्षा इसका काल अल्प है किन्तु परिणाम उससे असंख्यात लोक गुणित है।

अनिवृत्तिकरण—इसमें एक समयवर्ती जीव के एक ही परिणाम पाया जाता है और एक समयवर्ती अनेक जीवों के भी एक सदृश ही परिणाम पाये जाते हैं, एक कालवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति, भेद या विसदृशता नहीं पाई जाती है इसीलिए उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इसके परिणामों की संख्या इसके काल के समयों के समान ही है क्योंकि इस अनिवृत्तिकरण काल में समय-समय में एक-एक परिणाम ही होते हैं।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में गुण श्रेणी निर्जरा आदि कार्य होते हैं, अंतिम अनिवृत्तिकरण काल के समाप्त होते ही अनादि मिथ्यादृष्टि के दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति और अनंतानुबंधी चतुष्क इन पांच प्रकृतियों का उपशम होकर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है पुनः उसके प्रथम समय में ही मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं। यथा—

यन्त्र अर्थात् घरटी चक्की से दले हुए कोदों की तरह प्रथमोपशम सम्यक्त्व परिणाम रूप यन्त्र से मिथ्यात्व रूप कर्मद्रव्य द्रव्यप्रमाण क्रम से असंख्यातगुणा, असंख्यातगुणा कम होकर तीन प्रकार का हो जाता है।^१

भावार्थ—जैसे—कोदों—धान्य विशेष दलने पर तंदुल, कण और भूसी ऐसे तीन रूप हो जाते हैं, उसी तरह मिथ्यात्वरूप कर्मद्रव्य भी उपशम सम्यक्त्व रूपी यन्त्र के द्वारा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन स्वरूप परिणमन करता है। इस कारण एक मिथ्यात्व रूप दर्शनमोहनीय कर्म के ही तीन भेद कहे हैं।

“सम्यक्त्व की प्रथम बार प्राप्ति के अनंतर और पश्चात् मिथ्यात्व का उदय होता है किन्तु अप्रथम बार सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् वह भवितव्य है” ॥१०५॥”

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के जो प्रथम ही उपशम सम्यक्त्व का लाभ होता है, उसके अंतर्मुहूर्त काल के बाद नियम से मिथ्यात्व का उदय आ जाने से वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है किन्तु सादि मिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशम सम्यक्त्व होने के बाद कोई नियम नहीं है। सम्यक्त्व का काल समाप्त होने पर यदि मिथ्यात्व का उदय आवेगा तो वह मिथ्यात्व में जायेगा, यदि मिश्र प्रकृति का उदय आ जावे तो तृतीय गुणस्थान में

१. जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजंतेण।

मिच्छं दव्वं तु तिधा, असंखगुणहीणदव्वकमा॥२६॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड।

२. सम्मतपढमलंभस्साणंतंरं, पच्छदो य मिच्छत्तं।

लम्भस्स अपढमस्स दु भजियव्वो पच्छदो होदि॥१०५॥

जायेगा और यदि सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आ जावे तो वेदक सम्यग्दृष्टि हो जायेगा। कदाचित् सम्यक्त्व के काल में ही अनंतानुबंधी में से किसी का उदय आ जाने से सासादन भी हो जावेगा।

उपशम सम्यक्त्व का जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त ही है।

यह सम्यक्त्व एक बार उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्त बाद समाप्त होकर पुनः संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमियाँ मनुष्य या तीर्थचों में उसी भव में नहीं हो सकता है चूंकि इसका अंतराल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण—अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व कहते हैं।

इसमें भी पूर्वोक्त पांच लब्धियाँ कारण ही हैं किन्तु सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होना यह मुख्य कारण है। इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति में भी अधःप्रवृत्त आदि तीन करण होते हैं अथवा अनिवृत्तिकरण को छोड़कर दो करण भी होते हैं। कदाचित् बिना करण के भी हो जाता है। जातिस्मरण आदि बाह्य कारण तो सभी के लिए होते ही हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व के कारण—“दर्शनमोहनीय का क्षपण करने के लिए आरम्भ करता हुआ यह जीव कहां पर आरंभ करता है ?

अढ़ाई द्वीप समुद्रों में स्थित पंद्रह कर्मभूमियों में जहां जिस काल में जिन, केवली और तीर्थकर होते हैं वहां उस काल में आरम्भ करता है^१॥११॥”

कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ मनुष्य केवली, श्रुतकेवली या तीर्थकर के पादमूल में दर्शनमोहनीय का क्षय करना प्रारंभ करता है किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियों में से किसी में भी हो सकती है।

धवला टीकाकार ने सूत्र के ‘जिन’ शब्द से चतुर्दश पूर्वधारियों को अर्थात् श्रुतकेवलियों को लिया है। ‘केवली’ पद से तीर्थकर नामकर्म के उदय से रहित सामान्य केवलियों को लिया है और ‘तीर्थकर’ पद से साक्षात् तीर्थकर को लिया है। इनमें से किसी के पादमूल में मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार से प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से तीन करण आदि क्रियायें होती हैं उसी प्रकार से सर्वप्रथम यह जीव अधःप्रवृत्तकरण आदि तीन करणों को करके अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करता है। अनन्तर अन्तर्मुहूर्त काल के व्यतीत होने पर पुनः इन तीन करणों द्वारा दर्शनमोहनीय का क्षपण करता है।

‘दर्शनमोहनीय के तीन भेदों में सम्यक्त्व प्रकृति के क्षय में कुछ कार्य शेष रहने पर यह कृतकृत्य वेदक कहलाता है। उस समय कदाचित् आयु के पूर्ण होने से मरण को प्राप्त हो जाता है तो वह पूर्व में बद्ध हुई आयु के अनुसार किसी भी गति में जाकर वहां उस क्षायिक सम्यक्त्व को पूर्ण कर लेता है।^२’

शंका—केवली, श्रुतकेवली और तीर्थकर का सान्निध्य सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए बाह्य निमित्त है या अंतरंग ?

समाधान—यह बाह्य निमित्त है। अन्तरंग निमित्त तो सात प्रकृतियों का क्षय होना है।

शंका—क्या बाह्य निमित्त इतना बलशाली है कि इसके बिना दर्शनमोह का क्षय न हो सके ?

समाधान—आगम श्रद्धालु के लिए तो यह स्पष्ट ही है। केवली आदि के पादमूल के निकट ही दर्शनमोह और अनंतानुबंधी के नाश करने की योग्यता आ सकती है अन्यथा नहीं।

शंका—तो इनके दर्शन करने वाले सभी को क्षायिक सम्यक्त्व हो जाना चाहिए ?

समाधान—ऐसी बात नहीं, क्योंकि पहले ही सूत्रकार श्री पुष्पदंत महर्षि ने कह दिया है कि पंद्रह कर्मभूमियों में किसी भी कर्मभूमि में जन्मा हुआ मनुष्य होना चाहिए। इससे देव, तिर्यच, नारकी, भोगभूमिज मनुष्य तथा कर्मभूमिज महिलाओं का भी निषेध हो जाता है।

शंका—पुनः सभी पुरुषों को तो होना चाहिए ?

समाधान—यह भी बात नहीं है क्योंकि ये केवली आदि का सान्निध्य कारण है, करण नहीं है। कारण होने पर कार्य होवे ही यह नियम नहीं है फिर भी इन कारणों के बिना कार्य का होना सर्वथा असंभव है।

श्री उमास्वामी आचार्य सम्यक्त्वोत्पत्ति के कारण को कहते हैं।

उत्थानिका—जीवादि पदार्थों को विषय करने वाला यह सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है? सो ही बताते हैं—

निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व

तन्निर्गजसर्गजसम्यग्मात्रा ॥३॥

प्रश्न—सम्यग्दर्शन में दो प्रकार की कल्पना नहीं बन सकती क्योंकि तत्त्वों का ज्ञान हुए बिना उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है ? जैसे कि जब तक रसायन का ज्ञान न हो तब तक उसका श्रद्धान असम्भव है। अतः निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है ?

उत्तर—दोनों सम्यग्दर्शनों में अंतरंग कारण दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम समान है। इसके होने पर जो बाह्योपदेश के बिना प्रगट होता है वह निसर्गज कहलाता है तथा जो परोपदेश से होता है वह अधिगमज है। लोक में भी शेर, भेड़िया, चीता आदि में शूरता, क्रूरता आदि परोपदेश के बिना होने से नैसर्गिक कहे जाते हैं। यद्यपि इनमें कर्मोदय की अपेक्षा है फिर भी परोपदेश की अपेक्षा न होने से ही यह स्वाभाविक हैं। वैसे ही यहां पर भी सम्यग्दर्शन में परोपदेश की अपेक्षा न होने से ही निसर्गज स्वीकार की गई है।

प्रश्न—भव्य जीव अपने समय के अनुसार ही मोक्ष जायेगा। यदि अधिगम सम्यक्त्व के बल से समय से पहले मोक्ष प्राप्ति की सम्भावना हो तभी अधिगम सम्यक्त्व की सार्थकता है अतः एक निसर्गज सम्यक्त्व ही मानना चाहिए ?

उत्तर—यदि केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यक्त्व से मोक्ष माना गया होता तो यह प्रश्न उचित था पर मोक्ष तो ज्ञान व चारित्र सहित स्वीकार किया गया है। यहां विचार का विषय तो यह है कि वह सम्यग्दर्शन किन कारणों से उत्पन्न होता है उसमें जो बाह्य उपदेश को प्राप्त करके प्रकट हो वह अधिगमज है अतः यहां मोक्ष का प्रश्न ही नहीं है। फिर भव्यों की कर्मनिर्जरा का कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्ष का ही। कोई भव्य संख्यात काल में सिद्ध होंगे, कोई असंख्यात में और कोई अनंतकाल में। कुछ ऐसे भी हैं जो अनंतानंत काल में भी सिद्ध होंगे अतः भव्य के मोक्ष के काल नियम की बात उचित नहीं है। जो व्यक्ति मात्र ज्ञान से या चारित्र से या दो से या तीन कारणों से मोक्ष मानते हैं उनके यहां 'कालानुसार मोक्ष होगा' यह प्रश्न ही नहीं होता। यदि सबका काल ही कारण मान लिया जाय तो बाह्य और आभ्यंतर कारण सामग्री का ही लोप हो जायेगा।

इस पंक्ति में उन लोगों को अपनी धारण सुधार लेनी चाहिए जो ऐसा कहते हैं कि 'जब सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा या मोक्ष जाना होगा तो निमित्त अपने आप उपस्थित हो जावेगा अथवा निमित्त कारण क्या कर सकता है ? इत्यादि। क्योंकि न काल ही मोक्ष कारण है और न निमित्त ही स्वतः आते हैं किन्तु निमित्तों को जुटाने का पुरुषार्थ करना पड़ता है।'

इन दोनों सम्यग्दर्शनों में भी पाँचों लब्धियों को अंतर्गर्भित समझना चाहिए।

प्रश्न—निसर्गज सम्यक्त्व में बाह्य उपदेश की अपेक्षा न होने से उसमें देशनालब्धि कैसे घटित होगी ?

उत्तर—इसमें भी गुरुओं का लाभ होना अथवा पूर्व के कुछ काल पहले के उपदेश का निमित्त रहना या पूर्व भव के उपदेश के संस्कार का निमित्त रहना ही देशनालब्धि है अथवा तत्त्वार्थवृत्तिकार कहते हैं कि—

“नैसर्गिकमपि सम्यग्दर्शनं गुरोरक्लेशकारित्वात् स्वाभाविकमुच्यते न तु गुरुपदेशं बिना प्रायेण तदपि जायते।”

नैसर्गिक सम्यग्दर्शन भी गुरु को क्लेश करने वाला न होने से अर्थात् गुरु को अधिक परिश्रम कराने वाला न होने से स्वाभाविक कहलाता है किन्तु गुरु उपदेश के बिना प्रायः वह नहीं होता है। इस कथन से तो इस निसर्गज सम्यक्त्व में भी गुरु उपदेश विवक्षित है, मात्र इतना ही है कि वह गुरु के किञ्चित् उपदेश मात्र से हो जाता है। गुरु को उसे समझाने के लिए अधिक उपदेश नहीं करना पड़ता है।

इस प्रकार से सभी सम्यग्दर्शनों में बाह्य कारणों की कुछ न कुछ अपेक्षा रहती ही है यह बात स्पष्ट हो जाती है अतः यह समझना चाहिए कि इन दोनों सम्यक्त्व में अंतरंग कारण समान होते हुए भी बाह्य कारणों के भेद से ही ये दो भेद हो गए हैं।

पूर्वकथित जातिस्मरण आदि कारण इन पाँच लब्धियों में गर्भित हैं—इन पाँच लब्धियों में से किसी एक के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इनमें से पूर्व की चार लब्धियाँ तो कारण हैं और अंतिम लब्धि तो कारण है ही है। पूर्व की चार लब्धियों के होने पर सम्यक्त्व होवे ही यह नियम नहीं है किन्तु उनके बिना कभी भी सम्यक्त्व नहीं हो सकता है।

प्रश्न—चौथे नरक से लेकर सातवें नरक तक धर्मोपदेश का अभाव होने से तीसरी देशनालब्धि उनमें नहीं पाई जाती है ?

उत्तर—ऐसा नहीं समझना, क्योंकि लब्धिसार में स्पष्ट कहा है कि 'तु' शब्दोपदेशकरहितेषु नारकादिभवेषु पूर्वभवश्रुतधारिततत्त्वार्थस्य संस्कारबलात् सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्भवति, इति सूच्यते। गाथा में आये हुए 'तु' शब्द से ऐसा समझना है कि जहाँ उपदेश करने वाले नहीं जा सकते ऐसे नारक आदि भवों में जीवों ने पूर्वभव में शास्त्र को सुनकर जो तत्त्वों का अर्थ अवधारण किया था उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है ऐसा सूचित किया गया है। अतः उन चारों नरकों के नारकियों को पूर्वभव में सुने गये गुरु उपदेश का संस्कार 'देशनालब्धि' रूप से काम में आता है।

प्रश्न—पूर्व में जो 'जातिस्मरण, वेदनानुभव, धर्मश्रवण, जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमादर्शन और देवर्द्धि निरीक्षण कारण बताए गए हैं, वे इन पाँच लब्धियों से रहित ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण बन जाते हैं क्या ?'

उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जातिस्मरण, वेदना अनुभवन, जिनबिम्बदर्शन, जिनमहिमादर्शन और देवर्द्धिदर्शन इनमें से किसी एक कारण के होने पर धर्म में अनुराग रूप परिणाम होते हैं उस समय असाता

आदि अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग घटेगा ही घटेगा और साता आदि शुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनंतगुणे रूप से बढ़ेगा ही बढ़ेगा तथा इस प्रक्रिया के होने पर कर्मों की स्थिति का अंतःकोड़ाकोड़ी सागर में हो जाना एवं चौतीस बंधापसरणों के द्वारा तमाम प्रकृतियों का बंध से रुक जाना भी हो जावेगा अतः इन उपर्युक्त पांच कारणों में से किसी एक के होने पर क्षयोपशम, विशुद्धि और प्रायोग्य ये तीन लब्धियां स्वभावतः हो जावेंगी और देशनालब्धि के लिए तो ऊपर कथित प्रकार से ही समझ लेना चाहिए अर्थात् यदि 'धर्मश्रवण' कारण मिला है तब तो देशनालब्धि स्पष्ट ही है यदि नहीं मिला है तो पूर्वभव में गुरुओं के उपदेश का संस्कार इस भव में इस लब्धि रूप से हो जाता है अथवा तत्त्वों के उपदेश आचार्य, उपाध्याय आदि का मिल जाना भी देशना लब्धि है या बहुत काल पूर्व में यदि उनका उपदेश सुना था और उस उपदेश में कथित पदार्थों के अर्थ का अवधारण किया था तो वह भी उस समय देशनालब्धि रूप माना गया है यही बात तो लब्धिसार की टीका में आई हुई है। यथा — 'तेषामुपदेशकरः आचार्योपाध्यायादयः तेषां लाभो यस्तद्देशनाप्राप्तिः चिरातीतकाले उपदेशितपदार्थधारण लाभो वा सदेशनालब्धिर्भवति।'

इस कथन से उनके देशनालब्धि घटित हो जाती है, पुनः उसी समय करण लब्धि रूप परिणाम जो कि कर्मों को उपशम आदि रूप अंतरंग हेतु हैं उसके होने पर सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है।

प्रश्न—यदि किसी मनुष्य या तिर्यच को जिनबिम्ब का दर्शन करते ही परिणाम गद्गद् हुए या मुनिदर्शन करके अथवा उनका उपदेश सुनकर या जातिस्मरण कारण से धर्म में अनुराग उत्पन्न होकर श्रद्धा उत्पन्न हो गई तो उतने अल्पकाल में इन पांचों लब्धियों का होना कैसे सम्भव है ?

उत्तर—इन लब्धियों का अंतर्मुहूर्त मात्र काल में ही हो जाना असंभव नहीं है। यदि सबके पृथक्-पृथक् काल भी अंतर्मुहूर्त होवें तो भी सबका मिलकर भी अन्तर्मुहूर्त मात्र काल हो सकता है। इसमें कोई बाधा नहीं है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के असंख्यातों भेद होते हैं।

इसलिए सम्यक्त्व के पूर्वोक्त कारणों से जो अनादि मिथ्यादृष्टि के प्रथमोपशम सम्यक्त्व होना माना है सो उसमें पांचों लब्धियों को अन्तर्गर्भित मानना चाहिए।

काललब्धि

शंका—क्या काललब्धि के बिना सम्यक्त्व हो सकता है ?

समाधान—नहीं, देखिये—प्रश्न होता है कि 'अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव के कर्मोदय से प्राप्त कलुषता के रहते हुए इनका (सात प्रकृतियों का) उपशम कैसे होता है ? तो श्री पूज्यपाद स्वामी उत्तर देते हुए कहते हैं कि "काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्" काललब्धि आदि के निमित्त से इनका उपशम होता है।

शंका—काललब्धि किसे कहते हैं ?

समाधान—कर्म से सहित कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाणकाल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य होता है। इससे अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता यह एक काललब्धि है। दूसरी काललब्धि का संबंध कर्म स्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के हो जाने पर प्रथम सम्यक्त्व की योग्यता नहीं होती है किन्तु जब बंधने वाले कर्मों की स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागर पड़ती है और विशुद्ध परिणामों के वश से सत्ता में स्थिति कर्मों की स्थिति संख्यात हजार सागर कम अंतः कोड़ाकोड़ी सागर प्राप्त होती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता

है। एक काललब्धि भव की अपेक्षा होती है। जो भव्य जीव है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। आदि शब्द से जातिस्मरण आदि को ग्रहण करना चाहिए^१।

काललब्धि में पूर्वोक्त पांचों लब्धियां गर्भित हैं

शंका—जब काललब्धि के बिना सम्यक्त्व नहीं होता है तो पुनः पूर्व में कही गई पांच लब्धियों की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि वे लब्धियां आवश्यक हैं ही हैं। हां, जब काललब्धि मात्र कही जाती है तब उसमें ये लब्धियां अंतर्गर्भित ही समझी जाती हैं। सो ही धवलाकार कहते हैं^१।

शंका—सूत्र में एक काललब्धि ही प्ररूपित की गई है, उसमें इन शेष लब्धियों का होना कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रतिसमय अनंत गुणहीन अनुभाग की उदीरणा का अनंत गुणित क्रम द्वारा वर्धमान विशुद्धि का और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का उसी एक काललब्धि में होना संभव है अर्थात् उक्त चारों (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य) लब्धियों की प्राप्ति काललब्धि के आधीन है अतः वे चारों लब्धियां काललब्धि में अंतर्निहित हो जाती हैं।

इस प्रकार से इन पांचों लब्धियों के बिना सम्यक्त्व की उत्पत्ति असंभव है।

सम्यक्त्व के लक्षण

सम्यग्दर्शन, सद्दर्शन, सद्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सद्दृक्, सम्यग्दृक् और सम्यक्त्व ये सब पर्यायवाची नाम हैं। सत् या सम्यक् शब्द प्रशस्त और प्रशंसावाची है। दृशिर् धातु यद्यपि देखने अर्थ में है तो भी मोक्षमार्ग के प्रकरण में उसका 'श्रद्धान' अर्थ गाह्य है चूंकि धातुओं के अनेक अर्थ पाये जाते हैं अतः समीचीन श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन हो जाता है, यह मोक्षमार्ग का मूल है। इसके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन भेद होते हैं। ये भेद अंतरंग में दर्शनमोह और अनंतानुबंधी कषाय के उपशम, क्षयोपशम और क्षय की अपेक्षा से होते हैं अतः इसके अंतरंग कार्य की अपेक्षा से सार्थक हैं। सम्यक्त्व के निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद भी माने गये हैं। इन दोनों में अंतरंग कारण उपर्युक्त उपशमादि तीन में से कोई भी हो सकता है किन्तु बाह्य कारणों में अन्तर होने से ही इनके नाम में अन्तर पड़ गया है। ऐसे ही आज्ञा सम्यक्त्व आदि दश भेदों में भी अन्तरंग कारण समान होते हुए भी बाह्य कारणों की अपेक्षा से दश प्रकार हो जाते हैं।

सराग और वीतराग अथवा व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा भी सम्यक्त्व के दो भेद होते हैं। इनमें अन्तरंग कारण में कथंचित् अन्तर है, कथंचित् नहीं भी है। जब उपशम, क्षयोपशम को सराग कहकर क्षायिक को वीतराग कहा जाता है तब अन्तरंग कारण में अन्तर हो जाता है और जब द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी में चढ़कर वीतरागता प्राप्त कर वीतराग सम्यग्दृष्टि कहलाता है तब मात्र बाह्य कारणों की अपेक्षा से ही अन्तर माना जाता है। ऐसे व्यवहार और निश्चय में भी समझना चाहिए। चूंकि समयसार टीका में भेदरत्नत्रय को सराग सम्यग्दृष्टि और अभेदरत्नत्रय में वीतराग सम्यग्दृष्टि संज्ञा दी है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के लक्षण को आगमानुसार जानकर आपको स्वयं आगम की तुला से तोलना होगा कि मैं सराग सम्यग्दृष्टि हूँ या वीतराग सम्यग्दृष्टि। आपको अपने सम्यग्दर्शन को आठ अंग सहित

बनाना होगा और भी उसके शंका, मद आदि दोषों को दूर कर अन्य-अन्य गुणों को वृद्धिगत करते हुए वीतराग सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिए भावना भानी होगी।

उपशम सम्यक्त्व

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सबसे प्रथम उपशम सम्यग्दर्शन ही होता है अतः वह मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी चतुष्क इन पांच के उपशम से होता है। सादि मिथ्यादृष्टि के सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कदाचित् मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना हो जाने पर पांच प्रकृतियों के उपशम से भी होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त ही है। कषायपाहुडसुत्त में दर्शनमोह की उपशमन विधि के अनन्तर सम्यग्दृष्टि का जो लक्षण किया है सो देखिए—

सम्यक्त्व का लक्षण

सम्माइट्ठी जीवो पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं।

सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा॥१०७॥

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता ही है किन्तु कदाचित् अज्ञानवश सद्भूत अर्थ को स्वयं नहीं जानता हुआ गुरु के वियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

यह गाथा महान् ऋषिप्रवर श्री गुणधर आचार्य की है। ये आचार्य षट्खंडागम सूत्र के रचयिता ग्रन्थकार श्री पुष्पदंत और भूतबलि आचार्य से भी प्रथम हुए हैं। इन्होंने 'कषाय पाहुड' नाम का जो ग्रन्थ बनाया है उस पर श्री यतिवृषभ आचार्य ने चूर्णीसूत्रों की रचना की है तथा श्री वीरसेनाचार्य ने उन मूल गाथा और चूर्णी सूत्रों पर 'जयधवला' नाम से टीका रची है।

इस गाथा को यथास्थान बहुत से आचार्यों ने प्रयुक्त किया है। किन्हीं ने ज्यों की त्यों दे दिया है और किन्हीं ने उसी के अभिप्राय रूप किन्तु कुछ परिवर्तित रूप से दिया है।

यथा — धवला की छठी पुस्तक में यह 'गाथा' ज्यों की त्यों है।

धवला की प्रथम पुस्तक में यह गाथा निम्न रूप से है —

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।

सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा॥११०॥

भगवती आराधना में यह गाथा ज्यों की त्यों है। पुनः आगे कहते हैं—

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि।

सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी॥३३॥

पुनः सूत्र से सम्यक् अर्थ को दिखाने पर भी जब कोई श्रद्धान नहीं करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

शिवकोटि आचार्य की यह भी गाथा ध्यान देने योग्य है—

पदमक्खरं च एक्कं पि जोण रोचेदि सुत्तणिदिदट्ठं।

सेसं रोचंतो विहु मिच्छाइट्ठी मुणेयव्वो॥३६॥

जो जीव सूत्रनिर्दिष्ट समस्त वाङ्मय का श्रद्धान करता हुआ भी यदि एक पद का श्रद्धान नहीं करता है तो वह समस्त श्रुत की रुचि करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि है।

क्षयोपशम सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन गुण को विपरीत करने वाली प्रकृतियों में से देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वे परिणाम चल, मलिन या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अंतर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर पर्यन्त कर्मों की निर्जरा के कारण हैं। इस सम्यक्त्व का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट छ्यासठ सागर प्रमाण है तथा मध्यम के अनेक भेद हैं।

जिस प्रकार एक ही जल अनेक कल्लोलरूप में परिणत होता है, उसी प्रकार से जो सम्यग्दर्शन संपूर्ण तीर्थकर या अर्हंतों में समान अनंत शक्ति के होने पर भी शांतिनाथ जी शांति के लिए और श्री पार्श्वनाथ जी रक्षा करने के लिए समर्थ हैं इस तरह नाना विषयों में चलायमान होता है। उसको चल सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मल के निमित्त से मलिन कहा जाता है उस ही तरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस तरह वृद्ध पुरुष के हाथ में ठहरी हुई भी लाठी कांपती है उसी तरह जिस सम्यग्दर्शन के होते हुए भी अपने बनवाए हुए मंदिर आदि में 'यह मेरा मंदिर है' और दूसरे के बनवाए हुए मंदिर आदि में 'यह दूसरे का है' ऐसा भाव होवे, उसको अगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

लब्धिसार में कहते हैं—

समुदये चलमलिणमगाढं सददहदि तच्चयं अत्थं।

सददहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा॥१०५॥

सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सददहदि।

सो चेव हवदि मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी॥१०६॥

सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर यह जीव चल, मलिन व अगाढ़ रूप से तत्त्वों के अर्थ का श्रद्धान करता है अर्थात् सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व में चल, मलिन, अगाढ़ ये तीन दोष लगते रहते हैं। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् आप स्वयं विशेष अर्थ को नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असत् अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है फिर भी वह सम्यग्दृष्टि ही रहता है। पुनः कदाचित् किसी अन्य आचार्य के द्वारा गणधर आदि प्ररूपित सूत्र को दिखाकर सम्यक् स्वरूप बतलाए जाने पर भी यदि वह अपनी पूर्व मान्यता को हठ बुद्धि से नहीं छोड़ता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

यहां पर 'अजाणमाणो गुरुणियोगा' इस चरण का अर्थ विशेष महत्त्व रखता है। देखिये टीकाकार के शब्दों में—

'अयं वेदकसम्यग्दृष्टिः स्वयंविशेषजानानो गुरोर्वचनाकौशल-दुष्टाभिप्रायगृहीतविस्मरणादीनि बंधनान्नियोगादन्यथा व्याख्यानासद्भावं तत्त्वार्थेष्वसद्रूपमपि श्रद्दधाति तथापि सर्वज्ञाज्ञाश्रद्धाना-त्सम्यष्टरेवासौ। पुनः कदाचिदाचार्यातरेण गणधरादि सूत्रं प्रदर्श्य व्याख्यायमानं सम्यग्रूपं यदा न श्रद्दधाति ततः प्रभृति स एव जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति, आप्तसूत्रार्थश्रद्धानात्।'^१

यह वेदक सम्यग्दृष्टि स्वयं विशेष को नहीं समझता हुआ गुरु के वचनों की अकुशलता से, उनके दुष्ट अभिप्राय से अथवा उनके गृहीत अर्थ के विस्मरण आदि के निमित्त से विपरीत व्याख्यान किये गये असद्भाव का, तत्त्वार्थों के असत् स्वरूप का भी श्रद्धान कर लेता है फिर भी सर्वज्ञ देव की आज्ञा का श्रद्धान करने से वह सम्यग्दृष्टि ही है पुनः कदाचित् अन्य आचार्य के द्वारा गणधरादि के सूत्रों को दिखाकर सम्यक् स्वरूप का व्याख्यान किये जाने पर भी यदि वह उस समय उस पर श्रद्धान करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योंकि आप्तकथित सूत्र के अर्थ का वह श्रद्धान नहीं कर रहा है। इसमें यह समझ लेना चाहिए कि वर्तमान के उपलब्ध जो पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थ हैं, जैसे—धवल, जयधवल, महाधवल, समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, रयणसार, मूलाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, गोम्मटसार जीवकांड, गोम्मटसार कर्मकांड, आदिपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण, भावसंग्रह, वरांगचरित, वसुनंदिश्रावकाचार आदि इन ग्रन्थों के रचयिता आचार्यों को गुरु मानकर उनके रचित ग्रन्थों पर पूर्णतया श्रद्धान रखना चाहिए। यदि उन्होंने गुरुपदेश के विस्मरण से या अज्ञान से अथवा दुष्ट अभिप्राय से भी कुछ कहा होगा तो उस दोष के भागी वे हों न कि हम। हम तो गुरु वाक्यों पर दृढ़ श्रद्धान रखने से सम्यग्दृष्टि ही बने रहेंगे। चूंकि यह गाथा सामान्य आचार्य के मुख से नहीं निकली है किन्तु श्री कुन्दकुन्द देव के भी पहले के एक विशेष महर्षि गुणधर देव के मुखकमल से निकली हुई है। वास्तव में इसमें गुरु का एक विशेष ही महत्त्व झलक रहा है अतः अज्ञायमान गुरु के नियोग से यदि कुछ गलत भी विषय में हमारा श्रद्धान चल रहा है तो वह सही ही है। कब तक ? जब तक कि उसके विरोध में कोई आचार्य प्रणीत सूत्र वाक्य नहीं मिल जाते हैं तभी तक। यदि पुनः उन सूत्र वाक्यों को देखकर भी हम अपनी धारणा नहीं बदलते हैं तो उसी समय से हम मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं अतः आगम वाक्य देख लेने के बाद दुराग्रही बनकर अपने सम्यक्त्वरत्न को छोड़ना उचित नहीं है।

क्षायिक सम्यक्त्व—दर्शनमोह की मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व तथा अनंतानुबंधी चतुष्क इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर यह जीव उसी भव में या तीसरे अथवा चौथे भव में सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है किन्तु चौथे भव का उल्लंघन नहीं करता है तथा दूसरे सम्यक्त्वों की तरह यह सम्यक्त्व नष्ट भी नहीं होता।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि बहुतेक उसी भव से मोक्षपद प्राप्त कर लेता है या यहां से देवपर्याय को प्राप्त कर वहां से आकर मोक्ष प्राप्त करने में तृतीय भव हो जाता है। कदाचित् किसी ने सम्यक्त्व होने से पहले नरकायु बांध ली पुनः सम्यक्त्व हुआ तो भी वह नरक जाकर, वहाँ से आकर मनुष्य होकर मोक्ष चला जायेगा। यदि सम्यक्त्व के पहले तिर्यचायु या मनुष्यायु बांध ली है तो क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर भोगभूमियाँ मनुष्य होकर वहां से स्वर्ग जाकर पुनः यहां आकर मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें चौथे भव में मोक्ष की प्राप्ति होती है किन्तु इससे अधिक भव क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं ले सकता है।

यह सम्यक्त्व इतना दृढ़ होता है कि तर्क तथा आगम से विरुद्ध श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतु उसको भ्रष्ट नहीं करता^१।

इस सम्यक्त्व का जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक तैंतीस सागर प्रमाण है।

१. गोम्मटसार जीवकांड गा. ६४६, ६४७।

प्रश्न—स्त्रियों में कौन-कौन सम्यक्त्व होते हैं ?

उत्तर—स्त्रियों में औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होते हैं क्षायिक नहीं।

प्रश्न—पुनः स्त्रीवेद से क्षपक श्रेणी में आरोहण करना, मोक्ष जाना कैसे होगा ?

उत्तर—वह भावभेद की अपेक्षा कथन है अर्थात् कोई पुरुष द्रव्य से तो पुरुषवेदी है और यदि भाव से स्त्रीवेदी अथवा नपुंसकवेदी है तो वह मोक्ष जा सकता है। यथा—“क्षायिक सम्यक्त्व स्त्रीवेद में भाववेद की अपेक्षा से ही है।”

शंका—तो फिर स्त्रियों में चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बनेगा ?

समाधान—“ऐसा नहीं कहना, क्योंकि भावस्त्रीवेद से युक्त मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों का सद्भाव मान लेने में कोई विरोध नहीं है।”

अतः द्रव्य स्त्रियों के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है।

सम्यक्त्व के दो भेद भी होते हैं—निसर्गज और अधिगमज।

निसर्गज सम्यक्त्व—जो सम्यग्दर्शन गुरु के उपदेश की अपेक्षा न करके उत्पन्न होता है वह निसर्गज कहलाता है अथवा ‘गुरु के अल्प उपदेश मात्र से उत्पन्न हो जाता है, ऐसा पूर्व में कारण के प्रकरण में कहा गया है।’

अधिगमज सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व में गुरु का उपदेश प्रमुख है अर्थात् गुरु के उपदेश का अवलंबन लेकर ही यह सम्यक्त्व प्रकट होता है अतः इसको अधिगमज सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के दस भेद—वह सम्यग्दर्शन आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्र समुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ और परमावगाढ इस प्रकार से दस भेदरूप है^१।

१. दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थश्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान की आज्ञा से ही जो तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे ‘आज्ञा सम्यक्त्व’ कहा गया है।

२. दर्शनमोह का उपशम होने से जो निर्ग्रन्थलक्षण कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है उसे ‘मार्गसम्यग्दर्शन’ कहते हैं अर्थात् निर्ग्रन्थ दिगम्बर मार्ग ही मोक्षमार्ग है ऐसा श्रद्धान मार्ग सम्यग्दर्शन है।

३. तिरैसठ शलाका पुरुषों के पुराण के उपदेश से जो सम्यग्दर्शन होता है उसे आगम में प्रवीण गणधरदेव ने ‘उपदेश सम्यग्दर्शन’ कहा है।

४. मुनि के सकल चारित्र को सूचित करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो तत्त्व श्रद्धान होता है उसे ‘सूत्र सम्यग्दर्शन’ कहा है।

५. जिन जीवादि पदार्थों के समूह का तथा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किन्हीं बीजपदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव के दो दर्शनमोहनीय के आसाधारण उपशमवश तत्त्व श्रद्धान होता है उसे ‘बीज सम्यग्दर्शन’ कहते हैं।

६. जो भव्य जीव पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप से ही जान करके तत्त्व श्रद्धान को प्राप्त हुआ है उसके उस सम्यग्दर्शन को ‘संक्षेप सम्यग्दर्शन’ कहते हैं।

१. “क्षायिकपुनर्भाववेदेनैव” टिप्पणी, सर्वार्थसिद्धि (ज्ञानपीठ से प्र.)।

२. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्। विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावदिगाढं च॥११॥ (आत्मानुशासन)

७. जो भव्य जीव बारह अंगों को सुनकर तत्त्व श्रद्धानी हो जाता है उसे 'विस्तार सम्यग्दर्शन' से सहित जानो।

८. अंगबाह्य आगमों के पढ़े बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो अर्थ श्रद्धान होता है वह 'अर्थ सम्यग्दर्शन' कहलाता है।

९. अंगों के साथ अंग बाह्य श्रुत का (सर्व श्रुत का) अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे 'अवगाढ़ सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

१०. केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है सो यहां 'परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन' इस नाम से प्रसिद्ध है। इन दशों प्रकार के सम्यक्त्व में से अंत के चार सम्यक्त्वों के अतिरिक्त आदि के छह सम्यग्दर्शन में पांचों लब्धियों को प्राप्त करके दर्शनमोहनीय का उपशम आदि होना विवक्षित है। अंत के तीन में तो अंग-पूर्व रूप श्रुतज्ञान को अपेक्षा से जो विशेषता आती है। वही उन-उन सम्यक्त्व के नाम से विवक्षित है क्योंकि वहां तो पहले से सम्यक्त्व विद्यमान ही है।

क्योंकि भाव मिथ्यादृष्टि मुनि को अधिक से अधिक ग्यारह अंग तक ज्ञान हो सकता है बारहवें अंग और पूर्वो का नहीं और अंतिम सम्यक्त्व तो केवली भगवान के पूर्णज्ञान की विवक्षा से ही वर्णित है।

पूर्व के छह सम्यक्त्वों में भी यदि गुरु का उपदेश न मिले तो देशनालब्धि को पूर्व भव के संस्कारवश या गुरु के लाभमात्र आदि रूप से समझ लेना चाहिए।

आज्ञा सम्यक्त्व आदि छह सम्यक्त्वों में बाह्य कारण प्रधान हैं चूंकि इनमें बाह्य कारणों की अपेक्षा से ही भेद हुआ है तथा विस्तार आदि तीन सम्यक्त्व में श्रुतज्ञान रूप अंतरंग कारण प्रधान है और अंतिम सम्यक्त्व में तो केवलज्ञान की अपेक्षा है।

इस तरह से सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक की अपेक्षा से तीन भेद कहे हैं। निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा से दो भेद हो गये हैं एवं आज्ञासम्यक्त्व आदि रूप से दश भेद किए गए हैं।

सराग-वीतराग सम्यक्त्व—सराग और वीतराग की अपेक्षा सम्यक्त्व के दो भेद होते हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में इन्हें ही व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व नाम से कहा है।

पूर्वाचार्यों ने सराग अथवा व्यवहार सम्यक्त्व को कहां तक माना है और वीतराग अथवा निश्चय सम्यक्त्व कहां से शुरू होता है अब इस विषय पर विशद प्रकाश डाला जाता है।

कषायप्राभृत ग्रन्थ में श्री गुणधर आचार्य ने तो दर्शनमोह के उपशम आदि से होने वाले सम्यक्त्व का लक्षण व्यवहार प्रधान किया ही है। यथा—

सम्माइट्टी जीवो पवयणं णियमसा दु उवइट्टं।

सद्दहदि असम्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा।।१०७।।

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञदेव के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता ही है किन्तु कदाचित् अज्ञानवश सद्भूत अर्थ को स्वयं नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व कहने की अपेक्षा यह लक्षण वीतराग सम्यग्दृष्टि का भी हो जाता है क्योंकि चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में यह लक्षण संभव ही है और आचार्यों की तो बात ही क्या। अकलंकदेव आदि ने क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग कहा है सो ही आगे दिया है।

साक्षात् गौतम स्वामी जो कि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान के धारी थे, सात ऋद्धियों से समन्वित थे,

तद्भव मोक्षगामी थे और तीस वर्ष तक भगवान महावीर स्वामी के चरणसान्निध्य में रहकर उनकी दिव्य अमृतमयी दिव्यध्वनि को श्रवण किया था और जिन्होंने द्वादशांग रूप में श्रुत की रचना की थी। ऐसे श्री गौतम गणधर मुनियों के पाक्षिक प्रतिक्रमण में दर्शनाचार का लक्षण करते हुए कहते हैं—

दंसणायारो अट्ठविहो।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा चेदि।।

अट्ठविहो परिहाविदो, संकाए कंखाए विदिगिंछाए अण्णदिट्ठीपसंसणदाए परपाखंडपसंसणदाए अणायदणसेवणदाए अवच्छल्लदाए अप्पपहावणदाए तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।

दर्शनाचार आठ प्रकार का है—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। मैंने शंका से, कांक्षा से, विचिकित्सा से, अन्यदृष्टि की प्रशंसा से, परपाखण्ड की प्रशंसा से, अनायतन के सेवन से, अवात्सल्य से और अप्रभावना से जो इस आठ प्रकार के दर्शनाचार में विराधना की है वह मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे।

इस प्रकार से श्री गौतम स्वामी ने मुनियों तक के लिए यह व्यवहार प्रधान सम्यक्त्व बतलाया है। अब अध्यात्मयोगी श्री कुन्दकुन्द देव के वचनों में देखिए—

श्री कुन्दकुन्द देव दर्शनपाहुड़ में सम्यक्त्व का लक्षण बताते हुए कहते हैं—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिदिदट्ठा।

सद्दहइ ताण रूवं सो सदिदट्ठी मुणेयव्वो।।११।।

छह द्रव्य, नव पदार्थ, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व ये जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये हैं। इनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है।

पुनः व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा कहते हैं—

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं।

ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।।२०।।

जिनेन्द्रदेव ने जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है और अपनी आत्मा के ही श्रद्धान को निश्चय से सम्यक्त्व कहा है।

आगे चारित्रपाहुड़ में चारित्र के दो भेद करते हुए पहले सम्यक्त्वाचरण चारित्र को कहते हैं—

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।

प्रथम जो सम्यक्त्व का आचरणस्वरूप चारित्र है वह जिनेन्द्रदेव के ज्ञान से देखा हुआ शुद्ध है।

भावार्थ—चारित्र के दो भेद हैं—सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण

आठ अंग आदि रूप आचरण सम्यक्त्वाचरण है और श्रावक के बारह व्रत तथा मुनि के महाव्रत आदि रूप चारित्र को संयमाचरण कहते हैं।

पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्वाचरण को जानकर शंकादि दोषों को छोड़ना चाहिए क्योंकि ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले हैं।

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं इत्यादि रूप से यही सम्यक्त्वाचरण है।

नियमसार ग्रन्थ में श्री कुंदकुंददेव ने 'नियम' शब्द का अर्थ रत्नत्रय किया है। उसमें सम्यक्त्व का लक्षण करते हुए कहते हैं—

“अत्तागमतच्चाणं सददहणादो हवेइ सम्मत्तं।”

आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। समयसार में सम्यक्त्व का लक्षण बताते हैं—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।

आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।३।।

भूतार्थनय से जाने हुए जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

मूलाचार ग्रंथ में भी श्री कुंदकुंददेव ने यही गाथा दी है। रयणसार में श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—

सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणिदं।

तं जाणिज्जइ णिच्छयववहार सरूवदो भेयं।।४।।

भयविसणमल विवज्जिय संसारसरीरभोगिणिव्विण्णे।

अट्टगणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो।।५।।

णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थवज्जिओ णाणी।

जिणमुणिधम्मं मण्णइ णयदुक्खो होइ सदिदट्ठी।।६।।

मयमूढमणायदणं संकाइवसणभयमईयारं।

जेसिं चउदालेदे ण संति ते होंति सदिदट्ठी।।७।।

देवगुरुसमयभत्ता संसारसरीरभोगपरिचत्ता।

रयणत्तयसंजुत्ता ते मणुया सिवसुहं पत्ता।।८।।

अर्थ—संसार में सम्यक्त्व रत्नों में श्रेष्ठ है, इसे मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल कहा गया है। निश्चय और व्यवहारनय से इसका भेद किया जाता है। सम्यग्दर्शन से शुद्ध व्यक्ति सात भय, सात व्यसन, पच्चीस मल दोष से रहित होता है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्त, आठ गुणों से परिपूर्ण तथा अंगों से युक्त और पंच परमेष्ठी का भक्त होता है। जो निज शुद्ध आत्मा में अनुरक्त, बहिरात्मावस्था से रहित, वीतराग मुनिधर्म को जो मनुष्य, देव, गुरु और शास्त्र के भक्त, संसार, शरीर, भोग के परित्यागी रत्नत्रय से संयुक्त होते हैं वे सुख को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार से कुंदकुंद देव ने भी इन सभी सम्यक्त्व के लक्षणों में सर्वत्र व्यवहारपरक ही लक्षण कहा है। इससे मालूम होता है कि उनकी दृष्टि में भी व्यवहार सम्यग्दर्शन हेतु नहीं था किन्तु उपादेय ही था अन्यथा आध्यात्मिक ग्रंथों में भी इन व्यवहार प्रधान लक्षणों को क्यों रखते ?

हां, पाहुड़ ग्रन्थ में क्वचित् निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण भी किया है और पंचास्तिकाय में व्यवहार मोक्षमार्ग में व्यवहार रत्नत्रय का लक्षण करके पुनः निश्चय मोक्षमार्ग रूप निश्चय रत्नत्रय रूप कहा है।

इससे व्यवहार के बाद निश्चय होता है यह क्रम भी परिलक्षित हो जाता है।

श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण किया है—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।।२।।

वास्तविक पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

श्री अकलंकदेव कहते हैं—

तद्विविधं सरागवीतरागविकल्पात्॥२९॥

सराग और वीतराग के भेद से वह सम्यक्त्व दो प्रकार का है।

“प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्” प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य इन के द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति होती है वह प्रथम सराग सम्यग्दर्शन है।

आत्मविशुद्धिमात्रमितरम्॥३१॥

सप्तानां कर्मप्रकृतीनां आत्यंतिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते।

अत्र पूर्व साधनं भवति, उत्तरं साधनं साध्यं च।

आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यक्त्व है। अनंतानुबंधी आदि सात प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय हो जाने से जो आत्मा की विशुद्धि मात्र होती है वह वीतराग सम्यक्त्व है। इनमें से सराग सम्यक्त्व साधन है और वीतराग सम्यक्त्व साधन भी है और साध्य भी है।

श्री उमास्वामी आचार्य अपने श्रावकाचार में कहते हैं—

देवे देवमतिर्धर्मं धर्मधीर्मलवर्जिता।

गुरौ च गुरुताबुद्धिः सम्यक्त्वं तन्निगद्यते॥५॥

तीर्थंकर परमदेव को देव मानना, दयामय धर्म को धर्म मानना और निर्ग्रन्थ गुरु को गुरु मानना अर्थात् सच्चे देव, धर्म और गुरु का ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

पुनरपि आगे चलकर यही कहते हैं कि—

जीवाजीवादितत्त्वानां श्रद्धानं दर्शनं मतम्।

निश्चयात्वे स्वरूपे वावस्थानं मलवर्जितम्॥२१॥

जीव-अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अथवा निश्चय से अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होना सम्यग्दर्शन है। यह पच्चीस मल दोषों से रहित होता है।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व का वर्णन करते हुए पुनः कहते हैं—

वीतरागः पुनः सम्यक् क्षायिकं भववारणम्।

सम्यक्त्वं च द्वयं ज्ञेयं सरागं सुखकारणम्॥३३॥

क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है चूंकि वह संसार का नाश करने वाला है तथा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दोनों सम्यक्त्व सराग हैं। यह भी मुक्ति सुख के कारण हैं।

भावी तीर्थंकर श्री समंतभद्र स्वामी तो यही कहते हैं—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।

त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥४॥

सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरु का तीन मूढ़ता से रहित, आठ मद से रहित और आठ अंग से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में सम्यग्दृष्टि का लक्षण कहते हैं—

जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं।

लोयाण पणहवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च॥१०॥

जो आयेरेण मण्णदि जीवाजीवादि णवविहं अत्थं।

सुदणाणेण ण एहि य सो सदिदट्ठी हवे सुद्धो॥११॥

जो लोगों के प्रश्नों के वश से और व्यवहार को चलाने के लिए सप्तभंगी के द्वारा नियम से अनेकांतात्मक तत्त्व का श्रद्धान करता है, जो आदर के साथ जीव-अजीव आदि नौ प्रकार के पदार्थों को श्रुतज्ञान से और नयों से अच्छी तरह जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है॥१०-११॥

जो पुत्र, स्त्री आदि सर्व पदार्थों में गर्व को नहीं करता है, उपशम भाव को भाता है और अपने को तृण समान समझता है, विषयों में आसक्त होता हुआ भी और सदा सर्व आरंभों में प्रवृत्त होता हुआ भी जो 'यह मोहकर्म का विलास है' ऐसा समझकर सबको हेय मानता है उत्तम, गुणों को ग्रहण करने में तत्पर रहता है, उत्तम साधुओं की विनय करता है और साधर्मिजनों का अनुरागी है, वह परम सम्यग्दृष्टि है।

श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यं।

श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत्^१॥२२॥

जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का विपरीत अभिनिवेश से रहित सदा ही श्रद्धान करना चाहिए क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है। पुनः आठों अंगों का स्पष्टीकरण किया गया है।

यशस्तिलकचंपू में कहते हैं—

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात्।

मूढाद्यपोढमष्टांगं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक्^२॥ ४८॥

अंतरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त देव, शास्त्र और पदार्थों का तीन मूढ़ता रहित, आठ अंग सहित जो श्रद्धान होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग आदि गुण वाला होता है।

वसुनंदि आचार्य कहते हैं—

अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।

संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं^३॥६॥

आप्त, आगम और तत्त्वों का शंकादि दोष रहित जो अति निर्मल श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्त्व जानना चाहिए। सावयधम्मदोहा नामक श्रावकाचार में सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं—

अत्तागमतच्चाइयहं, जं णिम्मलु सद्धाणु।

संकाइयदोसहं रहियं, तं सम्मत्तु वियाणु^४॥११॥

आप्त, आगम और तत्त्वादिकों का जो शंकादि दोषों से रहित निर्मल श्रद्धान है उसेही सम्यक्त्व जानना चाहिए। चारित्रसार में श्रीचामुंडराय जी लिखते हैं—

‘जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रथलक्षणे मोक्षमार्गे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं’^५
जिनेन्द्र भगवान अर्हत परमेष्ठी के द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रथ लक्षण मोक्षमार्ग में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

श्रीमान् शुभचंद्राचार्य कहते हैं—

यज्जीवादि पदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम्।

निसर्गेणाधिगत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते^१॥६॥

जो जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करता है वही नियम से सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा अधिगम से भव्य जीवों के ही उत्पन्न होता है, अभव्य के नहीं होता।

श्री नेमिचंद्राचार्य कहते हैं—

जीवादीसद्दहणं सम्पत्तं रूवमप्पणो तं तु।

दुरभिणिवेसविमुक्कं पाणं सम्मं खु होदि सदि जहिं॥४१॥

जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, इस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों) दुरभिनिवेशों से रहित सम्यक् हो जाता है।

यही बात अमितगति आचार्य ने भी कही है।

पहले तो क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिक भेदों को कहते हैं, पुनः कहते हैं—

साध्यसाधनभेदेन, द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।

कथ्यते क्षायिकं साध्यं, द्वितीयं साधनं परम्॥५८॥

साध्य और साधन के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का कहा गया है। क्षायिक सम्यक्त्व साध्यरूप है और शेष दोनों साधनरूप हैं।

आगे कहते हैं—

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा।

विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरे द्वयम्॥६५॥

ज्ञानियों ने सम्यक्त्व को दो प्रकार का कहा है—वीतराग सम्यक्त्व और सराग सम्यक्त्व।

इन सभी सम्यग्दर्शन के लक्षणों में व्यवहार प्रधान ही लक्षण दिख रहा है, जो कि सच्चे देव, धर्म, गुरु और तत्त्वों के श्रद्धान रूप ही हैं। वास्तव में यह सम्यग्दर्शन जिसके प्रगट हो जाता है वह आत्मतत्त्व को नहीं समझता है ऐसी बात नहीं है क्योंकि सभी सम्यक्त्व में स्वपर भेद विज्ञान होता ही होता है।

आध्यात्मिक भाषा में वीतराग सम्यक्त्व को वीतरागी मुनियों के ही माना गया है, उसके पहले छोटे गुणस्थान तक सराग सम्यक्त्व माना है फिर भी यहां पर उपर्युक्त लक्षणों में श्री अकलंकदेव ने तत्त्वार्थ-राजवार्तिक में क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग कहा है। उमास्वामी श्रावकाचार में तथा अमितगति श्रावकाचार में भी औपशमिक, क्षायोपशमिक को सराग सम्यक्त्व एवं क्षायिक को वीतराग सम्यक्त्व कहा है।

इस दृष्टि से भी वर्तमान काल में वीतराग सम्यक्त्व का अभाव है क्योंकि यद्यपि यह क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान में हो सकता है फिर भी केवली, श्रुतकेवली के पादमूल के बिना असंभव होने से आज यह संभव नहीं है अतः आज सराग सम्यग्दर्शन ही होता है।

वीतराग सम्यग्दर्शन

अब अध्यात्मभाषा में वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण देखिए—

निश्चयसम्यक्त्व ही वीतराग सम्यक्त्व है।

“निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते।”

निश्चयनय से निश्चय चारित्र के साथ होने वाला निश्चय सम्यक्त्व ही वीतरागसम्यक्त्व कहलाता है। यह निश्चय चारित्र सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है उसके पहले नहीं।

शुद्धात्मा की उपलब्धि ही निश्चय सम्यक्त्व है—

“तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते शुद्धात्मोपलब्धि सा चैव निश्चयसम्यक्त्वं..... अभेदविवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्य।”

‘उस परमसमाधि के काल में नव तत्त्वों के मध्य शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही प्रद्योतित होता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है और अनुभव में आता है और जो यह अनुभूति, प्रतीति, शुद्धात्मोपलब्धि है वही निश्चय सम्यक्त्व है और वह अनुभूति निश्चयनय से गुण-गुणी में अभेद विवक्षा करने से शुद्धात्मा का स्वरूप ही है ऐसा तात्पर्य समझना। यह निश्चय सम्यक्त्व शुद्धोपयोग में ही होगा।’

वीतराग सम्यग्दृष्टि कब होता है ?

“निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा।”

“जो पुनः सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा है वही ज्ञानी जीव है, वह मुख्य वृत्ति से निश्चयरत्नत्रय लक्षण शुद्धोपयोग के बल से निश्चय चारित्र के बिना नहीं होने वाला ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम परिणति का कर्ता है।” तब उस परिणाम के द्वारा द्रव्यभाव रूप संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थों का कर्ता होता है। यह अवस्था भी शुद्धोपयोग में ही घटित होगी।

वीतराग सम्यक्त्व में बंध नहीं होता है—

“ततश्च वीतराग सम्यक्त्वे जाते साक्षादबंधको भवति इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टयः सर्वथा बंधो नास्तीति न वक्तव्यं।

सराग वीतराग की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के होते हैं उसमें जो सराग सम्यग्दृष्टि हैं अर्थात्—

१६, २५, ०, १०, ४, ६, १, ३६, ५, १६, १ इस प्रकार से बंधव्युच्छिन्ति के प्रकरण से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ४३ प्रकृतियों का अबंधक होता है, किन्तु ७७ प्रकृतियों को अल्पस्थिति अनुभाग रूप से बांधता हुआ भी संसार स्थिति का छेदक होता है इसलिए वह अबंधक है। इसी प्रकार से अविरति सम्यग्दृष्टि के ऊपर के गुणस्थानों में यथासंभव सरागसम्यक्त्व पर्यन्त, नीचे-नीचे के गुणस्थानों की अपेक्षा से तरतमता रूप से अबंधक है किन्तु उपरिम गुणस्थानों की अपेक्षा से बंधक है। पुनः वीतरागसम्यक्त्व के हो जाने पर साक्षात् अबंधक होता है, ऐसा समझकर हम सम्यग्दृष्टि हैं, हमें सर्वथा बंध नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए।

यहां पर भी वीतराग सम्यक्त्व को सातवें से ही समझना। आत्मा की भावना ही निश्चय भक्ति है वही निश्चयसम्यक्त्व।

“भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनरूपा निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति।”

“भक्ति ही पुनः सम्यक्त्व कहलाती है, व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों की भक्ति पंचपरमेष्ठी के आराधन रूप है और निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों की भक्ति शुद्धात्मतत्त्व की भावनारूप है।”

इस प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि शुद्धात्मतत्त्व की भावनारूप भक्ति छठे गुणस्थान के ऊपर वाले

वीतरागियों के ही होती है।

इसी बात की पुष्टि के लिए और भी प्रमाण मौजूद हैं।

क्या गृहस्थ को वीतराग सम्यक्त्व हो सकता है ?

‘रागो सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः। तर्हि चतुर्थपंचमगुणस्थानवर्तिनः तीर्थकरकुमार-भरत-सगर-राम-पांडवादयः सम्यग्दृष्टयो न भवन्ति ? इति। तन्न, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। कथं! इति चेत्, चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां.... सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।’

‘रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता है ऐसा आपने बहुत बार कहा है, पुनः चतुर्थ पंचमगुणस्थानवर्ती तीर्थकर कुमार, भरत सम्राट, सगरचक्री, रामचन्द्र और पांडव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं माने जायेंगे ?’

‘ऐसी बात नहीं है, मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से तेतालीस प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से वे सराग सम्यग्दृष्टि थे।’ चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवों के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले पाषाण रेखा आदि के समान रागादि भावों का अभाव हो चुका है। पुनः पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ से होने वाले भूमि रेखा आदि के समान रागादि भावों का अभाव हो चुका है। यहाँ पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही मुख्य रूप से ग्रहण है, सराग सम्यग्दृष्टियों का गौण रूप से ग्रहण है। ऐसा ही व्याख्यान सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के काल में सर्वत्र तात्पर्य रूप से समझ लेना चाहिए।

‘शुद्धोपयोग कहां से शुरू होता है ?’

‘सातवें से’ सो ही देखिए—

‘मिथ्यात्व-सासादन-मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः तदनंतरमसंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोगः तदनंतरमप्रमत्तादिकक्षीणकषायान्तगुणस्थान-षट्केतारतम्येन शुद्धोपयोगः, तदनंतरं सयोग्ययोगीजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति^१।’

मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग है, इसके बाद असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तविरत इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से शुभोपयोग है, इसके अनंतर अप्रमत्त-संयत से लेकर क्षीणकषाय तक इन छह गुणस्थानों में तरतमता से शुद्धोपयोग है, इसके बाद सयोगकेवली व अयोगकेवली इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है।

‘कोई विद्वान चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग का प्रारम्भ मानते हैं यदि इसमें ‘तारतम्येन’ शब्द न होता तब तो मान सकते थे किन्तु ‘तारतम्य’ का अर्थ यही है कि ‘सातवें से प्रारम्भ होकर बारहवें गुणस्थान तक आगे-आगे विशुद्ध होते हुए अन्त में शुद्धोपयोग की पराकाष्ठा हो जाती है अतः चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग का अंश भी संभव नहीं है प्रत्युत छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के शुभोपयोग की समानता भी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के नहीं हो सकती है।’

दूसरी बात यह है कि मुनियों के चारित्र में ही दो भेद हैं न कि श्रावकों के चारित्र में, जैसा कि प्रवचनसार में कहा है—

‘चारित्तं खलु धम्मो’ इति वचनात्। तच्च चारित्रमपहृतसंयमोपेक्षासंयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोग-शुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति।^२

“चारित्र ही निश्चय से धर्म है, ऐसा कथन है। वह चारित्र अपहृत और अपेक्षा संयम के भेद से सराग और वीतराग के भेद से अथवा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का होता है।”

किसी भी ग्रन्थ में श्रावकों के विकल चारित्र में सराग वीतराग अथवा निश्चय व्यवहार ऐसे दो भेद देखने को नहीं मिलते हैं। सराग सम्यग्दृष्टि अशुभ से ही बच सकता है शुभ से नहीं।

“योऽसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुंचति। निश्चयचारित्रा-विनाभावि वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुंचति।”^१

इस तरह जो वस्तु स्वरूप को जानता है वह सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभकर्म के कर्तृत्व को छोड़ता है पुनः निश्चय चारित्र से अविनाभावी ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर शुभ-अशुभ सर्वकर्म के कर्तृत्व को छोड़ता है।

वीतरागता के अभाव में कर्मों का आस्रव होता ही है

“निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एव अज्ञानं भण्यते। तस्मादज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति।”^२

निश्चय से वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है। उस अज्ञान से ही कर्म आते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रेणी में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव हो जाने से बहुत ही अल्पस्थिति अनुभाग वाले कर्म आते हैं। आगे पूर्ण वीतरागता में कर्मों का आना पूर्णतया रुक जाता है।

आत्मा की उपलब्धि भी वीतरागी को ही होती है

रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थपुरुषैः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभाव-शुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुः।^३

रागादि से भिन्न शुद्ध जीव है यह पक्ष हुआ, क्योंकि परमसमाधि में स्थित महर्षियों को शरीर और रागादि से भिन्न चिदानन्दैक स्वभाव शुद्ध जीव की उपलब्धि होती है यह हेतु हुआ।

ज्ञानी का लक्षण—‘इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञानमात्रेण।’^४

इस प्रकार से जो जानता है कैसे ?

मिथ्यात्व, विषय और कषायों का त्याग करके निर्विकल्प समाधि में स्थित होता हुआ, वही ज्ञानी होता है न कि जानने मात्र से।

इस प्रकार से वीतराग सम्यग्दृष्टि, शुद्धोपयोगी और ज्ञानी संज्ञायें सातवें से ही शुरू होती हैं।

रयणसार में इसी बात को श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं—

णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि सुबोलेण् अण्णाणी।

विज्जो भेषज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाहि।।७२।।

ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के बल से कर्मों का क्षय करता है ऐसा कथन करने वाला अज्ञानी है। कारण मैं वैद्य हूँ, मैं औषधि को जानता हूँ। क्या उस औषधि को सेवन न कर उसके ज्ञान मात्र से रोग दूर हो जायेगा ? नहीं।

अभिप्राय यही है कि चारित्र को धारण करना ही औषधि का सेवन करना है। यह चारित्र ही संसार रोग को नष्ट करने वाला है अतः रत्नत्रयधारी ही सच्चे ज्ञानी होते हैं।

१. समयसार गाथा ९७, तात्पर्यवृत्ति टीका पृ. १५५। २. समयसार गाथा ९८, पृ. १४७। ३. समयसार गाथा ४४, तात्पर्यवृत्ति टीका पृ. ८। ४. समयसार गाथा १०८, तात्पर्यवृत्ति टीका १६१।

कौन सा कार्य कर्मों को क्षणमात्र में निर्जीर्ण करता है—

जं अण्णाणी कम्मं, खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।

तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमेत्तेण॥२३८॥^१

अज्ञानी कोटि सहस्र भवों में जितने कर्मों की निर्जरा करता है, ज्ञानी तीन गुप्ति से गुप्त होकर एक श्वास मात्र में उतने कर्मों की निर्जरा कर देता है। यहां पर 'तीन गुप्ति' सहित होना ही महत्त्व रखता है। जब आज के मुनियों में ये तीन गुप्तियां असंभव हैं तब श्रावक व असंयमी में तीन गुप्ति का होना व उतनी निर्जरा का होना तो सर्वथा आकाश पुष्प के समान ही है।

इस कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वीतरागता त्रिगुप्ति से गुप्त महामुनियों के ही होती है उसके पहले छठे गुणस्थानवर्ती मुनि सराग चारित्र वाले होने से सरागी ही हैं। जैसा प्रवचनसार में कहा है—

‘अर्हत आदि के प्रति भक्ति और प्रवचनरत जीवों के प्रति वत्सल भाव करना सोयह शुभयुक्त चर्या है। यह मुनि अवस्था में पाई जाती है। वंदना, नमस्कार आदि करना, गुरुओं के आने पर उठकर खड़े होना, जाते समय उनके पीछे-पीछे जाना, उनके श्रम को दूर करना आदि जो मुनियों की क्रियायें हैं वे सराग अवस्था में वर्जित नहीं हैं।’

निष्कर्ष यह है कि आजकल चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों तक सराग सम्यग्दर्शन ही है, उसी का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि के शुद्धोपयोग की अवस्था में वीतराग सम्यक्त्व होता है, उसी का नाम निश्चय सम्यक्त्व है। व्यवहार सम्यक्त्व में देव, शास्त्र, गुरु और तत्त्वादि का श्रद्धान तो होता ही है, साथ ही आत्मा के स्वरूप का भी श्रद्धान होता है किन्तु निश्चय सम्यक्त्व में शुद्धात्मा के स्वरूप की प्रतीति अर्थात् अनुभूति होती है जैसा कि इस वीतराग सम्यक्त्व के लक्षण में सर्वत्र ही स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। अकलंकदेव ने क्षायिक सम्यक्त्व का लक्षण भी आत्मा की विशुद्धि मात्र ही कहा है और उसे वीतराग संज्ञा दी है। सो यह सिद्धान्त का कथन भी मान्य ही है किन्तु आज तो वह भी उपलब्ध नहीं है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव कहां-कहां जन्म लेते हैं ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि नारकी मरणकर गर्भज मनुष्य ही होते हैं। सम्यग्दृष्टि तिर्यच आयु पूरी करके देवगति को ही प्राप्त करते हैं। देव और देवियां सम्यक्त्व सहित मरण करके मनुष्य ही होते हैं। भोगभूमिज और कर्मभूमिज मनुष्य भी सम्यक्त्व सहित मरण करके सौधर्म स्वर्ग आदि में ही जाते हैं अथवा कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उसी भव से मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न—बद्धायुष्क मनुष्य यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तो वह चारों गतियों में जा सकता है सो कैसे ?

उत्तर—यदि किसी जीव ने नरक तिर्यच या मनुष्य की आयु बांध ली है पुनः उसे क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हुआ है तो मरते समय वह सम्यग्दर्शन छूट जायेगा। उपशम सम्यक्त्व में तो मरण होता नहीं है कदाचित् द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि श्रेणी में मरण करे तो वह देवगति में ही जावेगा। हां, यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि है अथवा क्षायिक सम्यक्त्व पूर्ण होने में कुछ कार्य शेष रहा है उस समय यह कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि यदि नरक में जाते हैं तो वे प्रथम नरक में ही जायेंगे। यदि तिर्यच या मनुष्य की आयु बांध चुके थे तो वे भोगभूमि के तिर्यच या मनुष्य होंगे।

वर्तमान में क्षायिक सम्यक्त्व के न होने से कोई भी सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यच, स्त्री हों या पुरुष वे मरणकर देवगति ही प्राप्त करेंगे, यह नियम है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव कहां-कहां नहीं जाते हैं ?

उत्तर—एकेन्द्रिय स्थावरों में, विकलत्रय में, असंज्ञी अपर्याप्तक और सम्मूर्च्छन जीवों में, अल्पायु में, दरिद्र और नीच कुलों में, नरकगति और तिर्यचगति में, भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में, स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में, सर्व देवियों में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म नहीं लेते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि कोई भी सम्यग्दृष्टि मनुष्य यहां से मरण कर विदेहक्षेत्र का मनुष्य नहीं हो सकता है वह सौधर्म आदि स्वर्गों में देव ही होवेगा।

सोलह स्वर्ग के ऊपर सम्यग्दर्शन—नव ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि देवों में कितने ही देव जातिस्मरण से और कितने ही धर्मोपदेश सुनकर इन दो कारणों से प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। यहां जिनमहिमा दर्शन कारण भी नहीं है क्योंकि यहां के देव नंदीश्वरादि के महोत्सव देखने नहीं जाते।

शंका—ग्रैवेयकवासी अहमिंद्रों में धर्मश्रवण किस प्रकार संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उनमें परस्पर संलाप होने पर अहमिंद्रत्व से विरोध नहीं आता अतएव वह संलाप ही धर्मोपदेश रूप से सम्यक्त्व उत्पत्ति का कारण हो जाता है।

अनुदिशों से लगाकर सर्वार्थसिद्धि तक के देव सभी नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

जिस महान परमागम ग्रन्थ षट्खण्डागम के सूत्रों का भगवान महावीर स्वामी की वाणी से सीधा संबंध है ऐसा विद्वान लोग कहते हैं। उस ग्रन्थ के सूत्रों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए ये निमित्त कारण माने गये हैं। ये निमित्त कारण अकिंचित्कर भी नहीं हैं क्योंकि इनमें से किसी एक निमित्त के बिना सम्यक्त्वोत्पत्ति असंभव है। धवलाकार ने तो यहां तक कह दिया है कि निसर्गज सम्यक्त्व में भी जातिस्मरण अथवा जिनबिम्बदर्शन इन दोनों में से कोई एक कारण अवश्य होना चाहिए अन्यथा निसर्गज प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति असंभव है—

‘जाइस्सरणजिणबिंबदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसगिय पढमसम्मत्तस्स असंभवादो।’ इसमें जो ‘असंभवादो’ पद है उस पर विद्वानों को लक्ष्य देना चाहिए।

लब्धिसम्पन्न मुनिराजों को ‘जिनबिंबदर्शन’ कारण में गर्भित करना भी बहुत ही महत्त्व की बात है। इससे जिनमुद्राधारी महर्षियों की महत्ता का स्पष्टीकरण सहज ही हो जाता है। इसी प्रकार से अचेतन पर्वत, भूमि, नगर आदि जो कि जिनकल्याणक से पवित्र हो चुके हैं उनकी महिमा भी अचिन्त्य है तभी तो इसमें कहा है कि— ‘उज्जयंतचंपापावाणयरादिदंसणं पि एदेणेव घेत्तव्वं’ उर्जयंत पर्वत, चंपापुरी, पावापुरी नगरी आदि का दर्शन भी जिनबिंब दर्शन में ही गर्भित है। यह तीर्थदर्शन भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में कारण है।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन बहिरंग कारणों के मिलने पर ही अन्तरंग में दर्शनमोहनीय का उपशम या क्षयोपशम आदि होता है अन्यथा नहीं, चूंकि जब निसर्गज सम्यक्त्व में भी बह्य कारण के बिना ‘असंभवादो’ शब्द कह दिया है तो फिर इससे और अधिक निमित्त कारणों की विशेषता के लिए क्या प्रमाण हो सकेगा ?

श्री कुन्दकुन्द देव भी सम्यक्त्व के अंतरंग और बहिरंग हेतु को बताते हुए कहते हैं—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।

अन्तरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी॥५३॥

जिन सूत्र और उसके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के लिए बाह्य निमित्त हैं और दर्शनमोहनीय का क्षय, क्षयोपशम आदि अन्तरंग हेतु है।

द्वादशांग या उसके अंशरूप सूत्र तथा उन सूत्रों के जानने वाले महर्षिगण—आचार्य, उपाध्याय, साधु

ये तो बाह्य हेतु हैं एवं दर्शनमोहनीय का क्षय आहि अंतरंग हेतु हैं। इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि परम आध्यात्मिक महर्षि श्री कुन्दकुन्द देव भी सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिए बहिरंग निमित्त कारण और अंतरंग निमित्त कारण को मानते हैं। चूँकि इन अंतरंग-बहिरंग निमित्तों के बिना सम्यक्त्व असंभव है।

शंका—जिनबिंब दर्शन आदि कारणों में इतनी सामर्थ्य हो जावे कि वे दर्शन मोह आदि सात प्रकृतियों का उपशम आदि करा देवें, यह कुछ समझ में नहीं आता है ?

समाधान—यह बात तो 'षट्खण्डागम' ग्रन्थ के सूत्रों से ही स्पष्ट है और आगम को प्रमाण सिद्ध करने के लिए युक्ति आदि की आवश्यकता नहीं रहती है।

क्योंकि आगम तो स्वयं सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निर्गत होने से सर्वोपरि प्रमाण है।

फिर भी युक्ति से भी इस बात को अच्छी तरह से समझा जा सकता है। देखो, बाह्य वातावरण—जलवायु आदि का अंतरंग पर कितना प्रभाव पड़ता है। स्वच्छ जल, वायु, औषधि आदि से स्वास्थ्य लाभ होता है और गंदी जलवायु या अपथ्य सेवन आदि से मलेरिया, हैजा आदि अनेकों रोगों के प्रकोप उत्पन्न हो जाते हैं। फूलों के बगीचे में प्रवेश करने से बिना इच्छा के भी फूलों की सुगंधि नाक में प्रवेश कर जाती है तथा मिट्टी के तेल, पेट्रोल आदि की दुर्गन्धि से प्रायः बहुत से लोगों को वमन तक हो जाता है।

इष्ट वस्तु के वियोग आदि से चिंता होकर मन में क्षोभ बना रहता है। प्रिय वस्तु के संयोग से हृदय आनन्द से विभोर हो जाता है।

अचेतन वस्तुयें अचेतन पर भी अपना विशेष प्रभाव डाल देती हैं। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है। विष मारणशक्ति को रखते हुए भी कुछ उचित वस्तुओं के मिश्रण से रसायन बन जाता है। जब ऐसे-ऐसे अगणित उदाहरण लोकव्यवहार में देखे जाते हैं तब पुनः जिनबिंबदर्शन आदि बाह्य कारण अंतरंग के दर्शनमोह आदि के उपशम में निमित्त बन जावें इसमें क्या आश्चर्य है ?

आचार्यदेव ने तो बलपूर्वक कहा है कि 'जिनबिंबदर्शन' में मिथ्यात्व जैसे कर्म के नष्ट कर देने की सामर्थ्य है, उसे क्यों न माना जाय ?

शंका—तब तो जिनबिंब के दर्शन वाले सभी को सम्यक्त्व हो जाना चाहिए ?

समाधान—यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि कारण के होने पर कार्य होता है, नहीं भी होता है, किन्तु कारण के बिना कार्य का होना असंभव है अतः ये सब बाह्य कारण ही हैं न कि करण।

हां, जिनबिंबदर्शन निरर्थक नहीं हो सकता है। इससे कदाचित् सम्यक्त्व की उन्नति नहीं भी हुई तो भी अनंत-अनंत जन्म के संचित पापकर्म समूह का नाश होकर महान पुण्य कर्म का संचय होना पाया ही जाता है। कहा भी है—

अनंतानंतसंसारसंततिच्छेदकारणम्। जिनराजपदाम्भोजस्मरणं शरणं मम॥

एकापि समर्थयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं। पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥

जिनेन्द्रदेव के चरणों का स्मरण अनंत-अनंत संसार की परम्परा को समाप्त करने में समर्थ है, वही मेरे लिए शरण है।

यह एक जिनभक्ति ही विद्वानों के दुर्गति का निवारण करने में, पुण्य को परिपूर्ण करने में और मुक्ति लक्ष्मी को देने में समर्थ है।

ऐसे ही अन्य जो भी कारण हैं वे दर्शनमोह आदि के उपशम में निमित्त बन जाते हैं इसलिए श्री पुष्पदंत आचार्य ने इन्हें सूत्र में कहा है।

२२. जैनशासन में कर्म सिद्धान्त

सुदर्शन — गुरुजी ! कर्म किसे कहते हैं ?

गुरुजी — जिसके द्वारा जीव परतंत्र किया जाता है वह कर्म है। इस कर्म के निमित्त से ही यह जीव इस संसार में अनेकों शारीरिक, मानसिक और आगंतुक दुःखों को भोग रहा है।

सुदर्शन — इस कर्म का सम्बन्ध जीव के साथ कब से हुआ है ?

गुरुजी — बेटा ! जीव के साथ कर्मों का संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है। कहा भी है—“जीव^१ और कर्म का अनादि सम्बन्ध है जैसे कि सुवर्णपाषाण में मल — किट्ट और कालिमा खान से ही सम्बन्धित हैं। इन जीव और कर्मों का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है।” अर्थात् जीव का स्वभाव रागादिरूप परिणत होने का है और कर्म का स्वभाव रागादिरूप परिणमन कराने का है। इन दोनों का अस्तित्व भी ईश्वर आदि कर्ता के बिना ही स्वतः सिद्ध है। जिस प्रकार मदिरा का स्वभाव जीव को उन्मत्त कर देने का है और इसके पीने वाले जीव का स्वभाव उन्मत्त हो जाने का है, उसी प्रकार कर्मोदय के निमित्त से जीव का स्वभाव रागद्वेष रूप परिणमन करने का है और कर्म का स्वभाव जीव को विकारी बना देने का है।

जीव का अस्तित्व “अहं” — “मैं” इस प्रतीति से जाना जाता है तथा कर्म का अस्तित्व — जगत में कोई दरिद्री है तो कोई धनवान है इत्यादि विचित्रता को प्रत्यक्ष देखने से सिद्ध होता है। इस कारण जीव और कर्म दोनों ही पदार्थ अनुभव सिद्ध हैं।

सुदर्शन — जीव किस तरह इन कर्मों को अपने साथ सम्बन्धित करता है ?

गुरुजी — औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय से सहित हुआ यह जीव मन, वचन, काय रूप योगों के द्वारा प्रतिसमय कर्म और नोकर्म के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को सब तरफ से अपनी आत्मा के साथ सम्बन्धित कर लेता है अर्थात् मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन होता है, इसे योग कहते हैं। इस योग से ही कर्मों का आना होता है तथा बंध होता है। जैसे कि अग्नि से तपाया हुआ लोहे का गोला जल में डालने पर प्रतिसमय चारों तरफ से जल को खींच लेता है उसी तरह जब यह आत्मा मन, वचन और काय की प्रवृत्ति करता रहता है तभी तक कर्मबंध होता रहता है और जब योग की प्रवृत्ति को रोक लेता है अर्थात् एकाग्र रूप से आत्मा के ध्यान में परिणत हो जाता है तब बंध का भी निरोध हो जाता है।

सुदर्शन — एक समय में कितने कर्म आत्मा से बंधते हैं ?

गुरुजी — सिद्ध राशि अनंतानंत प्रमाण है उसके अनंतवें भाग (अनंत) प्रमाण ही कर्म पुद्गल इस जीव के साथ एक समय में बंधते हैं तथा मन, वचन, काय की प्रवृत्ति में मंदता या तीव्रता होने से कदाचित् इनसे कम या अधिक भी परमाणु बंध जाते हैं। जैसे अधिक चिकनी दीवाल पर धूलि अधिक लगती है और कम चिकनी दीवाल पर कम चिपकती है वैसे ही कषायों की तीव्रता से अधिक और मंदता से कमती रूप कर्म बंधते हैं।

सुदर्शन — कर्म के कितने भेद हैं ?

गुरुजी — सामान्य से कर्म एक ही है, उसमें कोई भेद नहीं है तथा द्रव्य कर्म और भाव कर्म की अपेक्षा दो प्रकार हो जाते हैं। उसमें ज्ञानावरण आदि रूप जो पुद्गल द्रव्य का पिंड है वह द्रव्य कर्म है और उस

१. पयडी सील सहाओ, जीवंगाण अणाइसम्बन्धो। कणयोवले मलं वा, ताणत्थित्तं सयं सिद्धं॥ (गोम्मटसार कर्मकांड)

द्रव्य पिंड में जो फल देने की शक्ति है वह भाव कर्म है अथवा कार्य में कारण का व्यवहार होने से उस शक्ति से उत्पन्न हुये जो अज्ञान आदि अथवा क्रोधादि रूप परिणाम हैं वे भी भावकर्म कहलाते हैं। इस कर्म के आठ भेद हैं अथवा इन्हीं आठों के एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोक प्रमाण भेद भी होते हैं।

आठ कर्मों के नाम — ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय इन आठ कर्मों की मूल प्रकृतियाँ — स्वभाव हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार कर्म घातिया कहलाते हैं क्योंकि ये जीव के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्य आदि गुणों का घात करने वाले हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय ये चार अघातिया कहलाते हैं क्योंकि घातिया कर्म के नष्ट हो जाने पर ये चारों कर्म मौजूद रहते हैं फिर भी जली हुई रस्सी के समान ये जीव के गुणों का घात नहीं कर सकते हैं अर्थात् अरिहंत अवस्था में जीव के अनंतगुण प्रगट हो जाते हैं।

कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ तथा मोह, असंयम और मिथ्यात्व से वृद्धि को प्राप्त हुआ यह संसार अनादि है। इस संसार में जीव का अवस्थान रखने वाला आयु कर्म है। उदय में आने वाला आयु कर्म जीवों को उन-उन गतियों में रोक कर रखता है जैसे कि हम और आप मनुष्यायु कर्म के उदय से मनुष्यगति में रुके हुए हैं।

नामकर्म नारकी, तिर्यच आदि जीव की नाना पर्यायों को, औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीरों को तथा एक गति से दूसरी गति रूप परिणमन को कराता रहता है।

कुल की परिपाटी के क्रम से चला आया जो जीव का आचरण है उसे गोत्र कहते हैं। जिस कुल परम्परा में ऊँचा आचरण चला आता है उसे उच्च गोत्र कहते हैं और जिस कुल परम्परा में निंद्य आचरण चला आ रहा है उसे नीच गोत्र कहते हैं। जैसे एक कहावत प्रसिद्ध है कि एक सियार के बच्चे को बचपन में सिंहनी ने पाला। वह सिंह के बच्चों के साथ ही खेला करता था। एक दिन खेलते हुये वे सब बच्चे किसी जंगल में गये। वहाँ उन्होंने हाथियों का समूह देखा। जो सिंहनी के बच्चे थे वे तो हाथी के सामने दौड़े किन्तु वह सियार का बच्चा जिसमें अपने कुल के डरपोकपने का संस्कार था उस हाथी को देखकर भागने लगा। तब वे सभी सिंह के बच्चे भी उसे अपना बड़ा भाई समझकर पीछे लौट कर वापस माता के पास आये और उस सियार की शिकायत की कि इसने हमें आज शिकार से रोका है। तब सिंहनी ने उस सियार के बच्चे से एक श्लोक कहा, जिसका मतलब यह है कि अब हे बेटा! तू यहाँ से भाग जा, नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी।

श्लोक—

शूरोसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक।

यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते॥

हे पुत्र! तू शूरवीर है, विद्यावान है, देखने में सुन्दर है किन्तु जिस कुल में तू पैदा हुआ है उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते हैं अर्थात् कुल का संस्कार अवश्य पाया जाता है, चाहे वह कैसे भी विद्यादि गुणों से सहित क्यों न हो। उस पर्याय में संस्कार नहीं मिटता है।

इंद्रियों को अपने-अपने रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें दुःखरूप अनुभव करना असातावेदनीय है और सुखरूप अनुभव करना सातावेदनीय है। उस सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला वेदनीय कर्म है।

सुदर्शन — अंतराय कर्म को अंत में क्यों रखा जबकि यह घातिया है ?

गुरूजी — यह कर्म समस्त रूप से जीव के गुणों को घातने में समर्थ नहीं है बल्कि नाम, गोत्र और

वेदनीय इन तीनों कर्मों के निमित्त से ही अपना कार्य करता है। इस कारण अघातिया के अंत में इस अंतराय को कहा है।

सुदर्शन — वेदनीय को घातिया कर्म के बीच में क्यों ले लिया है ?

गुरुजी — मोहनीय कर्म के जो भेद राग-द्वेष आदि हैं उनके उदय के बल से ही यह वेदनीय कर्म घातिया कर्मों की तरह जीवों का घात करता रहता है इसीलिये इसे मोहनीय के पहले रखा है अर्थात् यह वेदनीय कर्म इंद्रियों के रूपादि विषयों में से किसी में प्रीति और किसी में द्वेष का निमित्त पाकर सुख तथा दुःखस्वरूप साता और असाता का अनुभव कराता रहता है किंतु जीव को अपने शुद्ध ज्ञान आदि गुणों में उपयोग नहीं लगाने देता है, पर स्वरूप में ही लीन करता है। वास्तव में वस्तु का स्वभाव भला या बुरा नहीं है किन्तु जब तक राग-द्वेषादि रहते हैं तभी तक यह किसी वस्तु को भला और किसी को बुरा समझता रहता है। जैसे नीम का पत्ता मनुष्य को कड़वा लगता है किन्तु ऊँट को प्रिय लगता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मोहनीय कर्मरूप राग-द्वेष के निमित्त से वेदनीय का उदय होने पर ही इंद्रियों से उत्पन्न सुख तथा दुःख का अनुभव होता है। मोहनीय के बिना वेदनीय कर्म राजा के बिना निर्बल सैन्य की तरह कुछ नहीं कर सकता है।

सुदर्शन — गुरुजी ! जो आपने आठ कर्म बताये थे उनका स्वभाव क्या है ?

गुरुजी — हाँ देखो ! ज्ञान को ढकने का जिसका स्वभाव है, वह ज्ञानावरण है। जैसे देवता के मुख पर पड़ा हुआ वस्त्र देवता का दर्शन नहीं होने देता।

आत्मा के दर्शन गुण को जो ढकता है वह दर्शनावरण है, जैसे दरवाजे पर बैठा हुआ पहरेदार राजा का दर्शन नहीं होने देता है।

सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला वेदनीय कर्म है, जैसे शहद लपेटी तलवार जिह्वा पर रखने से शहद चखने का सुख और जीभ कटने का दुःख हो जाता है।

जो जीव को मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है, जैसे मदिरा पीने से जीव अपने स्वभाव को भूलकर अचेत हो जाता है।

जो किसी एक पर्याय में रोके रखे वह आयु कर्म है, जैसे लोहे की साँकल या काठ का यंत्र जीव को दूसरी जगह जाने नहीं देता है।

जो अनेक तरह के शरीर आदि आकार बनावे वह नामकर्म है। जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है।

जो जीव को ऊँच-नीच कुल में पैदा करे वह गोत्र कर्म है, जैसे कुंभकार मिट्टी के छोटे-बड़े बर्तन बनाता है।

जो 'अंतर एति' दाता और पात्र में अंतर — व्यवधान करे, वह अंतराय कर्म है। जैसे भंडारी (खजांची) दूसरे को दान देने में विघ्न करता है — देने से रोक देता है उसी तरह अंतरायकर्म दान, लाभ, भोग आदि में विघ्न करता है। इस प्रकार से आठ कर्मों का लक्षण और स्वभाव बतलाया गया है।

सुदर्शन — इन कर्मों के बंध के कारणों को अवश्य बतलाइये कि जिससे उनसे छूटने का पुरुषार्थ कर सकें।

गुरुजी — हाँ, आठों कर्मों के बंध के कारणों को मैं स्पष्ट करता हूँ, सुनिये !

ज्ञान-दर्शन और उनके साधनों में प्रतिकूल आचरण, अंतराय, उपघात, प्रदोष, निन्हव तथा आसादन

करने से यह जीव ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का प्रचुरता से बंध करता है अर्थात् श्रुतधर आदि ज्ञानी-जनों के प्रति अविनीत व्यवहार करना, यह प्रतिकूल आचरण कहलाता है। ज्ञान में विघ्न करना या ज्ञान के साधनों में विघ्न करना अंतराय है। मन से अथवा वचन से प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना उपघात है। तत्त्वज्ञान के विषय में हर्ष का अभाव होना अथवा किसी के द्वारा मोक्ष के साधन का वर्णन किए जाने पर उसकी प्रशंसा न करके अंतरंग में कलुषित भाव करना प्रदोष है। जानते हुए किसी कारण से कहना कि यह पुस्तक मेरे पास नहीं है, इस शास्त्र को मैं नहीं जानता हूँ, इस प्रकार पुस्तक ज्ञान का अपलाप करना अथवा यदि अप्रसिद्ध गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है तो उनके नाम को छिपाकर प्रसिद्ध गुरु का नाम कहना यह निन्द्य है। काय और वचन से अनुमोदना नहीं करना या दूसरों के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का काय से या वचन से निषेध करना आसादन है। इन छह कारणों के होने पर ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों का स्थिति और अनुभाग बंध प्रचुरता से हो जाता है।

प्राणियों पर अनुकंपा करने से, व्रत धारण करने में उद्यमी रहने से तथा उनके धारण करने से, क्षमा धारण करने से, दान देने से तथा गुरुजनों की भक्ति करने से सातावेदनीय कर्म का तीव्र बंध होता है और इनके विपरीत आचरण करने से असातावेदनीय कर्म का तीव्र बंध होता है अर्थात् सभी जीवों पर दया भाव करने से, धर्म में अनुराग रखने से, धर्म का आचरण करने से, व्रत शील और उपवास के करने से, क्रोध नहीं करने से, शील-तप और संयम में निरत व्रतीजनों को प्रासुक वस्तुओं के दान देने से बाल, वृद्ध, तपस्वी और रोगीजनों की वैयावृत्ति करने से, आचार्य, उपाध्याय, साधु तथा माता-पिता और गुरुजनों की भक्ति करने से, सिद्धायतन और चैत्य-चैत्यालयों की पूजा करने से, मन-वचन-काय को सरल एवं शांत रखने से सातावेदनीय कर्म का प्रचुरता से बंध होता है। प्राणियों पर क्रूरतापूर्वक हिंसक भाव रखने से, पशु-पक्षियों के छेदन-भेदन, बध-बंधन और अंग-उपांग आदि के काटने से, उन्हें नपुंसक करने से, शारीरिक और मानसिक दुःखों के उत्पादन से, तीव्र अशुभ परिणाम रखने से, विषय-कषाय की बहुलता से, अधिक निद्रा लेने से तथा पाँच पापरूप आचरण करने से असातावेदनीय कर्म का तीव्र बंध होता है।

अरिहंत, सिद्ध, चैत्य, तप, श्रुत, गुरु, धर्म और संघ के अवर्णवाद करने से यह जीव दर्शनमोह का बंध करता है जिससे कि वह अनंत संसारी बनता है अर्थात् जिसमें जो अवगुण नहीं हैं उसमें उसके निरूपण करने को अवर्णवाद कहते हैं। वीतरागी सर्वज्ञदेव के भूख-प्यास की बाधा बताकर उनके कवलाहार मानना, उनके रोगादि की उत्पत्ति मानना, सिद्धों का पुनः आगमन कहना, तपस्वियों में दूषण लगाना, हिंसा में धर्म बतलाना, मद्य-मांस-मधु के सेवन को निर्दोष कहना, निर्ग्रन्थ साधु को निर्लज्ज और गंदा कहना, उन्मार्ग का उपदेश देना, सन्मार्ग के प्रतिकूल प्रवृत्ति करना, धर्मात्मा जनों में दोष लगाना, कर्ममलीमस असिद्धजनों को सिद्ध कहना इत्यादि कारणों से तीव्र दर्शनमोहनीय कर्म का बंध हो जाता है जो कि अनंत काल तक संसार में परिभ्रमण कराने का कारण है।

तीव्र कषायी, बहु मोह से परिणत और राग-द्वेष से संयुक्त जीव चारित्र गुण के घात करने वाले दोनों ही प्रकार के चारित्रमोहनीय कर्म का बंध करता है अर्थात् तीव्र क्रोध से परिणत हुआ जीव क्रोध कषाय कर्म का बंध करता है। ऐसे ही रागी, द्वेषी, ईर्ष्यालु, असत्यभाषी, कुटिलाचारी, परस्त्रीरत आदि जीव स्त्रीवेद कर्म का बंध करता है। मंदकषायी, मृदुस्वभावी, ईर्ष्यारहित, स्वदारसंतोषी जीव पुरुषवेद कर्म का बंध करता है। तीव्र क्रोधी, व्यभिचारी आदि जीव के नपुंसकवेद का बंध हो जाता है, इत्यादि कारणों से चारित्रमोहनीय कर्म का बंध होता है।

मिथ्यादृष्टी, महारंभ, महापरिग्रही, तीव्रलोभी, रौद्र-परिणामी और पापबुद्धि जीव नरकायु का बंध करता है। उन्मार्ग का उपदेशक, सन्मार्ग का नाशक, महामायावी परन्तु मुख से मीठे वचन बोलने वाला, शठ स्वभावी और शल्ययुक्त जीव तिर्यच आयु का बंध करता है।

जो स्वभाव से ही मंदकषायी है, दान देने में निरत है, शील संयम से रहित हो करके भी मनुष्योचित मध्यम गुणों से युक्त है, ऐसा जीव मनुष्यायु का बंध करता है।

अणुव्रतों, शीलव्रतों और महाव्रतों के धारण करने से, बाल तप और अकामनिर्जरा के करने से जीव देवायु का बंध करता है तथा जो जीव सम्यग्दृष्टी है वह भी देवायु का बंध करता है।

जिनकी मन-वचन और काय की प्रवृत्ति कुटिल है, जो मायावी है, जो रसगारव, ऋद्धिगारव और सात गारव से या अहंकार से सहित है, उसके अशुभ नामकर्म का बंध होता है। इससे विपरीत जो सरल स्वभावी है—कलह और विसंवाद से दूर है, न्यायपूर्वक व्यापार करते हुए ठीक नाप तौल कर लेता-देता है, उसके शुभ नामकर्म का बंध होता है।

जो अरिहंत देव, गणधर मुनि आदि की भक्ति करने वाला है, आगम का अभ्यासी है, उच्च जाति, कुल आदि में जन्म लेने वाला होकर भी अहंकार से रहित है, ऐसा जीव उच्च गोत्र का बंध करता है। इससे विपरीत आचरण करने वाले के नीचगोत्र कर्म का बंध होता है।

प्राणियों की हिंसा आदि में रत रहने वाला और जिनपूजन आदि मोक्षमार्ग के साधनों में विघ्न करने वाला जीव अंतराय कर्म का बंध कर लेता है, जिससे वह मन इच्छित वस्तु को प्राप्त नहीं कर पाता है तथा जो दूसरों पर क्रोधादि करता है और दूसरों के दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न-बाधाएं उपस्थित करता है, मिथ्यात्व आदि का सेवन करता है, ऐसा जीव अंतराय कर्म को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार से जो इन कर्मों के बंध के कारण कहे गये हैं, वे सब कर्मों के आस्रव के भी कारण हैं क्योंकि कर्मों का आस्रव होने पर ही बंध होता है इसीलिए यहाँ पर कारण में कार्य के उपचार से इनको कर्मबंध के कारण कहा है। यहाँ पर जो ये कर्मों के बंध के कारण कहे गये हैं, वे सब अनुभाग बंध की अपेक्षा से कहे गये हैं क्योंकि प्रदेश बंध की अपेक्षा से इन नियमों में व्यभिचार देखा जाता है।

इस प्रकार से कर्मों के कार्य और उनके बंध के कारणों को समझकर हमें उन-उन कारणों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए, जो कि हमारे लिए सर्वथा अहितकर हैं। जैसे कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के बंध के कारण, असातावेदनीय, दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, नरकायु, तिर्यचायु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र और अंतराय कर्म बंध के कारण सर्वथा हमारे लिए अहितकर ही हैं। इनके कारणों को तो सर्वथा छोड़ देना चाहिए और सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र इन कर्मों के बंध के कारणों का प्रारंभ में समादर करते हुए विशुद्ध रत्नत्रय के बल से इन कारणों को भी छोड़कर अपनी चैतन्य स्वरूप शुद्धात्म अवस्था को प्राप्त करके अनंत सुखी होने का ही पुरुषार्थ करना चाहिए।

सुदर्शन—गुरुजी! आपने हमें आठों कर्मों का स्वभाव बतलाया और उनके बंध के कारणों को भी समझाया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि इनके १४८ भेद कौन-कौन से हैं ?

गुरुजी—हाँ सुनो! ज्ञानावरण के ५, दर्शनावरण के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४, नाम के ९३, गोत्र के २ और अंतराय के ५, ऐसे ५+९+२+२८+४+९३+२+५=१४८ भेद होते हैं। क्रमशः इनके नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरण के ५ — मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

दर्शनावरण के ९ — चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि।

वेदनीय के २ — सातावेदनीय, असातावेदनीय।

मोहनीय के २८ — मूल में मोहनीय के २ भेद हैं — दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के ३ भेद हैं — सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति और मिथ्यात्वप्रकृति।

चारित्रमोहनीय के २५ भेद हैं — अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

आयु के ४ — नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु।

नाम के ९३ — ४ गति (नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति)। ५ जाति (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय)। ५ शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण), ५ बंधन (औदारिक बंधन, वैक्रियिक बंधन आदि), ५ संघात (औदारिक संघात आदि), ६ संस्थान (समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुंडकसंस्थान), ६ संहनन (वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलित और असंप्राप्तसृपाटिका), ३ अंगोपांग (औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग और आहारक अंगोपांग), ५ वर्ण (कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत), ५ रस (तिक्त चरपरा, कटुक, कषाय, आम्ल और मधुर), २ गंध (सुगंध और दुर्गंध), ८ स्पर्श (कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष), ४ आनुपूर्व्य (नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यगत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और देवगत्यानुपूर्व्य)।

अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण, तीर्थकर, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशस्कीर्ति ये सब मिलाकर ९३ भेद होते हैं।

गोत्र के २ — उच्चगोत्र और नीच गोत्र।

अंतराय के ५ — दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यांतराय।

इन सभी प्रकृतियों के लक्षण कर्मकांड आदि ग्रंथों से जान लेना चाहिए। यहाँ पर किन्हीं-किन्हीं प्रकृतियों का लक्षण स्पष्ट किया जाता है।

जो मतिज्ञान को आवृत्त करे — ढके उसे न होने दे, वह मतिज्ञानावरण कर्म है, ऐसे ही श्रुतज्ञानावरण आदि हैं। मतलब पाँच प्रकार के ज्ञानों को ढकने वाले पाँच प्रकार के आवरण कर्म होते हैं।

सुदर्शन — हमारे कितने ज्ञान ढके हुए हैं ?

गुरुजी — हमारे और तुम्हारे सभी के आज मति और श्रुतज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम होने से ये ही दो ज्ञान किसी न किसी अंश में प्रगट हो रहे हैं। बाकी के तीनों ज्ञान तो ढके ही हैं।

ऐसे ही दर्शनावरण में चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण इन दोनों का ही क्षयोपशम होने से ये चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन हम आपमें विद्यमान हैं। निद्रा, निद्रानिद्रा आदि कर्मों के उदय से ही हम लोगों को

नींद आती है।

वेदनीय के २ भेदों में से कभी साता और कभी असाता का उदय चलता ही रहता है कि जिसके उदय से हम और आप सुख अथवा दुःख का अनुभव करते रहते हैं।

मोहनीय के दर्शनमोहनीय भेदों में से मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि बना रहता है। तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ सकता है। मिश्र प्रकृति के उदय से जीव के मिश्रित परिणाम होते हैं तथा सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से तत्त्वों पर श्रद्धान तो बना रहता है किन्तु सम्यक्त्व में चल, मलिन और अगाढ़ दोष लगते रहते हैं। आजकल हम लोगों के उपशम या क्षायिक सम्यक्त्व न होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है, जिसमें इस सम्यक्त्वप्रकृति का उदय विद्यमान है।

सुदर्शन — क्या आजकल उपशम सम्यक्त्व भी नहीं होता है ?

गुरुजी — नहीं, ऐसी बात नहीं है, उपशम सम्यक्त्व तो हो सकता है किन्तु उसकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकार की स्थिति मात्र अंतर्मुहूर्त (४८ मिनट) की ही है। इससे अधिक काल वह रह नहीं सकता है, इसीलिए हमने क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की बात कही है।

चारित्रमोहनीय की अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार प्रकृतियाँ हम लोगों के दबी हुई हैं इसीलिए सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है। जो देशव्रती हैं उनके अप्रत्याख्यानावरण की ४ प्रकृतियाँ भी नहीं हैं और जो महाव्रती मुनि हैं उनके प्रत्याख्यानावरण की ४ प्रकृतियों का भी उदय नहीं है।

आयु के ४ भेदों में से इस समय हमारे और आपके मनुष्यायु का उदय है। इनमें से जो लोग व्रती हैं, उनके देवायु का ही बंध होगा।

नामकर्म के भेदों में से मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर, ये ही तीन बंधन और संघात तथा औदारिक अंगोपांग उदयरूप में हैं। छहों संस्थानों में से कोई एक संस्थान है। छहों में से इस पंचमकाल में तीन उत्तम संहननों के होने का अभाव है अतः अंतिम तीन संहननों में से कोई एक संहनन है।

सुदर्शन — गुरुजी ! किस-किस संहनन से जीव कहाँ जा सकता है ?

गुरुजी — हाँ सुनो ! असंप्राप्तसृपाटिका संहनन वाले मनुष्य यदि स्वर्ग जाते हैं, तो अधिक से अधिक आठवें तक जा सकते हैं। कीलित संहनन वाले जीव बारहवें स्वर्ग तक और अर्धनाराच संहनन वाले जीव सोलहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं। यही कारण है कि कर्मभूमि की महिलाएँ सोलहवें स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकती हैं क्योंकि इनके अंतिम के ये ही तीन संहनन हो सकते हैं। चतुर्थकाल में भी कर्मभूमिज महिलाओं के तीन उत्तम संहनन के होने का अभाव है।

नाराच संहनन वाले जीव नव ग्रैवेयक तक, वज्रनाराच वाले जीव नव अनुदिशों तक और वज्रवृषभ नाराच संहनन वाले जीव पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हो सकते हैं और तो क्या, इस उत्तम संहनन वाले मनुष्य कर्मों का नाश कर मोक्ष भी जा सकते हैं क्योंकि इस संहनन के सिवाय अन्य किसी संहनन से मोक्ष नहीं हो सकता है और यही कारण है कि स्त्रियों को सीधे उसी पर्याय से मोक्ष नहीं होता है।

छहों संहनन वाले जीव तीसरे नरक तक, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन से रहित पाँचों संहनन वाले जीव पाँचवीं पृथ्वी तक, कीलित से भी रहित चार संहनन वाले जीव छठी पृथ्वी तक और मात्र वज्रवृषभ नाराचसंहनन वाले जीव ही सातवीं पृथ्वी में जा सकते हैं। यही कारण है कि आज इस उत्तम संहनन के न

होने से कोई भी जीव यहाँ से सातवें नरक में नहीं जा सकता है।

“कर्मभूमि की महिलाओं के चतुर्थकाल में भी अन्त के तीन संहनन ही होते हैं आदि के तीन नहीं होते हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।”

और भी बहुत सी नामकर्म की प्रकृतियों का हम लोगों के उदय चल रहा है। जैसे त्रस नामकर्म का उदय है, हम पर्याप्त हैं। अग्निकायिक जीव के उष्ण नामकर्म का उदय है। सूर्य के बिम्ब में रहने वाले बादर पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय जीवों के आतप नामकर्म का उदय है, जिससे कि उनके विमान में उष्णता न होकर सूर्य की किरणों में ही उष्णता पाई जाती है। चन्द्रमा, नक्षत्र आदि के विमानों में रहने वाले एकेन्द्रिय जीवों के तथा जुगनू आदि जीवों के उद्योत नामकर्म का उदय रहता है जिससे कि इनकी किरणों में भी शीतलता है इत्यादि। इन्हीं कर्मों में स्थिर प्रकृति के उदय से ही शरीर में धातु-उपधातु अपने ठिकाने पर रहती है और अस्थिर कर्म के उदय से इनके अपने ठिकाने पर न रहने से जरा से उपवास, नियम आदि से विकलता हो जाया करती है। यशस्कीर्ति के उदय से हमारी कीर्ति चारों ओर फैल जाती है और अयशस्कीर्ति के उदय से अकारण ही हमारी निंदा होने लगती है।

तीर्थंकर प्रकृति एक अत्यन्त महत्त्वशालिनी सातिशय पुण्य प्रकृति है। जिस जीव के यह बंध जाती है वह जीव महापुरुष भगवान तीर्थंकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तक होता है। आजकल केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल का अभाव होने से यह प्रकृति नहीं बंध सकती है। गोत्रकर्म में से हमारे उच्च गोत्र का उदय है क्योंकि हम उच्चकुल में जन्में हैं।

अंतरायों में से किसी न किसी अंतराय कर्म का प्रकोप होता ही रहता है कि जिससे हम दान, लाभ आदि से वंचित रह जाते हैं। वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम विशेष होने से ही कोई-कोई साधु या श्रावक महिने के पन्द्रह दिन या आठ दिन, पाँच दिन आदि के उपवास किया करते हैं और नीरस आदि भोजन करके भी निर्विघ्नतया धर्माराधन करते रहते हैं। इस प्रकार से अत्यन्त संक्षेप में मैंने तुम्हें इन उत्तर प्रकृतियों का कार्य बताया है।

सुदर्शन — गुरुजी ! इन प्रकृतियों का विशेष विवरण जानने से क्या लाभ है ?

गुरुजी — बेटा सुदर्शन ! इनके विशेष विवरण से हम अशुभ प्रकृतियों के बंध के कारणों से बचने को सोचेंगे और जो प्रकृतियाँ कर्मों से छुटाने में सहायक हैं जैसे कि वज्रवृषभनाराचसंहनन, मनुष्यगति आदि, इनको प्राप्त करके हम कर्मों के नाश का उपाय प्राप्त करेंगे। आज भी कर्मसिद्धान्त को भली प्रकार से समझने वाले जीव कर्मसंचय से डरते हुए अपनी रागद्वेष आदि कषायरूप परिणामों की मंदता करते हैं और ज्ञान-ध्यान के अभ्यास में अपने को लगाते हुए संसार की स्थिति को कम कर लेते हैं।

सुदर्शन — गुरुजी ! शुभ कर्म प्रकृतियों और अशुभ कर्म प्रकृतियों से क्या समझना ?

गुरुजी — हाँ सुदर्शन ! सुनो। सबसे प्रथम इन कर्मों के घातिया और अघातिया ये दो भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं इनके उत्तर भेद ४७ हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिया कर्म हैं इनके उत्तर भेद १०१ हैं। घातिया कर्म के भी देशघाती और सर्वघाती की अपेक्षा दो भेद हैं। केवल ज्ञानावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण, इनके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार-चार भेद होकर ७२ तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ऐसे १+६+१२+२=२१ भेद सर्वघाती के हैं। इनसे बची शेष प्रकृतियाँ — ज्ञानावरण की ४, दर्शनावरण की ३, सम्यक्त्व प्रकृति की १, संज्वलन क्रोधादि ४, हास्यादि

नोकषाय की ९ और अंतराय की ५, ऐसे कुल मिलाकर ४+३+१+४+९+५=२६ प्रकृतियाँ देशघाती हैं। जो आत्मा के गुणों का घात करते हैं, वे घातिया कर्म कहलाते हैं और जो आत्मा के गुणों का घात करने में असमर्थ हैं वे अघातिया कर्म हैं।

ये घातिया कर्म सर्वथा अप्रशस्त — पापरूप ही हैं। अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ — सातावेदनीय, तिर्यचायु, मनुष्यायु, देवायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, शरीर ५, बंधन ५, संघात ५, अंगोपांग ३, शुभ वर्ण ५, शुभ गंध २, शुभ रस ५, शुभ स्पर्श ८, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थकर ये ६८ प्रकृतियाँ प्रशस्त — पुण्यरूप हैं।

इनसे विपरीत चारों घातिया कर्मों की ४७, नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि जाति ४, प्रथम संस्थान के बिना संस्थान ५, प्रथम संहनन के बिना संहनन ५, अशुभ वर्ण, रस, गंध और स्पर्श के २०, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशस्कीर्ति ये सब मिलकर १०० प्रकृतियाँ अप्रशस्त पापरूप हैं।

सुदर्शन — गुरुजी ! कुल प्रकृतियाँ तो १४८ ही हैं और आपने पुण्य रूप ६८ तथा पापरूप १०० ऐसे १६८ प्रकृतियाँ गिना दी हैं, सो कैसे ?

गुरुजी — हाँ सुनो ! तुमने प्रश्न बहुत ही ठीक किया है। जो ये वर्ण, रस, गंध और स्पर्श के भेदरूप २० प्रकृतियाँ हैं वे पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं इसीलिए उनको शुभ-अशुभ रूप से दोनों जगह गिनाया है। इसी हेतु से १४८ के १६८ भेद हो गये हैं।

सुदर्शन — ऐसा क्यों ?

गुरुजी — देखिए ! कोई-कोई वर्ण, रस, गंध और स्पर्श किसी को अच्छे लगते हैं और किसी को बुरे लगते हैं जैसे आपको नीम की पत्ती कटुवी लगती है किन्तु ऊँट को अच्छी लगती है तथा कभी-कभी कोई वर्ण आपको अच्छे लगते हैं, कभी-कभी आपको ही बुरे लगने लगते हैं। जैसे — गर्मी में मलमल के वस्त्र अच्छे लगते हैं किन्तु ठण्डी में वे बुरे लगते हैं। ठण्डी में ऊनी वस्त्र अच्छे लगते हैं और गर्मी में वे नहीं सुहाते हैं इत्यादि।

सुदर्शन — गुरुजी ! आपने तिर्यचगति को तो पापरूप में गिनाया है और तिर्यचायु को पुण्य प्रकृतियों में रखा है सो क्या आयु और गतियाँ अलग-अलग से उदय में आती हैं ?

गुरुजी — सुदर्शन ! इनका उदय तो एक साथ ही होता है किन्तु फिर भी इनमें भेद होने का कारण है। देखो ! तिर्यचगति में कोई जाना नहीं चाहता है किन्तु वहाँ जाने के बाद कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता है। यही कारण है कि तिर्यचगति तो बुरी लगती है तथा तिर्यचायु अच्छी लगती है किन्तु नरकायु पापरूप ही है क्योंकि नरक में कोई जीव जाना भी नहीं चाहता है तथा वहाँ जाकर कोई जीव वहाँ रहना भी नहीं चाहता है सभी मरना चाहते हैं किन्तु मृत्यु नहीं आती है, सो वे बेचारे क्या करें ?

सुदर्शन — क्या इन प्रकृतियों में और भी कुछ भेद हैं ?

गुरुजी — हाँ, इनमें पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी ऐसेचार भेद भी पाये जाते हैं। जिनके उदय का फल पुद्गल में ही हो, वे पुद्गलविपाकी हैं जिनका नारक आदि पर्यायों के होने में ही फल हो, वे भवविपाकी हैं। जिनका — जीव का परलोक गमन करते समय मार्ग में ही फल होवे, वे क्षेत्रविपाकी हैं और जिनका नारक आदि जीव की पर्यायों में ही फल होवे, वे जीवविपाकी हैं।

पुद्गलविपाकी — ५ शरीर, ५ बंधन, ५ संघात, ३ अंगोपांग, ६ संस्थान, ६ संहनन, ५ वर्ण, ५ रस, २ गंध और ८ स्पर्श ये ५० तथा निर्माण आतप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, अगुरुलघु, उपघात, परघात ये सब ६२ प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकी हैं।

भवविपाकी — नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु ये ४ भवविपाकी हैं।

क्षेत्रविपाकी — नरकगत्यानुपूर्वी आदि चारों आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं।

जीवविपाकी — वेदनीय की २, गोत्र की २, घातिया कर्मों की ४७=ये ५२ तथा नामकर्म की २७ अर्थात् ४ गति, ५ जाति, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति और तीर्थंकर ये ५१+२७=७८ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं।

सुदर्शन — गुरुजी ! चारों घातिया कर्म किन-किन गुणों को घातते हैं ?

गुरुजी — हाँ, देखो ! ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को ढकता है। दर्शनावरण कर्म जीव के दर्शन गुण को ढकता है। दर्शनमोहनीय जीव के सम्यक्त्व गुण को प्रगट नहीं होने देता, ऐसे ही चारित्रमोहनीय में अनंतानुबंधी की चार प्रकृतियाँ भी जीव के सम्यक्त्वगुण का घात करती हैं। अप्रत्याख्यानावरण जीव के देशचारित्र का घात करता है, प्रत्याख्यानावरण जीव के सकलचारित्र का घात करता है और संज्वलन कषायें जीव के यथाख्यातचारित्र का घात करती हैं।

सुदर्शन — ये कषायें जीव के साथ कितने दिन तक रह सकती हैं ?

गुरुजी — इन कषायों का वासना काल — संस्कार काल क्रम से माना गया है। जैसे — अनंतानुबंधी का वासना काल छह महीने से ऊपर संख्यात, असंख्यात और अनंत भवों तक भी चला जाता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय छः महीने से अधिक नहीं रह सकती है। प्रत्याख्यानावरण का काल अधिक से अधिक पन्द्रह दिन है तथा संज्वलन कषाय का काल मात्र अंतर्मुहूर्त है। अभिप्राय यह है कि जैसे किसी ने क्रोध किया, पीछे वह दूसरे काम में लग गया। वहाँ पर क्रोध का कार्य दिख नहीं रहा है किन्तु उसके हृदय में क्षमा भी न होने से क्रोध का संस्कार चित्त में बैठा हुआ है, उसी का नाम वासना या संस्कार है।

सुदर्शन — इन सभी बातों के समझने से क्या लाभ है ?

गुरुजी — इन सभी बातों को अच्छी तरह समझकर घातियाँ कर्मों में भी जो सबसे अधिक बुरा मोहनीय कर्म है उसी को दूर करने का उपाय करना चाहिए।

बंध के कारण

(बंध के कारणों को समझकर ही हम उनसे बच सकते हैं अन्यथा बंध के कारणों को करते ही रहेंगे तो बंधते ही रहेंगे इसलिए इन कारणों को समझना अति आवश्यक है। इनमें से सबसे भयंकर मिथ्यात्व है, उसके सभी भेदों से अपने को बचाना है।)

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः^१।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बंध के हेतु हैं।

१. मिथ्यात्व — मिथ्यात्व के मूल में दो भेद हैं — नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक।

परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का श्रद्धानरूप भाव होता है वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है तथा परोपदेश के निमित्त से होने वाला मिथ्यादर्शन चार प्रकार का है — क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक अथवा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकार का है — एकांत, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञानिक।

मिथ्यात्व के चार भेदों का यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं —

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और वैनयिकवादियों के ३२ भेद हैं —

क्रियावादी के भेद — पहले 'अस्ति' ऐसा पद लिखना उसके ऊपर 'आपसे' 'परसे' 'नित्यपने से' 'अनित्यपने से' ऐसे ४ पद लिखना। उनके ऊपर जीवादि ९ पदार्थ लिखना, उनके ऊपर 'काल', 'ईश्वर', 'आत्मा', 'नियति', 'स्वभाव' इस तरह पाँच पद लिखना। इस प्रकार $१ \times ४ \times ९ \times ५ = १८०$ भेद होते हैं।

अस्ति — है, अपने से — अपने स्वरूप से, पर से — परस्वरूप से, नित्यपने से — सर्वथा नित्यरूप से, अनित्यपने से — सर्वथा क्षणिक रूप से ऐसा पाँच का अर्थ कहा। नव पदार्थ में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप।

चेतना लक्षण वाला जीव है, इससे विपरीत अजीव है। कर्मों का आना आस्रव है। आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्मों का एकमेक हो जाना बंध है। आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर है। कर्मों का एकदेश झड़ना निर्जरा है। सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाना मोक्ष है। शुभ प्रकृतियों को पुण्य और अशुभ प्रकृतियों को पाप कहते हैं।

अब काल आदि पाँच का लक्षण आचार्य स्वयं कहते हैं —

कालवाद — काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियों में काल ही जागता है, ऐसे काल को उठने में कौन समर्थ हो सकता है? इस प्रकार काल से ही सब कुछ मानना कालवाद है।

ईश्वरवाद — आत्मा ज्ञानरहित है, अनाथ है अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता है, उस आत्मा का सुख-दुःख, स्वर्ग तथा नरक में गमन वगैरह सब ईश्वर के द्वारा ही किया हुआ है। ऐसे ईश्वरकृत सब कार्य मानना 'ईश्वरवाद' है।

आत्मवाद — संसार में एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है और वह सबमें व्यापक है, सर्वाङ्गपने से अगम्य — छुपा हुआ है, चेतना सहित है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है। इस तरह आत्मस्वरूप से ही सबको मानना 'आत्मवाद' है।

नियतिवाद^२ — जो जिस समय, जिससे, जैसे, जिसके नियम से होता है, वह उस समय, उससे, वैसे, उसके ही होता है, ऐसा नियम से सब वस्तु को मानना उसे 'नियतिवाद' कहते हैं।

स्वभाववाद — कांटे को लेकर जो तीक्ष्ण (चुभने वाली) वस्तु हैं, उनके तीक्ष्णता कौन करता है? मृग और पक्षियों को अनेक प्रकार के कौन बनाता है? ऐसा प्रश्न होने पर यही उत्तर है कि सबमें स्वभाव ही

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ८। २. जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा। तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु।।८८२॥

है। ऐसे सबको कारण के बिना स्वभाव से ही मानना 'स्वभाववाद' है।

इस प्रकार से कालादि की अपेक्षा एकांत पक्ष के ग्रहण कर लेने से क्रियावादियों का मिथ्यात्व १८० भेदरूप है।

अक्रियावादी के ८४ भेद—पहले 'नास्ति' पद लिखना, उसके ऊपर 'आपसे' 'परसे' ये दो पद लिखना, उनके ऊपर पुण्य-पाप के बिना सात पदार्थ लिखना, इस प्रकार चारों को परस्पर गुणा करने से $१ \times २ \times ७ \times ५ = ७०$ भेद हो जाते हैं। पुनः 'नास्ति' पद के ऊपर सात पदार्थ लिखकर, 'नियति' और 'काल' ऐसे दो पद लिखना, पुनः इनको परस्पर में गुणा करने से $१ \times ७ \times २ = १४$ भेद हुए। ऐसे $७० + १४ = ८४$ भेद होते हैं। ये अक्रियावादी किसी चीज का अस्तित्व नहीं मानते हैं तथा पुण्य, पाप, ईश्वर, आत्मा और स्वभाव को भी स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु 'काल' और 'नियति' को यह भी मानते हैं। इस प्रकार से अक्रियावादियों के ८४ भेद हो जाते हैं।

अज्ञानवादियों के ६७ भेद—जीवादि नव पदार्थों में से एक-एक का सप्तभंग से न जानना जैसे कि 'जीव' अस्ति है, ऐसा कौन जानता है इत्यादि। अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ये सात भंग कहलाते हैं। इन सातों भंगों से जीव को कौन जानता है ? इस प्रकार ९ पदार्थों से सात भंगी का गुणा करने से $९ \times ७ = ६३$ भेद होते हैं। पहले 'शुद्ध पदार्थ' ऐसा लिखना, उसके ऊपर अस्ति, नास्ति, अस्तित्नास्ति और अवक्तव्य इन चार को लिखना। इनको परस्पर में गुणा करने से $१ \times ४ = ४$ ऐसे $६३ + ४ = ६७$ भेद अज्ञानवादियों के हैं। ये लोग अज्ञानता को ही सब कुछ समझते हैं, किसी पदार्थ का ज्ञान न अस्ति रूप से मानते हैं न नास्ति रूप से। न नवपदार्थ का ज्ञान स्वीकार करते हैं और न ही शुद्ध पदार्थ का ज्ञान मानते हैं इसलिए ये लोग महान अज्ञानरूपी अंधकार में डूबे हुए हैं।

वैनयिकवादियों के ३२ भेद—देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बालक, माता और पिता, इन आठों का मन, वचन, काय से विनय करना और दान देकर विनय करना ऐसे $८ \times ४ = ३२$ भेद विनयवादियों के होते हैं। ये विनयवादी गुण-अगुण की अपेक्षा किये बिना मात्र विनय से ही सिद्धि मानते हैं।

इस प्रकार स्वच्छंद—मनमाना श्रद्धान करने वाले ऐसे ३६३ मिथ्यामत हैं जो कि पाखंडीजनों को व्याकुलता उत्पन्न करने वाले हैं और अज्ञानीजनों के चित्त को हरने वाले हैं।

आगे अन्य भी एकांतवाद हैं, जिनका स्पष्टीकरण करते हैं—

पौरुषवाद—जो आलस्यरहित हो, उद्यम करने में उत्साहरहित हो वह कुछ फल नहीं प्राप्त कर सकता। जैसे—स्तनों का दूध पीना बिना पुरुषार्थ के कभी नहीं बन सकता। इसी प्रकार पुरुषार्थ से सब कार्य की सिद्धि होती है, ऐसा मानना 'पौरुषवाद' है।

दैववाद—मैं केवल दैव—भाग्य को ही उत्तम समझता हूँ, निरर्थक पुरुषार्थ को धिक्कार हो। देखो कि किले के समान ऊँचा जो वह कर्ण नामा राजा सो युद्ध में मारा गया। यह दैववाद है, इसी से सर्वसिद्धि होती है।

संयोगवाद—यथार्थ ज्ञानी संयोग से ही कार्यसिद्धि मानते हैं क्योंकि जैसे एक पहिये से रथ नहीं चल सकता तथा जैसे एक अंधा दूसरा पंगु ये दोनों वन में प्रविष्ट हुए थे, सो किसी समय आग लग जाने से ये दोनों मिलकर अर्थात् अंधे के ऊपर पंगु चढ़कर अपने नगर में पहुँच गये, यह संयोगवाद है।

लोकवाद—एक ही बार उठी हुई लोकप्रसिद्धि देवों से भी मिलकर दूर नहीं की जा सकती, अन्य की

बात ही क्या है। जैसे कि द्रौपदी के द्वारा केवल अर्जुन के ही गले में डाली गई माला भी 'इसने पाँचों पाण्डवों को पहनाई है' ऐसी प्रसिद्धि हो गई, जो कि गलत है। इस प्रकार लोकवादी लोकप्रवृत्ति को ही सर्वस्व मानते हैं।

२. अविरति — व्रतरूप परिणामों का न होना अविरति है। इसके १२ भेद हैं — पाँच स्थावर और त्रस ऐसे षट्कायिक जीवों की दया नहीं पालना पाँच इन्द्रिय और मन को वश में नहीं रखना।

३. प्रमाद — कुशलानुष्ठान में असावधानी अथवा अनादर भाव करना प्रमाद है। इसके १५ भेद हैं — ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय विषय, १ निद्रा और प्रणय — स्नेह।

विकथा ४ — स्त्रीकथा — स्त्री संबंधी कथाएँ करना, भक्तकथा — भोजन संबंधी कथाएँ करना, राष्ट्रकथा — राष्ट्र, देश आदि की कथाएँ करना और अवनिपालकथा — राजाओं की कथाएँ करना, ये मुनियों के लिए विकथाएँ मानी गई हैं।

कषाय ४ — क्रोध, मान, माया और लोभ।

इन्द्रिय ५ — स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इनके विषयों में प्रवृत्ति करना। निद्रा और स्नेह के वश में रहना।

४. कषाय — जो आत्मा को कषे अर्थात् दुःख देवें, वे कषाय हैं। कषाय के २५ भेद हैं — अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

५. योग — मन, वचन, काय के निमित्त से जो आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंदन होता है, वह योग है। उसके १५ भेद हैं —

सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग, अनुभय वचनयोग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिकमिश्र काययोग, आहारककाय योग, आहारकमिश्र काययोग और कर्मणयोग।

इस प्रकार से बंध के ५ भेदों का वर्णन किया है।

बंध^१ के प्रत्यय — कारण बतलाने में श्री कुन्दकुन्द देव ने चार ही कारण बतलाए हैं —

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। वहाँ प्रमाद कषायों में ही अंतर्भूत हो जाता है।

मिथ्यात्व के ५, अविरति के १२, कषाय के २५ और योग के १५ ऐसे ५+१२+२५+१५=५७ भेद हो जाते हैं। समयसार में इन कारणों के तेरह भेद माने हैं। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक ये बंध के हेतु पाये जाते हैं। इसी हेतु से कथंचित् तेरहवें गुणस्थान तक बंध संभव है। इन्हीं को ही आस्रव के कारण कहते हैं।

कर्मों का आस्रव प्रतिक्षण होता है इसलिए क्या योग्य है क्या अयोग्य है, ऐसा विचारपूर्वक ही हर कार्य करना चाहिए

प्रश्न — किस-किस निमित्त से कौन-कौन कर्म बंधते हैं ?

उत्तर — बंध योग्य प्रकृतियाँ १२० हैं। भेद करने से प्रकृतियाँ १४८ हैं जो कि आपको मालूम ही हैं। उनमें से ५ बंधन और ५ संघात को ५ शरीर में ही सम्मिलित कर दीजिए तब १० घट गई और ८ स्पर्श, ५

१. सामणपचय्या खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो। मिच्छंतं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा॥११६॥

तेसिं पुणो वि य इमो भण्णो भेदो दु तेरस वियप्पो। मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं॥११७॥ (समयसार)

रस, ५ वर्ण, २ गंध इन २० भेदों को स्पर्श, रस, वर्ण, गंध मात्र इन चार रूप से ही लीजिए, तब १६ घट गई। दर्शन-मोहनीय के ३ भेदों में से सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन दो प्रकृतियों को भी घटा दीजिए चूँकि इनका बंध नहीं होता, बंध मिथ्यात्व का ही होता है। इन्हें हिस्सा मिल जाता है अतः इनका उदय पाया जाता है। इस प्रकार से १४८-२८=१२० प्रकृतियाँ शेष रही हैं, जो कि बंध योग्य हैं।

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियाँ बंधती हैं चूँकि आहारक, आहारक मिश्र और तीर्थकर इन तीन का बंध नहीं होता है।

(१) मिथ्यात्व के निमित्त से बंधने योग्य प्रकृतियाँ १६ हैं—मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकायु, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, हुंडकसंस्थान, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त। वह पहले गुणस्थान तक बंध है आगे इनका आस्रव न होने से संवर हो जाता है।

मिथ्यादृष्टि जीव इन प्रकृतियों का बंध करता है, सम्यग्दृष्टि नहीं। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव नपुंसकवेद में, नरकगति में, स्थावर योनि अथवा विकलत्रय में जन्म नहीं लेता है।

प्रश्न—पुनः राजा श्रेणिक नरक कैसे गये ?

उत्तर—उन्होंने पहले नरकायु बांध ली थी इसलिए गये, चूँकि बद्धायुष्क जीव पहले नरक में जा सकता है, दूसरे आदि में नहीं।

(२) असंयम के निमित्त से बंधने वाली प्रकृतियाँ ३९ हैं। जिसमें से २५ तो द्वितीय गुणस्थान तक बंधती हैं, १० चौथे गुणस्थान तक और ४ पाँचवें गुणस्थान तक बंधती हैं। आगे इनका आस्रव नहीं होने से इनका संवर माना जाता है।

प्रश्न—क्या पाँचवें तक असंयम है ? वहाँ तो देशसंयम माना है।

उत्तर—हाँ, देखिए। असंयम (अविरति) के तीन भेद हैं—अनंतानुबंधी के उदय से होने वाला, अप्रत्याख्यानावरण के उदय से होने वाला और प्रत्याख्यानावरण के उदय से होने वाला।

अनंतानुबंधी के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, स्त्रीवेद, तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, तिर्यचायु, मध्य के चार संस्थान, मध्य के चार संहनन, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भंग, दुस्वर, अनादेय और नीचगोत्र, इन २५ प्रकृतियों को एकेन्द्रिय से लेकर सासादन सम्यग्दृष्टि तक जीव बांधते हैं। आगे इनका बंध नहीं होने से संवर हो जाता है अतः सम्यग्दृष्टि जीवों के इनका बंध नहीं होता है, इसलिए वे मरकर स्त्री पर्याय में तिर्यचयोनि में नहीं जाते हैं और न नीचगोत्री होते हैं।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भोगभूमि के तिर्यच हो सकते हैं, सो कैसे ?

उत्तर—यह भी बद्धायुष्क की अपेक्षा है अर्थात् किसी जीव ने पहले तिर्यचायु बांध ली, पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया, तो वह भोगभूमि में ही जायेगा—कर्मभूमि का तिर्यच नहीं होगा और वहाँ से आयु पूर्ण कर मरकर वैमानिक देवों में ही जन्म लेगा।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग और वज्रवृषभनाराचसंहनन, इन दश प्रकृतियों का बंध एकेन्द्रियों से लेकर चतुर्थगुण स्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि तक ही होता है। देशव्रती इनका बंध नहीं कर सकता। आगे इनका बंध नहीं होने से संवर हो जाता है।

प्रत्याख्यानानावरण के उदय से होने वाले असंयम से प्रत्याख्यानानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन ४ प्रकृतियों को एकेन्द्रियों से लेकर संयतासंयत गुणस्थान देशव्रती जीव तक बांधते रहते हैं। आगे इनका बंध नहीं होने से संवर हो जाता है।

यहाँ पर त्रस हिंसा का त्याग हो जाने से पाँच स्थावर जीवों का अदया, पाँच इन्द्रिय और मन का अवश, इन ११ प्रकार के असंयम से ही इन कर्मों का आस्रव बंध होता है, ऐसा समझ लेना।

(३) प्रमाद के निमित्त से बंधने वाली असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशस्कीर्ति ये छह प्रकृतियाँ हैं। ये छठे गुणस्थान तक ही बंधती हैं। आगे इनका संवर हो जाता है।

देवायु का बंध प्रमाद हेतुक भी है और अप्रमाद हेतुक भी है अतः इसका सातवें गुणस्थान तक बंध होता है। छठे गुणस्थान तक प्रमाद का सद्भाव है। सातवें में अप्रमत्त अवस्था है।

(४) जिन कर्मों का मात्र कषाय के निमित्त से ही बंध होता है, उन कर्मों का कषाय के अभाव में संवर हो जाता है। प्रमादादिक के निमित्त से रहित यह कषाय तीव्र, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद से तीन गुणस्थानों में बंट जाता है।

निद्रा, प्रचला, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियिकशरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारकशरीर, आहारक-आंगोपांग, तैजसशरीर, कर्मण शरीर, पंचेन्द्रियजाति, समचतुरस्र संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थकर तथा हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये सभी ३६ प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान तक बंधती हैं। आगे इनका संवर हो जाता है।

पुरुषवेद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इन पाँच प्रकृतियों का नवमें गुणस्थान तक बंध होता है, आगे इनका बंध रुक जाता है।

पाँच ज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनावरण, पाँच अंतराय, यशस्कीर्ति और उच्चगोत्र इन १६ प्रकृतियों का दशवें गुणस्थान तक बंध होता है, आगे नहीं होता।

(५) दशवें गुणस्थान के अंत में कषाय का पूर्णतया अभाव हो जाने से आगे केवल योग के निमित्त से ही बंध होता है।

इसीलिए ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में मात्र योग के निमित्त से सातावेदनीय का आस्रव होता है। अर्हत अवस्था में सातावेदनीय का जो बंध है, वह एक समय की स्थिति वाला है। अर्थात् कर्म के आने का समय और जाने का समय एक ही है, वह रुकता नहीं है। चूँकि स्थिति और अनुभाग कषाय से होते हैं और दशवें गुणस्थान के आगे कषाय नहीं हैं। तेरहवें गुणस्थान तक यह एक सातावेदनीय बंधती हैं। आगे इसका अभाव हो जाने से चौदहवें गुणस्थान के अयोगकेवली अबंधक कहलाते हैं। यही कारण है कि तेरह गुणस्थान तक बंधक होने से सयोगकेवली अर्हत देव भी कथंचित् बंधक माने गये हैं।

प्रश्न — पुनः जो सम्यग्दृष्टि को समयसार में अबंधक कहा है, सो कैसे ?

उत्तर — मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय, इनके निमित्त से होने वाला बंध सम्यग्दृष्टि के नहीं होने से ही वह कथंचित् अबंधक है चूँकि उसके अनंत संसार के लिए कारणभूत इन मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी का बंध नहीं होता है तथा ४१ प्रकृतियों का बंध न होने से उनका संवर करने वाला हो जाता है। इसीलिए तो कर्म-सिद्धान्त को समझना अति आवश्यक है।

सम्यग्दृष्टि के कर्म बंध है या नहीं ?

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चार कर्मबंध के मूल कारण हैं, इनके उत्तर भेद क्रम से ५, १२, २५ और १५ हैं। इस प्रकार सब मिलकर कर्मबंध के ५७ उत्तर प्रत्यय होते हैं। प्रत्यय, हेतु और कारण ये पर्यायवाची नाम हैं। ये कर्मबंध के कारण ही आस्रव कहलाते हैं।

मिथ्यात्व के ५ भेद—एकांत, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान।

असंयम के १२ भेद—पाँच स्थावर और एक त्रस इन षट्काय के जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं होना तथा पाँच इन्द्रिय और मन को वश में नहीं रखना ये १२ प्रकार का असंयम है।

कषाय के २५ भेद—अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये २५ कषायें हैं।

योग के १५ भेद—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग, अनुभय वचनयोग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग और कर्मणयोग।

इन ५७ आस्रवों में से मिथ्यात्व गुणस्थान में आहारक और आहारकमिश्र योग के न होने से ५५ आस्रव होते हैं। सासादन गुणस्थान में ५ मिथ्यात्व के भी न होने से ५० होते हैं। मिश्र गुणस्थान में औदारिकमिश्र, वैक्रियिकमिश्र, कर्मण और अनंतानुबंधी के चार इन ७ आस्रवों के निकाल देने से $५०-७=४३$ आस्रव होते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में उपर्युक्त तीनों योगों के होने से और चार अनंतानुबंधी के निकल जाने से $५०-४=४६$ आस्रव होते हैं। अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव के ५ मिथ्यात्व और ४ अनंतानुबंधी के नहीं रहने से उस निमित्तक कर्मों का आस्रव नहीं होता है तथा आहारकद्विक का आस्रव भी नहीं होता है। इसलिए $२+५+४=११$ आस्रव कम हो जाने से $५७-११=४६$ आस्रव होते हैं।

इन ४६ आस्रवों में से एक जीव के एक समय में कम से कम कितने आस्रव होते हैं ? सो देखिए—

सम्यग्दृष्टि जीव के कम से कम नौ और अधिक से अधिक सोलह आस्रव हो सकते हैं तथा मध्यम रूप से १०, ११, १२, १३, १४ और १५ आस्रव होते हैं।

कम से कम ९ कौन से हैं—इन्द्रिय १ और काय १ ऐसे असंयम के २, अनंतानुबंधी के बिना अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन संबंधी क्रोधादि कषाय ३, वेद १, हास्य, रति अथवा अरति, शोक इन दोनों युगल में से कोई एक युगल और ४ मन के, ४ वचन के तथा औदारिक और वैक्रियिक इन १० योगों में से योग १ अथवा अपर्याप्तक की अपेक्षा आहारकद्विक के बिना १३ योगों में से कोई योग। इस प्रकार से इन्द्रिय १ + काय १ + कषाय ३ + वेद १ + हास्यादि २ + और योग १ = कुल मिलाकर ९ आस्रव होते हैं अर्थात् कोई सम्यग्दृष्टि जीव एक समय में किसी एक इन्द्रिय के वश होकर ही आस्रव करेगा क्योंकि पाँचों इन्द्रिय और मन का व्यापार एक साथ नहीं हो सकता है। वही जीव षट्काय जीवों में से किसी एक जीव के प्रति असंयम अवश्य करेगा। वही जीव अप्रत्याख्यानावरण आदि तीन प्रकार की कषायों में से क्रोध या मान या माया या लोभ किसी न किसी के वश अवश्य रहेगा। वही जीव पुरुषवेद का आस्रव करेगा

किन्तु यदि पहले उसने नरकायु बांध ली पुनः सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ तो वह पहले नरक में जायेगा इसलिए नपुंसकवेद का भी आस्रव हो जाता है अर्थात् इन दोनों वेदों में से किसी वेद का आस्रव अवश्य होगा। वही जीव हास्य-रति या अरति-शोक इन दोनों युगलों में से किसी एक युगल का आस्रव अवश्य करेगा और वही जीव १३ योगों में से किसी एक योग के निमित्त से आस्रव अवश्य करेगा, इस प्रकार जघन्य रूप से ९ आस्रव होते हैं।

इन ९ आस्रवों में जितने प्रकार संभव हैं उन्हें भंग कहते हैं। सो इस ९ आस्रव संबंधी १००८० (दस हजार अस्सी) भंग होते हैं।

यथा —

पाँचों इन्द्रिय और मन इन छहों में से कभी कोई भी इन्द्रियनिमित्तक आस्रव होता है अतः ६ इन्द्रियाँ, षट्काय में से किसी की भी जीव हिंसा संभव होने से प्राणी असंयमनिमित्तक ६, क्रोधादि चारों कषायों में से कोई भी कषाय निमित्त होने से कषाय ४, औदारिकमिश्र योग में एक पुरुषवेद ही रहता है उसकी अपेक्षा १ वेद, हास्यादि युगल में कोई एक युगल और एक योग ऐसे $६ \times ६ \times ४ \times १ \times २ \times १ = २८८$ भंग हो जाते हैं पुनः पुरुषवेद और नपुंसकवेद तथा वैक्रियिक मिश्र और कर्मण योग इन दो-दो की अपेक्षा गुति करने से अर्थात् $६ \times ६ \times ४ \times २ \times २ \times २ = ११५२$ भंग हो जाते हैं। इसी प्रकार पर्याप्त की अपेक्षा तीनों वेदों से तथा दश योगों गुणा करने से $६ \times ६ \times ४ \times ३ \times २ \times १० = ८६४०$ हो जाते हैं। सब मिलाकर $२८८ + ११५२ + ८६४० = १००८०$ भंग हो जाते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि किसी एक सम्यग्दृष्टि जीव के एक समय में कम से कम नव आस्रव अवश्य होंगे और उन नौ आस्रवों में दश हजार अस्सी प्रकार संभव होने से कोई भी एक प्रकार एक समय में होता है।

ये आस्रव कर्मबंध के लिए कारण हैं, संसार से भीरू भव्य जीव इन आस्रवों से बचने का पुरुषार्थ करते हैं।

कर्म प्रकृतियों के बंध की व्यवस्था

कर्मप्रकृतियाँ १४८ हैं। इनमें बंध योग्य १२० होती हैं। वो कैसे हैं ? सो बताते हैं। आठ स्पर्श, पाँच रस, पाँच वर्ण और दो गंध इनको स्पर्श, रस, वर्ण और गंध मात्र की अपेक्षा से बीस के चार भेदरूप ही कर देने से $२० - १६ = ४$ अर्थात् सोलह प्रकृतियाँ घट गईं। पाँच शरीर, पाँच बंधन, पाँच संघात इन पंद्रह में भी पाँच शरीर में बंधन, संघात शामिल हो जाने से $१५ - १० = ५$ शेष रहती हैं तथा मोहनीय में दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति और मिथ्यात्व प्रकृति में से मिथ्यात्व प्रकृति ही बंधती है। अनंतर तीन रूप से बंट जाती है, अतः $३ - २ = १$ बंध योग्य रहती है। इस प्रकार $१६ + १० + २ = २८$ प्रकृतियों को उन्हीं में अंतर्भूत कर देने से बंध योग्य प्रकृतियाँ १२० रहती हैं।

इनमें से तीर्थंकर प्रकृति सम्यक्त्व गुण के निमित्त से बंधती है और आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग ये दो प्रकृतियाँ संयम गुण के निमित्त से बंधती हैं। कहा भी है — सम्मेव तित्थबंधो आहारदुगं पमादरहिदेसु^१” सम्यक्त्व में ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है और आहारकद्वय का बंध प्रमादरहित मुनियों में होता है।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध की विशेषता —

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।

तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते।^२

अर्थ — प्रथमोपशम सम्यक्त्व में और शेष तीन में अर्थात् द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व में अर्थात् इन चारों में किसी एक सम्यक्त्व के होने पर चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान वालों में से कोई एक गुणस्थान वाला कर्मभूमिज मनुष्य केवली भगवान् अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ करता है।

यहाँ यह और विशेष समझना कि चौथे गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक तीर्थंकर प्रकृति का बंध माना है अर्थात् आठवाँ गुणस्थान श्रेणी में ही उत्तम तीन संहनन वाले मुनियों के पाया जाता है। इस तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने के लिए कर्मभूमि का मनुष्य ही होना चाहिए यह भी नियम है। इस प्रकृति के बंध में सहायक सामग्रीरूप अपायविचय धर्मध्यान भी माना गया है। यथा — श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलदुःखदावस्कंधे चक्रम्यमाणानातिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान् इत्यारोहत्परानुग्रहर सविलसद् भावनोपात्तपुण्यैप्रकांतैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात्॥

अर्थ — जहाँ पर दुःखरूपी दावानल अग्नि अतिशयरूप से प्रज्ज्वलित हो रही है, धधक रही है ऐसे संसाररूपी गहन वन में बेचारे संसारी प्राणी जो कि मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ हैं वे अतिशय रूप से घबराए हुए हैं और इस दुःखरूपी अग्नि में झुलस रहे हैं 'मैं इन बेचारों का उद्धार करूँ', इस प्रकार पर के ऊपर अनुग्रह करने की उत्कट भावना से उत्पन्न हुआ जो पुण्य है उस पुण्य के माहात्म्य से ही कालांतर में जो अपने वचनों के द्वारा भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, वे अर्हत भगवान् हमारी रक्षा करें।

वास्तव में जिनके हृदय में दुःखी प्राणियों को सुखी करने की सच्ची करुणा उमड़ती है वे ही दूसरों के दुःखों को दूर करने में समर्थ ऐसी इस तीर्थंकर जैसी महान प्रकृति के बंध का अवसर प्राप्त कर सकते हैं अन्य नहीं।

तीर्थंकर प्रकृतिबंध के लिए सोलहकारण भावनाएँ भी बतलाई गई हैं। उन सभी भावनाओं में दर्शन-विशुद्धि नाम की पहली भावना प्रमुख है चूँकि उस निर्मल सम्यग्दर्शन के बिना तीर्थंकर प्रकृति का बंध असंभव है। इस तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में आता है तब भगवान् समवसरण में सात सौ अठारह भाषाओं में अथवा संख्यातों भाषाओं में दिव्यध्वनि द्वारा असंख्य जीवों को सच्चे सुख का उपदेश देते हैं।

आहारक प्रकृति के बंध की विशेषता — कोई भी मुनि सामायिक संयम या छेदोपस्थापना संयम वाले हैं वे छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान में जब पहुँचते हैं उस समय उनकी प्रमादरहित अवस्था होती है, उस सातवें गुणस्थान में या आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक इन आहारकद्विक का बंध कर सकते हैं। जबकि आहारक प्रकृति का उदय छठे गुणस्थान में ही आता है। तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र में कहा है —

“शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव”।

आहारक शरीर शुभ है, विशुद्ध है, व्याघात रहित है और प्रमत्तसंयत मुनि के ही होता है अर्थात् आहारकशरीर नामकर्म के उदय से मुनि के मस्तक से एक हाथ प्रमाण का पुतला निकलता है, वह धातुओं से रहित है, शुभ है, संहनन से रहित है, शुभ आकार वाला है और धवल है तथा सूक्ष्म रहता है।

वह कब निकलता है ?

जब मुनि के मन में किसी सूक्ष्म पदार्थविषयक शंका उत्पन्न होती है और उसके समाधान की भावना हो जाती है और अपने रहने वाले क्षेत्र में केवली अथवा श्रुतकेवली नहीं हैं तब यदि उनके आहारक प्रकृति का

बंध हुआ था अतः अब निमित्त पाकर उदय में आ जाता है उस समय असंयम का परिहार करने के लिए और मुनि के संदेह को दूर करने के लिए यह आहारक पुतला निकलता है जो कि केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में जाकर वापस आकर मुनि के शरीर में प्रवेश कर जाता है बस मुनि की शंका का समाधान हो जाता है। अथवा भगवान के दीक्षा आदि कल्याणकों में जाने के लिए या जिनेन्द्रदेव के अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना की भावना होने पर भी आहारक पुतला निकलता है।

यथा —

णियखेत्ते केवलिदुगविरहे, णिक्कमणपहुदिकल्लाणे।

परखेत्तं संवित्ते, जिणजिणघरवंदणट्ठं च॥२३६॥

अपने क्षेत्र में केवलीद्विक के न रहने पर भगवान के दीक्षा आदि कल्याणकों के प्रसंग में अथवा जिनेन्द्रदेव के चैत्यालय की वंदना के लिए भी आहारक शरीर प्रगट होता है।

इस प्रकार से १२० प्रकृतियों में से उपर्युक्त तीन प्रकृतियाँ सम्यक्त्व और संयम के निमित्त से ही बंधती हैं बाकी ११७ प्रकृतियाँ मिथ्यादृष्टी के भी बंधती हैं अर्थात् बाकी प्रकृतियों के बंध में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से चार हेतु माने गये हैं, जो कि गुणस्थानों में आगम के अनुसार यथायोग्य समझना चाहिए।

बंध के भेद

बंध के चार भेद हैं — प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध।

प्रकृतिबंध — प्रकृति का अर्थ स्वभाव है, जैसे नीम की प्रकृति कड़वी है, इक्षु की प्रकृति मीठी है, वैसे ही ज्ञानावरण का स्वभाव जीव के ज्ञान गुण को ढकने का है। दर्शनावरण का स्वभाव जीव के दर्शन गुण को प्रगट नहीं होने देने का है। वेदनीय का स्वभाव जीव को सुख-दुःख का अनुभव कराने का है। मोहनीय का स्वभाव जीव को मोहित कर देने का है, इत्यादि।

इस प्रकृतिबंध के आठ भेद हैं — ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। इन आठ कर्मों के भी उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं तथा प्रत्येक कर्म के असंख्यात लोक प्रमाण भी भेद होते हैं।

स्थितिबंध — ज्ञानावरण आदि कर्मों का अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थितिबंध है। इसके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा तीन भेद हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी^१ सागर^२ है। कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही होता है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है। इसमें भी दर्शनमोहनीय का बंध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है किन्तु चारित्रमोहनीय का उत्कृष्ट बंध चालीस कोड़ाकोड़ी सागर ही है।

देखो, कोई जीव केवली^३ भगवान, शास्त्र, चतुर्विध संघ, सच्चा धर्म या चतुर्निकाय देव इनको यदि असत्य दोषों का आरोप लगाता है तो उसी एक समय में जो कर्म का बंध होता है, वह यदि तीव्र परिणामों से है तो उसकी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति पड़ जाती है इसलिए इन केवली भगवान आदि के अवर्णवाद

१. एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जो संख्या आती है, उसे कोड़ाकोड़ी कहते हैं। २. दस कोड़ाकोड़ी अद्वापल्यों का एक सागर होता है। ३. “केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य” (तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६)

से हमेशा डरते रहना चाहिए। आजकल प्रायः लोग संघ के प्रति अवर्णवाद से अधिक रस लेते हैं किन्तु उन्हें इस दर्शनमोहनीय के बंध से अवश्य ही बचने का उपाय करना चाहिए। व्यर्थ ही किसी की निंदा से यदि कर्मबंध ही पल्ले पड़ता है तो उसमें क्या आनंद है ? प्रायः करके लोग कषाय या पक्ष व्यामोह के निमित्त से सदोषी को निर्दोष और निर्दोष साधुओं को भी सदोष समझ लेते हैं।

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर है।

अब इन आठों कर्मों की जघन्य स्थिति देखिए—

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है।

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय और आयु कर्म इनकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है।

जघन्य स्थिति बंध में एक समय अधिक करके उत्कृष्ट स्थिति बंध के एक समय कम पर्यंत जितने भी होते हैं, वे सब मध्यम स्थिति बंध के भेद हैं।

प्रश्न— उत्कृष्ट आदि स्थिति बंध के लिए परिणाम कैसे होते हैं ?

उत्तर— बंध योग्य प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं। उनमें से तिर्यच आयु, मनुष्यायु और देवायु के बिना सभी ११७ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेश (उत्कट कषाय) परिणामों से होता है और इन्हीं के ११७ प्रकृतियों का जघन्य स्थितिबंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों से होता है।

तीन आयुओं का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों से और जघन्य स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से होता है।

प्रश्न— इन उत्कृष्ट स्थितिबंध के स्वामी कौन हैं ?

उत्तर— आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, तीर्थकर और देवायु इनका उत्कृष्ट स्थितिबंध सम्यग्दृष्टि जीव ही करता है। बाकी ११६ प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यादृष्टि जीव ही बांधता है।

देवायु की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर है। उसको सप्तम गुणस्थान में चढ़ने के सन्मुख हुए छठे गुणस्थानवर्ती मुनि ही बांधते हैं। आहारकद्वय की उत्कृष्ट स्थिति छठे गुणस्थान में उतरने के सन्मुख हुए सप्तम गुणस्थानवर्ती ही बांधते हैं और तीर्थकर प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति नरक जाने के सन्मुख हुए (बद्धायुष्क) ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि ही बांधते हैं।

आयु और तीर्थकर तथा आहारकद्वय के अतिरिक्त बाकी कर्मों का जघन्य स्थितिबंध उन-उन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति के समय होता है।

अनुभाग बंध— विशेष (नाना प्रकार) के पाक (उदय) को विपाक कहते हैं और इस विपाक को ही अनुभाग बंध कहते हैं अर्थात् कर्मों में जो फल देने की शक्ति पड़ती है, उसी का नाम अनुभाग है।

सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामों से होता है। असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियों का अनुभाग बंध संक्लेश परिणामों से उत्कृष्ट होता है तथा पुण्य प्रकृतियों में तीव्र कषाय रूप परिणामों से जघन्य अनुभाग बंध एवं पाप प्रकृतियों में मंद कषाय रूप परिणामों से जघन्य अनुभाग बंध होता है।

घातिया कर्मों में फल देने की शक्ति चार प्रकार की मानी गई है। वह लता, काष्ठ, हड्डी और पत्थर के

समान जानना चाहिए अर्थात् इनमें जैसा क्रम से अधिक से अधिक कठोरपना है, वैसा ही अनुभाग में भी समझना तथा काष्ठ, दारू भाग के अनंतवे भाग तक शक्तिरूप स्पर्धक देशघाति है और शेष बहुभाग से लेकर शैल भाग तक के स्पर्धक सर्वघाती हैं अर्थात् इनके उदय से आत्मा के गुण प्रगट नहीं होते हैं। शेष अघातिया कर्मों की प्रकृतियाँ तीन भाव रूप परिणमती हैं और वे ही पुण्य तथा पाप रूप होती हैं तथा घातिया कर्मों की सब प्रकृतियाँ पापरूप ही हैं।

अब प्रशस्त तथा अप्रशस्त रूप अघातिया कर्मों की जो शक्तियाँ हैं, उनको दूसरे-दूसरे नाम से कहते हैं —

अघातिया कर्मों में प्रशस्त प्रकृतियों के शक्ति भेद गुड़, खांड, मिश्री और अमृत के समान हैं और अप्रशस्त प्रकृतियों के नीब, कांजीर, विष तथा हालाहल के समान शक्ति भेद होते हैं अर्थात् सांसारिक सुख-दुःख के कारण दोनों ही पुण्य-पाप कर्मों की शक्तियों को चार-चार तरह की तरतम रूप से समझना। तात्पर्य यही है कि पुण्य प्रकृतियों का फल क्रम से अधिक-अधिक मधुरता लिए हुए है और पाप कर्मों का फल क्रम से अधिक-अधिक कटुता लिए हुए होता है।

फल दे चुकने के बाद ये कर्म निजीर्ण हो जाते हैं, सो ही कहा है — “ततश्च निर्जरा” तीव्र, मंद या मध्यम फल दे चुकने के बाद कर्मों की निर्जरा हो जाती है अर्थात् कर्म उदय में आकर फल देकर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। यह निर्जरा हमेशा ही सभी संसारी जीवों के होती रहती हैं।

प्रदेश बंध — कर्म पुद्गलों का आत्मा के प्रदेशों के साथ संबंध होना प्रदेश बंध है। कहा भी है —

“नामप्रत्ययाः सर्वतोयोगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः।” ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के कारण सब ओर से अथवा देव, नारकादि समस्त भवों में मन-वचन-काय रूप योग विशेष से सूक्ष्म तथा एक क्षेत्रावगाह रूप (दूध और पानी के मिलने पर एकमेक के समान) से स्थित आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में जो कर्मरूप पुद्गल के अनंतानंत प्रदेश हैं उनको प्रदेश बंध कहते हैं अर्थात् मन-वचन-काय के निमित्त से जो आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन होता है, उसका नाम योग है। इस योग की विशेषता से जो कर्मवर्णाएँ आती हैं और सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों में दूध और पानी के समान एकमेक होकर स्थिर हो जाती हैं, वे सूक्ष्म हैं और अनंतानंत हैं, उसे ही प्रदेश बंध कहा है।

प्रश्न — एक समय में एक बार में कितने कर्म परमाणु बंधते हैं ?

उत्तर — सिद्धराशि के अनंतवें भाग और अभव्यराशि से अनंतगुणे इतने कर्म परमाणु जो कि अनंतानंत प्रमाण ही हैं, उनको यह जीव एक समय में बांध लेता है। कदाचित् योग की तरतमता से परमाणुओं में कम या अधिकपना भी हो जाता है, फिर भी वह अनंत ही हैं।

इस प्रकार से एक समय में ग्रहण किया गया कर्मद्रव्य आठ कर्मों में विभाजित हो जाता है। उसका क्रम देखिए—

३आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो।

घादित्तियेवि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये।।१९२।।

इस समयप्रबद्ध का बटवारा होने में सबसे थोड़ा हिस्सा आयु कर्म को मिलता है, नाम और गोत्र कर्म का हिस्सा आपस में समान है, तो भी आयु कर्म की अपेक्षा अधिक है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीन कर्मों का भाग आपस में समान है, फिर भी नाम, गोत्र के भाग से अधिक है। इससे अधिक मोहनीय

कर्म का भाग है तथा मोहनीय से भी अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। प्रश्न यह होता है कि वेदनीय कर्म को सबसे अधिक हिस्सा क्यों मिला है, तो उसका उत्तर आचार्य देते हैं— वेदनीय कर्म ही सुख और दुःख का कारण है इसलिए इसकी निर्जरा भी अधिक होती है। यही कारण है कि सब कर्मों के द्रव्य से अधिक द्रव्य वेदनीय को मिलता है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

प्रश्न— उत्कृष्ट प्रदेश बंध किसके होता है ?

उत्तर— जो जीव उत्कृष्ट योगों कर सहित है, संज्ञी है, पर्याप्त है और थोड़ी प्रकृतियों का बंध करने वाला है, वही जीव उत्कृष्ट प्रदेश बंध को करता है तथा जघन्य प्रदेश बंध में इससे उल्टा जानना। आयु कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश बंध छोटे गुणस्थानों के अनंतर सातवें गुणस्थान में रहने वाला करता है। मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट प्रदेश बंध नवमां गुणस्थानवर्ती करता है और शेष बचे ज्ञानावरणादि छह कर्मों का उत्कृष्ट प्रदेश बंध उत्कृष्ट योगों का धारक सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती करता है। यहाँ सब जगह उत्कृष्ट योग द्वारा उत्कृष्ट प्रदेश बंध जानना।

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के अपने पर्याय के पहले समय में जघन्य योगों से आयु के सिवाय सात मूल प्रकृतियों का जघन्य प्रदेश बंध होता है और आयु का बंध हो जाने पर उसी जीव के आयु का भी जघन्य प्रदेश बंध होता है।

इस प्रकार से अति संक्षेप में चार प्रकार के बंध का निरूपण किया है।

प्रश्न— बंध के कारण क्या हैं ?

उत्तर— मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बंध के कारण हैं। मुख्यतया कोई भी जीव कषाय सहित होने से कर्म के योग्य कार्मणवर्गणारूप पुद्गल परमाणुओं को जो ग्रहण करता है, उसी का नाम बंध है।

इसीलिए आचार्य ने कहा है कि—

“प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध ये दोनों ही योग से होते हैं तथा स्थितिबंध और अनुभागबंध ये दोनों ही कषाय के निमित्त से होते हैं अतएव उपशांतकषायी, क्षीणकषायी और सयोगकेवली के कषाय न होने से स्थिति, अनुभागबंध नहीं होता है यही कारण है कि उनके प्रकृति-प्रदेश बंध होते हुए भी बंध की विवक्षा नहीं है। एक सातावेदनीय बंधती है, जिसकी स्थिति न पड़ सकने से उसे ना कुछ समझा जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि स्थितिबंध और अनुभाग ही जीवों के लिए दुःखदायी हैं और यदि मोहनीय कर्म नहीं है, कषाय नहीं है तो ये दोनों बंध नहीं होने से जीव का कुछ भी बिगाड़ नहीं हो सकता है अतः कषायों को मंद करने का ही पुरुषार्थ प्रतिक्षण करते रहना चाहिए।



२३. अतिथिसंविभाग या वैयावृत्य

वैयावृत्य के भेदों का वर्णन करते हुए श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं—

आहारौषधियोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।

वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽपि संयमिनां॥

हिन्दी अनुवाद—

आहारदान औषधीदान, उपकरणदान आवासदान।

वैयावृत्ति के चार भेद, से कहलाते ये चार दान॥

प्रासुक भोजन औषधियों से, श्रावकजन मुनि को स्वस्थ करें।

पिच्छी शास्त्रादिक दे उनको, वसती दे निज को धन्य करें॥११७॥

आहारदान, औषधिदान, उपकरणदान और वसतिकादान ये वैयावृत्य के चार भेद यहाँ माने गये हैं। श्रावक, मुनि आदि साधुओं को प्रासुक भोजन और शुद्ध औषधि देकर उनको स्वस्थ रखने में सहयोगी बने। उन्हें पिच्छी, कमंडलु, शास्त्र आदि संयम, शौच तथा ज्ञान के उपकरण देकर एवं ठहरने के लिए वसतिका आदि स्थान देकर अपने जीवन को धन्य कर लेवे।

श्री पूज्यपादस्वामी भी 'सर्वार्थसिद्धि' नामक ग्रंथ में अतिथिसंविभागव्रत का लक्षण इसी प्रकार से कर रहे हैं—

‘अतिथि के लिए जो सम्यक् प्रकार से विभाग किया जाता है वह अतिथि-संविभाग है। वह आहार, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय—आवास के भेद से चार प्रकार का है।’

श्रीसमंतभद्रस्वामी इन चार दानों में ख्यातिप्राप्त के नाम उल्लेख करते हुए कहते हैं—

श्रीषेण नृपति आहारदान, के फल से शांति जिनेश हुए।

दे औषधिदान वृषभसेना, तनु जल से पर दुख दूर किये॥

कौण्डेश शास्त्र देकर मुनि को, श्रुतज्ञान पूर्णकर ख्यात हुआ।

शूकर मुनि को दे अभयदान, यशपूर्वक सुर पद प्राप्त किया॥११९॥

इन चारों की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—रत्नपुर के राजा श्रीषेण के सिंहनन्दिता और अनिन्दिता नाम की दो रानियाँ थीं। इनके इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन ऐसे दो पुत्र थे।

किसी दिन राजा ने आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारण मुनियों को आहारदान देकर पंचाश्चर्यवृष्टि प्राप्त की तथा दान के प्रभाव से उत्तरकुरु भोगभूमि की आयु बाँध ली। कालांतर में अपने पुत्रों के आपसी झगड़े में राजा ने दुःखी होकर विष पुष्प सूँघकर अपना अपघात मरण कर लिया। फिर भी आहारदान के प्रभाव से वे उत्तम भोगभूमि में आर्य हो गये। ये ही श्रीषेण आगे चलकर सोलहवें तीर्थंकर और पाँचवे चक्रवर्ती ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान हुए हैं।

एक मुनिदत्त योगिराज के ऊपर एक नौकरानी ने कूड़ा डाल दिया पुनः राजा के द्वारा उनकी विनय और सेवा की जाने पर नौकरानी नागश्री ने भी पश्चात्ताप करके उन मुनिराज के शरीर में घाव आदि पर औषधि लगाकर भरपूर सेवा की। अन्त में मरकर वह एक सेठ की पुत्री वृषभसेना हुई। इसके स्नान किये जल से

सभी के बड़े से बड़े कष्ट, रोग आदि नष्ट हो जाते थे यह पूर्वजन्म में किये गये औषधिदान का ही प्रभाव था। इस पुण्य से यह राजा की पट्टरानी हो गई और शील के माहात्म्य से देवों द्वारा भी पूजा को प्राप्त हुई है।

कुरुमरी गाँव के एक ग्वाले ने वृक्ष की कोटर में एक जैन ग्रन्थ देखा, उसे घर लाकर उसकी पूजा करता रहा अनंतर उस ग्रन्थ को एक मुनिराज को दान कर दिया। मरकर वह एक चौधरी का पुत्र हुआ, उन्हीं मुनि से बोध प्राप्त कर मुनि हो गये। कालांतर में वही जीव राजा कौण्डेश होकर मुनि दीक्षा ग्रहण कर द्वादशांग का पारगामी हो गया है।

एक जंगल की गुफा में मुनिराज विराजमान थे। एक व्याघ्र उन्हें खाने को दौड़ा तो एक जंगली सुअर ने मुनि रक्षा के भाव से व्याघ्र से युद्ध शुरू कर दिया, गुफा के बाहर दोनों ही लहलुहान होकर मर गये। भक्षण के भाव से व्याघ्र नरक गया और पूर्वजन्म में मुनि को धर्मशाला में ठहराने के संस्कार से तथा तत्काल में मुनि रक्षा के भाव से सूकर मरकर स्वर्ग में चला गया। इन कथाओं का विस्तार आराधना कथाकोश से पढ़ना चाहिए।

ये एक-एक दान भी जीवों की उन्नति के लिए कारण हैं और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कराने वाले हैं पुनः जो श्रावक धन से सम्पन्न हैं उनका कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन मुनि, आर्यिकाओं को आहार आदि दान देकर अपने गृहस्थाश्रम को सफल कर लें। इन चारों दानों में भी आहारदान ऐसा महत्त्वशाली है कि जिसके देने पर देवगण भी पंचाश्चर्य वृष्टि करने लगते हैं ऐसा समझकर आहारदान देने में सदा ही आदर भाव रखना चाहिए।

श्री समंतभद्रस्वामी इसी वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रत में अर्हत देव की पूजा को कहते हैं—

देवाधिदेव अर्हतों के, चरणों की पूजा करने से।

संपूर्ण दुःख स्वयमेव नशें, इच्छित फल आप स्वयं फलते॥

सब विषयवासना की इच्छा, को नष्ट करे अर्हतपूजा।

आदर से नित करिये पूजा, नहीं इस सम अन्य कार्य दूजा॥११८॥

देवाधिदेव श्री अर्हतदेव के चरणों की पूजा करने से संपूर्ण दुःख दूर हो जाते हैं और मनवांछित फल स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। यह पूजा संपूर्ण विषय वासनाओं की इच्छाओं का भी शमन करने वाली है इसलिए आदरपूर्वक नित्य ही जिनपूजा करनी चाहिए क्योंकि इसके सदृश अन्य कोई दूसरा उत्तम कार्य नहीं है।

जिनपूजन के माहात्म्य को बतलाते हुए कहते हैं—

मेंढक प्रमोद से मुदितमना, बस एक पुष्प को ले करके।

जिनवर की पूजा हेतु चला, जब राजगृही में भक्ती से॥

हाथी के पैर तले दबकर, तत्क्षण ही सुरपद को पाया।

अर्हत चरण की पूजा का, माहात्म्य सभी को दिखलाया॥१२०॥

राजगृही में भगवान महावीर के समवसरण के आने पर सभी जनों को दर्शन करने के लिए जाते देख एक मेंढक भी जिनभक्ति से एक कमल की पांखुड़ी को मुख में दबाकर चल पड़ा। मार्ग में राजा श्रेणिक के हाथी के पैर तले दबकर मर गया। जिनपूजा की भावना से मरा हुआ वह मेंढक का जीव तत्क्षण ही देव हो

गया और राजा श्रेणिक के पहले ही समवसरण में पहुँचकर भगवान महावीर के दर्शन करके उनकी भक्ति में नाचने लगा।

इस प्रकार से जब मेंढक जिनपूजन की भावना मात्र से ही देवपद प्राप्त कर सकता है तब तो जो सदा ही भक्तिभाव से जिनेन्द्रदेव के चरणों की पूजा करते हैं उन्हें क्या-क्या उत्तम फल नहीं मिलेंगे ? अर्थात् सब कुछ अभ्युदय प्राप्त होंगे और परम्परा से निर्वाणपद भी मिलेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

एक बार आचार्यश्री वीरसागर जी के सामने एक श्रावक ने प्रश्न किया कि हे गुरुदेव ! श्रावक के बारह व्रतों में जिनपूजन का विधान तो नहीं है अतः व्रती श्रावक जिनपूजन नियम से करे, ऐसा क्यों ? इस पर आचार्यश्री ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार का प्रमाण सुनाया और कहा, भाई ! श्रावक के अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत में जिनपूजा करने का आदेश है अतः बारह व्रतों के अन्तर्गत जिनपूजा समाविष्ट है ऐसा निश्चित समझो।

किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों में सामायिकव्रत में भी जिनपूजा का वर्णन किया गया है। भावसंग्रह ग्रंथ में लिखा है—
'जिनपूजां बिना सर्वा, दूरा सामायिकी क्रिया।'

अतः सामायिक शिक्षाव्रत में भी देवपूजा करने का विधान है यह बात स्पष्ट हो जाती है।



मनरूपी वृक्ष को मोहरूपी जल से मत सींचो

णिल्लूरह मणवच्छो खंडह साहाउ रायदोसा जे।

अहलो करेइ पच्छा मा सिंचह मोहसलिलेण॥६८॥

(श्री देवसेन सूरि)

यहाँ मन को वृक्ष की उपमा दी है। जिस प्रकार वृक्ष में दो बड़ी शाखाएं होती हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में रागद्वेषरूपी दो बड़ी शाखाएं हैं। जिस प्रकार वृक्ष की बड़ी शाखाओं से उपशाखाएं निकलकर वृक्ष को विस्तृत करती हैं उसी प्रकार रागद्वेषरूपी दो बड़ी शाखाओं से विषयेच्छा रूप अनेक उपशाखाएं निकलकर मनरूपी वृक्ष को विस्तृत करती हैं। जिस प्रकार वृक्ष में फल निकलते हैं उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष में भी संकल्प-विकल्परूप अनेक फल लगते हैं और जिस प्रकार वृक्ष को जल से सींचकर हरा-भरा किया जाता है उसी प्रकार मनरूपी वृक्ष को मोहरूपी जल से हरा-भरा रखा जाता है। आचार्य क्षपक को उपदेश देते हैं कि-हे क्षपक ! तू इस मनरूपी वृक्ष को निर्मूल कर दे, इसकी उपशाखाएं काटकर इसे विस्तार से रहित कर दे, यही नहीं इनकी रागद्वेषरूपी शाखाओं को काट डाल, ऐसा प्रयत्न कर कि जिससे अब इसमें संकल्प-विकल्परूपी फल न लगे तथा इसे अब मोहरूपी जल से सींचना बंद कर दे। ऐसा करने से यह मनरूपी वृक्ष स्वयं उखड़ जायेगा।

२४. साधु और श्रावक दोनों ही सल्लेखना ग्रहण कर सकते हैं

‘चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं चेदि। इच्चेदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि।’

चौथे शिक्षाव्रत में अंत में सल्लेखना मरण करना कहा है। इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रत हैं।

यहाँ पर श्री गौतमस्वामी ने शिक्षाव्रत में ही सल्लेखनामरण को लिया है। इसी प्रकार से श्रीकुंदकुंददेव ने भी अपने चारित्रपाहुड़ ग्रंथ में चौथे शिक्षाव्रत में ही सल्लेखना को लिया है।

इस सल्लेखना का लक्षण श्री पूज्यपादस्वामी ने इस प्रकार किया है — ‘सम्यक्काय-कषायलेखना सल्लेखना।’ भली प्रकार से काय और कषायों को कृश करना सल्लेखना है।

सल्लेखना कब की जाती है? और उसकी विधि क्या है?

इस पर श्रीसमंतभद्रस्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में अच्छा प्रकाश डाला है, यथा —

जिसका प्रतिकार न हो सकता, ऐसा उपसर्ग यदि आवे।

ऐसा अकाल पड़ जावे या, जर्जरित बुढ़ापा आ जावे।।

अथवा हो रोग असाध्य कठिन, जिससे नहीं धर्म की रक्षा है।

तब करिये सल्लेखना ग्रहण, जो धर्म हेतु तनु त्यजना है।।१२२।।

जिसको किसी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता ऐसा उपसर्ग यदि आ जावे अथवा ऐसा अकाल पड़ जावे या जर्जरित बुढ़ापा आ जावे या कठिन असाध्य रोग हो जावे ऐसे समय में धर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग किया जाता है उसका नाम सल्लेखना है।

जीवन भर जो तप, व्रत और चारित्र आदि का पालन किया जाता है, उनको यदि अगले भव में अपने साथ ले जाना है तो मरण के काल में अवश्य ही सल्लेखना करनी चाहिए। जैसे किसी देश में कमाये धन की यदि कोई मनुष्य वहाँ से प्रस्थान करते समय याद न करे और किसी दूसरे को सौंप जावे तो उसका वह धन प्रायः व्यर्थ ही जाता है इसी प्रकार परलोक यात्रा के समय अर्थात् मरण के अंत में यदि सल्लेखना न की जावे और परिणाम भ्रष्ट हो जावें तो दुर्गति हो जाती है। इसलिए मरण के समय में सल्लेखना करना एक शिक्षाव्रत माना गया है।

सल्लेखना की विधि —

स्नेह वैर औ राग मोह, परिग्रह संपूर्ण छोड़ करके।

हो शुद्ध चित्त विधिवत् समाधि, से मरने की वांछा करके।।

प्रिय वचनों से तुम क्षमा करो, स्वजनों को औ परजन को भी।

सबसे भी क्षमा करा लेवो, जो कुछ अपराध हुए हों भी।।१२४।।

समाधिमरण का इच्छुक श्रावक स्नेह, वैर, मोह और परिग्रह को छोड़ करके शुद्ध चित्त होते हुए प्रिय वचनों द्वारा अपने परिवार से व अन्य लोगों से भी क्षमायाचना करे तथा स्वयं भी सभी के अपराधों को क्षमा कर देवे।

सल्लेखना के समय महाव्रत धारण करने का उपदेश —

जो किया कराया अनुमोदा, ऐसे समस्त भी पापों की।

छल कपट रहित आलोचन विधि, करिये सब ही निज दोषों की।।

पुनरपि जीवनपर्यंत पाँच, पापों का पूरण त्याग करो।

औ पंच महाव्रत धारण कर, निर्ग्रथ अवस्था प्राप्त करो॥१२५॥

अपने जीवन में जो पाप किये हैं, कराये हैं और उनकी अनुमोदना की है उन सभी पापों की मायाचार रहित सरल भावों से आलोचना करके जीवन भर के लिए पाँचों पापों का पूर्णतया त्याग करके सल्लेखना के समय पाँच महाव्रत धारण कर मुनि बन जाना चाहिए। अभिप्राय यह है कि श्रावक अपना अंत समय समझ कर दिगम्बर मुनियों के संघ में जाकर आचार्य के समक्ष अपने जीवन भर किये हुए पापों की आलोचना करके गुरु के पादमूल में ही मुनिदीक्षा ले लेवे पुनः सल्लेखना करे, यह उत्तम विधि है। यदि कदाचित् संघ निकट में नहीं है और उतने ऊँचे भाव नहीं हैं अथवा मुनि बनने की शक्ति नहीं है तो घर में रहकर ही अथवा मंदिर आदि स्थानों पर जाकर अन्य धर्मात्मा श्रावकों की सहायता से जितना त्याग हो सके उतना कर लेना चाहिए।

सल्लेखना ग्रहण करके श्रावक को धर्माभूत का पान करना चाहिए—

स्नेह शोक भय अप्रीति, मन की कालुषता भी तज के।

निज बल उत्साह प्रगट करके, मन को प्रसन्न करिये श्रुति से॥

यह जिन आगम ही अमृत है, जो अतिशय तृप्ती करता है।

पुष्टी तुष्टी करके पुनरपि, इस मृत्यु को भी हरता है॥१२६॥

शोक, भय, स्नेह और अरति ये मन को कलुषित करने वाले हैं इनको छोड़कर तथा अपने बल और उत्साह को प्रगट करके अमृत के समान जिनवाणी के श्रवण से अपने मन को प्रसन्न करना चाहिए क्योंकि जिनवचनरूपी अमृत अतिशय तृप्ति, पुष्टि और तुष्टि देकर पुनः मृत्यु को भी नष्ट कर देता है।

भोजन के त्याग का क्रम—

अन्नादिक भोजन छोड़ प्रथम, दुग्धादिक पेय वस्तु पीना।

स्निग्ध पेय को छोड़ पुनः, बस छाछ गर्मजल का पीना॥

जब क्रम से त्याग किया जाता, तब आकुलता नहीं होती है।

नहिं तन में पीड़ा कष्ट बढ़े, नहिं व्याधि विषमता होती है॥१२७॥

कांजी या छाछ गरमजल भी, तज करके यथाशक्तिपूर्वक।

उपवास करे भी जाप करे, बस महामंत्र की रुचिपूर्वक॥

संपूर्ण यत्न कर णमोकार, मंत्रादिक को जपते-जपते।

अंतिम क्षण में तन को छोड़े, प्रभु नाम मंत्र रटते-रटते॥१२८॥

जब श्रावक सल्लेखना ग्रहण कर लेता है तब शरीर को कृश करने के लिए क्रम-क्रम से भोजन आदि का त्याग करता जाता है। उसी क्रम को यहाँ बतलाया है— सबसे पहले अन्नादि रोटी, पूड़ी, भात, दाल आदि छोड़ देवे और दूध, रस, ठंडाई आदि पीने योग्य वस्तु रख लेवे पुनः दूध आदि चिकने पदार्थ छोड़ देवे और दही की छाछ या गरम जल ग्रहण करता रहे, पुनः धीरे-धीरे इनको भी छोड़ देवे। यह सब त्याग, जैसे शरीर में व्याधि न बढ़े और पीड़ा न होवे तथा मन में आकुलता न होकर शांति बनी रहे इसी तरह से करना चाहिए अतः सल्लेखना के समय मुनिजन या अनुभवी धर्मात्मा श्रावक का होना बहुत जरूरी है।

पुनः कांजी, तक्र या गरम जल को छोड़कर यथाशक्ति उपवास करना चाहिए और संपूर्ण प्रयत्न से

महामंत्र का जाप करते-करते अंतिम क्षण में शरीर को छोड़ते समय भी णमोकार मंत्र को पढ़ने या सुनने में उपयोग लगाये रहना चाहिए।

इस प्रकार सल्लेखना से मरण करने वाला श्रावक नियम से देवगति को प्राप्त करता है पुनः वहाँ से च्युत होकर उत्तम मनुष्य होकर पुनः श्रावक या मुनि बनकर देवपद को प्राप्त कर लेता है। यह श्रावक अधिक से अधिक सात, आठ भव और कम से कम दो, तीन भव ग्रहण कर नियम से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, ऐसा श्री गौतमस्वामी का कथन है।

सल्लेखना आत्मघात नहीं है—

किसी का प्रश्न होता है कि अपने आप प्राणों का विसर्जन करने से आत्मघात हो जाता है? इस पर आचार्यों का समाधान यह है कि—

‘प्रमाद के योग से प्राणों का घात करना हिंसा है किन्तु यहाँ प्रमाद का योग नहीं है क्योंकि ‘जो क्रोध आदि कषायों से ग्रसित होकर श्वासनिरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्र आदि से अपने प्राणों का घात करते हैं उनके निश्चित ही आत्मघात होता है।’

जो जीव क्रोध, मान, माया, लोभ के वश अथवा इष्ट वियोग के शोक से व्यथित या आगामी निदान के वश या किसी अपमान आदि से खिन्न होकर अग्नि में जलकर या कुएँ आदि में डूबकर मर जाते हैं उन्हें आत्मघात का दोष लगता है। जैसे — पति के पीछे सती होना, हिमालय में गलना, काशी करवत लेनी आदि किन्तु सन्यासपूर्वक मरण करने वालों को आत्मघात का दोष नहीं लगता।

किसी उपसर्ग, संकट या दुर्घटना आदि के प्रसंग पर जब शरीर के बचने में संदेह दिखता हो तब मर्यादा पूर्वक प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि “यदि मैं इस उपसर्ग या संकट से बचूँगा तो पुनः अन्न जल ग्रहण करूँगा अन्यथा जीवन भर के लिए चतुराहार का त्याग है।” ऐसी प्रतिज्ञा करने पर नियम सल्लेखना कहलाती है और जब शरीर के बचने की सर्वथा आशा न हो तब धर्मारोधनपूर्वक विधिवत् उसे छोड़ देना यम सल्लेखना है।

जो जीव धर्म की रक्षा के लिए शरीर से निर्मम होकर उसको छोड़ देते हैं वे आत्मघाती नहीं हैं। प्रत्युत जो देश और राष्ट्र के लिए भी अपने प्राणों को छोड़ देते हैं उनका भी मरण वीरमरण कहलाता है। जैसे जो सन्यास विधि से मरण करता है उनके परिवार वालों को सूतक (पातक) नहीं लगता है वैसे देश, राष्ट्र व मातृभूमि के लिए बलिदान हुए व्यक्तियों के परिवारजनों को भी पातक नहीं लगता है ऐसा शास्त्रों में कथन है। इस प्रकार सल्लेखना का महत्त्व अचिन्त्य है।



सात क्षेत्र में धन का सदुपयोग

चैत्ये चैत्यालये शास्त्रे चतुःसंघेषु सप्तसु।

सुक्षेत्रेषु व्ययः कार्यो नो चेल्लक्ष्मीर्निरर्थिका॥।

अर्थ-जिन प्रतिमा के बनवाने में, जिनमंदिर के निर्माण कराने में, शास्त्रों के लिखवाने या जीर्णोद्धार कराने में तथा मुनि, आर्यिका और श्रावक-श्राविका इन चतुर्विध संघ में दान देने में इन सात स्थानों में श्रावकगण अपनी लक्ष्मी का व्यय करें। वरना उनकी लक्ष्मी व्यर्थ है, निरर्थक है।

२५. ब्राह्मी-सुन्दरी ने दीक्षा क्यों ग्रहण की थी ?

महापुराण के अन्तर्गत आदिपुराण ग्रन्थ के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी-सुन्दरी को युग की आदि में सर्वप्रथम विद्या ग्रहण कराया था अतः वे अपने पिता त्रैलोक्यगुरु के अनुग्रह से सरस्वती की साक्षात् प्रतिमा के समान बन गई थीं पुनः भरत आदि पुत्रों को भी भगवान ने समस्त विद्याएँ सिखाई थीं।

इसी प्रकरण में एक विशेष बात यह जानना है कि ब्राह्मी-सुन्दरी ने ऋषभदेव के समवसरण में आर्यिका दीक्षा धारण की थी। उनके विषय में अनेक विद्वानों की यह धारणा बनी हुई है कि ब्राह्मी-सुन्दरी ने इसलिये दीक्षा ली कि उनके पिता भगवान ऋषभदेव को उनके पति के लिए नमस्कार करना पड़ता किन्तु दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा कथन नहीं मिलता है इसीलिये लोग कन्याओं के जन्म को अभिशाप मानने लगते हैं तथा यह भी कह देते हैं कि भगवान ऋषभदेव के पुत्री होना भी हुण्डावसर्पिणी काल का दोष है किन्तु यह कथन भी सर्वथा गलत है क्योंकि किसी प्राचीन आचार्य प्रणीत ग्रन्थ में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

दामाद के पैर छूने या नमस्कार करने की परम्परा आज भी सब जगह देखने में नहीं आती है। मैंने अवधप्रान्त में देखा है कि दामाद स्वयं अपने ससुर को पिता मानकर पैर छूते हैं। भगवान शांतिनाथ की छियानवे हजार रानियों में क्या किसी से पुत्री नहीं जन्मी होगी? अवश्य जन्मी होगी और उनके विवाह आदि भी हुए ही होंगे। तीर्थंकर जैसे महापुरुष के लिए दामाद को नमस्कार करने जैसी बात कहना अत्यन्त असंगत है क्योंकि वे तो जन्म से ही माता-पिता, मुनि आदि को भी नमस्कार नहीं करते हैं, यह उनकी नियति ही मानना चाहिये। इसी प्रकार महान सती कन्या ब्राह्मी-सुन्दरी के वैराग्य की अवमानना करते हुए उनकी दीक्षा के विषय में भी ऐसी कुशंका उपस्थित नहीं करना चाहिये।

अनेक प्रतिष्ठाचार्य विद्वान् पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं में मंच पर इस दृश्य का मंचन भी कराते हैं कि “ब्राह्मी और सुन्दरी ने अपने पिता भगवान ऋषभदेव से पूछा कि पिताजी! क्या इस धरती पर आपसे भी बड़ा कोई व्यक्ति है ? तब भगवान ऋषभदेव ने कहा — हाँ पुत्रियों ! जिनके साथ हम तुम्हारा विवाह करेंगे वे मुझसे भी बड़े होंगे क्योंकि मुझे उन दामादों के पैर छूना पड़ेगा... आदि। इस बात से दुःखी होकर दोनों पुत्रियों ने निर्णय लिया कि हम विवाह नहीं करेंगे इसीलिये उन दोनों ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली थी।”

किन्तु ऐसा कोई भी वर्णन दिगम्बर जैन शास्त्रों में मेरे देखने में नहीं आया है। मेरा उन विद्वानों से भी कहना है कि यदि कहीं किसी भी आचार्य प्रणीत ग्रन्थ में ऐसा वर्णन आपने पढ़ा हो तो मुझे अवश्य सूचित करें अन्यथा ब्राह्मी-सुन्दरी की यह वार्ता कभी भी मंच पर प्रस्तुत नहीं कराना चाहिये। इससे उन महान आत्माओं के अवर्णवाद का निरर्थक दोष उत्पन्न होता है। देखो, आदिपुराण ग्रन्थ में चौबीसवें पर्व में श्री जिनसेनाचार्य ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में कहा है —

भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।

गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः॥

भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी भगवान की कृपा से दीक्षित होकर आर्यिकाओं के बीच में गणिनी के पद को प्राप्त हुई थी। यह ब्राह्मी सब देवों के द्वारा पूजित हुई थी।

रराज राजकन्या सा राजहंसीव सुस्वना।

दीक्षा शरन्नदीशीलपुलिनस्थलशायिनी।।

उस समय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरद् ऋतु की नदी के शीलरूपी किनारे पर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हंसी के समान सुशोभित हो रही थी।

सुन्दरी चात्तनिर्वेदा तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत।

अन्ये चान्याश्च संविग्ना गुरोः प्रात्राजिषुस्तदा।।

ऋषभदेव की दूसरी पुत्री सुन्दरी को भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था जिससे उसने भी ब्राह्मी के बाद दीक्षा ग्रहण कर ली थी। इनके सिवाय उस समय और भी अनेक राजाओं तथा राजकन्याओं ने संसार से भयभीत होकर गुरुदेव भगवान के समीप दीक्षा धारण की थी।

इस प्रकार शास्त्रीय स्वाध्याय के द्वारा वास्तविकता से परिचित होकर यह जानना चाहिये कि भगवान ऋषभदेव जैसे तीर्थंकर महापुरुष की पुण्यवती कन्याओं ने स्वयं के वैराग्य से दीक्षा ग्रहण की थी न कि किसी अन्य कारणवश अतः ब्राह्मी-सुन्दरी कन्याओं के उत्कृष्ट वैराग्य के प्रति कभी कुतर्क नहीं करना चाहिये।



जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के लाभ का फल

जो जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्त करके मोह, रागद्वेष को नष्ट कर देता है वह अल्पकाल में ही सर्व दुःखों से रहित मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि जो कोई भव्य जीव एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय, फिर पंचेन्द्रिय, फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपने की परम्परा को समझकर अत्यंत कठिनता से प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्तकर व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयरूप तीक्ष्ण खड्ग के द्वारा मोह, रागद्वेष रूप शत्रुओं को मार देता है। वही वीर पुरुष संपूर्ण दुःखों का क्षय करके अनाकुलतारूप, पारमार्थिक सिद्ध सुख को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के उपदेश का सार यही है कि व्यवहार संयम के द्वारा निश्चय संयम को प्राप्त करके शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करना। यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान को प्राप्त करके भी जीव संयमी नहीं हुआ और रागद्वेष मोह का नाश नहीं किया तो पुनः अत्यंत दुर्लभ जिनेन्द्रदेव के उपदेश रूप चिंतामणि को प्राप्त करके भी वह इच्छित फल रूप मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सका। अतः जिनोपदेश का फल मुक्ति को प्राप्त कर लेना है और उसके लिए संयम ही प्रधान कारण है। ऐसा समझना।

—प्रवचनसार

२६. सम्मोदशिखर तीर्थ वंदना माहात्म्य

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में दो ही तीर्थ शाश्वत हैं — १. अयोध्या २. सम्मोदशिखर तीर्थ। जो अनादिनिधन तीर्थ हैं वे शाश्वत कहलाते हैं। अनादिकाल से अयोध्या में तीर्थकर भगवान् जन्म लेते रहे हैं और सम्मोदशिखर तीर्थ से मोक्ष को प्राप्त करते रहे हैं लेकिन हुण्डावसर्पिणी काल के दोष के कारण वर्तमान काल में अयोध्या नगरी में मात्र पाँच तीर्थकरों ने ही जन्म लिया, जिनके नाम हैं — भगवान् आदिनाथ, अजितनाथ, अभिनंदनाथ, सुमतिनाथ एवं अनंतनाथ। इसी प्रकार कालदोष के कारण सम्मोदशिखर से कुल २० तीर्थकरों ने ही मोक्ष प्राप्त किया। अन्य तीर्थकरों में भगवान् ऋषभदेव ने कैलाशपर्वत से, भगवान् वासुपूज्यनाथ ने चम्पापुर से, भगवान् नेमिनाथ स्वामी ने गिरनार पर्वत से एवं भगवान् महावीर स्वामी ने पावापुरी से मोक्ष प्राप्त किया है अतः यह सम्मोदशिखर एवं अयोध्या दोनों ही महान तीर्थ हैं। आगम के अनुसार सम्मोदशिखर तीर्थ की वंदना करने वाला भव्य प्राणी तो आगामी ४९ भवों में नियम से मोक्ष को प्राप्त करता ही है अतः प्रत्येक भव्य प्राणी को अपने जीवन में कम से कम एक बार सम्मोदशिखर की यात्रा अवश्य करना चाहिए। सम्मोदशिखर तीर्थ पर बने टोंकों का महत्त्व एवं उनके दर्शन वंदन से प्राप्त होने वाले लाखों उपवासों के फल को यहाँ संक्षेप में वर्णित किया गया है।

१. कुंथुनाथ भगवान् की टोंक — इस टोंक का नाम ज्ञानधर कूट है। यहाँ से कुंथुनाथ भगवान् के साथ एक हजार मुनियों ने अपने कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त किया था। इसके अलावा छियानवे कोड़ाकोड़ी, छियानवे कोटि, बत्तीस लाख, छियानवे हजार, सात सौ बयालिस अन्य मुनियों ने यहाँ से निर्वाण प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक के वंदन से एक कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

२. नमिनाथ भगवान् की टोंक — इस टोंक का नाम मित्रधर कूट है। यहाँ से इक्कीसवें तीर्थकर भगवान् नमिनाथ ने एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। इनके अलावा नौ सौ कोड़ाकोड़ी, एक अरब, पैतालिस लाख, सात हजार नौ सौ बयालिस मुनिगण सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इस टोंक के वंदन से समस्त दुख-दारिद्र्य का नाश होता है।

* भाव सहित इस टोंक के वंदन से एक कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

३. भगवान् अरहनाथ की टोंक — इस टोंक का नाम नाटक कूट है। यहाँ से अरहनाथ भगवान् ने एक हजार अन्य साधुओं के साथ मोक्षपद प्राप्त किया था। इसी टोंक से निन्यानवे कोटि, निन्यानवे लाख एवं नौ सौ निन्यानवे अन्य साधुओं ने मोक्ष प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक के वंदन से छियानवे कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

४. श्री मल्लिनाथ भगवान् की टोंक — इस टोंक का नाम सम्बल कूट है। यहाँ से भगवान् मल्लिनाथ स्वामी ने पाँच सौ मुनियों के साथ मोक्ष पद को प्राप्त किया था। इनके अलावा छियानवे कोटि अन्य महामुनियों ने समस्त घातिया-अघातिया कर्मों का नाश कर सिद्धपद को प्राप्त किया था।

* भाव सहित इस टोंक के वंदन से एक कोटि प्रोषधोपवास (एक एकाशन, एक उपवास एवं फिर एक एकाशन) का फल प्राप्त होता है।

५. भगवान् श्रेयांसनाथ की टोंक — इस टोंक का नाम संकुल कूट है। यहाँ से श्रेयांसनाथ भगवान्

ने एक हजार मुनियों के साथ मोक्षपद प्राप्त किया था। इसी टोंक से छियानवे कोटा-कोटि, छियानवे कोटि, छियानवे लाख, नौ हजार पाँच सौ बयालिस अन्य मुनियों ने भी शिवपथ प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक के वंदन से एक कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

६. भगवान पुष्पदंतनाथ की टोंक— इस टोंक का नाम सुप्रभ कूट है। यहाँ से भगवान पुष्पदंतनाथ ने एक हजार साधुओं के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। यहीं से एक कोड़ाकोड़ी, निन्यानवे लाख, सात हजार, चार सौ अस्सी मुनियों ने भी मोक्ष पद को प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक के वंदन से एक कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

७. भगवान पद्मप्रभ की टोंक— इस टोंक का नाम मोहन कूट है। यहाँ से भगवान पद्मप्रभ ने तीन सौ चौबीस मुनियों के साथ निर्वाणपद प्राप्त किया था। इसके अलावा यहाँ से निन्यानवे कोटि, सत्तासी लाख, तेतालिस हजार सात सौ सत्ताइस मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक के वंदन से एक कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

८. भगवान मुनिसुव्रतनाथ की टोंक— इस टोंक का नाम निर्जर कूट है। यहाँ से भगवान मुनिसुव्रतनाथ ने एक हजार साधुओं के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। इनके अलावा निन्यानवे कोटाकोटि, सत्तानवे कोटि, नौ लाख, नौ सौ निन्यानवे मुनिराजों ने मोक्षपद को प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक के वंदन से एक हजार प्रोषध उपवास का फल प्राप्त होता है।

९. भगवान चन्द्रप्रभ की टोंक— इस टोंक का नाम ललित कूट है। यहाँ से चन्द्रप्रभ भगवान ने एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। इनसे अतिरिक्त इस कूट से नौ सौ चौरासी अरब, बहत्तर कोटि, अस्सी लाख, चौरासी हजार, पाँच सौ पंचानवे साधुओं ने सिद्धपद को प्राप्त किया है।

* भाव सहित इस टोंक का दर्शन करने से छियानवे लाख उपवास का फल मिलता है।

१०. भगवान आदिनाथ की टोंक— वास्तव में तो भगवान आदिनाथ ने कैलाशपर्वत से दस हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया था लेकिन सम्मोदशिखर तीर्थ पर भी भगवान आदिनाथ की महिमाशाली टोंक बनी हुई है।

* भाव सहित इस टोंक का दर्शन-वंदन करने से अनंत पुण्य का बंध होता है।

११. भगवान शीतलनाथ की टोंक— इस टोंक का नाम विद्युत्वर कूट है। यहाँ से भगवान शीतलनाथ ने एक हजार साधुओं के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। इनसे अतिरिक्त अट्टारह कोड़ाकोड़ी, बयालिस कोटि, बत्तीस लाख, बयालिस हजार, नौ सौ पाँच मुनिगण मोक्ष सिधारे हैं।

* भाव सहित इस टोंक का दर्शन-वंदन करने से एक कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

१२. अनंतनाथ भगवान की टोंक— इस टोंक का नाम स्वयंभू कूट है। यहाँ से अनंतनाथ भगवान ने मोक्ष प्राप्त किया था। उनके साथ सात हजार साधुओं ने भी अपने समस्त घातिया कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त किया था। यहाँ से छियानवे कोड़ाकोड़ी, सत्तर करोड़, सत्तर लाख, सत्तर हजार, सात सौ अन्य मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया था।

* भाव सहित इस टोंक का वंदन करने से नौ करोड़ उपवास का फल प्राप्त होता है।

१३. भगवान संभवनाथ की टोंक— इस टोंक का नाम धवल कूट है। यहाँ से भगवान संभवनाथ ने एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। इसके अलावा यहाँ से नौ कोड़ाकोड़ी, बहत्तर लाख,

बयालिस हजार पाँच सौ मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक का वंदन करने से बयालिस लाख उपवास का फल मिलता है।

१४. भगवान वासुपूज्य की टोंक— भगवान वासुपूज्य स्वामी ने चम्पापुर (मंदारगिरि) तीर्थ से छः सौ एक साधुओं के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। बारहवें तीर्थकर भगवान वासुपूज्यनाथ ही एक ऐसे तीर्थकर हैं जिनके पाँचों कल्याणक एक ही स्थान अर्थात् चम्पापुर से हुए हैं। सम्मोदशिखर तीर्थ पर भी भगवान वासुपूज्य की टोंक बनी हुई है।

* भाव सहित इस टोंक का वंदन करने से अतिशायी सुख की प्राप्ति होती है।

१५. भगवान अभिनंदननाथ की टोंक— इस टोंक का नाम आनन्द कूट है। यहाँ से भगवान अभिनंदननाथ ने एक हजार मुनियों के साथ सिद्धपद प्राप्त किया था। इनके अलावा यहाँ से बहत्तर कोड़ाकोड़ी, सत्तर कोटि, सत्तर लाख, बयालिस हजार, सात सौ मुनियों ने मोक्षपद प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक का वंदन करने से एक लाख उपवास का फल प्राप्त होता है।

१६. भगवान धर्मनाथ की टोंक— इस टोंक का नाम सुदत्त कूट है। यहाँ से भगवान धर्मनाथ स्वामी ने आठ सौ एक मुनियों के साथ सर्व कर्मों का नाश करके निर्वाणपद प्राप्त किया था। यहाँ से उनतीस कोड़ाकोड़ी, उन्तीस कोटि, नौ लाख, नौ हजार, सात सौ पंचानवे साधुओं ने मोक्ष प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक का वंदन करने से एक कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

१७. भगवान सुमतिनाथ की टोंक— इस टोंक का नाम अविचल कूट है। यहाँ से भगवान सुमतिनाथ ने एक हजार साधुओं के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। इसके अलावा एक कोड़ाकोड़ी, चौरासी कोटि, बहत्तर लाख, इक्यासी हजार, सात सौ इक्यासी मुनियों ने यहाँ से मोक्ष प्राप्त किया है।

* भाव सहित इस टोंक का वंदन करने से नव कोटि, बत्तीस लाख उपवास का सुफल प्राप्त होता है।

१८. भगवान शांतिनाथ की टोंक— इस टोंक का नाम कुन्दप्रभ कूट है। यहाँ से भगवान शांतिनाथ ने नौ सौ मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। इनके अलावा नौ कोटि-कोटि, नौ लाख, नौ हजार, नौ सौ निन्यानवे महामुनियों ने कठोर तपश्चरण करके मोक्ष प्राप्त किया था।

* भाव सहित इस टोंक का दर्शन-वंदन करने से एक कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

१९. भगवान महावीर टोंक— कालदोष के कारण वर्तमान में भगवान महावीर स्वामी ने पावापुरी जल मंदिर (बिहार) से निर्वाणपद प्राप्त किया। सम्मोदशिखर में भी इनके चरणचिन्ह बने हुए हैं।

* इस टोंक का दर्शन-वंदन करने से सम्पूर्ण रोग, दुख-दारिद्र्य आदि का विनाश होता है।

२०. भगवान सुपार्श्वनाथ की टोंक— इस टोंक का नाम प्रभास कूट है। यहाँ से सातवें तीर्थकर भगवान सुपार्श्वनाथ ने पाँच सौ मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। इसके अलावा उनचास कोटि-कोटि, चौरासी कोटि, बत्तीस लाख, सात हजार, सात सौ बयालिस महामुनियों ने समस्त कर्मों का नाशकर शिवपद की प्राप्ति की थी।

* भाव सहित इस टोंक का दर्शन-वंदन करने से बत्तीस कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

२१. भगवान विमलनाथ की टोंक— इस टोंक का नाम सुवीर कूट है। यहाँ से भगवान विमलनाथ स्वामी ने छः सौ मुनियों के साथ घातिया-अघातिया कर्मों का नाश कर सिद्धपद प्राप्त किया था। इसके अलावा सत्तर कोड़ाकोड़ी, साठ लाख, छः हजार, सात सौ बयालिस मुनियों ने यहाँ से मोक्षपद प्राप्त किया था।

* भाव सहित इस टोंक का दर्शन-वंदन करने से एक कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

२२. **भगवान अजितनाथ की टोंक**—इस टोंक का नाम सिद्धवर कूट है। यहाँ से भगवान अजितनाथ ने एक हजार महामुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। यहाँ से एक अरब, अस्सी कोटि, चौवन लाख अन्य मुनियों ने भी निर्वाणपद की प्राप्ति की थी।

* भाव सहित इस टोंक का दर्शन करने से बत्तीस कोटि उपवास का फल प्राप्त होता है।

२३. **भगवान नेमिनाथ की टोंक**—भगवान नेमिनाथ ने गुजरात प्रान्त में स्थित गिरनार पर्वत से शंभु, प्रद्युम्न आदि महामुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया था। इनके अलावा गिरनार पर्वत से बहत्तर कोटि एवं सात सौ अन्य महामुनियों ने भी मोक्षपद प्राप्त किया। सम्मोदशिखर में भी भगवान नेमिनाथ की टोंक के दर्शन होते हैं।

* इस टोंक का दर्शन कर सभी भक्तजन अनंतगुणा पुण्य संचित करते हैं।

२४. **भगवान पार्श्वनाथ की टोंक**—इस टोंक का नाम सुवर्णभद्र कूट है। यह सम्मोदशिखर पर्वत की सबसे ऊँची एवं आखिरी टोंक है। यहाँ से तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ ने छत्तिस मुनियों के साथ मोक्ष की प्राप्ति की थी। चूँकि वर्तमानकाल में सम्मोदशिखर से मोक्ष प्राप्त करने वाले अंतिम तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ हैं अतः इस पूरे पर्वत को 'पार्श्वनाथ हिल' के नाम से ही जाना जाता है। यहाँ से अन्य बयासी कोटि, चौरासी लाख, पैतालिस हजार, सात सौ बयालिस मुनियों ने समस्त कर्मों का नाश कर मोक्षपद प्राप्त किया।

* भाव सहित इस टोंक का वंदन करने से मनवांछित फल की प्राप्ति होती है और सोलह कोटि उपवास का फल भी प्राप्त होता है।

तीर्थंकर भगवन्तों के गणधरों के मोक्ष का स्थान निश्चित नहीं है फिर भी सम्मोदशिखर तीर्थ की प्रथम गणधर टोंक पर समस्त गणधरों के चरणों के दर्शन होते हैं जिनके वंदन से भक्तजन असीम पुण्य का वर्धन करते हैं।



गुरु के बिना संसार समुद्र नहीं तर सकते

न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः।

नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः॥

बन्धवो गुरवश्चेति द्वये संप्रीतये नृणाम्।

बन्धवोऽत्रैव संप्रीत्यै गुरवोऽमुत्र चात्र च॥

जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र नहीं तिरा जा सकता है उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना यह संसाररूपी समुद्र नहीं तिरा जा सकता है। इस संसार में भाई और पुत्र दोनों ही मुष्णों की प्रीति के लिए होते हैं, किन्तु भाई तो इस लोक में ही प्रीति उत्पन्न करते हैं और गुरु इस लोक तथा पद्मलोक दोनों ही लोकों में विशेषरूप से प्रीति के लिए होते हैं। अर्थात् भाई से इस लोक में ही सुख मिलता है तथागुरु से इस भव और परभव में भी सर्वत्र सुख, कल्याण और मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है। अतः सदैव गुरु के चरणोंकी सेवा करते रहना चाहिए।

—भगवज्जिनसेनाचार्य

२७. दीपावली पर्व एवं वीर निर्वाण संवत् का नूतन वर्षाभिनन्दन

जैन इतिहास के अनुसार आज से २५३८ वर्ष पूर्व तीर्थंकर भगवान महावीर ने बिहार प्रान्त के पावापुरी नगर में जलमंदिर से समस्त कर्मों का नाश कर मोक्षधाम को प्राप्त किया था। जैसा कि आचार्यश्री पूज्यपाद स्वामी ने निर्वाणभक्ति में कहा है —

पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे, पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये।

श्रीवर्धमानजिनदेव इति प्रतीतो, निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा॥२४॥

पावापुर के बाह्य सरोवर, पद्म कुमुदनी से शोभित।

मध्यभाग में उसके उन्नत, भूमि देश में प्रभु राजित॥

श्रीमन् वर्धमान जिनदेव, त्रिभुवन विश्रुत पाप रहित।

कर्म अघाती धो करके, निर्वाण गये भगवन् सन्मति॥

इसी स्मृति में प्रतिवर्ष भक्तगण दीपावली के दिन कार्तिक कृष्णा अमावस्या की प्रभात बेला में पावापुरी के जलमंदिर में भक्तिपूर्वक निर्वाणलाडू चढ़ाते हैं। वर्तमान में श्वेताम्बर समुदाय की कमेटी ने पावापुरी जलमंदिर के पास बोर्ड लगा दिया है कि —

“आज से लगभग छठी शताब्दी ईसा पूर्व जैनधर्म के चौबीसवें अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर का निर्वाण होने पर देवताओं द्वारा यहाँ पर अंतिम संस्कार किया गया। इस पवित्र स्थान की भस्म व मिट्टी को उठाते-उठाते ही एक बड़ा सा गड्ढा बन गया, जिसने एक विशाल सरोवर का स्थान ले लिया। इस सरोवर में कमल रहने से इसे कमल सरोवर भी कहते हैं। वर्तमान में इस सरोवर की लम्बाई १४५१ फुट एवं चौड़ाई १२२३ फिट है।”

दिगम्बर जैन परम्परानुसार उपर्युक्त वर्णन पूर्णतया निराधार है, तदनुसार महावीर स्वामी ने इसी जल मंदिर में ही दो दिन का योग निरोध करके कार्तिक कृष्णा अमावस की प्रत्युष बेला में मोक्ष प्राप्त किया उसके पश्चात् सौधर्म इन्द्र आदि सभी देवताओं ने मिलकर उनका निर्वाणकल्याणक महोत्सव मनाया पुनः अग्निकुमार देवों ने अपने मुकुट से अग्नि निकालकर भगवान के शरीर का अंतिम संस्कार किया था। वहाँ पर इन्द्र ने वज्र से भगवान के चरण उत्कीर्ण किये थे, उस विषय में भी पूज्य आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभूस्तोत्र में लिखा है —

ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलंकृतः।

मेघपटलपरिवीत तटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा॥१२७॥

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च, सततमभिगम्यतेऽद्य च।

प्रीतिविततहृदयैः परितो, भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः॥१२८॥

अर्थात् गिरनार पर्वत से भगवान नेमिनाथ के मोक्षगमन के पश्चात् इन्द्रों ने भगवान की निर्वाण कल्याणक पूजा के बाद गिरनार पर्वत पर वज्र से चरण उत्कीर्ण किया था। इसी प्रमाण को उद्धृत करते हुए मेरे दीक्षा गुरुवर परम पूज्य आचार्य श्री वीरसागर महाराज कहते हैं कि — इसी प्रकार से पावापुरी सरोवर के मध्य मणिमयी शिला से भगवान के मोक्ष जाने के बाद इन्द्रों ने वज्र से यहाँ पर भी चरणचिन्ह उत्कीर्ण करके

इस शिला को सिद्धशिला के समान पूज्य पवित्र बनाया था।

इस दीपावली पर्व के महत्त्व एवं वीर निर्वाण संवत् के बारे में “मेरी स्मृतियाँ” ग्रंथ में भी विस्तार से दिया है ताकि पढ़ने वालों को जैनधर्म से संबंधित इतिहास की जानकारी मिल सके।

नूतन वर्ष अभिनंदन —

आज भारत देश में वीर निर्वाण संवत्, विक्रम संवत्, शालिवाहन शक और ईसवी सन् प्रचलित हैं। इनके प्रथम दिवस को वर्ष का प्रथम दिन मानकर नववर्ष की मंगल कामनाएँ की जाती हैं। जैन धर्मानुयायी महानुभावों को किस संवत् का कौन सा दिवस नववर्ष का मंगल दिवस मानना चाहिए ? इस विषय पर विचार करना चाहिए।

आज ईसवी सन् अत्यधिक प्रचलित है। प्रायः कैलेंडर, तिथि दर्पण और डायरियां भी इसी सन् से छपने लगी हैं। वास्तव में अंग्रेजों ने अपने भारत पर शासन करके अपना ऐसा प्रभाव छोड़ा है कि उसे मिटाना असंभव है। खैर! कोई बात नहीं, १ जनवरी से प्रतिवर्ष ईसवी सन् प्रारंभ होता है।

कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा गुजरात में विक्रम संवत् को अधिक महत्त्व दिया जाता है। मैंने श्रवणबेलगोल में देखा कि जो लोग वहीं रहकर भी ऊपर जाकर भगवान का दर्शन नहीं करते थे वे भी जैन बंधु चैत्र वदी अमावस्या (दक्षिण व गुजरात के अनुसार फाल्गुन कृ. अमावस्या) की रात्रि में ऊपर पहाड़ पर जाकर सोते हैं और प्रातः उठते ही भगवान बाहुबली का दर्शन कर नूतन वर्ष की मंगल-कामना करते हुए नीचे उतरते हैं। चैत्र शुक्ला एकम् से विक्रम संवत् का नया वर्ष शुरू होता है। आज पंचांग इसी संवत् से चल रहे हैं।

वर्तमान में तो वीर निर्वाण महोत्सव की चर्चा जैन क्या जैनैतरों में भी सारे देश में फैल चुकी है। सन् १९७४ में भगवान महावीर का पच्चिस सौवां निर्वाण महोत्सव भी एक वर्ष तक जैनो के चारों सम्प्रदायों के महारथियों ने आगे होकर मनाया जिससे जैन के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के अहिंसा धर्म का प्रचार-प्रसार खूब ही हुआ है। अब तिथि दर्पण भी “वीरनिर्वाण संवत्” से निकाले जाने लगे।

आज जैन समाज में ही नहीं, जैनैतर समाज में भी वीर निर्वाण दिवस (दीपावली के दिन) रात्रि में गणेश पूजा और लक्ष्मी पूजा करके दुकान पर नूतन वसना और नूतन बही आदि बदलने की प्रथा है। इस दिन अनेक प्रबुद्ध जैन अपनी-अपनी दुकान पर यंत्र अथवा जिनवाणी रखकर भगवान महावीर की पूजा, सरस्वती की पूजा आदि करके मंगलाष्टक पढ़कर, नूतन बहियों और वसनों पर स्वस्तिक, श्री आदि बनाकर “श्री महावीराय नमः” आदि मंत्र लिखकर बही बदलने का मुहूर्त करके संवत् लिख देते हैं।

इस दिन लक्ष्मी-गणेश की पूजा के बारे में सही स्थिति का बोध कराने के लिए मैंने श्री गौतम गणधर की पूजा और केवलज्ञान महालक्ष्मी की पूजा, ऐसी दो पूजाएँ बनाई हैं जो “जम्बूद्वीप पूजांजलि” पुस्तक एवं “दीपावली पूजन” नामक पुस्तक में प्रकाशित हैं क्योंकि कार्तिक कृ. अमावस्या को प्रातः प्रत्यूष बेला में भगवान महावीर स्वामी ने पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया था, उसी के उपलक्ष्य में स्वर्ग से इन्द्रों ने, असंख्य देव-देवियों ने आकर यहाँ पावापुरी में भगवान का निर्वाणोत्सव मनाया था और पावापुरी में दीपों को जलाकर उत्सव किया था। उसी समय से आज तक प्रतिवर्ष अपने भारत देश में सायंकाल में सर्वत्र दीपक जलाकर “दीपमालिका” या दीपावली दिवस मनाया जाता है। जैसा कि हरिवंशपुराण में कहा भी है —

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।

समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्॥२१॥

भगवान के निर्वाण कल्याणक की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरतक्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे अर्थात् उन्हीं की स्मृति में दीपावली का उत्सव मनाने लगे।।२१।।

यह हुई दीपावली की बात, पुनः जो उसी दिन रात्रि में नूतन बही पूजन के समय लक्ष्मी और गणेश की पूजा की प्रथा है, उसमें भी रहस्य है। उसी दिन पावापुर में भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद सायंकाल में श्री गौतम गणधर को केवलज्ञान प्रगट हुआ था, तत्क्षण ही इन्द्रों ने आकर उनकी गंधकुटी की रचना करके उनके केवलज्ञान की पूजा की थी। 'गणानां ईशः गणेशः, गणधरः' ये पर्यायवाची नाम श्री गौतमस्वामी के ही हैं। सब लोग इस बात को न समझकर गणेश और लक्ष्मी की पूजा करने लगे। वास्तव में गणधर देव की, केवलज्ञान महालक्ष्मी की पूजा करनी चाहिए। खासकर जैनों को तो यही कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा का नूतन वर्ष मानना चाहिए। इसी दिन से तिथि दर्पण व कैलेंडर छपाना चाहिए।

युगादि दिवस—

वैसे मेरी दृष्टि में “युगादि दिवस” भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसकी तरफ प्रायः जैन धर्मानुयायियों का लक्ष्य नहीं है। यह मंगलमय दिवस है। “श्रावण कृष्णा प्रतिपदा” यह प्रत्येक युग का आदि दिवस है इसलिए इसे “युगादि” कहा है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह काल माने हैं। अवसर्पिणी के सुषमा सुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा। ये ही उत्सर्पिणी में उल्टे क्रम से चलते हैं, जैसे अतिदुःषमा आदि। इन सब कालों की समाप्ति आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को होती है और प्रारंभ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से होता है।

इस मंगल दिवस को ही भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी अतः आज इसे “वीरशासन जयंती” दिवस के नाम से मनाने की प्रथा है। इस विषय में आप प्रमाण देखिये (तिलोयपण्णत्ति अध्याय १, पृ. ९ से उद्धृत) —

“एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि।

तेत्तीसवासअडमासपण्णरसदिवससेसम्मि ।।६८।।

वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।

अभिजीणक्खत्तम्मिं य उप्पत्ती धम्मतिथस्स।।६९।।

सावणबहुले पाडिवरुहमुहुत्ते सुहोदये रविणो।

अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं।।७०।।

यहाँ अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अंतिम भाग में तेतीस वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावण नामक प्रथम महीने में, कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।।६८-६९।।

श्रावण कृष्णा एकम् के दिन रुद्र मुहूर्त के रहते हुए सूर्य का शुभ उदय होने पर अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में इस युग का प्रारंभ हुआ, यह स्पष्ट है।।७०।।

धवला में भी लिखा है—

सावण-बहुण-पडिवदे, रुह-मुहुत्ते सुहोदए रविणो।

अभिजिस्स पढम-जोए, एत्थ जुगाई मुणेयव्वो।।५७।।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन, रुद्र मुहूर्त में, सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में जब युग की आदि हुई, तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए।।५७।।

राजगृही नगर का जो स्थान भगवान महावीर की दिव्यध्वनि से पवित्र हुआ था, उसके बारे में भी तिलोपपण्णत्ति (अध्याय १, पृ. ८) में वर्णन आया है —

सुरखेयरमणहरणे, गुणणामे पंचसेलणयरम्मि।

विउलम्मि पव्वदवरे, वीरजिणो अट्टकत्तारो।।६५।।

चउरस्सो पुव्वाए, रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो।

णइरिददिसाए विउलो, दोण्णि तिकोणट्टिदायारा।।६६।।

चावसरिच्छोछिण्णो, वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु।

ईसाणाए पंडू वण्णा सव्वे कुसग्गपरियरणा।।६७।।

अर्थ — देव और विद्याधरों के मन को मोहित करने वाले और सार्थक नाम से प्रसिद्ध पंचशैल (पांच पहाड़ों से सुशोभित) नगर अर्थात् राजगृही नगरी में, पर्वतों में श्रेष्ठ विपुलाचल पर्वत पर श्रीवीरजिनेन्द्र अर्थशास्त्र के कर्ता हुए।।६५।।

राजगृह नगर के पूर्व में चतुष्कोण ऋषिशैल, दक्षिण में वैभार और नैऋत्य दिशा में विपुलाचल पर्वत है। ये दोनों वैभार और विपुलाचल पर्वत त्रिकोण आकृति से युक्त हैं।।६६।।

पश्चिम, वायव्य और सोम (उत्तर) दिशा में फैला हुआ धनुष के आकार वाला छिन्न नाम का पर्वत है और ईशान दिशा में पाण्डु नाम का पर्वत है। उपर्युक्त पाँचों ही पर्वत कुशाग्रों से वेष्टित हैं।।६७।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि “श्रावण कृष्णा प्रतिपदा” युग की आदि है। भगवान महावीर के मोक्ष जाने के बाद पाँचवाँ काल प्रवेश होने में तीन वर्ष, आठ माह, पन्द्रह दिन बाकी रहे थे। तीन वर्ष, कार्तिक शुक्ला के पन्द्रह दिन और मगसिर से आषाढ़ तक आठ माह गिनने चाहिए।

कर्नाटक में लोग चैत्र शु. १ को ही “युगादि अब्बा” कहते हैं किन्तु वह तो विक्रमादित्य राजा से चला है अतः वह “युगादि अब्बा” न होकर श्रावण कृष्णा एकम् ही युगादि पर्व है। दक्षिण में पर्व को “अब्बा” कहते हैं।

इसे यहाँ बताने का मेरा अभिप्राय यही है कि आप जैन लोग वीर निर्वाण संवत् से ही “नूतन वर्ष” मनावें तथा श्रावण कृष्णा एकम् को “वीरशासन जयन्ती” और युगादि दिवस — पर्व अवश्य मनावें। यदि जैन ही अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार नहीं करेंगे तो भला और कौन करेंगे ? इसलिए वीर निर्वाण के दिन रात्रि में जैन विधि से बही और वसना आदि बदलकर कार्तिक शुक्ला एकम् से “नूतन वर्ष” मानना चाहिए तथा नव संवत्सर की पूजा आदि करके अपने वर्ष को मंगलमय बनाना चाहिए।



२८. आगम के दर्पण में कुण्डलपुर

भगवान महावीर की जन्मभूमि “कुण्डलपुर” है ऐसा वर्णन श्रीयतिवृषभआचार्यदेव ने अतिप्राचीन तिलोपपण्णत्ति ग्रंथ में कहा है —

सिद्धत्थरायपियकारिणीहिं, णयरम्मि कुण्डले वीरो।

उत्तरफग्गुणिरिक्खे, चित्तसियातेरसीए उप्पण्णो।।५४६।।

भगवान महावीर कुण्डलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी के गर्भ से चैत्र शुक्ला तेरस के दिन उत्पन्न हुए हैं।

षट्खण्डागम महाग्रंथ के चतुर्थ खंड में वर्तमान में प्रकाशित ९वीं पुस्तक में लिखा है —

“आषाढजोण्हपक्खच्छट्ठीए कुंडलपुरणगराहिव णाहवंस-सिद्धत्थ-णारिदस्स तिसिलादेवीए गब्भमागंतूण तत्थ अट्ठदिव-साहिय णवमासे अच्छिय चइत्तसुक्खपक्ख तेरसीए उत्तराफग्गुणी णक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो।।”

आषाढ मास की शुक्ला षष्ठी के दिन कुण्डलपुर नगर के अधिपति नाथवंशी राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला देवी के गर्भ में आकर वहाँ आठ दिन अधिक नवमाह पर्यंत रहकर चैत्र शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान महावीर ने जन्म लिया था।

भगवान का जन्म रात्रि में हुआ था ऐसा कथन इसी ग्रंथ में (पृ. १२२ पर) है —

कुण्डपुरपुरवरिस्सर, सिद्धत्थक्खत्तियस णाहकुले।

तिसिलाए देवीए, देवीसदसेवमाणए।।२३।।

अच्छित्ता णवमासे, अट्ठ य दिवसे चइत्त-सियपक्खे।

तेरसिए रत्तीए, जादुत्तरफग्गुणीए दु।।२४।।

अर्थात् कुण्डलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के घर नाथकुल में सैकड़ों देवियों से सेव्यमान त्रिशला देवी के गर्भ में महावीर का जीव आया और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुए भगवान का जन्म हुआ।

इस कुण्डलपुर को अनेक ग्रंथों में कुंडपुर भी कहा है लेकिन यह छोटा सा कुण्डग्राम नहीं है प्रत्युत विदेहदेश की महान राजधानी थी। देखिए —

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में आर्यखण्ड है। इस आर्यखण्ड में “विदेह” नाम से एक प्रसिद्ध देश माना गया है। यही विदेह देश वर्तमान में बिहार प्रान्त के नाम से प्रसिद्ध है। कभी यह देश खेट, खर्वट, मटंब, पुटभेदन, द्रोणामुख, आकर-सुवर्ण, चाँदी आदि की खान, खेत, ग्राम और घोषों से विभूषित था। जैसा कि वर्णन है —

सखेटखर्वटाटोपिमटंबपुटभेदनैः।

द्रोणामुखाकरक्षेत्रग्रामघोषैर्विभूषितः।।३।।

जो देश, नगर, नदी और पर्वत से घिरा हो वह ‘खेट’ है। जो केवल पर्वतों से घिरा हो वह ‘खर्वट’ है। जो पाँच सौ गाँवों से घिरा हो वह ‘मटम्ब’ है। जो समुद्र के किनारे हो तथा जहाँ पर लोग नाव से उतरते हों, वह ‘पत्तन’ या ‘पुटभेदन’ कहलाता है। जो नदी के किनारे बसा हो उसे ‘द्रोणामुख’ कहते हैं। जहाँ सोना, चाँदी आदि निकलते हैं उसे ‘खान’ कहते हैं। अन्न उसत्र होने की भूमि क्षेत्र “खेत” है। जिसमें बाढ़ से धिरे हुए घर

हों, जिसमें अधिकतर किसान लोग निवास करते हों, वह बाग-बगीचा और मकानों से सहित हो उन्हें 'ग्राम' कहते हैं और जहाँ अहीर लोग रहते हैं, उसे 'घोष' कहते हैं। ये सब शास्त्रीय प्राचीन परिभाषाएँ हैं। इन सभी से सहित वह 'विदेह' देश था।

इस देश की राजधानी कुण्डपुर या कुण्डलपुर प्रसिद्ध थी। यह परकोटा एवं खाई आदि से विभूषित बहुत ही वैभवपूर्ण नगरी थी। इसका वर्णन बहुत ही सुन्दर किया गया है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि —

एतावतैव पर्याप्तं, पुरस्य गुणवर्णनम्।

स्वर्गावतरणे तद्यद्वीरस्याधारतां गतम्॥१२॥

इस नगर के गुणों का वर्णन तो इतने से ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्ग से अवतार लेते समय भगवान महावीर का आधार हुआ था अर्थात् साक्षात् महावीर स्वामी जहाँ अवतीर्ण हुए थे।

यहाँ के राजा "सर्वार्थ" महाराज थे और उनकी महारानी का नाम "श्रीमती" था। इनके पुत्र का नाम "सिद्धार्थ" था। इनकी रानी महाराजा चेटक की पुत्री "प्रियकारिणी" थीं जिनका दूसरा नाम "त्रिशला" था। जो राजा सिद्धार्थ वर्तमान में भगवान वर्द्धमान के पिता के पद को प्राप्त हुए थे भला उनके उत्कृष्ट गुणों का वर्णन कौन कर सकता है? तथा अपने पुण्य से तीर्थंकर महावीर को जन्म देने वाली उन त्रिशला के गुणों का वर्णन भी कोई मनुष्य नहीं कर सकता है। राजा सिद्धार्थ के माता-पिता का नाम हरिवंशपुराण में वर्णित है।

सर्वार्थश्रीमतीजन्मा तस्मिन् सर्वार्थदर्शनः।

सिद्धार्थोऽभवदर्काभो भूपः सिद्धार्थपौरुषः॥१३॥

अब भगवान महावीर के नाना के कुल का संक्षिप्त वर्णन आपके लिए प्रस्तुत है —

सिंध्वाख्ये विषये भूभृद्वैशाली नगरेऽभवत्।

चेटकाख्योतिविख्यातो विनीतः नरमार्हतः॥१३॥

सिंधुदेश के वैशाली नगर में चेटक नाम के प्रसिद्ध राजा थे। इनकी रानी का नाम भद्रा-सुभद्रा था। इनके दश पुत्र थे जिनके नाम धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, शिवदत्त, हरिदत्त, कम्बोज, कम्पन, प्रयंग, प्रभंजन और प्रभास थे। ये दशों पुत्र दशधर्मों के समान निर्मल गुणों से विभूषित थे। इन्हीं राजा चेटक की महारानी ने सात ऋद्धियों के समान ही सात पुत्रियों को जन्म दिया था, जो क्रमशः प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलिनी, ज्येष्ठा और चन्द्रमा इन नाम को धारण करने वाली थीं।

विदेह देश की कुण्डपुरी-कुण्डलपुरी नगरी में 'नाथवंश' के राजा सिद्धार्थ के साथ राजा चेटक ने अपनी बड़ी पुत्री प्रियकारिणी-'त्रिशला' का विवाह किया था। वत्सदेश में कौशाम्बी नगरी के चंद्रवंशी राजा शतानीक के साथ दूसरी पुत्री मृगावती का विवाह हुआ था। दशार्ण देश के हेरकच्छनगर में सूर्यवंशी राजा दशरथ राज्य करते थे। राजा चेटक की तृतीया पुत्री सुप्रभा इन दशरथ की पट्टरानी हुई थीं। कच्छदेश के 'रोरुकनगर' में राजा उदयन राज्य करते थे, चतुर्थी पुत्री प्रभावती का राजा चेटक ने इनके साथ विवाह किया। पाँचवीं पुत्री चेलनी राजगृही के राजा श्रेणिक की पट्टरानी हुई थी तथा ज्येष्ठा और चंदना कुमारिका ने आर्यिका दीक्षा से अपना जीवन विभूषित किया था।

यही प्रकरण 'वीरजिणिंदचरित' पुस्तक में भी आया है —

जम्बूद्वीप के विदेहप्रदेश में कुण्डपुर-कुण्डलपुर में राजा सिद्धार्थ की महारानी प्रियकारिणी से भगवान महावीर जन्मे हैं।

इसी ग्रंथ में राजा चेटक की राजधानी वैशाली का वर्णन आया है। इसे सिंधुदेश में माना है। इन राजा के दश पुत्र और प्रियकारिणी आदि सात पुत्रियाँ थीं। जिनमें से बड़ी पुत्री प्रियकारिणी को कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ की महारानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

गर्भावतरण — भगवान महावीर होने वाले महापुरुष सोलहवें स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में थे। जब उनकी आयु मात्र छह महिने की शेष रही तब सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने कुण्डलपुरी के राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशला के आँगन में रत्नों की वृष्टि करना शुरू कर दी। ये रत्न प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ बरसते थे।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना है कि राजा सिद्धार्थ वैशाली के राजा नहीं थे और न ही वे वैशाली के अन्तर्गत छोटे से कुण्डग्राम के छोटे-मोटे राजा थे। किन्तु वे तत्कालीन वैशाली के राजा चेटक, जो कि उनके श्वसुर थे, उनके समकक्ष तथा इन्द्रों से भी पूज्य महान राजा थे। जैसा कि उत्तरपुराण में लिखा है—

तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।

भरतेस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे॥२५१॥

राज्ञः कुण्डपुरेशस्य, वसुधाराप तत्पृथु।

सप्तकोटीमणीः साद्धाः सिद्धार्थस्य दिनं प्रति॥२५२॥

इन राजा के महल का नाम “नंदावर्त” था। यह सात खन का बहुत ही सुन्दर था। एक दिन महारानी त्रिशला अपने “नंदावर्त” महल में रत्ननिर्मित सुंदर पलंग पर सोई हुई थीं, रात्रि में रत्नों के दीपों का प्रकाश फैला हुआ था। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन पिछली रात्रि में रानी ने सोलह स्वप्न देखे। प्रातः पतिदेव से उनका फल पूछने पर “आप तीर्थंकर पुत्र को जन्म देंगी” ऐसा सुनकर प्रसन्नता को प्राप्त हुईं। तभी इन्द्रादिदेवगण ने आकर “गर्भकल्याणक” उत्सव मनाया।

जन्मकल्याणक — चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को माता त्रिशला ने पुत्र रत्न को जन्म दिया तब इन्द्रों ने असंख्य देवपरिवारों के साथ आकर बालक को ऐरावत हाथी पर बिठाकर सुमेरुपर्वत पर ले जाकर वहाँ स्वर्णमयी कुंभों से क्षीरसागर के जल से भरे ऐसे १००८ कलशों से प्रभु का जन्माभिषेक किया था। अनंतर आभूषण आदि से जिनबालक को विभूषित कर “वीर” और “वर्द्धमान” ऐसे दो नाम प्रसिद्ध किए थे।

एक बार “संजय” और “विजय” नाम के दो चारणऋद्धिधारी महामुनियों को किसी पदार्थ में संदेह उत्पन्न हो गया तब जन्म के बाद ही जिनशिशु के समीप आए। भगवान के दर्शनमात्र से उनका संदेह दूर हो गया। तब उन महासाधुओं ने “सन्मति” इस नाम से शिशु को संबोधित किया था। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर उन भगवान के आयु, समय और इच्छा के अनुसार स्वर्ग से सारभूत भोग-उपभोग की वस्तुएँ लाते थे।

किसी एक दिन स्वर्ग में प्रभु की शूरवीरता की चर्चा चल रही थी। उसे सुनकर “संगम” देव ने उनकी परीक्षा करने की भावना की। उस समय वर्द्धमान कुमार उद्यान में अनेक राजकुमारों के साथ वृक्ष पर चढ़ने-उतरने का खेल खेल रहे थे। तभी संगम देव महासर्प का रूप धारणकर वृक्ष में नीचे से ऊपर तक लिपट गया। सभी बालक डर से वृक्ष से कूदकर भागने लगे किन्तु जिनवीर ने सर्प के मस्तक पर पैर रखकर ऐसी क्रीड़ा की कि जैसे माता के पलंग पर खेल रहे हों। तब संगमदेव ने अपना रूप प्रगटकर प्रभु की नाना स्तुति करके “महावीर” यह नाम रखा।

दीक्षाकल्याणक — जब भगवान तीस वर्ष के हो गये तब उन्हें एक दिन जातिस्मरण होने से आत्मज्ञान प्रगट हो गया। प्रभु के विरक्त होते ही लौकांतिक देव आ गये उन्होंने प्रभु के वैराग्य की प्रशंसा करते हुए खूब स्तुति की। अनंतर देवों ने चन्द्रप्रभा पालकी पर प्रभु को बिठाया। प्रभु ने षंड नाम के वन में

रत्ननिर्मित शिला पर बैठकर उत्तरदिशा में मुख करके तेला का नियम लेकर सम्पूर्ण वस्त्राभरणों का त्याग कर दिया एवं केशलोंच करके जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। यह दिन मगसिर कृष्णा दशमी का था। जन्म से प्रभु मति, श्रुत एवं अवधि इन तीन ज्ञान के धारी थे अब चार ज्ञान के धारी हो गये। प्रभु ने “साल” वृक्ष के नीचे दीक्षा ली है ऐसा वर्णन प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ में आया है। उसमें ऐसा बताया है कि चौबीसों तीर्थकरों के दीक्षावृक्ष और केवलज्ञान वृक्ष वही वही हैं।

वट, सप्तच्छद आदि वृक्षों में अंतिम तीर्थकर के दीक्षावृक्ष का “साल” यह नाम है। उसमें कहा है —

सालश्चैते जिनेन्द्राणां, दीक्षावृक्षां प्रकीर्तिताः।

एत एव बुधैर्ज्ञेयाः केवलोत्पत्तिशाखिनः॥४॥

जब भगवान श्री महावीर महामुनि के वेष में आहार के लिए निकले तो प्रथम आहार का लाभ “कूलग्राम” के राजा “कूल” को प्राप्त हुआ। इनका नाम हरिवंशपुराण में “वकुल” आया है। इन्होंने प्रभु को खीर का आहार दिया और देवों ने उसी क्षण पंचाश्वर्यवृष्टि की। इन पंचाश्वर्यों में रत्नों का प्रमाण साढ़े बारह करोड़ बताया है।

तिलोपपण्णत्ति में “नाथवन” में दीक्षा लेने का कथन है। यथा —

मगसिरवहुलदसमी-अवरणहे उत्तरासु णाधवणे।

तदियखवणम्मि गहिदं महव्वदं वड्डमाणेण॥२६७॥

वर्धमान स्वामी ने मगसिर कृष्णा दशमी को अपराण्ह काल में उत्तरा नक्षत्र के रहते ‘नाथवन’ में तृतीय भक्त के साथ अर्थात् बेला का नियम लेकर महाव्रतों को ग्रहण किया था।

उपसर्गविजय — तपश्चर्या करते हुए भगवान एक बार उज्जयिनी महानगर के बाहर “अतिमुक्तक” नाम के श्मसान में प्रतिमायोग से ध्यान में लीन हो गये। उन्हें देखकर “स्थाणु” नामक रुद्र ने उनके धैर्य की परीक्षा करने के लिए उनके ऊपर उपसर्ग करना प्रारंभ कर दिया। विद्या से वहाँ अंधेरा करके अनेक बेतालों-भूतों को नचाना शुरू कर दिया। तदनंतर सर्प, हाथी, सिंह, अग्नि और वायु आदि के साथ भीलों की सेना बना दी। इत्यादि प्रकार से उस रुद्र ने अपनी विद्या के प्रभाव से ध्यानस्थ महावीर के ऊपर भयंकर उपसर्ग किया परन्तु भगवान अचल हुए ध्यान में लीन थे तब उनके ध्यान के प्रभाव से प्रभावित हो रुद्र ने प्रभु का नाम “महति महावीर” रखकर अपनी भार्या के साथ अनेक प्रकार से स्तुति करके भावविभोर हो नृत्य किया।

चंदनबाला द्वारा आहारदान — कुछ समय बाद प्रभु महावीर आहार के लिए विचरण करते हुए कौशाम्बी नाम की महानगरी में आए। वहाँ “वृषभदत्त” सेठ के यहाँ चंदनबाला को उसकी पत्नी सुभद्रा ने दुष्ट अभिप्राय से सांकलों से बांधकर सिर मुंडाकर रखा था और खाने को मिट्टी के सकोरे में कांजी से मिला हुआ पुराने कोदों का भात दिया करती थी।

महामुनि महावीर को आहार हेतु आते देख भक्ति से चंदनबाला आगे बढ़ी उसी क्षण प्रभु की भक्ति एवं उसके शील के प्रभाव से चंदना की बेड़ियाँ टूट गईं, उसके शिर पर केश आ गए और शरीर के वस्त्राभरण सुंदर हो गये उसके पास रखा मिट्टी का सकोरा स्वर्णमयी हो गया और कोदों का भात सुंदर शालिधान्य की खीर बन गया। चंदनबाला ने भक्ति से प्रभु का पड़गाहन करके नवधाभक्ति से खीर का आहार दिया। तत्क्षण ही देवों द्वारा पंचाश्वर्यवृष्टि होने लगी। दुंदुभि बाजों की ध्वनि सुनकर राजा शतानीक-रानी मृगावती जो कि चंदना की बहन थीं वे सब वहाँ आ गये। तब घबड़ा कर सेठ-सेठानी ने चंदनबाला से क्षमायाचना की। तभी

से कौशाम्बी नगरी जो कि छोटे तीर्थकर पद्मप्रभ की जन्मभूमि थी वह अत्यधिक महिमा को प्राप्त हो गई है।

इस प्रकार प्रभु को तपश्चर्या करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गये।

केवलज्ञान कल्याणक— एक बात यह विशेष ज्ञातव्य है कि तीर्थकर भगवान दीक्षा लेते ही मौन ग्रहण कर लेते हैं और केवलज्ञान प्रगट होने तक उनकी वाणी नहीं खिरती है।

भगवान महावीर एक बार “जृम्भिकाग्राम” के निकट “ऋजुकूला” नदी के किनारे “मनोहर” नामक वन में रत्ननिर्मित एक शिलापट्ट पर प्रतिमायोग से विराजमान हो गये। ध्यान में लीन प्रभु ने “वैशाख शुक्ला दशमी” के दिन घातिकर्म को नष्टकर केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। तत्क्षण ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने आकर आकाश में अधर समवसरण की रचना कर दी। समवसरण में बारह सभा बनी हुई थी किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी।

विपुलाचल पर प्रथम देशना— एक बार इंद्र ने विचार किया कि गणधर के अभाव में प्रभु की दिव्यध्वनि नहीं खिरी है। तब युक्ति से ‘इन्द्रभूति’ नामक गौतम गोत्रीय ब्राह्मण को वहाँ उपस्थित किया। इंद्रभूति ने आकर प्रभु से जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करके मनःपर्ययज्ञान के साथ-साथ अनेक ऋद्धियों को प्राप्तकर प्रथम गणधर का पद प्राप्त कर लिया। श्रावण कृ. एकम् के दिन भगवान की दिव्यध्वनि खिरी, असंख्य भव्यों ने प्रभु का उपदेश श्रवण करके अपने जीवन को सफल किया। इन इंद्रभूति का नाम गोत्र के नाम से ‘गौतम स्वामी’ प्रसिद्ध हो गया। चंदना ने भी आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रमुख ‘गणिनीपद’ प्राप्त कर लिया। राजगृही में विपुलाचल पर्वत पर भगवान की प्रथम बार दिव्यध्वनि खिरी थी अतः वह पर्वत भी तीर्थ बन गया है। राजगृही के राजा श्रेणिक प्रभु के समवसरण में ‘मुख्य श्रोता’ कहलाए हैं।

मोक्षकल्याणक— भगवान ने तीस वर्ष तक पूरे आर्यखंड में श्रीविहार करके समवसरण में स्थित हो दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश दिया पुनः पावापुरी में सरोवर के मध्य से आकाश में अधर ही सर्व अघातिया कर्मों को नष्ट करके कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रभात समय निर्वाण पद को प्राप्त हो गये। तभी इन्द्रों ने असंख्य देवों के साथ प्रभु का निर्वाणकल्याणक महोत्सव करके दीपमालिका बनाई थी। तब से लेकर आज तक कार्तिक कृष्णा अमावस्या को दीपावली पर्व मनाया जा रहा है यह बात हरिवंशपुराण में कही गई है—

ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।

तदा स्म पावानगरी समंततः, प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते॥१९॥

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्, प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।

समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं, जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्॥२१॥

उस समय सुर और असुरों के द्वारा जलाई हुई बहुत भारी देदीप्यमान दीपकों की पंक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। तदनंतर सभी मनुष्य एवं देवगण प्रभु की निर्वाणकल्याणक पूजा कर यथास्थान चले गये। उस समय से लेकर भगवान के निर्वाणकल्याणक की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरतक्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे अर्थात् भगवान महावीर के निर्वाण कल्याणक की स्मृति में ही दीपावली पर्व मनाने लगे। ये अंतिम तीर्थकर भगवान महावीर स्वामी हमारे और आप सबके लिए मंगलकारी होवे।



२९. स्वसमय और परसमय

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठित्तं हि ससमयं जाण।

पुग्गलकम्मपदेशट्ठियं च तं जाण परसमयं।।

अर्थात् जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित रहा है, हे शिष्य! उसे तुम निश्चय से स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है, उसे तुम परसमय जानो।”

तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने पहले जीव का लक्षण बतलाया है कि जो शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावरूप निश्चयप्राण के द्वारा उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिक (मति, श्रुतज्ञान, चक्षु, अचक्षुदर्शनरूप) अशुद्ध भाव प्राणों के द्वारा और असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से यथासंभव द्रव्य प्राणों से जीता है, जीवेगा और भूतकाल में जीता था, वह जीव कहलाता है। इस कथन की दृष्टि से देखा जाये तो सभी जीव शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध, बुद्ध एक चैतन्यस्वरूप ही हैं। चाहे वे एकेन्द्रिय हों या अभव्य जीव हों।

सभी की आत्माएँ शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ही हैं, इसमें कोई भी संदेह नहीं है।

यही जीव जब मुनि अवस्था में पहुँचकर ध्यान में स्थित होता है, उस समय विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले अपनी परमात्मा में जो रुचि है, वह सम्यग्दर्शन है, उसी निज परमात्मा में जो रागादि स्वसंवेदन ज्ञान है, वही सम्यग्ज्ञान है, तथैव उसी निज परमात्मा में निश्चल अनुभूतिरूप जो अवस्था है, वही वीतराग चारित्र है। इन उपर्युक्त लक्षण वाले निश्चयरत्नत्रय अथवा अभेदरत्नत्रय के द्वारा परिणत हुए जीव पदार्थ को हे शिष्य! तुम स्वसमय जानो और जो कर्मोदय से जनित नर-नारकादि अवस्थाएँ हैं, पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रय के अभाव से जब जीव उसमें स्थित रहता है, तब उसे परसमय जानो। इसका निष्कर्ष यह निकला कि चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती मुनि भी निश्चयरत्नत्रय में स्थित नहीं हैं अतः वे परसमय ही हैं किन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के जीव जब वीतराग निर्विकल्प ध्यान में स्थित होते हैं, तभी वे स्वसमयरूप कहलाते हैं।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी अपनी आत्मख्याति नाम की टीका में कहा है कि ‘जब यह जीव केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति के उदित होने से परद्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन-ज्ञान स्वभाव में निश्चित प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थिर होने में अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक काल में जानता हुआ परिणमन करता हुआ स्वसमय कहलाता है और जब अनादि-अविद्यारूप मोह के उदय के अनुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन, ज्ञान स्वभाव में निश्चित वृत्तिरूप आत्मस्वरूप से छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुए मोह, राग, द्वेषादि भावों में एकरूप हो प्रवृत्त होता है, तब पुद्गल के कर्मण प्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने से अभिन्नरूप एक काल में जानता है तथा रागादिरूप परिणमन करता है, तब वह परसमय कहलाता है।

रत्नत्रय में स्थिर होकर स्वरूप को एक काल में जानना, उस रूप परिणत होना, यह अवस्था चतुर्थ, पंचम या छठे गुणस्थान में असंभव है बल्कि वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में ही संभव है। सार बात यह है कि जब यह जीव अपने स्वभाव में स्थित होता है, तब स्वसमय और जब राग-द्वेष-मोहरूप परिणत होता है, तब वह परसमय है।

इसके अतिरिक्त रयणसार में स्वयं ही भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव ने तो स्वसमय को और भी उच्च अवस्था में घटित किया है। देखिए—

बहिरंतरण्यभेयं परसमयं भण्णये जिणिदेहिं।

परमप्पा सगसमयं तब्भेयं जाण गुणट्ठाणे॥१२८॥

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पा जहण्णा।

सत्तोत्तिमज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा॥१२९॥

(रयणसार)

अर्थ—बहिरात्मा और अन्तरात्मा के जो भेद हैं, वे परसमय हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है और जो परमात्मा हैं, वे स्वसमय हैं। अब इनके भेदों को गुणस्थानों में समझो।

मिथ्यात्व, सासादन और मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव तरतमता से बहिरात्मा हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं, पंचम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक मध्यम अंतरात्मा हैं और क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव उत्तम अंतरात्मा हैं। अरिहंत और सिद्ध अर्थात् तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव और सिद्ध भगवान परमात्मा हैं।

इनके कथन से अरिहंत और सिद्ध परमात्मा ही स्वसमय हैं बाकी बारहवें गुणस्थान तक सभी जीव परसमय ही हैं। यही बात नियमसार में भी टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी मुनिराज ने स्पष्ट की है जो कि “मार्गप्रकाश” ग्रंथ का उद्धरण है।

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्य समयो द्विधा।

बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः ॥

जघन्यमध्यमोत्कृष्ट भेदादविरतः सुदृक्।

प्रथमः क्षीणमोहन्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः ॥

अर्थ—अन्य समय—परसमय जीव बहिरात्मा और अंतरात्मा इस प्रकार से दो प्रकार के हैं, इनमें शरीर और इन्द्रिय आदि में जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है वह बहिरात्मा हैं। अन्तरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा हैं एवं पाँचवें से ग्यारहवें तक मध्यम अन्तरात्मा हैं। सारांश यह है कि इन बहिरात्मा, अन्तरात्मा से भिन्न जो परमात्मा हैं वे स्वसमय हैं।

अष्टसहस्री ग्रंथ में स्वसमय-परसमय का कथन है, वह इस प्रकार है—

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः, किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।

विज्ञायेत यथैव स्वसमय परसमयसद्भावः॥

अर्थ—एक अष्टसहस्री ग्रंथ को ही सुनना चाहिए, अन्य सहस्रों शास्त्रों के सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस अष्टसहस्री ग्रंथ के द्वारा ही स्वसमय और परसमय का सद्भाव जान लिया जाता है। यहाँ पर जो स्वसमय है उसका अर्थ है जैनों का स्याद्वाद-सिद्धान्त और परसमय से नास्तिकवादी, बौद्ध, सांख्य, मीमांसक तथा नैयायिक आदि के सिद्धांत ग्रहण किये गये हैं। इन स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तों का भली प्रकार से ज्ञान अष्टसहस्री जैसे न्याय ग्रंथों से ही होता है और तभी सम्यक्त्व दृढ़ होता है।

समयसार से स्वसमय को जानकर इस पर दृढ़ श्रद्धान करना चाहिए ? और 'मैं कब इस अवस्था को

प्राप्त करूँगी ?' ऐसा सोचते हुए उस स्वसमयरूप परिणत हुए ऐसे अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेशी का ध्यान, चिन्तन, मनन, पूजन, आराधन आदि करना चाहिए—

कम से कम चौबीस घंटों में से २५ मिनट भी अपने लिए निकालकर एकान्त में बैठकर चिंतवन करना चाहिए—

“ज्ञानावरणकर्मरहितोऽहं, दर्शनावरणकर्मरहितोऽहं, वेदनीयकर्मरहितोऽहं, मोहकर्मरहितोऽहं, आयुकर्मरहितोऽहं, नामकर्मरहितोऽहं, गोत्रकर्मरहितोऽहं, अन्तरायकर्मरहितोऽहं, अष्टकर्मरहितोऽहं, भावकर्मरहितोऽहं, नोकर्मरहितोऽहं, परमानन्दस्वरूपोऽहं, परमाह्लादस्वरूपोऽहं, परमज्योतिःस्वरूपोऽहं, परमचिन्मयोऽहं। इत्यादि रूप से अपने शुद्धस्वरूप की भावना करते हुए क्षण भर उसमें स्थिर होने का अभ्यास करना चाहिए अथवा हृदय में एक कमल की कर्णिका पर “अ” ललाट में कमल की कर्णिका पर “सि” दाहिनी भुजा में कमल की कर्णिका पर “आ” शरीर के मध्य में विद्यमान नाभि में “उ” और बायीं भुजा की कमल की कर्णिका पर “सा” ऐसा चिंतवन करते हुए उस पर कुछ क्षण तक मन टिकाना चाहिए। ये ‘अ सि आ उ सा’ बीजाक्षर पंच परमेशी के प्रथम-प्रथम अक्षर हैं, इनका ध्यान अथवा जाप्य महान पुण्य देने वाला है और अनन्त पापों का नाश करने वाला है।

इस प्रकार से स्वसमय में स्थित हुए की आराधना करते-करते एक दिन हमें भी वैसी योग्यता अवश्य ही प्राप्त होगी, ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। “समय” शब्द का अर्थ है कि सम्—सम्यक् अय—ज्ञान जिसका है वह आत्मा समय कहलाता है। निश्चयनय से हमारी आत्मा पूर्ण केवलज्ञानस्वरूप है और व्यवहारनय से संसारी होने से अल्पज्ञ है किन्तु ज्ञानगुण का कुछ न कुछ अंश उसमें अवश्य है, जो कि क्षायोपशमिकरूप है।

अतः इस स्वसमय को प्राप्त करने के लिए इन पाँचों परमेशी के बीजाक्षरों का ध्यान अथवा चिंतवन अवश्य करना चाहिए।



भक्ति मार्ग सबके लिए श्रेयस्कर है

जस्सतियं धम्मपहं णिगच्छे तस्संतियं वेणयियं पउंजे।

काएण वाचा मणसा विणिच्च्य सत्कारए तं सिर पंचमेण॥

जिनके पास मैंने धर्म को प्राप्त किया है उनके निकट मैं विनय का प्रयोग करता हूँ। मन-वचन-काय से शिर झुकाकर पंचांग नमस्कारपूर्वक मैं (गौतम स्वामी) उन वर्धमान स्वामी का सत्कार (नमस्कार) करता हूँ। और तभी वे श्रावक के लिए कहते हैं कि—

जिणवयणधम्मचेइयपरमेड्डिजिणालयाण णिच्चं पि।

जं वंदणं तियालं कीरइ सामायियं तं खु॥

जिनागम, जिनधर्म, जिनप्रतिमा, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और जिन्मंदिर इन नवों की (नवदेवताओं की) जो नित्य ही त्रिकाल में वंदना करता है, उसके यह सामायिक प्रतिमा नाम का व्रत होता है।

—श्री गौतम स्वामी

३०. अक्षय तृतीया पर्व

ऋषभदेव की आहारचर्या—जब जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव को योग धारण किये हुए छह मास पूर्ण हो गये, तब यतियों की चर्या अर्थात् शरीर की स्थिति के अर्थ आहार लेने की विधि बतलाने के उद्देश्य से निर्दोष आहार ढूँढने के लिए वे (भगवान) विचार करने लगे कि बड़े दुःख की बात है कि ये बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए नवदीक्षित साधु क्षुधादि परीषहों से शीघ्र ही भ्रष्ट हो गये इसलिए अब सुखपूर्वक मोक्ष की सिद्धि के लिए मैं आहार देने की विधि सिखलाता हूँ। संयम की सिद्धि के लिए मुनियों को निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए, ऐसा निश्चय कर भगवान आहार के लिए विहार करने लगे। उस समय मुनियों की आहारविधि से अनभिज्ञ सभी लोग भगवान को विहार करते हुए देखकर कोई प्रणाम करते, कोई भगवान के पीछे-पीछे चलने लगते, कोई रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट में लाते, कोई हाथी, घोड़ा आदि सामग्री भेंट में देना चाहते और कोई मूढ़ लोग कन्याओं को लाकर भगवान से प्रार्थना करते कि हे देव ! इन्हें ग्रहण कीजिए। भगवान प्रसन्न होइये। कितने ही लोग प्रार्थना करते कि हे भगवन् ! स्नान कीजिए, भोजन कीजिए इत्यादि। इस प्रकार की प्रक्रिया से भगवान की चर्या में विघ्न आ जाता और वे आगे विहार कर जाते। इस तरह गूढ़ चर्या से उत्कृष्ट चर्या धारण करने वाले भगवान के छः महीने और भी व्यतीत हो गये क्योंकि तब तक कोई भी विधिपूर्वक आहार देना नहीं जानता था।

हस्तिनापुर में भगवान का आगमन—एक वर्ष पूर्ण होने पर भगवान ऋषभदेव कुरुजांगल देश के आभूषण के समान सुशोभित हस्तिनापुर नगर में पहुँचे, उस समय इस नगर के स्वामी राजा सोमप्रभ थे, उनके छोटे भाई राजा श्रेयांस कुमार थे। जब भगवान हस्तिनापुर नगर के समीप आने को हुए तब श्रेयांस कुमार ने रात्रि के पिछले प्रहर में सात स्वप्न देखे। “सुवर्णमय सुमेरुपर्वत, कल्पवृक्ष, सिंह, बैल, सूर्य-चन्द्र, समुद्र एवं सातवें स्वप्न में अष्ट मंगल द्रव्य धारण कर सामने खड़े हुए व्यंतर देवों की मूर्तियाँ देखीं। विनय सहित राजा सोमप्रभ के पास श्रेयांस कुमार ने इन स्वप्नों को कहा और राजा सोमप्रभ ने भी इनका फल यह बतलाया कि आज अपने घर में कोई देव अवश्य ही आवेंगे। दोनों भाई पुरोहित के साथ इन स्वप्नों के फल की चर्चा करते हुए बैठे थे कि इतने में ही भगवान ऋषभदेव ने अकेले ही हस्तिनापुर में प्रवेश किया।

श्रेयांस कुमार को जातिस्मरण—वे दोनों भाई (सोमप्रभ व श्रेयांस कुमार) सिद्धार्थ द्वारपाल से सूचना पाकर राजमहल के आँगन तक बाहर आये और दूर से ही नम्रीभूत होकर भक्तिपूर्वक भगवान के चरणों को नमस्कार किया, जगद्गुरु भगवान की प्रदक्षिणा दी। भगवान के रूप को देखते ही श्रेयांस कुमार को जातिस्मरण हो गया जिससे उनने अपने पूर्वभवसंबंधी संस्कारों से भगवान को आहार देने की बुद्धि की।

श्रेयांस कुमार के पूर्व भव—इस भव से आठवें भव पहले भगवान ऋषभदेव वज्रजंघ नाम के राजा थे और राजा श्रेयांस कुमार का जीव उनकी रानी श्रीमती था। इनके वीरबाहु आदि अट्टानवे पुत्र थे जो कि मुनिदीक्षा ले चुके थे। किसी समय राजा वज्रजंघ सेना सहित वन में किसी तालाब के किनारे ठहरे हुए थे। उसी समय आकाश में गमन करने वाले श्रीमान् दमधर नामक मुनिराज, सागरसेन नामक मुनिराज के साथ-साथ वज्रजंघ के पड़ाव में पधारे। उन दोनों ने वन में ही आहार लेने की प्रतिज्ञा ली थी। राजा वज्रजंघ ने श्रीमती रानी सहित दोनों मुनियों का पड़गाहन करके नवधाभक्ति से आहारदान दिया। उस आहारदान के

प्रभाव से देवों ने पंचाश्चर्य किये। आहार लेकर मुनियों के जाने के बाद कंचुकी के द्वारा राजा वज्रजंघ को पता चला कि ये अपने ही अंतिम पुत्र थे, तब राजा-रानी के आनंद का पार नहीं रहा। इस प्रकार आठ भव पहले जो रानी श्रीमती ने पति सहित आहारदान दिया था, उस भव का स्मरण हो गया और राजा श्रेयांस कुमार आहारदान की सारी विधि समझकर नवधाभक्ति करने लगे।

भगवान का प्रथम आहार—प्रथम ही दोनों भाइयों ने रानियों सहित भगवान का पड़गाहन किया — हे भगवन्! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु। अत्र तिष्ठ तिष्ठ। पुनः तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार कर उच्चासन पर विराजमान किया, चरण प्रक्षालन किये, अष्टद्रव्य से पूजा की, विधिवत् नमस्कार किया। अनंतर प्रासुक इक्षुरस लेकर बोले — हे भगवन्! मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, काय शुद्ध है, आहार जल शुद्ध है, भोजन ग्रहण कीजिए।

मुनिराज का पड़गाहन करना, उन्हें ऊँचे स्थान पर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, काय की शुद्धि और आहार की विशुद्धि रखना इस प्रकार दान देने वाले के यह नौ प्रकार का पुण्य अथवा नवधाभक्ति कहलाती है। नवधाभक्ति के अनंतर भगवान ने खड़े होकर अपने दोनों हाथों की अंजली बनाई। श्रेयांस कुमार ने राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमती के साथ भगवान को आदरपूर्वक ईश्वर (गन्ने) के प्रासुक रस का आहार दिया। उसी समय आकाश से देवों द्वारा छोड़ी गई रत्नों की वर्षा होने लगी, पुष्पवृष्टि होने लगी, देवदुंदुभि बजने लगी, शीतल सुगंध वायु चलने लगी और उच्च स्वर से जय-जयकार करते हुए देव कहने लगे कि 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य यह दाता, इस प्रकार बहुत भारी शब्द आकाश में हो गया। रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, दुंदुभि वाद्य, शीतल वायु और अहोदानम् इत्यादि प्रशंसा वाक्य ये पाँच कार्य स्वाभाविकरूप से आहार दान के समय होते हैं, तब इन्हें पंचाश्चर्य कहते हैं।

भगवान के पारणा के दिन दातारों के यहाँ अधिक से अधिक साढ़े बारह करोड़ एवं कम से कम साढ़े बारह लाख रत्न बरसते हैं।

भगवान आहार ग्रहणकर वन को चले गये, कुछ दूर तक राजा सोमप्रभ, श्री श्रेयांस के साथ-साथ भगवान के पीछे-पीछे गये पुनः बारम्बार नमस्कार कर वापस आ गये। उस दिन वैशाख सुदी तृतीया थी, राजा श्रेयांस के यहाँ उस दिन रसोई- गृह में भोजन अक्षीण हो गया अतः इसे आज भी सभी लोग 'अक्षय तृतीया' पर्व मानते हैं। जबकि आहारदान को हुए आज कुछ अधिक कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण काल व्यतीत हो चुका है।

धर्मतीर्थ और दानतीर्थ — भगवान ऋषभदेव धर्मतीर्थ के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर थे तो राजा श्रेयांस दानतीर्थ के प्रवर्तक प्रथम दातार थे। इस हस्तिनापुर नगर से ही दानतीर्थ की प्रवृत्ति हुई है अतः यह नगर उसी समय से पुण्यभूमि बन गई है। भरतक्षेत्र में दान देने की प्रथा उस समय से प्रचलित हुई और दान देने की विधि भी राजकुमार श्रेयांस से ही प्रगट हुई। दान की इस विधि से भरत आदि राजाओं को और देवों को बड़ा आश्चर्य हुआ। देवों ने आकर बड़े आदर से राजा श्रेयांस की पूजा की। महाराज भरत ने भी श्रेयांस के मुख से सारी बातों को सुनकर परम प्रीति को प्राप्त किया और राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांस कुमार का खूब सम्मान किया।



३१. षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिन्तामणिटीका

षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ का एवं उसकी धवला टीका का स्वाध्याय मैंने कई बार किया उसमें बहुत से ऐसे सैद्धान्तिक और गणित के प्रकरण हैं जो कि अतीव क्लिष्ट हैं उन विषयों में मेरी भी प्रगति नहीं है। इसी हेतु से कई बार मन में आया कि इस महान् सूत्रग्रंथ की धवला टीका के जो सरल अंश हैं उन्हें उद्धृत करके अल्पज्ञानी-साधु-साध्वियों व प्रबुद्ध श्रावकों के लिए भी षट्खण्डागम का ज्ञान कराया जावे। तथा च अपने ज्ञान के क्षयोपशम को भी वृद्धिगत किया जाये। यह भावना वर्षों से चल रही थी कि इसी मध्य आर्थिका चंदनामती ने भी प्रार्थना की कि—“माताजी! अब आप षट्खण्डागम ग्रंथ पर कुछ कार्य कीजिए।” उनके आग्रह से भावना और बलवती हुई। इसी के फलस्वरूप मैंने अपने ६२वें जन्मदिवस पर जबकि जम्बूद्वीप का द्वितीय बार पंचवर्षीय महामहोत्सव हस्तिनापुर में मनाया जा रहा था और भगवान श्री शान्तिनाथ का सुमेरु पर्वत की पांडुकशिला पर १००८ कलशों से महामस्तकाभिषेक कार्यक्रम चल रहा था। उसी समय षट्खण्डागम के प्रथमखंड की सिद्धान्तचिन्तामणि नाम की टीका लिखने का भाव बनाया और उसी दिन आश्विन शुक्ला १५, शरदपूर्णिमा दिनांक-८-१०-१९९५ को प्रातः ११.२५ पर मंगलाचरण लिखकर टीका लिखने का सूत्रपात किया।

मंगलाचरणम्

सिद्धान् सिद्ध्यर्थमानम्य, सर्वास्त्रैलोक्यमूर्धगान्।

इष्टः सर्वक्रियान्तेऽसौ, शान्तीशो हृदि धार्यते॥१॥

तीन लोक के मस्तक पर विराजमान ऐसे सर्वसिद्धों को सिद्धि के लिए नमस्कार करके जो सम्पूर्ण क्रियाओं के अंत में इष्ट हैं ऐसे शान्तिनाथ भगवान को हम हृदय में धारण करते हैं। अर्थात् मुनियों की अष्टमी पर्व, नंदीश्वर पर्व आदि क्रियाओं के अंत में शान्तिभक्ति का पाठ किया जाता है और श्रावकों की भी नित्य-नैमित्तिक पूजाओं के अंत में शान्तिपाठ पढ़ा जाता है। इस प्रकार शान्तिनाथ भगवान् की भक्ति मुनि और श्रावक की भक्ति-पूजा क्रियाओं के अंत में पढ़ी जाती है ऐसे शान्तिनाथ भगवान को यहाँ टीका के प्रारंभ में हृदय में विराजमान किया गया है।

अनंतर तीन काल के अनंत अर्हंतों को, चौबीस तीर्थकरों को और सीमंधर स्वामी आदि बीस तीर्थकरों को नमस्कार करके भगवान शान्तिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान ऐसे चार-चार कल्याणकों से पवित्र हस्तिनापुर तीर्थ को नमस्कार किया है। पुनः अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषा से समन्वित ऐसी द्वादशांगमयी श्रुतदेवी को हृदय में अवतरित किया है।

युग की आदि में हुए श्री ऋषभसेन गणधर गुरु से लेकर पंचम काल के अंत में हुए श्रीवीरांगज मुनि को नमस्कार किया है कि जिनके प्रसाद से आज तक भी सिद्धांतज्ञान दिख रहा है। इसके बाद श्रीपुष्पदंताचार्य को और श्रीभूतबलि को नमस्कार किया है कि जिन्होंने ‘षट्खण्डागम ग्रंथ’ को इस भूतल पर अवतीर्ण किया है—लिखा है। पुनः श्रीवीरसेन स्वामी के उपकार का स्मरण किया है कि जिन्होंने इस षट्खण्डागम ग्रंथ की ‘धवला’ नामकी टीका लिखकर भव्यजीवों के अंतःकरण को उज्ज्वल कर दिया है।

इस बीसवीं शताब्दी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शान्तिसागरजी उनके प्रथम पट्टाधीश श्री वीरसागर आचार्य को नमस्कार करके ‘मेरे आर्थिका दीक्षा के गुरु ‘ज्ञानमती’ नाम देने वाले श्री वीरसागर जी आचार्य हैं’ ऐसा ध्वनित किया है। पुनः युग की आदि में हुई ब्राह्मी-आर्थिका जो कि प्रथम गणिनी थीं उनसे

लेकर पंचमकाल के अंत में होने वाली 'सर्वश्री' आर्यिका तक सभी आर्यिकाओं को 'वंदामि' करके ग्यारह अंग की पाठी ऐसी 'सुलोचना' संयतिका-आर्यिका की वंदना की है।

पुनः षट्खण्डागम नाम के सिद्धांतग्रंथ को भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार करके इनमें से प्रथमखंड की टीका लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। उस प्रथमखंड में भी जो प्रथम अंश सत्प्ररूपणा है उसकी टीका लिखने में कहा है कि इसमें मैंने धवला टीका के अंशों को निकाल-निकाल कर अपने में ज्ञान ऋद्धि को प्रगट करने के लिए इस टीका को सरल बना दिया है। अर्थात् धवला टीका के सरल-सरल अंशों को मैं इसमें उद्धृत करूँगी ऐसा स्पष्ट किया है।

अनंतर मैंने 'चंदनामती' आर्यिका को "ज्ञानवृद्धिं क्रियात्" ऐसा आशीर्वाद दिया है कि वर्तमान में जिनकी प्रार्थना से मैंने यह टीका लिखना प्रारंभ किया है। पुनः मैंने प्रार्थना की है—

शारदे! तिष्ठ मच्चित्ते, यावन्न पूर्णमाप्नुयात्।

प्रारब्धकार्यमेतद्धि, तावच्छक्तिं च देहि मे॥

हे शारद मातः! आप मेरे हृदय में तब तक विराजमान रहो कि जब तक प्रारंभ किया गया मेरा यह लेखन कार्य पूर्ण न हो जावे और तब तक मुझे शक्ति भी प्रदान करो।

अनंतर-सत्रहवें काव्य को लिखा है—

इन्द्रवज्रा छंद—

सिद्धान्तचिंतामणिनामधेया, सिद्धांतबोधामृतदानदक्षा।

टीका भवेत्स्वात्मपरात्मनो हिं, कैवल्यलब्धयै खलु बीजभूता॥१७॥

यह जो 'सिद्धांतचिंतामणि' नामकी टीका है वह सिद्धांतज्ञानरूपी अमृत को देने में कुशल है, यह टीका अपनी आत्मा में और अन्य पाठकों की आत्मा में केवलज्ञान को उत्पन्न करने के लिए बीजभूत होवे ऐसी प्रार्थना की गई है।

यहाँ तक १७ काव्यों में इस टीका का मंगलाचरण किया गया है। इसके अनंतर टीका लिखने में भूमिका लिखी है—

'अथ सर्वेषां अंग-पूर्वाणामेकदेशज्ञानवतः श्रुतज्ञानस्या-विच्छिन्नतां चिकीर्षोः महाकारुणिकस्य भगवतः श्रीधर-सेनाचार्यस्य मुखकमलादधीत्य सिद्धांतज्ञौ श्रीपुष्पदंत-भूतबलि-आचार्यौ.....।'

सम्पूर्ण अंग और पूर्वों के एकदेशज्ञाता, श्रुतज्ञान को अविच्छिन्न बनाने की इच्छा रखने वाले महाकारुणिक भगवान् श्रीधरसेनाचार्य हुए हैं उनके मुखकमल से पढ़कर सिद्धांतज्ञानी श्रीपुष्पदंत और श्रीभूतबलि आचार्य हुए हैं। उन्होंने 'अग्रायणीय पूर्व' नामक द्वितीय पूर्व के 'चयनलब्धि' नामक पाँचवी वस्तु के 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' नामक चौथे अधिकार से निकले हुए जिनागम को छह खण्डों में विभाजित करके 'षट्खंडागम' यह सार्थक नाम देकर सिद्धांतसूत्रों को लिपिबद्ध किया है।

छह खण्ड के नाम—१. जीवस्थान २. क्षुद्रकबंध ३. बंधस्वामित्वविचय ४. वेदनाखण्ड ५. वर्गणाखण्ड और ६. महाबंध ये नाम हैं।

इनमें से पाँच खण्डों में कुल छह हजार आठ सौ इकतालीस (६८४१) सूत्र हैं और छठे खण्ड में तीन हजार सूत्र हैं।

वर्तमान में मुद्रित — छपी हुई सोलह पुस्तकों में पाँच खण्ड माने गये हैं। उनके सूत्रों की गणना छह

हजार आठ सौ इकतालीस है (६८४१)।

पाँच खण्डों में विभाजित सूत्र संख्या—प्रथम खंड में दो हजार तीन सौ पचहत्तर सूत्र हैं (२३७५)। दूसरे खंड में पंद्रह सौ चौरानवे (१५९४)। तृतीय खंड में तीन सौ चौबीस (३२४)। चतुर्थ खण्ड में पंद्रह सौ पच्चीस (१५२५)। पाँचवें खण्ड में एक हजार तेईस (१०२३)। सूत्र हैं।

मुद्रित सोलह पुस्तकों में पाँच खंडों का विभाजन—छपी हुई प्रथम से लेकर छह पुस्तकों तक प्रथम खंड है। सातवीं पुस्तक में द्वितीय खण्ड है। आठवीं पुस्तक में तृतीय खण्ड है। नवमी से लेकर बारहवीं पुस्तकों तक चार पुस्तकों में चतुर्थ खण्ड है और तेरहवीं पुस्तक से लेकर सोलहवीं तक चार पुस्तकों में पाँचवां खण्ड है।

प्रथम खण्ड के विषय—प्रथम खण्ड में आठ अनियोगद्वार हैं एवं अंत में एक चूलिका अधिकार है इस चूलिका में भी नव भेद हैं। आठ अनियोगद्वार के नाम —

१. सत्प्ररूपणा २. द्रव्यप्रमाणानुगम ३. क्षेत्रानुगम ४. स्पर्शनानुगम ५. कालानुगम ६. अन्तरानुगम ७. भावानुगम ८. अल्पबहुत्वानुगम।

चूलिका के नाम और भेद—१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका, २. स्थानसमुत्कीर्तन चूलिका, ३. प्रथममहादण्डक, ४. द्वितीय-महादण्डक, ५. तृतीय महादण्डक, ६. उत्कृष्टस्थितिबंध, ७. जघन्यस्थितिबंध, ८. सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका और ९. गत्यागती चूलिका।

सिद्धान्तचिंतामणि टीका—मैंने आश्विन शुक्ला पूर्णिमा, ८ अक्टूबर १९९५ को मंगलाचरण लिखकर इस षट्खंडागम ग्रंथ के प्रथम खण्ड में भी प्रथम अवयवभूत सत्प्ररूपणा की टीका लिखने का संकल्प किया। इस टीका में ४ पेज तक ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय और सूत्र संख्या द्वारा भूमिका बनाई। पुनश्च आगे महामंत्र जो कि अपराजित णमोकार मंत्र है और इस 'षट्खंडागम' ग्रंथ का मंगलाचरण है उसे लिखकर उसकी व्याख्या लिखना शुरू किया।

यह मेरे द्वारा लिखी जा रही टीका का आधार श्रीवीरसेनाचार्य द्वारा विरचित धवला टीका ही प्रमुख है। इस टीका के सरल अंशों को भी अपनी भाषा में सरल करने का प्रयास किया गया है तथा अन्य अनेक ग्रंथों के उदाहरण भी लिये गये हैं। इसमें णमोकार मंत्र के अक्षर, पद, मात्रा आदि का वर्णन करके यह द्वादशांग का सारभूत है ऐसा भी अन्य ग्रंथों के आधार से सिद्ध किया है। इस मंगलाचरण में नाम, स्थापना आदि निक्षेप भी घटित किये हैं। यह मंत्र अनादिनिधन है ऐसा भी अन्य ग्रंथ के आधार से प्रगट किया है।

पुनः ग्रंथ के लिए निमित्त, हेतु, कर्ता आदि का सुंदर विवेचन है। इसमें भगवान महावीर स्वामी को अर्थकर्ता सिद्ध करके भगवान की दिव्य-ध्वनि से प्रगट ग्यारह अंग, चौदह पूर्वों के नाम व संक्षिप्त लक्षण दिये गये हैं। ग्रंथकर्ता श्री गौतम स्वामी नाम से प्रसिद्ध जो कि इन्द्रभूति प्रथम गणधर हुए हैं उनका भी वर्णन है।

अनंतर श्रुतदेवी का भी लक्षण प्रतिष्ठा ग्रंथ आदि के आधार से दिया है। इसके बाद श्रुतावतार की अर्थात् षट्खंडागम के उत्पत्ति की कथा संक्षेप में दी गई है। जो कि इस प्रकार है —

सौराष्ट्र देश में ऊर्जयंतपर्वत के पास गिरिनगर की चन्द्रगुफा में निवास करने वाले अष्टांगमहानिमित्त पारंगत श्री धरसेनाचार्य ने एक बार मन में चिंतन किया कि “आगे अंग श्रुतज्ञान का विच्छेद हो जायेगा।” अतः किसी भी उपाय से उस अंग श्रुतज्ञान की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। उसी समय पंचवर्षीय साधु सम्मेलन में सम्मिलित दक्षिणदेशवासी आचार्यों के पास में एक पत्र भेजा। उस लेख को पढ़कर उन आचार्यों

ने दो योग्य मुनि उस आन्ध्र देश से सौराष्ट्रदेश में भेजा। इन आचार्य धरसेन को अग्रायणीयपूर्व की पंचम वस्तु के चतुर्थ महाकर्म प्रकृतिप्राभृत का ज्ञान था। इन्होंने अपनी आयु अल्प जानकर दो मुनि अपने पास भेजने के लिए पत्र लिखा था और एक ब्रह्मचारी के हाथ भेजा था।

जब ये दोनों मुनि वहाँ पहुँचने वाले थे तभी आचार्यप्रवर श्रीधरसेन जी को पिछली रात्रि में स्वप्न हुआ कि दो शुभ्र वृषभ मेरी तीन प्रदक्षिणा देकर मेरे चरणों में नमन कर रहे हैं। यद्यपि स्वप्न का फल योग्य शिष्यों का मिलना समझ चुके थे फिर भी उन दोनों के आने के बाद उनकी परीक्षा के लिए गुरुदेव ने दोनों को एक-एक विद्यायें देकर भगवान नेमिनाथ की सिद्धभूमि पर बैठकर विद्या सिद्ध करने का आदेश दिया। गुरु की आज्ञा से वे दोनों विद्या सिद्ध करने हेतु मंत्र जपने लगे। जब विद्या सिद्ध हो गई तब उनके सामने दो देवियाँ प्रगट हो गईं। उनमें से एक देवी कानी थी और दूसरी देवी के बड़े-बड़े दाँत थे। इन दोनों मुनियों ने चिंतन किया कि देवियों के ये वास्तविक रूप नहीं हैं कुछ न कुछ हमारे मंत्रों में दोष हैं।

चिंतन करके मंत्र के व्याकरण शास्त्र से दोनों ने मंत्र शुद्ध किए। एक मुनि के मंत्र में एक अक्षर कम था और दूसरे मुनि के मंत्र में एक अक्षर अधिक था। तब उन दोनों मुनियों ने मंत्र शुद्ध करके जपना प्रारंभ किया। अनंतर सुंदर वेषभूषा में वे दोनों देवियाँ अपने सुंदर रूप में प्रगट हुईं और कहा —

“आज्ञा दीजिये! क्या करना है?”

तभी दोनों मुनियों ने कहा — हमें आपसे कोई भी कार्य नहीं है। केवल गुरु की आज्ञा से हमने ये मंत्र जपे हैं। तब वे देवियाँ अंतर्हित हो गईं। इन दोनों ने जाकर गुरुवर्य श्री धरसेनाचार्य को सारा वृत्तान्त सुना दिया।

आचार्य श्री प्रसन्न हुए और इन दोनों मुनियों को शुभ मुहूर्त में श्रुत विद्या का अध्ययन कराना प्रारंभ कर दिया। इन्होंने विनयपूर्वक गुरु से श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया। तब श्री धरसेनाचार्य ने अपनी आयु को अल्प जान इन दोनों का विहार करा दिया। ये दोनों महासाधु देवों द्वारा पूजा को प्राप्त होकर गुरु की आज्ञा से वहाँ से चलकर ‘अंकलेश्वर’ ग्राम में आये और वहीं चातुर्मास स्थापित किया।

तदनंतर बड़े मुनि श्री पुष्पदंताचार्य अपने भानजे जिनपालित को साथ लेकर उन्हें मुनि बनाकर ‘वनवास’ नाम के देश को चले गये और भूतबलि नाम के दूसरे आचार्य तमिल देश को चले गये। श्री पुष्पदंताचार्य ने जिनपालित मुनि को सत्प्ररूपणा के एक सौ सतहत्तर सूत्रों को लिखकर पढ़ाये और उन्हें देकर भूतबलि आचार्य के पास भेज दिया। इन्होंने भी अपने सहपाठी गुरु भाई पुष्पदंताचार्य के अभिप्राय को जानकर और उनकी आयु भी अल्प जानकर विचार किया कि — ‘महाकर्मप्रकृतिप्राभृत’ श्रुतज्ञान की परम्परा चलती रहे इसका अंत न हो जाये “द्रव्यप्रमाणानुगम” को आदि लेकर षट्खंडागम ग्रंथ की रचना पूरी की और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन इस ग्रंथ की चतुर्विध संघ ने पूजा की थी तभी से श्रुतपंचमी पर्व चला आ रहा है। ये पुष्पदंत और भूतबलि दोनों आचार्य इस षट्खंडागम ग्रंथ के कर्त्ता माने गये हैं।

इस ग्रंथ के सत्प्ररूपणा के एक सौ सतहत्तर सूत्र जो कि षट्खंडागम पुस्तक प्रथम में छपे हैं वे श्री पुष्पदंताचार्य द्वारा विरचित हैं और शेष सभी सूत्र मुद्रित तीसरी पुस्तक से लेकर महाबंध तक श्री भूतबलि आचार्य द्वारा विरचित हैं। छपी हुई दूसरी पुस्तक में सूत्र नहीं हैं केवल सत्प्ररूपणा से संदर्भित आलाप अधिकार है जो कि धवला टीकाकार श्रीवीरसेनाचार्य द्वारा विरचित है।

षट्खंडागम की टीकायें — इस षट्खंडागम ग्रंथ पर छह टीकायें लिखी गई हैं। उनके नाम — श्रीकुंदकुंददेव ने तीन खंडों पर टीका लिखी, जिसका नाम ‘परिकर्म’ था यह १२००० श्लोकप्रमाण थी।

श्रीशामकुंडाचार्य ने 'पद्धति' नाम से टीका लिखी जो संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ मिश्र थी ये पाँच खण्डों पर थी और १२००० श्लोकप्रमाण थी। श्री तुम्बुलूर आचार्य ने 'चूड़ामणि' नाम से टीका लिखी। छठा खण्ड छोड़कर षट्खंडागम और कषायप्राभृत दोनों सिद्धान्त ग्रंथों पर यह ८४००० श्लोक प्रमाण थी। श्री समंतभद्र स्वामी ने संस्कृत में पाँच खण्डों पर ४८००० श्लोक प्रमाण टीका लिखी। श्री वप्पदेव सूरि ने 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम से टीका पाँच खण्डों पर और कषायप्राभृत पर लिखी यह ६०००० श्लोकप्रमाण थी। यह प्राकृत में थी। पुनः श्रीवीरसेन आचार्य ने छहों खण्डों पर प्राकृत-संस्कृत मिश्र 'धवला' नाम से टीका लिखी, यह ७२००० श्लोकप्रमाण है।

वर्तमान में ऊपर कही हुई पाँच टीकायें उपलब्ध नहीं हैं, मात्र श्रीवीरसेनाचार्य कृत 'धवला' टीका ही उपलब्ध है जिसका कि हिन्दी अनुवाद होकर छप चुका है। इस ग्रंथ को ताड़पत्र से लिखा कर और हिन्दी अनुवाद कराकर छपवाने का श्रेय चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज को है उनकी कृपा प्रसाद से हम सभी इस ग्रंथ के मर्म को समझने में सफल हुए हैं।

पुनः 'जीवस्थान' नाम के प्रथम खण्ड में जो आठ अनियोगद्वार और नव चूलिकायें हैं वे कहाँ-कहाँ से निकली हैं इसका उपसंहार किया है।

जीवस्थान के विषय का उपसंहार — द्वादशांग में बारहवाँ अंग दृष्टिवाद नाम का है। इसके पाँच भेदों में पूर्वगत नाम से चौथा भेद है। उन चौदह पूर्वों में अग्रायणीय नाम से दूसरा पूर्व है। इस अग्रायणीय पूर्व के चौदह अर्थाधिकार हैं। उनमें से 'चयनलब्धि' नाम से पाँचवी वस्तु यहाँ ग्रहण की गई है। इस चयनलब्धि के भी बीस अधिकार हैं। इन्हें 'प्राभृत' भी कहते हैं। इनमें चौथा भेद 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' है। इस प्राभृत के चौबीस अर्थाधिकारों में 'बंधन' नाम का छठा अधिकार है। इस 'बंधन' अधिकार के चार भेदों में से यहाँ पर बंधक और बंधविधान ये अधिकार ग्रहण किये गये हैं। इस बंध के ग्यारह अनियोग द्वारों में से 'द्रव्यप्रमाणानुगम' नाम से पाँचवाँ अनियोगद्वार यहाँ लिया गया है। आगे बंधविधान के भेद-प्रभेदों से भावानुगम आदि अनियोगद्वार लिये गये हैं।

इस प्रकार इस 'जीवस्थान' नाम के प्रथम खण्ड में सत्परूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अंतरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये आठ अनियोगद्वार हैं और नव चूलिकायें हैं।

मैंने सरल संस्कृत भाषा में यह 'सिद्धान्तचिंतामणि' नाम की टीका लिखी है। मात्र ४८ पेज तक हस्तिनापुर में टीका लिखी थी कि अकस्मात् माँगीतुंगी सिद्धक्षेत्र की ओर विहार करने का निर्णय कर दिया। मन में कुछ दुःख हुआ कि मेरा यह महान ज्ञानवर्धन का कार्य मार्ग में कैसे होगा? कब होगा? और क्या होगा? किन्तु आज मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है कि —

मगसिर शु. षष्ठी, वीर सं. २५२२, दि. २७-११-१९९५ को मैंने हस्तिनापुर से मंगलविहार किया और अगले दिन २८-११-१९९५ को मवाना में ही प्रातः टीका लिखना प्रारंभ किया। मार्ग में भी कभी प्रातः कभी सायं मेरी लिखाई चलती रही है कभी-कभी विशेष प्रभावना के कार्यों से लिखाई बंद हुई है। प्रथम सत्परूपणा अधिकार की टीका मैंने पिड़ावा (राजस्थान) में पूर्ण की है।

यहाँ सोलहों पुस्तकों के लेखन व समापन की तिथियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं, जिसे पढ़कर आप स्वयं समझ सकेंगे कि कौन सा ग्रंथ कब लिखा गया है तथा इस चार्ट से आपको यह भी ज्ञात हो जायेगा कि मेरे द्वारा लिखित सिद्धान्तचिंतामणि टीका समन्वित षट्खण्डागम ग्रंथों में विषय विभाजन किस प्रकार से है —

सिद्धान्तचिंतामणि टीका
(प्रथम खण्ड)

- पुस्तक १** — सत्प्ररूपणा
सूत्र - १७७, पृष्ठ १६४
- प्रारंभ** — आश्विन शु. १५, शरदपूर्णिमा
वी.नि.सं. २५२१
दिनाँक-८-१०-१९९५, प्रातः ११.२५
- समापन** — फाल्गुन शु.७, वी.नि.सं. २५२२,
पिड़ावा (राज.), दिनाँक-२५-२-१९९६
- पुस्तक २** — आलाप अधिकार
(सूत्र नहीं है), पृष्ठ ९०
- प्रारंभ** — चैत्र कृ.१, वी.नि.सं. २५२२, उज्जैन-जयसिंहपुरा मंदिर में, दिनाँक-६-३-१९९६
- समापन** — माघ शु. ५, वी.नि.सं. २५२५, हस्तिनापुर, दिनाँक-२२-१-१९९९
- पुस्तक ३** — द्रव्यप्रमाणानुगम-क्षेत्रानुगम
सूत्र - २८४ (१९२+९२=२८४), पृष्ठ १३१
- प्रारंभ** — वैशाख शु. १२, वी.नि.सं. २५२२, मांगीतुंगी, दिनाँक-३०-४-१९९६
- समापन** — श्रावण कृ. १०, वी.नि.सं. २५२२, मांगीतुंगी, दिनाँक-८-८-१९९६
- पुस्तक ४** — स्पर्शनानुगम-कालानुगम
सूत्र - ५२७ (१८५+३४२=५२७), पृष्ठ १९०
- प्रारंभ** — श्रावण कृ. १०, वी.नि.सं. २५२२, मांगीतुंगी, दिनाँक-८-८-१९९६
- समापन** — भाद्र शु. ३, वी.नि.सं. २५२२, मांगीतुंगी, दिनाँक-१५-९-१९९६
- पुस्तक ५** — अंतरानुगम-भावानुगम-अल्पबहुत्वानुगम
सूत्र - ८७२, पृष्ठ १९३
- प्रारंभ** — भाद्रपद शु. ३, वी.नि.सं. २५२२, मांगीतुंगी, दिनाँक-१५-९-१९९६, अपराह्न
५,८ बजे
- समापन** — मार्गशीर्ष कृ. ७, वी.नि.सं. २५२३, अंकलेश्वर (गुज.)
दिनाँक-२-१२-१९९६, सोमवार
- पुस्तक ६** — जीवस्थान चूलिका
सूत्र - ५१५, पृष्ठ १८७
- प्रारंभ** — मगसिर कृ. ७, वी.नि.सं. २५२३, अंकलेश्वर (गुज.), दिनाँक-२-१२-१९९६
- समापन** — फाल्गुन कृ. १३, वी.नि.सं. २५२३, माधोराजपुरा (राज.), दिनाँक-७-३-१९९६

(द्वितीय खण्ड)

पुस्तक ७ — क्षुद्रकबंध

सूत्र - १५९४, पृष्ठ २८५

प्रारंभ — फाल्गुन शु. १, वी.नि.सं. २५२३, पद्मपुरा अतिशय क्षेत्र, दिनांक-१०-३-१९९७

समापन — मार्गशीर्ष शु. १३, वी.नि.सं. २५२४, हस्तिनापुर, दिनांक-१२-१२-१९९७

(तृतीय खण्ड)

पुस्तक ८ — बंधस्वामित्वविचय

सूत्र - ३२४, पृष्ठ २३०

प्रारंभ — मार्गशीर्ष शु. १३, वी.नि.सं. २५२४, हस्तिनापुर, दिनांक-१२-१२-१९९७

समापन — द्वि. ज्येष्ठ शु. ५, श्रुतपंचमी, वी.नि.सं. २५२५, ऋषभदेव कमल मंदिर, प्रीतविहार, दिल्ली, दिनांक-१८-६-१९९९

(चतुर्थ खण्ड)

पुस्तक ९ — कृति अनुयोगद्वार

सूत्र - ७६, पृष्ठ १४०

प्रारंभ — शरद् पूर्णिमा, वी.नि.सं. २५२५, जयसिंहपुरा, नई दिल्ली, दिनांक-२४-१०-१९९९

समापन — शरद् पूर्णिमा, वी.नि.सं. २५२६, ऋषभदेव कमल मंदिर, प्रीतविहार, दिल्ली, दिनांक-१३-१०-२०००

पुस्तक १० — वेदनानिक्षेप, वेदनानय, वेदनानाम, वेदनाद्रव्यविधान, वेदनाक्षेत्र

सूत्र - ३२३ (पृष्ठ १२०)

प्रारंभ — आश्विन शु. १५, कमल मंदिर, प्रीतविहार, दिल्ली, दिनांक-१३-१०-२०००

समापन — वैशाख कृ. ७, वी.नि.सं. २५२८, शौरीपुर-बटेश्वर, दि. - ३-५-२००२

पुस्तक ११ — वेदनाकाल, वेदनाभाव, तीन चूलिका

सूत्र - ५९३, पृष्ठ २२५

प्रारंभ — वैशाख कृ. ७, वी.नि.सं. २५२८, शौरीपुर-बटेश्वर, दि. - ३-५-२००२

समापन — श्रावण शु. ७, वी.नि.सं. २५२९
दिनांक-४-८-२००३, पावापुरी (बिहार)

पुस्तक १२ — वेदनाप्रत्यय, वेदनास्वामित्व आदि ९ भेद हैं।

सूत्र - ५३३, पृष्ठ १७५

प्रारंभ — श्रावण कृ. १०, वी.नि.सं. २५२९, कुण्डलपुर, दिनांक-२४-७-२००३

समापन — मगशिर शु. १३, वी.नि.सं. २५३०, राजगृही, दिनांक-६-१२-२००३

(पंचम खण्ड)

पुस्तक १३ — स्पर्श^३, कर्म^४, प्रकृति^५ अनुयोगद्वारा

सूत्र - २०६ (पृष्ठ २५७)

प्रारंभ — पौष कृ. ११, वी.नि.सं. २५३०, कुण्डलपुर, दिनांक १९-२-२००३

समापन — द्वि. श्रावण शु. ७, वी.नि.सं. २५३०

दिनांक-२२-८-२००४

कुण्डलपुर (नालंदा) बिहार

पुस्तक १४ — बंधन^६ अनुयोगद्वारा।

सूत्र - ७९७ (पृष्ठ ३५१)

प्रारंभ — आश्विन शु. १५, वी.नि.सं. २५३०, कुण्डलपुर, दिनांक-२८-१०-२००४

समापन — फाल्गुन कृ. ११, वी.नि.सं. २५३२, हस्तिनापुर, दिनांक-२४-२-२००६

पुस्तक १५ — निबंधन^७, प्रक्रम^८, उपक्रम^९, उदय^{१०}, मोक्ष^{११} अनुयोगद्वारा। निबंधन के २० सूत्र,
पृ. १९५

सूत्र - २०

प्रारंभ — फाल्गुन कृ. ११, वी.नि.सं. २५३२, हस्तिनापुर, दिनांक-२४-२-२००६

समापन — शरद पूर्णिमा २००६, वी.नि.सं. २५३२,

हस्तिनापुर, दिनांक-६-१०-२००६

पुस्तक १६ — संक्रम^{१२} से लेकर अल्पबहुत्व^{१३} तक १३ अनुयोगद्वारा हैं।

(सूत्र नहीं है) कुल पेज २२५ हैं।

प्रारंभ — कार्तिक शु. १, वी.नि.सं. २५३३, हस्तिनापुर, दिनांक-२३-१०-२००६

समापन — वैशाख कृ. २, वी.नि.सं. २५३३, हस्तिनापुर, दिनांक-४-४-२००७

षट्खण्डागम के सूत्रों की संख्या-

प्रथम खण्ड - २३७५, द्वितीय खण्ड - १५९४, तृतीय खण्ड - ३२४, चतुर्थ खण्ड - १५२५, पंचम खण्ड - १०२३, कुल सूत्र - ६८४१

इस प्रकार मैंने षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड की छह पुस्तकों की टीका अपनी कर्मभूमि तीर्थक्षेत्र हस्तिनापुर में प्रारंभ करके यात्रा के मध्य में अपनी दीक्षाभूमि माधोराजपुरा (राजस्थान) में लगभग अठारह मास में पूर्ण की है। मुझे प्रसन्नता तो हुई है साथ ही आश्चर्य भी हुआ है कि यह लगभग ९०० पेज की संस्कृत टीका कैसे लिखी गई है। इसे मैं सरस्वती देवी की विशेष कृपा ही समझती हूँ।

इसके बाद भी मेरा लेखन निरन्तर जारी रहा और ४ अप्रैल सन् २००७ (वैशाख कृ. दूज) को अपने ५२वें आर्यिका दीक्षा दिवस पर पूरे सोलह ग्रंथों के ६८४१ सूत्रों की संस्कृत टीका ३१११ पृष्ठों में लिखकर पूर्ण की और हृदय में असीम आल्हाद का अनुभव किया।

मार्ग के विहार में टीका लिखने में मुझे बहुत ही निश्चितता रही है। जहाँ भी जैन समाज के ग्राम या शहर आये प्रवेश करके सभा का कार्यक्रम रखा गया, अधिकांश स्थानों पर पहुँचते ही मंगलाचरण के पश्चात्

मैं कोई नयी योजना देती, आर्यिका चंदनामती जी शीघ्र ही अपने प्रवचन में उस पर प्रकाश डालतीं और क्षुल्लक मोतीसागर जी तत्क्षण ही समाज के दो-तीन वरिष्ठ व्यक्तियों से परामर्श करके न्यौछावर राशि निर्धारित करके घोषणा करते थे और तभी दस, पंद्रह मिनटों में योजना सफल हो जाती और मध्याह्न में शिलान्यास कराकर संघ का विहार हो जाता। इसी बीच मैं सभा में भी अपना लेखन-कार्य करती रहती थी।

सभा संचालन एवं नूतन योजना को मूर्तरूप देने के कार्य में मुझे कुछ चिन्ता नहीं करनी पड़ती। यही कारण है कि मेरी टीका का कार्य अल्प समय में निर्विघ्न सम्पन्न हुआ है।

साथ ही संघस्थ ब्रह्मचारिणी बहनें आगे का सर्वे करके मेरे पहुँचने से पहले ही मेरे बस्ते को लेकर आगे पहुँच जातीं और मेरे पहुँचते ही मुझे लिखने का सामान दे देतीं इससे मेरा समय व्यर्थ नहीं जाता था। इसीलिए उन संघस्थ ब्र.कु.बीना आदि सभी ब्रह्मचारिणी बहनों ने भी ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम कर महान पुण्य का अर्जन किया है।



पुण्य और धर्म के स्वामी कौन-कौन हैं

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।

मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥८१॥

पूजा आदि क्रियाओं में पुण्य होता है। श्रावक सम्यग्दर्शन और अणुवर्तों से सहित जिनपूजा, दान आदि क्रियाओं को करके सातिशय पुण्य संचित कर लेता है ऐसा उपासकाध्ययन नाम के अंग में जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित है। टीकाकार कहते हैं—सर्वज्ञ वीतराग देव की पूजा आदि निदानबंध से रहित है तो वह तीर्थंकर नाम कर्म के बंध का भी कारण हो सकती है। अतः गृहस्थ का पूजादि से संचित पुण्य स्वर्ग के सुखों का कारण है पुनः परम्परा से मोक्ष का भी कारण है तथा मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध, बुद्धैक आत्मा का चिच्छमत्कार लक्षण, चिदानंद रूप परिणाम धर्म कहलाता है वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। यहाँ पर पुत्र, स्त्री, धन आदि में 'यह मेरा है' ऐसे भाव को मोह कहा है और परीषह उपसर्ग के आ जाने पर चित्त का चंचल हो जाना क्षोभ कहलाता है। निर्विकल्प समाधि में स्थित महामुनि का शुद्धोपयोग रूप स्थिर परिणाम ही धर्म है। टीकाकार कहते हैं यह धर्मरूप परिणाम "गृहस्थानां न भवति पंचसूनासहितत्वात्" गृहस्थों के संभव नहीं है क्योंकि वे पंचसूना-आरंभ आदि से सहित हैं। अतः आज के गृहस्थ को जिनपूजा आदि कार्यों में ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए।

(श्री कुन्दकुन्द देव)

३२. नारी की गरिमा

संसार की सृष्टि में स्त्री और पुरुष दो अंग हैं, जैसे — कुम्भकार के बिना चाक से बर्तन नहीं बन सकते अथवा कृषक के बिना पृथ्वी से धान्य की फसल नहीं हो सकती उसी प्रकार स्त्री पुरुष दोनों के संयोग के बिना सृष्टि की परंपरा नहीं चल सकती। इतना सब कुछ होते हुए भी नारी का दायित्व कुछ और ही है। वह क्या है ? उसी पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

आज जब घर में कन्या का जन्म होता है तब घर वाले ही क्या अड़ोस-पड़ोस के लोग भी यही सोचने लगते हैं कि यह क्या बला आ गई ? उसका मूल कारण है दहेज, इस दहेज प्रथा ने कितने अनर्थों को जन्म दिया है, सब प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। एक समय था जब कन्या को सबसे श्रेष्ठरत्न और उनके माता-पिता को सबसे श्रेष्ठ रत्नाकर माना जाता था। देखिये पूर्वाचार्यों के वाक्य —

“कन्यारत्नात् परं नान्यद्।” कन्या रत्न से बढ़कर अन्य कोई रत्न नहीं है।

तथा — रत्नाकरत्वदुर्गर्वमम्बुधिः श्रयते वृथा।

कन्यारत्नमिदं यत्र तयोरेतद् विराजते^१॥२९८॥

यह समुद्र अपने रत्नाकरत्व नाम के छोटे अभिमान को व्यर्थ ही धारण कर रहा है क्योंकि जहां इस कन्यारत्न ने जन्म लिया है ऐसे उसके माता-पिता ही सच्चे रत्नाकर ‘रत्नों की खान’ होते हैं।

यह बात सुलोचना के स्वयंवर के प्रसंग पर श्री गुणभद्राचार्य ने कही है। वास्तव में जहां एक कन्या के स्वयंवर के समय करोड़ों राजा महाराजा आकर उपस्थित होते थे और सबके मन में यही आशा रहती थी कि यह कन्या मेरे गले में वरमाला डाले। इस विषय में सुलोचना, सीता, द्रौपदी आदि के प्रत्यक्ष उदाहरण आबाल-गोपाल प्रसिद्ध ही हैं लेकिन आज सर्वथा उसके विपरीत स्थिति देखने को मिलती है। कन्याओं के जन्म को हीन दृष्टि से देखने का मूल कारण जो दहेज है, उसका कैसे निर्मूलन किया जाए ? इस पर महिलाओं को सक्रिय कदम उठाना चाहिए।

महिलाएँ ही महापुरुषों की जननी हैं, तीर्थंकर जैसे नर रत्नों को भी जन्म देने का सौभाग्य महिलाओं ने ही प्राप्त किया है। यही कारण है कि महामुनियों ने भी उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है।

श्री मानतुंगाचार्य के शब्दों से स्पष्ट है —

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्। नान्या श्रुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता॥

सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं। प्राच्येव दिग्जनयतिस्फुरदंशु जालम्॥

हे भगवान्। सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों पुत्रों को जन्म देती हैं किन्तु आप जैसे पुत्र को जन्म देने वाली माता विरले ही होती हैं, जो ठीक ही है क्योंकि सभी दिशाएँ नक्षत्रों को तो जन्म दे सकती हैं किन्तु हजारों किरणों से देदीप्यमान ऐसे सूर्य को एक पूर्व दिशा ही जन्म देती है। पातिव्रत्य धर्म में सीता और मैनासुन्दरी के उदाहरण प्रसिद्ध ही हैं। साथ ही पति को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने के लिए रानी चेलना का पुरुषार्थ आज की महिलाओं के लिए प्रेरणास्पद उदाहरण है।

प्रायः आज की महिलायें पति को प्रसन्न रखने के लिए उनके साथ क्लबों में घूमना व स्वच्छंद प्रवृत्ति

करना ही अपना कर्तव्य समझ लेती हैं। कोई-कोई महलायें तो पति के साथ रात्रि भोजन ही क्या मदिरापान आदि भी करने लगती हैं। भोगों में ही सुख मानने वाली कुछ महिलायें तो पति को दुर्व्यसनों से नहीं रोकती हैं किन्तु धर्म, कार्यों से, गुरुओं के पास जाने से अवश्य रोक देती हैं। आज कितने ही ऐसे उदाहरण हैं, जो कि देखने में आते हैं।

सचमुच में ऐसी महिलाओं को ही आचार्य ने दुर्गति का द्वार बतालाया है। यथा —

शरणमशरणं वो बंधवो बंधमूलं,

चिरपरिचितदारा द्वारमापदगृहाणाम्^१॥६०॥

जिस घर को शरण समझते हैं वह अशरण है, बंधुवर्ग बंधन के मूल कारण हैं और चिरकाल से परिचित भी स्त्रियाँ आपत्ति के घर का द्वार हैं, ये वाक्य श्रीगुणभद्रसूरि के हैं किन्तु शीलवती महिलायें इससे विपरीत हैं। सन्मार्गदर्शिका भी देखी जाती हैं।

महिलाओं का अपनी संतान के प्रति भी क्या कर्तव्य है ? वास्तव में जो महिलायें सुशिक्षित हैं वे अपनी संतान को सुयोग्य संधि में ढाल सकती हैं क्योंकि माताओं की गोद ही बच्चों के लिए प्रारम्भिक पाठशाला है। माताएँ बच्चों को प्रारम्भ से ही लाड़-प्यार के साथ धर्म की घुट्टी पिलाकर सुसंस्कारों से हृष्ट-पुष्ट बना सकती हैं। जब बच्चे कुछ समझने और बोलने लग जायें तब उन्हें महामंत्र सिखाना, अच्छे-अच्छे धार्मिक भजनों की पंक्तियाँ रटाना, जैसे-जैसे वे ३-४ वर्ष के होते जायें उन्हें छोटी-छोटी शिक्षाप्रद कथायें सुनाना, धार्मिक पाठशाला में कुछ न कुछ धर्म शिक्षा दिलाते रहना ही बच्चों को सुसंस्कारित करना है। किशोरावस्था में उन्हें कुसंगति से बचाना, मंदिर में जाने की प्रेरणा देते रहना, गुरुओं के पास ले जाना, तीर्थयात्राओं की वंदना कराते रहना उनके जीवन में सद्विचारों के बीजारोपण करना है।

खासकर ग्रीष्मावकाश में बालक-बालिकाओं को गुरुओं के पास, धर्मशाला में धार्मिक शिक्षा दिलाना, धार्मिक पढ़ाई में, शिक्षण शिवरों में भाग दिलाना छुट्टी के दिनों का बहुत बड़ा सदुपयोग है।

युवकों को धर्म कक्षाओं के माध्यम से चारित्रवान बनाना है। मर्यादा पुरुषों में रामचन्द्रजी, जंबूकुमार, अकलंक-निकलंक आदि महापुरुषों के आदर्श बालकों के समक्ष पुनः-पुनः कहते रहने से उनमें वैसे ही बनने के संस्कार सहज ही हो सकते हैं।

कन्याओं की शील की सुरक्षा कैसे रहे ?

इस पर भी उनके माता-पिता को सावधान रहना चाहिए। छोटी-छोटी बालिकाओं को कुसंगति से बचाना, युवक नौकरों को घर में न रखना, अश्लील उपन्यास पढ़ने से, अश्लील सिनेमा आदि देखने से दूर रखना चाहिए। प्राचीन काल में भी राजघरानों में तथा सभ्य घरानों में वृद्ध कंचुकी नौकर रहते थे। जिससे कन्याओं की ही नहीं बल्कि महिलाओं के भी शील की सुरक्षा बनी रहती थी। सहशिक्षा की प्रणाली कदापि श्रेयस्कर नहीं है फलस्वरूप कुछ न कुछ अघटित घटनायें होती ही रहती हैं, किशोरावस्था की बालिकाओं को यदि युवक अध्यापक पढ़ाने आते हैं तो कदाचित् उनके शील के अपहरण का प्रसंग भी आ सकता है। अश्लील कहानियों और चलचित्रों का कुप्रभाव कोमल और सरल मस्तिष्क को विकृत बनाये बगैर नहीं रखता है।

कन्या विवाह के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर माता बनती है। जिस प्रकार से कोयले की खान से

कोयला और हीरे की खान से हीरा निकलता है उसी प्रकार अच्छे संस्कारों से संस्कारित शीलवती माता से अच्छे-अच्छे नररत्न और कन्यारत्नों का जन्म होता है। दुराचारिणी माता की संतान कभी भी अच्छी नहीं मानी जा सकती है। कुछ प्राकृतिकसृष्टि की व्यवस्था ही ऐसी है। चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती आदि महापुरुषों के अनेक रानियां होती हैं किन्तु यदि कोई महिला अनेक पुरुष से समागम करती हो तो वह स्वयं यह निर्णय नहीं दे सकती है कि इस मेरे पुत्र का पिता कौन है ? यही कारण है कि अपने यहाँ भारतीय संस्कृति में महिलाओं के लिए एक पति ही माना गया है। वैसे यह विषय अति सूक्ष्म है। विशेष जिज्ञासु महिलाओं को अपने धर्मगुरु व गुर्वानियों के पास में इस विषय को समझना चाहिए इसीलिए पुनः विवाह, विधवा विवाह, विजातीय विवाह आदि परंपरायें संस्कृति से बाहर हैं।

शीलवती नारियां मनुष्यों से ही नहीं देवों से भी पूज्यता प्राप्त कर लेती हैं शील के प्रभाव से अग्नि का जल हो जाना, नाग का हार हो जाना, वज्र के फाटक खुल जाना आदि उदाहरण मात्र कल्पनायें नहीं हैं। यह नियम है कि पंचमकाल के अंत तक भी शीलवती महिलायें रहेंगी और आगे के छठे काल में भी उनकी परंपरा चल सकेगी। पुनरपि आने वाले चतुर्थकाल में उन्हीं शीलवती महिलाओं के वंश में तीर्थंकर आदि महापुरुष जन्म लेंगे। यह तो सब एकदेश ब्रह्मचर्य अणुव्रत की महत्ता है। ऐसी ब्रह्मचर्याणुव्रत करने वाली महिलायें गृहस्थाश्रम में रहने वाली देवपूजा, स्वाध्याय आदि करते हुए धर्म की परंपरा को अक्षुण्ण रखती हैं। अनंतर सल्लेखना से मरण करके सम्यक्त्व और अणुव्रत के प्रभाव से स्त्रीलिंग को छेदकर सौधर्म आदि स्वर्गों में देव हो जाती हैं। कालांतर में पुरुषलिंग प्राप्त कर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।

जो महिलायें पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत पालन करती हैं। व्रत, प्रतिमा आदि व्रतों से अपने शरीर को अलंकृत करती हैं। क्षुल्लिका अथवा आर्यिका बन जाती हैं वे महिलायें ब्राह्मी-सुंदरी के समान सर्वजनों में पूज्य हो जाती हैं। चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महापुरुष भी उनकी पूजा करते हैं, उन्हें आहारदान आदि देकर अपने को धन्य मानते हैं। इन्द्र भी उनके चरणों की वन्दना करते हैं। इस प्रकार से वे स्त्रियाँ सर्वश्रेष्ठ आर्यिका पद में तीनों लोकों में वंद्य हो जाती हैं।

आज भी चंदनबाला, अनंतमती जैसी कन्यायें हैं। सीता, मैना, मनोरमा जैसी पतिव्रता हैं, चेलना जैसी कर्तव्यपरायणा है और ब्राह्मी, सुन्दरी के पदचिह्नों पर चलने वाली आर्यिकायें हैं, हमारी बहनों को उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। प्रतिवर्ष एक माह नहीं तो कम से कम एक सप्ताह उनके सानिध्य में जाकर उनसे कुछ सीखना चाहिए और स्त्री समाज में बढ़ती हुई दहेज प्रथा, सह शिक्षा आदि कुरीतियों को दूर करने में अपने समय, शक्ति और धन को लगाना चाहिए।



३३. ऐतिहासिक आर्यिकाएँ

इस युग में चतुर्थ काल प्रारंभ होने के पहले ही भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद ही उनके ही पुत्र वृषभसेन, जो कि पुरिमताल नगर के राजा थे, वे प्रभु से मुनि दीक्षा लेकर भगवान के प्रथम गणधर हो गये तथा भगवान की ही पुत्री^१ ब्राह्मी, जो कि भरत चक्री की छोटी बहन थी, वह भी विरक्त होकर गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्यिका हो गई और बाहुबली की छोटी बहन सुन्दरी भी आर्यिका हो गई। ये ब्राह्मी समस्त आर्याओं में गणिनी — स्वामिनी थीं। अन्यत्र^२ भी कहा है — धैर्य से युक्त^३ ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कुमारियाँ अनेक स्त्रियों के साथ दीक्षा ले आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गईं।

भरत के सेनापति जयकुमार की दीक्षा के बाद सुलोचना^४ ने भी ब्राह्मी आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली। अन्यत्र^५ भी कहा है —

दुष्ट संसार के स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ श्वेत साड़ी धारणकर ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास दीक्षा धारण कर ली। मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान के गणधर हो गये और सुलोचना आर्यिका भी ग्यारह अंगों की धारक हो गई।

आर्यिकाओं या गणिनी से दीक्षा लेने के विषय में और भी अनेकों प्रमाण हैं —

कवेरमित्र^६ की स्त्री धनवती ने स्वामिनी अमितमती के पास दीक्षा धारण कर ली और उन यशस्वती और गुणवती आर्यिकाओं की माता कुबेरसेना ने भी अपनी पुत्री के समीप दीक्षा ले ली।”

वनवास के प्रसंग में जब मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने यह सुना कि कलिंगाधिपति अतिवीर्य राजा भरत के राज्य पर चढ़ाई करने वाला है, तब अतिवीर्य को पराजित करने का उपाय सोचा —

दूसरे^७ दिन डेरे से निकलकर राम ने आर्यिकाओं से सहित जिनमंदिर देखा, सो हाथ जोड़कर बड़ी भक्ति से उसमें प्रवेश किया। वहाँ जिनेन्द्र भगवान को तथा आर्यिकाओं को नमस्कार किया, वहाँ आर्यिकाओं की जो वरधर्मा नाम की गणिनी थीं उनके पास सीता को रखा तथा सीता के पास ही अपने सब शस्त्र छोड़े।

वेष बदलकर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों ही अतिवीर्य की सभा में पहुँचकर उसे पकड़कर हाथी पर सवार हो अपने परिजन के साथ वापस जिनमंदिर में आ गये। वहाँ हाथी से उतरकर मंदिर में प्रवेश कर जिनेन्द्र भगवान की बड़ी भारी पूजा की। मंदिर में सर्वसंघ के साथ जो वरधर्मा नाम की गणिनी ठहरी हुई थीं, रामचन्द्र ने सीता के साथ संतुष्ट होकर उनकी भी पूजा की।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व काल में भी आर्यिकाएँ जिनमंदिर में रहती थीं और बलभद्र, नारायण आदि महापुरुष उनकी वंदना-पूजा किया करते थे।

“रावण के मरण के बाद मन्दोदरी^८ शशिकान्ता आर्यिका के मनोहारी वचनों से प्रबोध को प्राप्त हो उत्कृष्ट संवेग और उत्तम गुणों को प्राप्त हुई गृहस्थ वेष्ट-भूषा को छोड़कर श्वेत साड़ी से आवृत्त हुई आर्यिका

१. आदिपुराण, पृ. ५९२। २. हरिवंशपुराण, पृ. १८३। ३. इसके बारे में जो यह किंवदन्ती है कि पिताजी ऋषभदेव इनका विवाह करते, तो उन्हें उन जामाताओं को नमस्कार करना पड़ता, इसलिए उन्होंने ब्याह नहीं किया अर्थात् वे प्रभु की इस चिन्ता को दूर करने के लिए बाल ब्रह्मचारिणी रहीं। यह कल्पना बिल्कुल गलत है। भरत चक्री ने हजारों कन्याओं को विवाहा था। तब क्या उनके पिता ने अपने समधी को नमस्कार किया था या अपनी हजारों कन्याओं के पतियों को भी क्या नमस्कार किया था अर्थात् नहीं किया था। ४. आदिपुराण, द्वितीय भाग, पृ. ५०३। ५. हरिवंशपुराण, पृ. २१३। ६. आदिपुराण, पृ. ४५८। ७. पद्मपुराण, द्वितीय भाग, पृ. २६१। ८. पद्मपुराण, तृतीय भाग, पृ. ७१।

हो गई। उस समय अड़तालीस हजार स्त्रियों ने संयम धारण किया था। इन्हीं में रावण की बहन, जो कि खरदूषण की पत्नी थी, उस चन्द्रनखा ने भी दीक्षा ले ली थी।

माता कैकेयी भरत की दीक्षा के बाद विरक्त हो एक सफेद^१ साड़ी से युक्त होकर तीन सौ स्त्रियों के साथ “पृथिवीमती” आर्यिका के पास दीक्षित हो गई थीं।”

अग्निपरीक्षा के बाद श्री रामचन्द्र ने सीता को घर चलने के लिए कहा तब सीता ने कहा कि अब मैं जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगी” वहीं केशलोंच करके पुनः शीघ्र ही पृथिवीमती आर्यिका के पास दीक्षित हो गई।”

उनके बारे में लिखा है कि वह वस्त्रमात्र परिग्रहधारिणी, महाव्रतों से पवित्र अंग बली महासंवेग को प्राप्त थीं।

हनुमान विरक्त होकर धर्मरत्न^२ मुनिराज के समीप मुनि हो गये, तब उनके साथ सात सौ पचास विद्याधर राजाओं ने भी दीक्षा ले ली।

उसी समय शीलरूपी आभूषणों को धारण करने वाली राजस्त्रियों ने बंधुमती आर्यिका के पास दीक्षा ले ली।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र ने श्रीसुव्रत मुनिराज से दीक्षा धारण की थी, उस समय कुछ अधिक सोलह हजार साधु हुए और सत्ताईस हजार स्त्रियाँ “श्रीमती” नामक आर्यिका के पास आर्यिका^३ हुईं।

सीता^४ के आर्यिका जीवन का वर्णन करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि धूलि से मलिन वस्त्र से जिनका वक्षस्थल तथा शिर के बाल सदा आच्छादित रहते थे, जो स्नान के अभाव में पसीना से उत्पन्न मैलरूपी कंचुक को धारण कर रही थी, जो चार दिन, पक्ष आदि के उपवास करती थी, शीलव्रत और मूलगुणों के पालन में तत्पर-अध्यात्म के चिंतन में लीन रहती थी, विहार के समय उसे अपने और पराये लोग भी नहीं पहचान पाते थे, इस प्रकार बासठ वर्ष तक उत्कृष्ट तप करके तथा पैंतीस दिन की उत्तम सल्लेखना धारण करके वह आर्यिका सीता इस शरीर को छोड़कर आरण-अच्युत युगल के प्रतीन्द्र पद को प्राप्त हो गई अर्थात् स्त्रीलिंग को छोड़कर प्रतीन्द्र हो गई।

किसी समय कनकोदरी^५ महादेवी पट्टरानी ने अभिमानवश सौत के प्रति क्रोध करने से गृहचैत्यालय की जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा को घर से बाहर फिकवा दिया था, इसी बीच में संयमश्री नामक आर्यिका ने आहार के लिए इसके घर में प्रवेश किया। संसार में प्रसिद्ध महातपस्विनी संयमश्री ने जिनेन्द्र की प्रतिमा का अन्दर देखकर दुःखी होकर आहार का त्याग कर दिया और कनकोदरी को उपदेश देना शुरू किया तथा कहा कि यदि मैं तुझे सम्बोधन करूँ तो मुझे भी प्रमाद का बहुत बड़ा दोष होगा। तूने नरक-निगोदों में निवास कराने वाला ऐसा महापाप किया, अब उससे विरत हो।” इत्यादि उपदेश सुनकर कनकोदरी संसार के दुःखों से डर गयी और आर्यिकाश्री से सम्यक्त्व और श्रावक के व्रत ले लिये। प्रतिमाजी को पूर्व स्थान में विराजमान करके नाना प्रकार से उसकी पूजा कस्के प्रायश्चित्त आदि किया। कालांतर में वही अंजना हुई, तब उसी पाप के फल से उसे बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहन पड़ा था।”

भगवान नेमिनाथ को केवलज्ञान होने के बाद समवसरण रचना हो गई। उस समय राजा वरदत्त ने प्रभु से दीक्षा लेकर गणधर पद प्राप्त किया और राजीमती^६ भी छह हजार रानियों के साथ दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रधान गणिनी हो गई।

१. पद्मपुराण तृतीय भाग, पृ. १५१। २. पद्मपुराण तृतीय भाग, पृ. २८४। ३. पद्मपुराण तृतीय भाग, पृ. ३६२। ४. पद्मपुराण तृतीय भाग, पृ. ३९५। ५. पद्मपुराण तृतीय भाग, श्लोक ८ से १८, पृ. ३२८। ६. पद्मपुराण तृतीय भाग, १६८ से १९८, पृ. ३८३। ७. षट्सहस्र नृपस्त्रीभिः सह राजीमती सदा। प्रव्रज्याग्रेसरी जाता सार्पिकाणांगणस्यतु॥ (हरिवंशपुराण ६५६। इस कथन से यह समझना कि जो यह किंवदन्ती है कि नेमिनाथ के दीक्षित होने पर राजुल रोती-रोती वहाँ गई और दीक्षित हो गई सो गलत है। राजुलमती ने प्रभु को केवलज्ञान होने के बाद ही दीक्षा ली है। तीर्थकर दीक्षा लेने के बाद मौन रहते हैं और किसी को दीक्षा भी नहीं देते हैं।

राजा चेटक की पुत्री चन्दना कुमारी^१ एक स्वच्छ वस्त्र धारणकर (भगवान महावीर के समवसरण में) आर्यिकाओं में प्रमुख हो गई।

रानी चेलना^२ राजा श्रेणिक की मृत्यु के बाद भगवान के समवसरण में चन्दना गणिनी के पास जाकर दीक्षित हो गई, जो कि चन्दना की बड़ी बहन थीं।

जीवन्धर कुमार ने अपने मामा और नन्दाढ्य आदि जनों के साथ भगवान के समवसरण में दीक्षा ले ली और उनकी आठों रानियों ने भी महादेवी विजया के साथ चन्दना आर्यिका के पास उत्तम संयम धारण^३ कर लिया।

आर्यिकाओं^४ के संघ की एक नवदीक्षित आर्यिका ने पाँच यारों के साथ लताकुंज में एक वेश्या को प्रवेश करते हुए देखा, एक क्षण के लिए मन में यह भाव आ गया कि ऐसा सुख हमें भी प्राप्त हो, तत्पश्चात् गणिनी के पास जाकर आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण कर लिया और सल्लेखना से मरण किया फिर भी जन्मान्तर में द्रौपदी की अवस्था में स्वयंवर मंडप में उसने मात्र अर्जुन के गले में माला डाली थी किन्तु हवा से माला का धागा टूट जाने से पाँचों पांडवों पर फूल गिर गये, उस समय लोगों ने चर्चा कर दी कि द्रौपदी ने पाँच पति चुने हैं। ऐसा झूठा अपवाद उसे उतने मात्र भावों से हुआ।”

गुणरूपी आभूषण को धारण करने वाली कुन्ती, सुभद्रा तथा द्रौपदी ने भी राज्ञी गणिनी के पास उत्कृष्ट दीक्षा ले ली। अन्त में तीनों के जीव सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए हैं। आगे वहाँ से च्युत हेम्बर निःसंदेह मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

कुन्ती^५, द्रौपदी तथा सुभद्रा आदि जो स्त्रियाँ थीं, सब राज्ञी गणिनी के समीप तप में लीन हो गईं।

इन सब उदाहरणों से यह देखना है कि पूर्व में आर्यिकाएँ ही आर्यिका दीक्षा देती थीं। सबसे प्रथम तीर्थंकर देव के समवसरण में जो आर्यिका दीक्षित होती थीं, वे ही गणिनी के भार को संभालती थीं। तीर्थंकर देव के अतिरिक्त किन्हीं आचार्य द्वारा आर्यिका दीक्षा के उदाहरण आगम में प्रायः कम मिलते हैं^६ तथा इन आर्यिकाओं की दीक्षा के लिए जैनेश्वरी दीक्षा शब्द भी आया है। इन्हें “महाव्रतपवित्रांगा” भी कहा है और इन्हें “संयमिनी” संज्ञा भी दी है। श्रमणी, साध्वी आदि भी नाम कहे हैं। ये आर्यिकाएँ इन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महापुरुषों द्वारा भी वंदनीय रही हैं।^७

जब आर्यिकाओं के व्रत को उपचार से महाव्रत कहा है और सल्लेखना काल में उपचार से निर्ग्रन्थता का आरोपण किया है, तब वे मुनियों के समान भी वंदनीय क्यों नहीं होंगी ? अवश्य होंगी। ऐसा समझकर आगम की मर्यादा को पालते हुए आर्यिकाओं की नवधाभक्ति करके उन्हें आहारदान देना चाहिए और समयानुसार यथोचित भक्ति करना, उन्हें पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र, वस्त्र (सफेद साड़ी) आदि दान भी देना चाहिए।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि आर्यिकाओं की ‘नवधाभक्ति-पूजा आदि नहींकरना चाहिए, उन्हें सोचना चाहिए कि जब स्वयं श्री कुन्दकुन्द देव ने कह दिया कि इनकी सब चर्या मुनि के स्नान है केवल वृक्षमूलयोग आदि को छोड़कर तथा रामचन्द्र जैसे महापुरुषों ने भी आर्यिकाओं की पूजा की, पुनः शंका हीन्या रहती है ? अतः आर्यिकाओं को अट्टाईस मूलगुणधारिणी, उपचार-महाव्रतसहित मानकर उनकी नवधाभक्ति आदि में प्रमाद नहीं करना चाहिए।



१. हरिवंशपुराण, पृ. १७। २. श्रेणिक चरित, पृ. २८७। ३. उत्तरपुराण, पृ. ५२७। ४. पांडव पुराण, पृ. ४९१। ५. उत्तरपुराण, पृ. ४२५। ६. हरिवंशपुराण, पृ. ७९६। ७. हरिषेणा, श्रीषेणा नाम की दोनों कन्याओं ने ज्ञान सागर मुनीश्वर से आर्यिका दीक्षा ले ली और विहार करने लगीं। (पांडव पुराण, पृ. ४८९)

३४. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का महत्त्व

जैन सिद्धान्त के अनुसार कोई भी भव्य जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके तीर्थंकर भगवान् के रूप में अवतार ले सकता है और अवतारी महापुरुषों में अपना नाम अंकित करा सकता है।

पंचकल्याणक — कोई भी जीव कालादि लब्धियों के बल से सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर देव और मनुष्यों के उत्तम-उत्तम सुखों को भोगते हुए कदाचित् तीर्थंकर, केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में सोलहकारण भावनाओं को भाते हुए अत्यन्त विशुद्धि को प्राप्त करके अपायविचय धर्म्यध्यान के बल से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेता है। पुनः अंतकाल में सन्यास विधि से मरण करके स्वर्गों के विमान में उपपाद शय्या से जन्म लेकर वहाँ के दिव्य सुखों का चिरकाल तक अनुभव करता है। अनंतर स्वर्ग में स्थित उस इन्द्रपद के धारी महापुरुष की जब छह माह आयु शेष रह जाती है तब सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर उनके जन्म लेने योग्य नगरी की उत्तम शोभा करके तीर्थंकर होने वाले महापुरुष की माता के आंगन में रत्नों की वर्षा प्रारंभ कर देता है। छह मास के अनंतर माता सोलह स्वप्न देखती हैं पश्चात् अपने गर्भ में उस महापुरुष को धारण करती हैं। उस समय इन्द्रादि देवगण इस मर्त्यलोक में आकर होनहार भगवान् के माता-पिता की पूजा करके भगवान् के गर्भ कल्याणक महोत्सव को मनाकर चले जाते हैं। यह प्रथम कल्याणक कहलाता है।

नव माह पूर्ण हो जाने पर माता जिनबालक को जन्म देती हैं। उसी क्षण चारों निकाय के देवों के यहाँ बिना बजाये वाद्य बजने लगते हैं। इन्द्रों के मुकुट झुक जाते हैं, उनके सिंहासन कंपित हो उठते हैं, इत्यादि कारणों से अपने अवधिज्ञान के द्वारा तीर्थंकर प्रभु का जन्म हो गया है, ऐसा समझकर वे इन्द्रगण महावैभव के साथ वहाँ से आकर जिनबालक को सुमेरुपर्वत पर ले जाकर वहाँ की पाण्डुकशिला पर जन्मजात शिशु का १००८ कलशों द्वारा अभिषेक करके जन्मकल्याणक महोत्सव मनाते हैं। यह द्वितीय कल्याणक कहलाता है।

कोई-कोई तीर्थंकर युवावस्था में माता-पिता की प्रेरणा विशेष से सुयोग्य कन्या के साथ विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं और मंडलीक, महामंडलीक, चक्रवर्ती आदि साम्राज्य को प्राप्त कर प्रजा का पालन करते हैं। अनंतर किसी समय किसी कारणवश वैराग्य को प्राप्त कर जैनश्वरी दीक्षा लेकर तपश्चरण में रत हो जाते हैं।

कोई-कोई तीर्थंकर वैवाहिक बंधन और राज्य को न स्वीकार कर विरक्त होकर दीक्षा के अभिमुख हो जाते हैं। जब तीर्थंकर को वैराग्य होता है तो उसी समय लौकांतिक देव आकर उनकी प्रशंसा स्तुति करते हुए अपना नियोग पूरा करते हैं पुनः सौधर्म इन्द्र आदि देवगण आकर प्रभु का दीक्षा अभिषेक करके पालकी में विराजमान कर उन्हें वन में ले जाते हैं, वहाँ पर भगवान् वस्त्राभरणों का त्यागकर पंचमुष्टि केशलोंच करके ध्यान में लीन हो जाते हैं। यह तृतीय कल्याणक कहलाता है।

भगवान् को दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त के बाद मनःपर्ययज्ञान प्रकट हो जाता है और कुछ दिन के तपश्चरण के अनंतर उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। उस समय इन्द्र समवसरण की रचना कराके प्रभु का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाते हैं। यह चतुर्थ कल्याणक कहलाता है।

बहुत काल तक पृथ्वी पर विहार करते हुए भगवान् अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा असंख्य भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग दिखाते हुए सच्चे मोक्षमार्ग के नेता कहलाते हैं पुनः आयु के अंत में योग निरोध कर सर्व कर्मों

को निःशेष कर निर्वाणधाम को प्राप्त कर लेते हैं। उस समय भी इन्द्रादि देवगण अतीव वैभव के साथ यहाँ आकर प्रभु का निर्वाण कल्याणक मनाते हैं। यह पाँचवाँ कल्याणक कहलाता है।

इस प्रकार से ये पाँच कल्याणक कहलाते हैं। मध्यलोक में ५ भरत, ५ ऐरावत और १६० विदेह इस तरह कुल ५+५+१६=१७० कर्मभूमियाँ हैं। इन कर्मभूमियों के आर्यखण्ड में तीर्थकर महापुरुषों का अवतार होता रहता है। विदेह क्षेत्र में सर्वदा और सर्वथा चतुर्थकाल की व्यवस्था होने से वहाँ पर सदैव तीर्थकर पुरुष जन्मते रहते हैं किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रों में षट्काल परिवर्तन के होते रहने से जब इनमें चतुर्थ काल वर्तन करता है तभी इनमें तीर्थकर पुरुषों का जन्म होता है इसलिए भरत और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकाल में चौबीस तीर्थकरों का अवतार होता है। ये तीर्थकर पंचकल्याणक के स्वामी ही होते हैं।

स्थापना निक्षेप — ये सभी तीर्थकर भाव निक्षेप से तीर्थकर कहलाते हैं और साक्षात् पंचकल्याणक के अधिनायक माने जाते हैं। इन तीर्थकरों का विहार सतत न होने से अथवा अकृत्रिम चैत्यालयों की जो अकृत्रिम प्रतिमाएँ हैं उनके सदृश कृत्रिम प्रतिमाओं को बनवाकर उनको पूज्य बनाने के लिए पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ की जाती हैं। यह प्रतिष्ठा विधि स्थापना निक्षेप है, इस स्थापना निक्षेप से पाषाण या धातु की प्रतिमाएँ साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के सदृश पूज्य हो जाती हैं।

“इस स्थापना निक्षेप में पूज्यता कैसे आ जाती है ?”

“पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के ग्रंथों के आधार से प्रतिष्ठाचार्य विद्वान पंद्रह दिन में या कम से कम नव दिन में विधिवत् विधि विधान के अनुष्ठान द्वारा प्रतिमा को संस्कारित करते हैं। केवलज्ञान कल्याणक के दिन प्रतिमा में गुणारोपण के साथ-साथ नेत्रोन्मीलन विधि, अंकन्यास विधि, प्राणप्रतिष्ठा विधि और सूरिमंत्र के द्वारा उसे अतिशय युक्त चमत्कारिक बना देते हैं।”

इस विधि विधान के प्रसंग में प्रतिष्ठाचार्य विद्वान यदि विधि-विधान में विशारद, पापभीरू और सदाचारी होते हैं तो वे उतनी ही अच्छी क्रिया करते कराते हैं और तभी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएँ सही ढंग से होती हैं जो कि उन्हें तीन जगत में पूज्य बना देती हैं।

प्रतिष्ठाचार्य के साथ-साथ प्रतिष्ठाकारक जो श्रावक सौधर्म इन्द्र आदि बनते हैं, वे भी न्याय से धन कमाने वाले, सदाचारी, विद्वान्, पापभीरू और क्रियाकाण्ड विधि के परम श्रद्धालु होना चाहिए तभी वे प्रतिष्ठाचार्य के अनुकूल क्रियाओं को करते हुए सम्यक् विधि से उन पाषाण आदि की प्रतिमाओं को पूज्य ही नहीं बना देते हैं बल्कि अपनी संसार परम्परा को भी समाप्त कर लेते हैं। जैसे — साक्षात् तीर्थकर के पंचकल्याणक महोत्सव को करने वाला सौधर्म इन्द्र नियम से एक भवावतारी होता है और उसकी शची इन्द्राणी भी एक ही भवावतारी हो जाती है। वैसे ही सम्यग्दर्शन से शुद्ध हुआ श्रावक सौधर्म इन्द्र बनकर उत्कट श्रद्धा और भक्ति के साथ-साथ सम्पूर्ण क्रियाओं को करते हुए निश्चित ही अपना एक भव शेष कर लेता है, इसमें कोई संदेह नहीं है और उस इंद्र की इन्द्राणी भी सम्यग्दर्शन से सहित होकर आगम के अनुकूल सम्पूर्ण क्रियाओं में इन्द्र की सहचारिणी होते हुए अपना एक भव शेष कर लेती है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधि से संस्कारों द्वारा संस्कारित हुई अचेतन भी पाषाण, धातु आदि की प्रतिमाएँ सचेतन के समान पूज्य होकर भव्यों को मनवांछित फल को देने वाली हो जाती हैं।

जिस प्रकार से मंत्रों से मंत्रित हुआ जल मनुष्यों के विष को दूर करने में समर्थ हो जाता है अथवा चिंतामणि रत्न या कल्पवृक्ष अचेतन होकर भी मनचिंतित और याचित फल को देने में समर्थ होते हैं अथवा

चुंबक धातु लोहे को अपनी ओर खींच लेता है। उसी प्रकार से मंत्रों से मंत्रित हुई प्रतिमाएँ भव्यों के पापकर्मों को दूर करने में समर्थ हो जाती हैं अथवा चिंतामणि और कल्पवृक्ष के सदृश अचेतन होते हुए भी चिंतित और मनोवांछित फलों को देने में भी सक्षम होती हैं तथा निकट भव्य के मन को अपनी ओर खींच लेती हैं।

यह है पंचकल्याणक प्रतिष्ठाओं का महत्त्व। देखिए मंदिर और प्रतिमाओं की महिमा का वर्णन पुराण ग्रंथों में—

भवनं यस्तु जैनेन्द्रं निर्मापयति मानवः।

तस्य भोगोत्सवः शक्यः केन वक्तुं सुचेतसः॥१७२॥

प्रतिमां यो जिनेन्द्राणां कारयत्यचिरादसौ।

सुरासुरोत्तमसुखं प्राप्य याति परं पदम्॥१७३॥

व्रत ज्ञानतपोदानैर्यान्युपात्तानि देहिनः।

सर्वैस्त्रिष्वपि कालेषु पुण्यानि भुवनत्रये॥१७४॥

एकस्मादपि जैनेन्द्रबिंबाद् भावेन कारितात्।

यत्पुण्यं जायते तस्य न सम्मान्यतिमात्रतः^१॥१७५॥

जो मनुष्य जिनमंदिर बनवाता है, उस सुमना के भोगोत्सव का वर्णन कौन कर सकता है ? जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा बनवाता है वह शीघ्र ही सुर तथा असुरों के उत्तम सुख प्राप्त कर परम निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। तीनों कालों में और तीनों लोकों में व्रत, ज्ञान, तप और दान के द्वारा मनुष्य के जो पुण्यकर्म संचित होते हैं वे भावपूर्वक एक प्रतिमा के बनवाने से उत्पन्न हुआ जो पुण्य है, उसकी बराबरी नहीं कर सकते हैं।

यही कारण है कि रामचंद्र आदि महापुरुषों ने सैकड़ों जिनमंदिर बनवाए थे और हजारों जिनप्रतिमाओं का निर्माण कराया था। देखिए—

तत्र वंशगिरौ राजन् रामेण जगदिन्दुना।

निर्मापितानि चैत्यानि जिनेशानां सहस्रशः॥१७६॥

सततारब्ध निःशेषरम्यवस्तु महोत्सवाः।

विरेजुस्तत्र रामीया जिनप्रासादपंकतयः॥१७७॥

रेजिरे प्रतिमास्तत्र सर्वलोकनमस्कृताः।

पंचवर्णा जिनेन्द्राणां सर्वलक्षणभूषिताः^२॥१७८॥

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे राजन् ! उस वंशगिरि पर्वत पर जगत के चंद्रस्वरूप रामचंद्र ने जिनेन्द्र भगवान् की हजारों प्रतिमाएँ बनवाई थीं। जिनमें सदा समस्त सुंदर वस्तुओं के द्वारा महोत्सव होते रहते थे, ऐसे रामचंद्र के द्वारा बनवाये हुए जिनमंदिरों की पंक्तियाँ उस पर्वत पर सर्वत्र सुशोभित हो रही थीं। उन मंदिरों में सब लोगों के द्वारा नमस्कृत तथा सब प्रकार के लक्षणों से युक्त पंचवर्ण की जिनप्रतिमाएँ सुशोभित हो रही थीं।

इस तरह पुरातन से लेकर आज तक अपने यहाँ जिनमंदिर और जिनप्रतिमाओं के निर्माण की परम्परा चली आ रही है जो कि इस पुण्य, पवित्र कार्य को करने वाले, कराने वाले, अनुमति देने वाले और देखने वाले इन सभी के लिए सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया है और परम्परा से मोक्ष का कारण है। चूँकि मंत्र संस्कारों के द्वारा मूर्तियाँ साक्षात् जिनेन्द्र भगवान के स्वरूप को प्राप्त करके तीन जगत् में वंद्य हो जाती हैं। मनुष्य क्या सुर-असुर भी इन्हें भक्ति से नमस्कार करके अपने जीवन को धन्य समझ लेते हैं।

३५. समवसरण का वर्णन

ॐ ह्रीं श्री शान्तिनाथ तीर्थकराय नमः

भगवान को केवलज्ञान प्रगट होते ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर अर्धनिमिष में समवसरण की रचना कर देता है। उस समय भगवान तीनों लोकों को और उनकी भूत, भावी, वर्तमान समस्त पर्यायों को युगपत् एक समय में जान लेते हैं।

भगवान शान्तिनाथ का समवसरण पृथ्वी से ५००० धनुष (२०००० हाथ) ऊपर आकाश में अधर है। पृथ्वी से एक हाथ ऊपर से एक-एक हाथ ऊँची बीस हजार सीढ़ियाँ हैं। इनसे चढ़कर मनुष्य और तिर्यच आदि सभी भव्य जीव-बाल, वृद्ध, अंधे, लूले, लंगड़े, रोगी आदि अंतर्मुहूर्त (४८ मिनट) में ऊपर पहुँच जाते हैं। भगवान शान्तिनाथ का समवसरण साढ़े ४ योजन (३६ मील) का गोल है।

इसमें चार परकोटे और पाँच वेदियाँ हैं। इनके आठ भूमियाँ हैं। चारों दिशाओं में बहुत ही विस्तृत वीथी बड़ी-बड़ी गलियाँ हैं।

इस समवसरण में क्रम से पहले धूलिसाल परकोटा, चैत्यप्रासाद भूमि, वेदी, खातिकाभूमि, वेदी, लताभूमि, परकोटा, उपवनभूमि, वेदी, ध्वजभूमि, परकोटा, कल्पभूमि, वेदी, भवनभूमि, परकोटा, श्रीमण्डपभूमि और वेदी है। आगे १६ सीढ़ी ऊपर चढ़कर पहली कटनी, ८ सीढ़ी चढ़कर दूसरी कटनी, पुनः ८ सीढ़ी चढ़कर तीसरी कटनी है। इसी पर भगवान विराजमान हैं।

प्रत्येक परकोटे और वेदियों में चारों दिशाओं में एक-एक गोपुर द्वार हैं। जिनमें से पूर्वदिशा में “विजय”, दक्षिण में “वैजयंत” पश्चिम में “जयंत” और उत्तर में “अपराजित” ऐसे नाम हैं। इन चारों के उभय पार्श्व में दो-दो नाट्यशालाएं हैं, जिनमें देवांगनाएं भगवान की भक्ति में विभोर हो नृत्य-गान करती रहती हैं। वहाँ द्वारों के दोनों ओर नवनिधि, मंगलघट और धूपघट आदि स्थित हैं। प्रत्येक परकोटे के द्वारों पर देवगण हाथ में दण्ड, मुद्गर आदि लेकर रक्षक बनकर खड़े हुए हैं।

समवसरण में प्रवेश करते ही चारों गली में दिव्य रत्नमय मानस्तंभ हैं जो कि भगवान से बारहगुने ऊँचे हैं। भगवान शान्तिनाथ के शरीर की ऊँचाई १६० हाथ है अतः ये बारहगुने १६०×१२=१९२० हाथ ऊँचे हैं। बीस योजन तक प्रकाश फैलाते हैं। इनके दर्शन से मानी का मान गलित हो जाता है और वह भव्यात्मा सम्यग्दृष्टि बनकर अनंत संसार को सीमित कर लेता है।

केवली भगवान के प्रभाव से चारों तरफ चार सौ कोस तक सुभिक्षता, हिंसा और उपसर्गादि का अभाव, सभी जन्मजात शत्रु-सिंह, हिरण आदि का आपस में मैत्री भाव, छहों ऋतुओं के फल-फूलों का एक साथ आ जाना आदि अतिशय हो जाते हैं।

भगवान के श्रीविहार में आकाश में अधर, उनके चरण के नीचे देवगण स्वर्णमय सुगंधित दिव्य कमलों को रचते जाते हैं और अहिंसा धर्म के दिग्विजय को सूचित करता हुआ ‘धर्मचक्र’ भगवान के आगे-आगे चलता है एवं सरस्वती-लक्ष्मी देवी आजू-बाजू में चलती हैं। आकाशगामी ऋद्धिधारी साथ में चलते हैं असंख्य देव-देवियाँ, इन्द्रादिगण पीछे-पीछे चलते हैं एवं साधारण मुनि, आर्यिकाएं, मनुष्य, पशु आदि नीचे-नीचे चलते हैं। जहाँ भगवान रुक जाते हैं वहाँ पुनः कुबेर समवसरण की रचना कर देता है।

समवसरण में आठ भूमि और तीन कटनी

१. पहली “चैत्यप्रासादभूमि” है, इसमें एक-एक जिनमंदिर के अंतराल में पांच-पांच प्रासाद हैं।

२. दूसरी “खातिकाभूमि” है, इसके स्वच्छ जल में हंस आदि कलरव कर रहे हैं और कमल आदि पुष्प खिले हैं।

३. तीसरी “लताभूमि” है, इसमें छहों ऋतुओं के पुष्प खिले हुए हैं।

४. चौथी “उपवनभूमि” है, इसमें पूर्व आदि दिशा में क्रम से अशोक, सप्तच्छद, चंपक और आम्र के वन हैं। प्रत्येक वन में एक-एक चैत्यवृक्ष हैं जिनमें ४-४ जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं। प्रत्येक प्रतिमाओं के सामने एक-एक मानस्तंभ हैं।

५. पांचवी “ध्वजाभूमि” है, इसमें सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र इन दस चिन्हों से सहित महाध्वजाएं और उनके आश्रित लघुध्वजाएं १०८-१०८ हैं। सब मिलाकर ४,७०,८८० हैं।

६. छठी “कल्पभूमि” है, इसमें भूषणांग आदि दस प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। चारों दिशा में क्रम से नमेरु, मंदार, संतानक और पारिजात ऐसे एक-एक सिद्धार्थवृक्ष हैं। इनमें चार-चार सिद्धप्रतिमाएं विराजमान हैं।

७. सातवीं “भवनभूमि” में भवन बने हुए हैं। इस भूमि के पार्श्व भागों में अर्हंत और सिद्धप्रतिमाओं से सहित नौ-नौ स्तूप हैं।

८. आठवीं “श्रीमण्डपभूमि” है, इसमें १६ दीवाल्लों के बीच में १२ कोठे हैं जिनमें १. गणधरादि मुनि, २. कल्पवासिनी देवी, ३. आर्यिका और श्राविका, ४. ज्योतिषी देवी, ५. व्यंतर देवी, ६. भवनवासिनी देवी, ७. भवनवासी देव, ८. व्यंतर देव, ९. ज्योतिष देव, १०. कल्पवासी देव, ११. चक्रवर्ती आदि मनुष्य और १२. सिंहादि तिर्यच, ऐसे बारहगण के असंख्यातों भव्यजीव बैठकर धर्मोपदेश सुनते हैं। वहां पर रोग, शोक, जन्म, मरण, उपद्रव आदि बाधाएं नहीं हैं।

पुनः प्रथम कटनी पर आठ महाध्वजाएं हैं, द्वितीय कटनी पर आठ मंगलद्रव्य आदि हैं। तृतीय कटनी पर गंधकुटी में सिंहासन पर लाल कमल की कर्णिका पर भगवान शांतिनाथ चार अंगुल अधर विराजमान हैं। इनका मुख एक तरफ होते हुए भी चारों तरफ दिखने से ये चतुर्मुखी ब्रह्मा कहलाते हैं। भगवान के पास अशोकवृक्ष, तीन छत्र, सिंहासन, भामंडल, चौंसठ चंवर, सुरपुष्पवृष्टि, दुंदुभि बाजे और हाथ जोड़े सभासद ये आठ महाप्रातिहार्य हैं। वहीं पर गरुड़ यक्ष और महामानसी यक्षी विद्यमान हैं।^१

इन शांतिनाथ भगवान को मेरा अनंतबार नमस्कार हो।



३६. वीर शासन दिवस

भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन खिरी थी, उन्हीं के धर्मतीर्थ का प्रवर्तन वर्तमान में चल रहा है। उनके धर्म को धारण करने वाले जीव उन्हीं वीर प्रभु के शासन में रह रहे हैं। इसीलिए यह श्रावणवदी एकम् का दिवस 'वीरशासन जयंती' के नाम से सर्वत्र मनाया जाता है।

धवला में श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं—

‘पंचशैलपुर (पंचपहाड़ी से शोभित राजगृही के पास) में विपुलाचल पर्वत के ऊपर भगवान् महावीर ने भव्यजीवों को अर्थ का उपदेश दिया।

इस अवसर्पिणी कल्पकाल के ‘दुःषमा सुषमा’ नाम के चौथेकाल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर वर्ष के प्रथम मास, प्रथम पक्ष और प्रथम दिन में अर्थात् श्रावण कृष्णा एकम् के दिन प्रातःकाल के समय आकाश में अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति हुई॥५५-५६॥

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन रुद्रमुहूर्त में सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित् नक्षत्र के प्रथमयोग में जब युग की आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए॥५७॥

यह श्रावणकृष्णा प्रतिपदा वर्ष का प्रथम मास है और युग का आदिप्रथम दिवस है। जैसा कि अन्यत्र ग्रंथों में भी कहा है।^१

अतः यह स्पष्ट है कि यह श्रावण कृष्णा एकम् का दिवस युग का प्रथम दिवस है। अर्थात् प्रत्येक सुषमा सुषमा, सुषमा आदि कालों का प्रारंभ इस दिवस से ही होता है जैसा कि टिप्पण में कहा गया है। इसलिए यह दिवस अनादिनिधन जैन सिद्धांत के अनुसार वर्ष का प्रथम दिवस माना जाता है। अनादिकाल से युग और वर्ष की समाप्ति आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को होती है। युग तथा वर्ष का प्रारंभ श्रावण कृष्णा एकम् से होता है। वर्तमान में इसी दिन वीर प्रभु की दिव्यध्वनि खिरने से धर्मतीर्थ का प्रवर्तन इसी दिन से चला है। इसलिए यह दिवस और भी महान होने से महानतम अथवा पूज्यतम हो गया है।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान वैशाख शुक्ला दशमी को प्रगट हो चुका था। किन्तु गणधर के अभाव में छ्यासठ दिन तक भगवान् की दिव्य ध्वनि नहीं खिरी इसके बारे में जयधवला में स्पष्ट किया है—

‘केवलज्ञान होने के बाद छ्यासठ दिन तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी?’ ‘गणधर के नहीं होने से।

‘सौधर्म इन्द्र ने केवलज्ञान होने के बाद ही गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया?

‘नहीं, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था।’^३

१. वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले। पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि॥५६॥

सावणबहुलपडिवदे रूद्धमुहुत्ते सुहोदए रविणो। अभिजिस्स पढमजोए एत्थ जुगाई मुणेयव्वो॥५७॥

(धवला पु. १ पृ. ६४।)

२. सावणबहुले पाडिवरूद्धमुहुत्ते सुहोदए रविणो। अभिजिस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं॥७०॥

(तिलोपण्णत्ति, भाग १, पृ. ९।)

सावणबहुलपडिवए बालवकरणे अभिइनक्खत्ते। सव्वत्थ पढमसमए जुगस्स आई वियाणाहि॥ (ज्यो. क. २ पाहुडु) वक्ष्यंते ये च कालांशाः सुषमसुषमादयः। आरंभं प्रतिपद्यंते सर्वे तेऽपि युगादितः॥ (लो.प्र.२५, ४७१)

(धवला प्रथम पु. पृ. ६४ के टिप्पण से)

३. जयधवला, पुस्तक १, पृ. ७६।

‘जिसने तीर्थकर के पादमूल में महाव्रत ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती?’

‘ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव दूसरों के द्वारा प्रश्न करने योग्य नहीं होता।’^१

‘उन इन्द्रभूति नाम के गौतम गणधर ने (उसी दिन) बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रंथों की एक ही मुहूर्त में (४८ मिनट में) क्रम से रचना की। अतः भावश्रुत और अर्थ पदों के कर्ता तीर्थकर हैं तथा तीर्थकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुत पर्याय से परिणत हुए, इसलिए द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। उन गौतम स्वामी ने भी दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहार्य को दिया। लोहार्य ने भी जम्बूस्वामी को दिया। परिपाटी क्रम से (एक के बाद एक) ये तीनों ही सकलश्रुत के धारण करने वाले कहे गये हैं और यदि परिपाटी क्रम की अपेक्षा न की जाये तो उस समय संख्यात हजार सकलश्रुत के धारी हुए हैं।’^२ अर्थात् संख्यात हजार मुनि द्वादशांग के पारगामी हुए हैं।

दिव्यध्वनि कैसी होती है? — दिव्यध्वनि सर्वभाषामयी है अक्षर-अनक्षरात्मक है, जिसमें अनंत पदार्थ समाविष्ट है अर्थात् जो अनंत पदार्थों का वर्णन करती है, जिसका शरीर बीजपदों से गढ़ा गया है, जो प्रातः मध्याह्न और सायं इन तीनों कालों में छह-छह घड़ी तक निरंतर खिरती रहती है। इस समय को छोड़कर बाकी समय गणधर देव के संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को प्राप्त होने पर उन्हें दूर करने के लिए खिरती है।^३

यहाँ पर दिव्यध्वनि को सर्वभाषा रूप कहा है — “अठारह महाभाषा और सात सौ लघु भाषाओं से युक्त, तिर्यच, देव और मनुष्यों की भाषा के रूप में परिणत होने वाली ऐसी दिव्यध्वनि है।”^४

“अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा, तथा और भी जो संज्ञी जीवों की अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएं हैं उन सभी रूप से दिव्यध्वनि होती है। वह तालु, दांत, कंठ, ओष्ठ के व्यापार से रहित है। तीनों कालों में नव मुहूर्तों तक खिरती है। इसके अतिरिक्त गणधरदेव, इंद्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप शेष समयों में भी खिरती है।”^५

दिव्यध्वनि सुनने का माहात्म्य — “जैसे चन्द्रमा से अमृत झरता है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की वाणी को सुनकर बारह गणों के भव्यजीव अनंतगुणश्रेणीरूप विशुद्धि से संयुक्त शरीर को धारण करते हुए असंख्यात श्रेणीरूप कर्मपटल को नष्ट कर देते हैं।”^६

दिव्यध्वनि सुनने के लिए बैठने का स्थान — “समवसरण में बारह कोठों के क्षेत्र से यद्यपि वहाँ पर पहुँचने वाले जीवों का क्षेत्रफल असंख्यात गुणा अधिक है, तथापि वे सब जीव जिनदेव के माहात्म्य से एक-दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं। जिन-भगवान के माहात्म्य से बालक आदि सभी जीव प्रवेश करने अथवा निकलने में अंतर्मुहूर्त में ही (४८ मिनट के अंदर ही) संख्यात योजन चले जाते हैं।

इन कोठों में कौन नहीं जा सकते हैं? — इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं जाते हैं तथा अनध्यवसाय से युक्त, संदेह से संयुक्त और विविध प्रकार के विपरीत भावों सहित जीव भी वहाँ नहीं रहते हैं। इससे अतिरिक्त वहाँ पर जिन-भगवान के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, जन्म, वैर, कामबाधा, क्षुधा और पिपासा की बाधाएं भी नहीं होती हैं।”^७

१. जयधवला, पुस्तक १, पृ. ७६। २. धवला पुस्तक १, पृ. ६६। ३. जयधवला पु. १, पृ. १२६। ४. धवला पु. १, पृ. ६२।

५. तिलोयपण्णत्ति भाग १, पृ. २६३। ६. तिलोय प. भाग १ पृ. २६७। ७. तिलोयपण्णत्ति भाग १, पृ. २६६।

हरिवंश में भी बताया है कि वहाँ शूद्र, पाखंडी व अन्य वेषधारी तापसी आदि नहीं जा सकते हैं।

वर्तमान में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुसार ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप श्रुत नहीं हैं। फिर भी वर्तमान में जो षट्खंडागम, कसायपाहुड़, महाबंध, समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रंथ उपलब्ध हैं वे भगवान की वाणी के अंशरूप ही हैं। यथा —

“जिनका अर्थरूप से तीर्थकरों ने प्रतिपादन किया है और गणधरदेव ने जिनकी ग्रंथ रचना की है ऐसे द्वादश अंग आचार्य परम्परा से निरंतर चले आ रहे हैं। परन्तु काल प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर उन अंगों को धारण करने वाले योग्य पात्रों के अभाव में वे उत्तरोत्तर क्षीण होते आ रहे हैं। इसलिए जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषों का अभाव देखा और जो अत्यन्त पापभीरू थे, जिन्होंने गुरु परम्परा से श्रुत और उसका अर्थ ग्रहण किया था उन आचार्यों ने तीर्थ विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग संबंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतएव वे असूत्र न होकर सूत्र ही हैं^१।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथ भगवान की वाणी के ही अंशरूप हैं। अतः पूर्णतया प्रामाणिक हैं।

इस वीर शासन जयंती दिवस को सोल्लासपूर्ण वातावरण में मनाते हुए प्रत्येक जैन श्रावकों का कर्तव्य हो जाता है कि उस दिन स्वाध्याय करने का नियम लेकर अपने ज्ञान को समीचीन बनावें और वीर भगवान के शासन में रहते हुए अपने आत्मा को कर्मों से छुटाने के पुरुषार्थ में लगे तथा प्रतिदिन निम्नलिखित श्लोक के द्वारा श्रुतदेवता की आराधना, उपासना, भक्ति करते रहें —

“अंगंबज्झणिम्मी अणाइमज्झंतणिम्मलंगाए।

सुयदेवयअंबाए णमो सया चक्खुमइयाए॥४॥^२

जिसका आदि, मध्य और अंत से रहित निर्मल शरीर अंग और अंगबाह्य से निर्मित है और जो सदा चक्षुष्मती जागृतचक्षु हैं ऐसी श्रुतदेवी माता को मेरा सतत नमस्कार होवे।



श्रद्धान ही सम्यक्त्व है

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।

केवलजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।।

अर्थ—जिस कार्य को चरित्र या अनुष्ठान को करना शक्य है-किया जा सकता है उसे करना चाहिए और जिसको करना शक्य न हो उसका श्रद्धान करना चाहिए क्योंकि श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व होता है ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

(भगवान कुंदकुंद, दर्शनप्राभूत)

३७. जीवदया परमधर्म है

श्री गौतमस्वामी द्वारा रचित जिस यति प्रतिक्रमण का पाठ हम साधुवर्ग हर पन्द्रह दिनों में करते हैं उसमें स्पष्ट कहा है कि—

‘सुदं मे आउस्संतो ! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण समणाणं पंचमहव्वदाणि सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि। तं जहा — पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं^१’

हे आयुष्मन्त भव्यों ! मैंने (गौतम स्वामी ने) इस भरत क्षेत्र में होने वाले श्रमण भगवान, महति महावीर की दिव्यध्वनि में सुना है कि पांच महाव्रत आदि श्रमणों के लिए समीचीन धर्म हैं, उनका उन्होंने उपदेश दिया है। उसमें सर्वप्रथम प्राणी हिंसा से विरत होना यह अहिंसा महाव्रत है।

उसी प्रकार से श्रावक और क्षुल्लक (ऐलक) तक के उपासकों के लिए भी कहा है कि—

सुदं मे आउस्संतो ! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण सावयाणं सावियाणं खुड्डयाणं खुड्डियाणं कारणेण पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसयाणि^२।

हे आयुष्मन्त भव्यों ! मैंने (गौतम ने) श्रमण भगवान, महति महावीर के द्वारा उपदिष्ट गृहस्थ धर्म को सुना है। जो कि पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप है और श्रावक-श्राविकाओं तथा क्षुल्लक क्षुल्लिकाओं के लिए कहा गया है।

इन पांच अणुव्रत आदि धर्मों में सर्वप्रथम अहिंसा अणुव्रत है जो कि दया ही है। पुनः चार शिक्षाव्रत में जो अतिथिसंविभाग व्रत है, वह चार प्रकार के दानरूप हैं तथा सामायिक व्रत में अरहंत, सिद्ध, आचार्य आदि नवदेवताओं की भक्ति का ही विधान है। सामायिक और अतिथिसंविभाग व्रतों में ही जिनपूजा एवं गुरुपूजा का, उनकी भक्ति का विधान है। पुनः ये दया, दान, पूजा और भक्ति धर्म क्यों नहीं हैं। अवश्य हैं पुनश्च —

‘अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः’।

ये पंक्तियां भी आचार्यों की ही हैं तो फिर दया को धर्म न कहना ये कहां की बुद्धिमानी है ?

ऐसे ही श्रीकुंदकुंददेव ने चारित्रपाहुड़ में कहा है कि —

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।

सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिकलं वोच्छे।।२७।।^३

पांच अणुव्रत आदि बारहव्रतों का वर्णन करके कहते हैं कि इस प्रकार से श्रावकधर्म स्वरूप श्रावक आचरण तो कहा, यह कला सहित अर्थात् एकदेश है। अब निष्फल अर्थात् परिपूर्ण यति धर्मरूप संयमचरण को कहूँगा।

पुनश्च—

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।

देवो ववगयमोहो, उदययरो भव्वजीवाणां^४।।२५।।

दया से विशुद्ध धर्म, सर्व परिग्रह रहित दीक्षा, और मोहादि दोष रहित देव ये तीनों भव्य जीवों के उदय को करने वाले हैं।

ये तो सिर्फ गौतम स्वामी और कुंदकुंददेव के दो चार वाक्य ही यहाँ बताए गए हैं, ऐसे हजारों वाक्य जैन ग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

दया के उदाहरण में श्रीजीवंधर स्वामी का उदाहरण द्रष्टव्य है —

किसी समय एक तपस्वी महात्मा भूख से पीड़ित हुए नगर के निकटवर्ती एक बगीचे में पहुँचे। वहाँ पर बहुत से बच्चे खेल रहे थे, उन सभी में एक बालक सभी बालकों में अधिक तेजस्वी दिख रहा था। साधु ने उससे पूछा —

‘नगर कितनी दूर है ?’ बालक ने कहा —

बालकों की क्रीड़ा को देखकर कौन ऐसा वृद्ध है कि जो अनुमान न लगा ले कि नगर इस बगीचे के निकट ही है। अरे धुयें को देखकर कौन पुरुष अग्नि का अनुमान नहीं लगाता है और ठंडी वायु के आने पर कौन यह नहीं जान लेता कि यहीं कहीं पर जल भरा हुआ है।

इत्यादि मधुर वचनों से और उसके सुन्दर रूप से साधु ने यह समझ लिया कि यह कोई होनहार महापुरुष है और बालक ने भी साधु के शरीर को देखकर यह समझ लिया कि इन महात्मा को भोजन कराना चाहिए अतः वे उन महात्मा को लेकर घर आ पहुँचे और अपने रसोइये से बोले कि इन्हें भोजन करा दीजिए। रसोइये ने एक तरफ साधु के लिए आसन लगा दिया और सामने ही एक तरफ उस बालक के लिए भी भोजन परोस दिया।

उस समय उस रसोइये ने घर में पांच सौ बालकों के लिए और बहुत से लोगों के लिए भोजन बनाया हुआ था। सो रसोइया भी साधु को परोसता गया और साधु भोजन करता ही चला गया। वह बालक बड़े आश्चर्य से उस साधु को देख रहा था और उसके हृदय में करुणा का सागर उमड़ता ही चला आ रहा था। अतः उसने स्वयं भोजन करना शुरू नहीं किया। मात्र वह अतिशय करुणा से एकटक उस साधु को देखता ही रह गया। ‘हां उस समय यदि और कोई साधारण बालक होता तो या तो उसकी इस क्षुधा को देखकर हँसने लगता या गुस्सा करने लगता कि आखिर हम सभी लोग क्या खायेंगे ?’ किन्तु वह बालक अंत में अपने हाथ में लिए हुए चावल के ग्रास को जिसे कि अभी मुंह में नहीं रखा था, बस वह देखने में स्वयं खाना भूल ही गया था, उस ग्रास को बहुत ही आदर के साथ उस महात्मा को दे दिया। महात्मा ने जैसे ही उस एक ग्रास चावल को खाया कि उसका पेट उसी क्षण भर गया। उसी क्षण साधु को परम तृप्ति हो गई और तब वह अपनी पहले की प्रवृत्ति से अत्यधिक लज्जा को प्राप्त हुआ।

श्री वादीभसूरि कहते हैं कि ‘उस समय साधु की बीमारी के क्षय का समय आ पहुँचा था, अथवा उनकी दया का माहात्म्य था अथवा वह कार्य ही वैसा होने वाला था कि जिससे जीवंधर कुमार के हाथ के एक ग्रास के खाने से ही साधु की भस्मक व्याधि शान्त हो गई^१।’

यद्यपि रोग के क्षय में अंतरंग कारण कर्मों की मंदता है फिर भी बहिरंग कारण तो औषधि या बाह्य वस्तुयें ही हुआ करती हैं अतः यहाँ पर जीवंधर की दया को बलवान् बहिरंग कारण मानना ही पड़ेगा।

जीवंधर स्वामी के जीवन की एक और घटना है —

किसी समय जीवंधर कुमार एक वन से निकले। उस समय वहाँ भयंकर अग्नि जल रही थी। तमाम हाथी आदि प्राणी झुलस रहे थे, तमाम पशु-पक्षी इधर-उधर भाग रहे थे। उन हाथी आदि जीवों को देखकर उनका हृदय दया के अधीन हो गया, उन्हें इतना दुःख हुआ कि मानों वह उपद्रव उनके शरीर पर ही हो रहा

हो। उस समय उन्होंने उपद्रव को दूर करने के लिए हृदय में श्रीजिनेन्द्रदेव के चरणों को विराजमान करके क्षण भर खड़े होकर ध्यान किया कि तत्क्षण ही आकाश में मेघों की गर्जना शुरू हो गई और मूसलाधार पानी बरसने लगा^१। यह उस समय जीवंधर की करुणा का ही प्रभाव था अथवा करुणा बुद्धि से रक्षा हेतु किया गया जिनेन्द्रदेव का जो स्मरण था उसी का ही वह प्रभाव था।

ऐसे ही एक समय जीवंधर कुमार वनक्रीड़ा के लिए गये हुए थे। वहां पर मरणासन्न एक कुत्ते को देखकर अपार दया के सागर जीवंधर कुमार ने उसके कान में पंच नमस्कार मंत्र सुनाया। यद्यपि वह कुत्ता उस समय उस महामंत्र को कान से ही सुन रहा था, मन से नहीं, तो भी उसका कुछ क्लेश कम हो गया और मंत्र सुनते-सुनते ही उसके प्राण निकल गये। मरकर के वह कुत्ता उस मंत्र के प्रभाव से देवपर्याय में सुदर्शन नाम का यक्षपति हो गया। इस यक्षेन्द्र ने जीवन भर जीवंधर का उपकार करके अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है^२।

निष्कर्ष यह निकला कि जब तद्भव मोक्षगामी ऐसे जीवंधर स्वामी ने भी इस प्रकार से दया को धर्म माना था और महामुनि भी अपनी सारी प्रवृत्ति दयाधर्म को पूर्णतया पालन करने के लिए ही संयमित रखते हैं पुनः हम और आप जैसे लोगों के लिए तो यह दया ही परमधर्म है और उसका यथाशक्ति पालन करना भी परम कर्तव्य है।

दयाधर्म को पालन करने के लिए सर्वप्रथम अष्टमूलगुण धारण करना चाहिए।

मद्य, मांस और मधु का त्याग, पाँच उदम्बर फलों का त्याग, रात्रि में भोजन का त्याग, जल छानकर पीना, किसी जीव की हिंसा नहीं करना और देवदर्शन करना ये आठ मूलगुण हैं।

आजकल लोग रात्रि में अन्न नहीं खाते हैं किन्तु कलाकंद, आलू की टिकिया आदि खाते रहते हैं सो यह क्या है ?

बात यह है कि रात्रि में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना उत्तम मार्ग है किन्तु यदि आप सभी कुछ नहीं छोड़ सकते तो जितना भी छोड़ दो उतना ही अच्छा है। कुछ मर्यादा तो बनेगी, धीरे-धीरे सब कुछ छोड़ने की भावना बन जायेगी किन्तु आलू आदि जमीकंद पदार्थ तो सर्वथा ही अभक्ष्य हैं, इनका त्याग करना ही उत्तम है।

इसलिए श्रावकों को गुरु के चरणसान्निध्य में अष्टमूलगुण पालन करने का नियम अवश्य लेना चाहिए।



१. गद्यचिंतामणि पृ. २३०। २. श्रवसा परमं मंत्रं मनसा हंत मा स्पृशन्।

कुक्कुरो विजहौ प्राणान् दुःखलेश विवर्जितः॥१२॥

.....प्रादुर्बभूव स सुदर्शननामयक्षः॥१३॥

जीवंधरचंपू लंभ ४।

३८. महासती चन्दना

सिन्धु देश की वैशाली नगरी में राजा चेटक राज्य करते थे। वे जिनेन्द्रदेव के परम भक्त थे, उनकी रानी का नाम सुभद्रा था। इन दम्पति के दस पुत्र हुए जो कि धनदत्त, धनभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सुकम्भोज, अकंपन, पतंगक, प्रभंजन और प्रभास नाम से प्रसिद्ध हुए तथा उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों के समान जान पड़ते थे। इन पुत्रों के सिवाय सात ऋद्धियों के समान सात पुत्रियाँ भी थीं, जिनमें सबसे बड़ी प्रियकारिणी थी, उससे छोटी मृगावती, उससे छोटी सुप्रभा, उससे छोटी प्रभावती, उससे छोटी चेलना, उससे छोटी ज्येष्ठा और सबसे छोटी चन्दना थी।

विदेहदेश के कुण्डलपुर नगर में नाथवंश के शिरोमणि एवं तीनों सिद्धियों से सम्पन्न राजा सिद्धार्थ राज्य करते थे। पुण्य के प्रताप से प्रियकारिणी उनकी पत्नी हुई थीं। वत्सदेश के कौशाम्बी नगर में चन्द्रवंशी राजा शतानीक रहते थे, मृगावती नाम की दूसरी पुत्री इन्हें ब्याही गई। दशार्ण देश के हेमकच्छ नगर के स्वामी राजा दशरथ थे, ये सूर्यवंश के तिलक थे। सूर्य की निर्मल प्रभा के समान सुप्रभा इनकी रानी हुई थीं। कच्छदेश के रोरुक नामक नगरी में उदयन नाम का प्रतापशाली राजा था उसको प्रभावती नाम की चौथी पुत्री विवाही गई थी। अच्छी तरह शीलव्रत के पालन करने से उसका दूसरा नाम शीलवती भी प्रसिद्ध हो गया था। गांधार देश के महीपुर नगर में राजा सत्यक रहता था, उसने राजा चेटक से उसकी ज्येष्ठा नाम की पुत्री की याचना की परन्तु राजा ने नहीं दी। इससे उसने कुपित होकर रणांगण में युद्ध किया परन्तु युद्ध में वह हार गया। जिससे मान भंग होने से उसने दमवर मुनिवर के समीप जाकर जैनश्वरी दीक्षा धारण कर ली।

तदनन्तर राजा चेटक ने स्नेह के कारण सदा देखने के लिये पट्टक पर अपनी सातों पुत्रियों के उत्तम चित्र बनवाये। राजा चेटक देव की पूजा के समय जिनप्रतिमा के समीप ही अपनी पुत्रियों का चित्रपट फैलाकर सदा पूजा किया करते थे। किसी समय राजा चेटक अपनी सेना के साथ मगध देश के राजगृह नगर में गये। वहाँ उन्होंने नगर के बाह्य उपवन में डेरा डाला। स्नान करने के बाद उन्होंने पहले जिनप्रतिमाओं की पूजा की और उसके बाद समीप में रखे हुए चित्रपट की पूजा की। यह देखकर राजा श्रेणिक ने समीपवर्ती लोगों से पूछा कि यह क्या है ? तब उन लोगों ने कहा कि राजन् ! ये राजा की सातों पुत्रियों के चित्रपट हैं। इनमें से चार पुत्रियाँ तो विवाहित हो चुकी हैं परन्तु तीन अविवाहित हैं, उन्हें ये अभी नहीं दे रहा है। इन तीन कन्याओं में दो तो यौवनवती हैं और छोटी अभी बालिका है।

लोगों के उक्त वचनों को सुनकर राजा ने मंत्रियों से बतलाया कि मेरा मन इन दोनों पुत्रियों में अनुरक्त हो रहा है। मन्त्री लोगों ने यह समाचार अभयकुमार से कहा और यह भी बतलाया कि राजा चेटक अपनी इन पुत्रियों को राजा श्रेणिक की अवस्था ढल जाने के कारण देना नहीं चाहता है। मंत्रियों के वचन सुनकर कार्य के उपाय में चतुर अभयकुमार ने कहा कि आप लोग चुप बैठिये, मैं इस कार्य को सिद्ध करता हूँ। इस प्रकार सन्तुष्ट करके अभयकुमार ने मन्त्रियों को तो विदा कर दिया और स्वयं एक पट्टिये पर अपने पिता राजा श्रेणिक का सुन्दर चित्र बनाया। उसे वस्त्र से ढककर बड़े यत्न से ले गया। वैशाली में प्रवेश कर एक व्यापारी का वेष बनाकर युक्ति से राजा चेटक के घर में प्रवेश किया। अपने पुरुषार्थ से दोनों कन्याओं को आकर्षित कर सुरंग के मार्ग से उन्हें लाने लगा। बीच में चेलना ने ज्येष्ठा को आभूषण लाने हेतु भेज दिया और स्वयं अभयकुमार के साथ राजगृह नगर आ गई। राजा श्रेणिक ने बड़ी प्रीति से चेलना के साथ विवाह करके उसे

महादेवी का पट्ट बाँधा, जिससे वह बहुत ही सन्तुष्ट हुई।

ज्येष्ठा ने इस घटना से विरक्त होकर यशस्वती आर्यिका के समीप आर्यिका दीक्षा ले ली। उस समय कुमारी चन्दना ने भी उन्हीं आर्यिका के समीप सम्यग्दर्शन और श्रावकों के व्रत ग्रहण कर लिये।

किसी एक समय वह चन्दना अपने परिवार के लोगों के साथ अशोक नामक वन में क्रीड़ा कर रही थी। उसी समय दैवयोग से विजयावर्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी सुवर्णाभ नगर का राजा मनोवेग विद्याधर अपनी मनोवेगा रानी के साथ क्रीड़ा करता हुआ वहाँ से निकला और क्रीड़ा करती हुई चन्दना को देखकर काम के द्वारा छोड़े गये बाणों से जर्जर शरीर हो गया। वह शीघ्र ही अपनी स्त्री को घर भेजकर और रूपिणी विद्या से अपना दूसरा रूप बनाकर उसे सिंहासन पर बैठा दिया तथा आप तत्क्षण ही अशोक वन में आकर चन्दना का हरण करके शीघ्र वापस चला गया। उधर मनोवेगा रानी उसकी माया को समझ गयी। जिससे क्रोध के कारण उसके नेत्र लाल होकर भयंकर दिखने लगे। उसने उस देवता को बायें पैर की ठोकर देकर मार दिया जिससे वह अट्टहास करती हुई सिंहासन से उसी समय चली गई। तदनन्तर वह मनोवेगा रानी आलोकिनी विद्या से अपने पति की सब चेष्टा जानकर उसके पीछे दौड़ी और आधे मार्ग में विलाप करती हुई चन्दना सहित लौटते हुए अपने पति को देखकर बोली कि यदि आप अपना जीवन चाहते हो तो इसे छोड़ दो। इस प्रकार क्रोध से उसने उसे बहुत ही डाँटा।

मनोवेग विद्याधर अपनी रानी से बहुत ही डर गया अतः उसने हृदय में शोक से व्याकुल होकर पर्णलघ्वी नाम की विद्या से उस चन्दना को भूतरमण नामक वन में ऐरावती नदी के दाहिने किनारे पर छोड़ दिया। पंचनमस्कार का जाप करते हुए चन्दना ने वह रात्रि वहाँ पर बड़े ही कष्ट से बिताई। प्रातःकाल जब सूर्य का उदय हुआ तब भाग्यवश एक बालक नामक भील वहाँ आ पहुँचा। चन्दना ने उसे अपने बहुमूल्य आभूषण दिये और धर्मोपदेश भी दिया, जिससे वह भील बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। वहीं भीमकूट पर्वत के पास भयंकर नामक पल्लवी का स्वामी सिंह नाम का एक भील राजा था। उस बालक भील ने चन्दना को ले जाकर उस सिंह राजा को सौंप दी। सिंह पापी था, अतः चन्दना को देखकर उसका हृदय काम से मोहित हो गया। वह चन्दना को अपने आधीन करने के लिए उद्यत हुआ। यह देखकर उसकी माता ने समझाया कि हे पुत्र! तू ऐसा मत कर, यह प्रत्यक्ष देवता है, यदि कुपित हो गई तो कितने ही संताप, शाप और दुःखों को देने वाली होगी। इस प्रकार माता के कहने से डरकर उसने स्वयं दुष्ट होने पर भी चन्दना छोड़ दी। तदनन्तर उस चन्दना ने उस भील की माता के साथ निश्चिन्त होकर कुछ काल वहीं पर व्यतीत किया। वहाँ भील की माता अच्छी तरह उसका भरण-पोषण करती थी।

तदनन्तर वत्सदेश के कौशाम्बी नगर में वृषभसेन नाम का सेठ रहता था। उसके मित्रवीर नाम का कर्मचारी था, जो कि उस भीलराज का मित्र था। भीलों के राजा ने वह चन्दना उस मित्रवीर के लिए दे दी और मित्रवीर ने भी बहुत धन के साथ भक्तिपूर्वक वह चन्दना अपने सेठ के लिये सौंप दी। किसी एक दिन वह चन्दना उस सेठ को जल पिला रही थी, उसी समय उसके केशों का कलाप छूट गया और जल से भीगा पृथ्वी पर लटक रहा था। उसे वह बड़े प्रयत्न से एक हाथ से सम्भाल रही थी। सेठ की स्त्री भद्रा नामक सेठानी ने जब चन्दना का वह रूप देखा, तो वह शंका से भर गयी। उसने मन में समझा कि हमारे पति का इसके साथ सम्पर्क है। ऐसा मानकर वह बहुत ही कुपित हुई और क्रोध से उसके होंठ काँपने लगे। उस दुष्टा ने चन्दना

को सांकल से बाँध दिया तथा खराब भोजन और ताड़न मारण आदि के द्वारा निरन्तर ही उसे कष्ट पहुँचाने लगी। परन्तु चन्दना यही विचार करती थी कि ये सब मेरे द्वारा पूर्व संचित पाप कर्मों का ही फल है। यह बेचारी सेठानी क्या कर सकती है ? वह निरन्तर आत्मनिन्दा किया करती थी। उसने यह सब समाचार अपनी बड़ी बहन मृगावती के पास भी कहलाकर नहीं भेजे।

किसी एक दिन उस नगरी में आहार के लिये भगवान महावीर आये। उन्हें नगरी में प्रवेश करते देख चन्दना उनके सामने जाने लगी। उसी समय उसके सांकल के सब बन्धन टूट गये। चंचल भ्रमर के समान काले बड़े-बड़े केश चंचल हो उठे और उनसे मालती की माला टूटकर नीचे गिरने लगी। उसके वस्त्र आभूषण सुन्दर हो गये, वह प्रभु की नवधाभक्ति करते हुये भक्तिभाव के भार से झुक गई^१। शील के माहात्म्य से उसका मिट्टी का सकोरा स्वर्णपात्र बन गया और कोदों का भात शाली चावल का भात हो गया। उस बुद्धिमती चन्दना ने भगवान की विधिपूर्वक पड़गाहना कर आहारदान दिया। इसलिये वहाँ पर पंचाश्चर्य हुए, रत्नों की वर्षा हुई सो ठीक ही है क्योंकि उत्कृष्ट पुण्य के अपने बड़े भारी फल तत्काल ही फलते हैं।

तदनन्तर चन्दना की बड़ी बहन मृगावती, जो कि वहाँ की महारानी थी, वह सारा समाचार सुनकर वहाँ आई। स्नेह से चन्दना का आलिंगन कर सारा वृत्तान्त विदित किया। पिछला समाचार सुनकर बहुत ही व्याकुल हुई और चन्दना को अपने साथ लिवा ले गई। यह देख भद्रा सेठानी और वृषभसेन सेठ दोनों ही भय से घबराये हुये मृगावती के चरणों की शरण में आये। दयालु रानी ने उन दोनों से चन्दना के चरणों में प्रणाम करवाया। चन्दना के क्षमा कर देने पर वे दोनों बहुत ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि यह मूर्तिमती क्षमा ही है। चन्दना के समाचार को प्राप्त कर वैशाली से उसके भाई आदि भी मिले और परम आनन्द माना।

इधर जगद्बन्धु भगवान वर्धमान ने भी छद्मस्थ अवस्था के बारह वर्ष व्यतीत किये और जुंभिक नगर के समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन के मध्य में रत्नमयी शिला पर सालवृक्ष के नीचे ध्यान में आरूढ़ हुये। उसी समय उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया। समवसरण में चन्दना ने आर्यिका की दीक्षा लेकर गणिनी का स्थान प्राप्त किया जिसके अनुशासन में छत्तीस हजार आर्यिकायें थीं।

बहुत से लोग इस कथानक का वर्णन करते हुए कहते हैं कि चन्दना नामक दासी का उद्धार हुआ या चन्दना को वेश्या ने खरीदा पुनः सेठ ने वेश्या से खरीदा, यह सब कल्पनाएँ गलत ही हैं।

किसी विद्वान् ने एक बार उपदेश में कहा कि “भगवान महावीर को आहार देते समय चन्दना के पास मिट्टी का सकोरा सुवर्ण का हो गया और कोदों का भात शाली चावल का भात हो गया यह भी कल्पना है, सर्वथा असत्य है।”

हमें कभी भी अपने आर्ष ग्रन्थों पर ऐसी अश्रद्धा नहीं करना चाहिये, अन्यथा शील के प्रभाव से सीता के अग्निकुण्ड में कूदने पर वह जल का सरोवर हो गया, सेठ सुदर्शन के शूली का सिंहासन हो गया आदि सब धर्म के फल झूठे ही मानने होंगे। साक्षात् तीर्थंकर के प्रभाव से इन चमत्कारों का हो जाना सम्यग्दृष्टि श्रद्धालु के लिये अमान्य नहीं कहा जा सकता है।



१. शीलमाहात्म्यसंभूतपृथुहेमशराविका। शाल्यन्नभाववत्कोद्रवौदनं विधिवत्सुधीः॥३४६॥

अन्नमाश्राणयन्तस्मै तेनापाश्चर्यपंचकं। बन्धुभिश्च समायोगः कृतश्चन्दनया तदा॥३४७॥ (उत्तरपुराण पर्व ७४)

३९. जैनशासन में ध्वज परम्परा

लेखिका-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती

प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ के पंचम परिच्छेद में देखें — “अथ ध्वजारोहण विधिः”

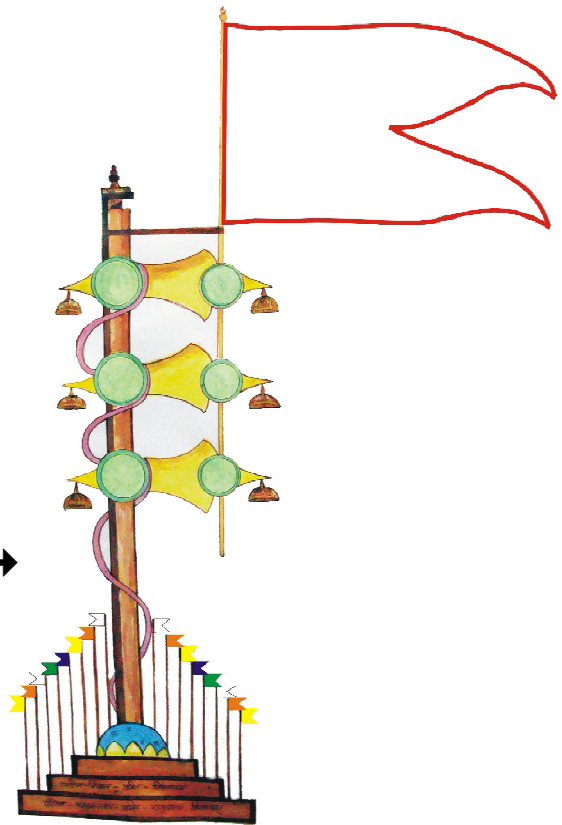
ॐ सर्वद्रव्यपर्यायविषयवैशद्यपराकाष्ठाधिष्ठितकेवलज्ञाननिष्ठपरमेष्ठि-प्रतिष्ठादिवसात् षष्ठेऽहनि बृहच्छान्तिकयागमंडलाराधनां समासतः समापूर्य पंचदशा-द्यंतवितस्तिरूपषड्विधदैर्घ्यान्तमदैर्घ्यस्य, एकोनविंशत्यंगुलादिचतुर्विंशत्यंगुलांत-षड्विधव्यासान्यतमव्यासस्य, पदोनतद्व्याससमदैर्घ्य-सरज्जुपाश्र्वमूलाग्र पौष्टिक-क्रमहानिरूपकफुल्लिकालंकृतशिखोपलक्षितस्य, शिखासमाभ्यंतरं मूलाग्रपौष्टिकक्रम-हानिरूपपादद्वय-विराजितस्य, अष्टत्रयोदशाद्यंतयव्यासकदलिच्छेदकलितशिखा-पादवर्जितपार्श्वस्य, शिखापादविस्तार-तिर्यग्गूढेषिकाभूषितस्य, शिखामूलैषिकामध्य-घटितरज्जुबंधस्य, हटद्घाटकघंटिकाफुल्लिकासमुल्लसितस्य सु-धौतसुश्लिष्टश्वेत-नूतनवासः परिकल्पितस्यास्य ध्वजस्य, ध्वजमस्तकाधः प्रथमे पदे छत्रत्रयं, द्वितीये पदे जिननाथपद्मयानप्रदर्शकं पद्मवाहनं, तृतीये पूर्णकलशं, तत्पार्श्वयोः स्वस्तिकं, स्वस्तिकचूलिकायाः पार्श्वद्वये दीपदंडद्वयमुज्ज्वलज्वालकं, चतुर्थे श्वेतातपत्रं, तदुभयपार्श्वयोः कुंदेंदुविशदचारुचामरद्वयं, पंचमे पदे छत्रं, तस्याधःप्रदेशे तत्र विलिखितध्वजे वा श्वेतगजपृष्ठ्याधिष्ठितमिंद्रनीलप्रभमधः करद्वयरचितांजलिं, ऊर्ध्वकरद्वयधृतधर्मचक्रं, जिनबिंबेद्धमूर्धानं एकछत्रसमन्वितं अनेकालंकारालंकृत-सर्वाण्हयक्षम्, तत्पार्श्वयोर्दीपदंड-चामरस्वस्तिकानि यथाशोभं शिल्पिना विलिख्य तदेतन्महाध्वजं तद्यागमंडलस्याग्रतो वेदिकातले पूर्वस्यां दिशि समवस्थाप्य, हस्तद्वयोदयहस्तविस्तारप्रमितान् शिखापादकदलिच्छेदफुल्लिकाशोभितान्, दिक्पालकेतून् तथा विधानेन मंगलार्घ्यकरदिक्कन्यकाकेतून्, एकहस्तोदय-हस्तार्धव्यासशिखाद्यलंकृत मालामृगेन्द्राद्यंकित-पंचवर्ण केतून् तद्ध्वजपार्श्वयोरव-स्थाप्य, यक्षादि सर्वध्वजदेवानां आवाहनस्थापनसन्निधापनानि समंत्रं विधाय। तन्महाध्वजाग्रतः सर्वौषधिमिश्रतीर्थोदकपूर्णांमृतमंत्राभिमंत्रितनवकलशान् गंधाक्षतपुष्प-फलादीन् मंगलोपकरणानि निधाय। दर्पणप्रतिबिंबितानां सर्वाण्हयक्षादिध्वजदेवतानां तज्जलेन संप्रोक्षणमनुलेपनं विधाय। मुखवस्त्रं दत्वा नयनोन्मीलनं सुलग्ने विरचय्याभ्यर्च्य विविधालंकारालंकृतानामेषां सर्वध्वजानां पुरि महोत्सवेन विहारमिदानीं विधातुमिमे वयमुत्सहामहे॥

इसका अभिप्राय यह है कि श्री जिनेन्द्रदेव के केवलज्ञान कल्याणक के छह दिवस पूर्व “बृहत्शांतिक-यागमंडलाराधन विधि” करके ध्वजारोहण करें। यह ध्वज कैसी हो? इस विषय का वर्णन ध्वज के चित्र में जो दिया है उसी में से समझना चाहिए। इस ध्वजा के दोनों तरफ लघुध्वजायें २८ होना चाहिए। यह महाध्वज यागमंडल के सामने और वेदी के नीचे होना चाहिए। महाध्वज के वस्त्र पर सर्वाण्हयक्ष की मूर्ति होना चाहिए। इस ध्वज के दोनों तरफ दिक्पाल और दिक्कन्याओं के लघुध्वज और माला, मृगेन्द्र आदि चिन्ह के पाँच वर्ण के लघु ध्वज रहते हैं।

इन सर्वध्वज देवताओं का आह्वानन-स्थापन-सन्निधीकरण मंत्र विधि से करें। पुनः ध्वजा के सन्मुख नव कलश स्थापित करें। उन कलशों में सर्वौषधि डालें, अमृतमंत्र से अभिमंत्रित जलयात्रा विधि से लाये गये तीर्थोदक — तीर्थ के जल को भरें। गंध, अक्षत, पुष्प, फल और मंगलद्रव्य, उपकरण आदि पास में रखकर महाध्वज के सामने बड़ा सा दर्पण स्थापित करें। उसमें सभी ध्वजाओं का प्रतिबिंब पड़ना चाहिए। उस दर्पण

में बिंबित सर्वाण्हयक्ष आदि देवताओं का कलशों के जल से अभिषेक व अनुलेपन करें। तदनंतर मुखवस्त्र लगाकर (पर्दा डालकर) शुभलग्न में नयनोन्मीलन विधि करें और पूजा करें। अनंतर इस महाध्वज को सजाकर शहर में बड़े वैभव के साथ जुलूस निकालें।

इसमें विद्वज्जन् ध्यान दें कि घंटिका, फूल आदि से सुसज्जित सुधौतसुश्लिष्टश्वेतनूतनवासः परिकल्पितस्यास्य ध्वजस्य....का अर्थ है अच्छी प्रकार से धुला हुआ कोमल-चिकना सफेद नया वस्त्र महाध्वज के लिए प्रयोग करें। अनेक प्रकार के स्वस्तिक-दण्ड-चामर आदि चित्रों से समन्वित इस महाध्वज को यागमण्डल के आगे वेदिकातल की पूर्व दिशा में स्थापित करके पुनः महाध्वज के नीचे आजू-बाजू में (दोनों पार्श्वभागों में) माला, मृगेन्द्र आदि चिन्हों से अंकित पंचवर्ण की लघु ध्वजाएँ स्थापित करके यक्षादि सभी ध्वजदेवों के आह्वान का विधान है। अर्थात् दश दिक्पाल की १० ध्वजाएँ, आठ दिक्कन्याओं की ८ ध्वजाएँ और माला-मृगेन्द्र आदि दश चिन्हों से अंकित १० ध्वजाएँ, इस प्रकार कुल २८ लघु ध्वजाएँ होती हैं। इस महाध्वजा का चित्र प्रतिष्ठातिलक में इस प्रकार है—



इस प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रारंभ में सफेद महाध्वजा बनाकर ध्वजारोहण विधि सम्पन्न करना चाहिए। किन्तु परम्परा में केशरिया ध्वज से ध्वजारोहण करने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है, कुछ विद्वान् सफेद ध्वजा से भी कराते हैं।

२. इसी प्रतिष्ठा तिलक ग्रंथ के पंचम परिच्छेद में “भेरीताड़न विधेः प्रयोगः” के अंतर्गत भेरीताड़न विधि में प्रतिष्ठा मंडप की दशों दिशाओं में अलग-अलग रंगों की दश ध्वजाएँ लगाने का विधान है। यथा — दश प्रकार के चिन्हों से सहित दश ध्वजाओं को क्रम से दश दिशाओं में स्थापित करें। इन दशचिन्हों के नाम — माला, सिंह, कमल, वस्त्र, गरुड़, हाथी, बैल, चकवा, मयूर और हंस। ये दशों ध्वजाएँ क्रम से पाँच वर्ण की मानी हैं।

उनके वर्ण — पीत, लाल, काली, हरी, श्वेत, नीली, काली, पंचवर्णी, पंचवर्णी और पंचवर्णी ऐसी ध्वजायें बनावें और क्रम से श्लोक व मंत्र बोलकर उन-उन दिशाओं में लगाते जावें।

यहाँ अधो और ऊर्ध्व दिशा के लिए ईशान से पूर्व के बीच को अधो दिशा और नैऋत्य तथा पश्चिम दिशा के बीच की दिशा को ऊर्ध्व मानकर वहाँ-वहाँ लगाते हैं।

अथ मालामृगेन्द्रादिदशविधध्वजपूजनम्

—आर्याछन्दः—

मालाहरिकमलांबरगरुडेभगवेशचक्रशिखिहंसैः।

उपलक्षितध्वजानि न्यसामि दशदिक्षु पंचवर्णानि॥

पुष्पांजलिः ॥ (पुष्पांजलि क्षेपण करें)

— अनुष्टुप्छन्दः —

पीतप्रभाक्या देवी, पीतवर्णमिदं ध्वजं।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्यां, पूर्वस्यां दिशि तिष्ठतु॥१॥

ॐ पीतप्रभायै स्वाहा ॥ (पूर्व दिशा में पीली ध्वजा लगावें)

पद्माख्यदेवी पद्माभा, पद्मवर्णमिदं ध्वजम्।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्यां, आग्नेय्यां दिशि तिष्ठतु॥२॥

ॐ पद्मायै स्वाहा॥ (आग्नेय दिशा में लाल ध्वजा लगावें)

सा मेघमालिनी कृष्णा, कृष्णवर्णमिदं ध्वजं।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्यां, अपाच्यां दिशि तिष्ठतु॥३॥

ॐ मेघमालिन्यै स्वाहा॥ (दक्षिण दिशा में काली ध्वजा लगावें)

हरिन्मनोहरा देवी, हरिद्वर्णमिदं ध्वजं।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्यां, नैऋत्यां दिशि तिष्ठतु॥४॥

ॐ मनोहरायै स्वाहा॥ (नैऋत्य दिशा में हरी ध्वजा लगावें)

श्वेताभा चंद्रमालेयं, श्वेतवर्णमिदं ध्वजं।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्यां, प्रतीच्यां दिशि तिष्ठतु॥५॥

ॐ चंद्रमालायै स्वाहा॥ (पश्चिम दिशा में सफेद ध्वजा लगावें)

नीलाभा सुप्रभा देवी, नीलवर्णमिदं ध्वजं।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्यां, वायव्यां दिशि तिष्ठतु॥६॥

ॐ सुप्रभायै स्वाहा॥ (वायव्य दिशा में नीली ध्वजा लगावें)

श्यामप्रभा जयादेवी, श्यामवर्णमिदं ध्वजम्।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्या-मुदीच्यां दिशि तिष्ठतु॥७॥

ॐ जयायै स्वाहा॥ (उत्तर दिशा में काली ध्वजा लगावें)

विजया पंचवर्णाभा, पंचवर्णमिदं ध्वजम्।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्यां, ईशान्यां दिशि तिष्ठतु॥८॥

ॐ विजयायै स्वाहा॥ (ईशान दिशा में पंचवर्णी ध्वजा लगावें)

विजया पंचवर्णाभा, पंचवर्णमिदं ध्वजम् ।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्या-मधरादिशि तिष्ठतु॥९॥

ॐ विजयायै स्वाहा॥ (अधो दिशा में पंचवर्णी ध्वजा लगावें)

विजयापंचवर्णाभा, पंचवर्णमिदं ध्वजम् ।

धृत्वा जयाय श्रीवेद्या-मूर्ध्वायां दिशि तिष्ठतु ॥१०॥

ॐ व्यक्तांतरायै स्वाहा ॥ (ऊर्ध्व दिशा में पंचवर्णी ध्वजा लगावें)

॥ (इति पंचवर्णपताकार्चनम् ॥ पंचवर्ण ध्वजार्चन विधि पूर्ण हुई) ॥

यहाँ यह ध्यान देना है कि भेरीताड़न विधि का ध्वजारोहण कार्यक्रम से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, उपर्युक्त भिन्न-भिन्न वर्ण की दश प्रकार की ध्वजाएँ तो प्रतिष्ठा मण्डप के चारों ओर विधिपूर्वक स्थापित की जाती हैं इन्हीं में पंचवर्ण की तीन ध्वजाएँ हैं इनके लिए और भिन्न-भिन्न वर्ण की ध्वजाओं के लिए 'पंचवर्णकेतून्' शब्द वहाँ आया है। ये सभी ध्वजाएँ दश देवियों की कल्पना के साथ स्थापित की जाती हैं।

३. प्रतिष्ठा सारोद्धार ग्रंथ के पृ. ७८ पर भी अलग-अलग वर्ण की आठ पताका स्थापित करने का विधान है, जिनका ध्वजारोहण वाले महाध्वज से कोई सम्बन्ध नहीं है। यथा —

पीता प्रभारुणा पद्मा, कृष्णाभा मेघमालिनी।

हरिन्मनोहरा श्वेता, चंद्रमालेंद्रनीलभा ॥२०८॥

सुप्रभाख्या जया श्यामा, विजया पंचवर्णभा।

दिक्षु तिष्ठत्विमा देव्यः, सवर्णध्वजपाणयः ॥२०९॥

इसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ में (अध्याय-२, पृष्ठ-४६ पर) श्लोक नं. १४५ में यागमण्डल विधान के अंतर्गत मण्डल पर पंचचूर्ण स्थापित करने का श्लोक एवं मंत्र है, उसका भी ध्वजा के रंगों से कोई तात्पर्य नहीं है —

नागेंद्रार्थपते हरित्प्रभजपां भासासिताभप्रिया

युक्ता एत्य सवर्णचूर्णनिचयैः प्रीतेंद्रवेद्यामिव।

वेद्यां द्वित्रिचतुर्गुणाष्टदलयुक्पद्मं चतुर्धाश्चतुष्-

कोणं वर्तयतात्र मंडलमथो वज्राल्लिखेंद्राश्रिषु ॥१४५॥

ॐ ह्रीं क्लीं श्वेतपीतहरितारुणकृष्णमणिचूर्णं स्थापयापि स्वाहा । चूर्णस्थापनमंत्रः।

तथा यहीं पर पंचचूर्ण अलग-अलग भी स्थापित करने के लिए पाँच श्लोक एवं मंत्र पृथक्-पृथक् भी हैं।

प्रतिष्ठा सारोद्धार के अध्याय ५ में पृ. १२४ पर श्लोक नं. ५० से ७८ तक पठनीय विषय है, जिनमें से निम्न श्लोक विशेष ध्यान देने योग्य हैं —

सितं रक्तं सितं पीतं, सितं कृष्णं पुनः पुनः।

यावत्प्रासाददीर्घत्वं, तावत्संघट्टयेत् क्रमात् ॥५२॥

ध्वजा का कपड़ा सफेद, लाल, सफेद, पीला, सफेद, काला फिर इसी क्रम से रंग वाला तैयार करावे।

चंद्रार्धचंद्रमुक्तास्त्रक्किंकिणीतारकादिभिः।

नाना सद्रूपयुग्मैश्च, चित्रैः पत्रैर्विचित्रयेत् ॥५३॥

ध्वजा में चंद्रमा, माला, घंटियाँ, तारे इत्यादि अनेक चिन्ह बनाके चित्रित करें।

अधश्छत्रत्रयं मूर्धस्तस्याधः पद्मवाहनम् ।

तस्याधः कलशं पूर्णं पार्श्वयोः स्वस्तिकं लिखेत् ॥५४॥

दीपदंडौ लिखेत्स्वस्ति शिखायाः पार्श्वयोस्तथा।

पार्श्वयोरातपत्रस्य श्वेतचामरयुग्मकम् ॥५५॥

मूर्धाधो धवलच्छत्रे ध्वजे वा यक्षमालिखेत् ।
 श्यामं चतुर्भुजं हस्तयुग्मेन रचितांजलिम् ॥५६॥
 पराम्यां दधतं मूर्ध्नि धर्मचक्रमृजुस्थितम् ।
 जिनबिबोर्धमूर्धाने ह्येकछत्रसमन्वितम् ॥५७॥
 दीपदंडादिसंयुक्तं नानालंकरणान्वितम् ।
 हस्तिपृष्ठसमारूढं सर्वज्ञाख्याममुं लिखेत् ॥५८॥
 अशोकासननिर्यासचंपकाम्रकदंबकाः ।
 पूगवंशादयोऽपि दंडस्य भवभूरुहाः ॥५९॥

कलश, साथिया, दीपदंड, छत्र, चमर, धर्मचक्र लिखकर ध्वजा के ऊपर जिनबिंब का आकार बनावें। उसमें एक छत्र लगावें। उस ध्वजा में अशोक, चंपा, आम, कदंब, सुपारी, वंश आदि के वृक्ष चिन्हित करें ॥५४-५९॥

सादाप्रायाममानार्थं त्रिभागं वा चतुर्थकम् ।
 ध्वजदंडस्य मानं तद्यथाशोभं प्रकल्पयेत् ॥६०॥

ध्वजा के दंडे का प्रमाण शोभा के अनुसार होना चाहिए।

प्रासादस्योर्ध्वतुर्यांशे वेदिका वेदिकस्थितम् ।
 आधारं धनदंडस्य यथोक्तं परिकल्पयेत् ॥६१॥

वह प्रमाण मंदिर की ऊँचाई से चौथाई हो तो अच्छा है और वेदी के ऊपर भी ध्वजा चढ़ाना चाहिये। अर्थात् ध्वजा में पहले सफेद कपड़ा, पुनः लाल, पुनः सफेद, पुनः पीला, पुनः सफेद, पुनः काला फिर इसी क्रम से तैयार करावे।

इस विधि से तैयार किये गये ध्वज में तो छह पट्टियाँ और चार रंग आते हैं और साथिया के साथ-साथ दीपदंड, छत्र, चमर, धर्मचक्र लिखकर ध्वजा के ऊपर जिनबिम्ब का आकार बनाने का विधान है जो कि प्रतिष्ठातिलक वाले ध्वज के समान ही आकार को बताता है।

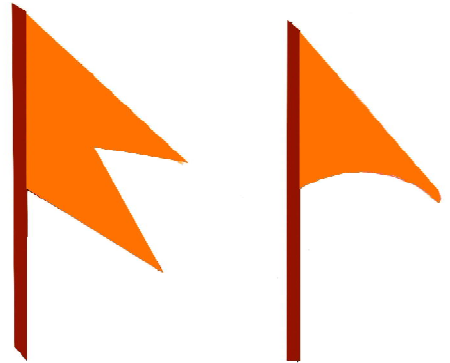
इसी में श्लोक नं. ७१ से ७३ तक में ध्वजारोहण के बाद ध्वजा की दिशा से शुभ-अशुभ शकुन देखने का फलादि बताया है।

४. मंदिर वेदी प्रतिष्ठा-कलशारोहण विधि (पं. पन्नलालजी साहित्याचार्य-सागर द्वारा संपादित) पुस्तक में भी ध्वजा के तीन आकार दिये हैं। यथा—

५. श्वेत पताका का वर्णन उत्तरपुराण में भी आया है—

शतसंवत्सरे याते कुमारसमये पुरम् ।
 चलत्सितपताकाभिः सर्वत्रोद्बद्धतोरणैः ॥३८॥

अर्थात् कुमारकाल के सौ वर्ष बीत जाने पर एक दिन भगवान मल्लिनाथ ने देखा कि समस्त नगर हमारे विवाह के लिए सजाया गया है, कहीं चञ्चल सफेद पताकाएँ फहराई गई हैं तो कहीं तोरण बाँधे गये हैं।



अर्थात् घर के अग्र भाग पर सफेद ध्वजा फहरा रही थी।

६. पद्मपुराण भाग-१, पर्व - ८, पृ.-१८८ पर मंदिर पर श्वेत ध्वजा का स्पष्ट वर्णन है —

सितकेतुकृतच्छायाः सहस्राकारतोरणाः।

शृङ्गेषु पर्वतस्यामी विराजन्ते जिनालयाः॥२७६॥

अर्थात् सफेद पताकाएँ जिन पर छाया कर रही हैं तथा जिनमें हजारों प्रकार के तोरण बने हुए हैं ऐसे ये जिनमन्दिर पर्वत के शिखरों पर सुशोभित हो रहे हैं।

पद्मपुराण-भाग ३ में सुमेरु पर्वत के पाण्डुक वन के जिनमंदिर के शिखरों पर नाना वर्ण की ध्वजाओं का प्रमाण आता है। यथा—

नानावर्णचलत्केतुकाञ्चनस्तम्भभासुरम् ।

गम्भीरं चारुनिर्व्यूहमशक्याशेषवर्णनम्॥४७॥

पञ्चाशद्योजनायामं षट्त्रिंशन्मानमुत्तमम्।

इदं जिनगृहं कान्ते सुमेरोर्मुकुटायते॥४८॥

जिस पर नाना रंग की पताकाएँ फहरा रही हैं, जो सुवर्णमय खम्भों से सुशोभित हैं, गंभीर है, सुन्दर छज्जों से युक्त है, जिसका सम्पूर्ण वर्णन करना अशक्य है, जो पचास योजन लम्बा है और छत्तीस योजन चौड़ा है। हे कान्ते ! ऐसा यह जिनमंदिर सुमेरु पर्वत के मुकुट के समान जान पड़ता है॥४७-४८॥

कारिता हरिषेणेन, सज्जनेन महात्मना।

एतान् वत्स नमस्य त्वं, भव पूतमनाः क्षणात् ॥२७७॥

ये सब मन्दिर महापुरुष हरिषेण चक्रवर्ती के द्वारा बनवाये हुए हैं। हे वत्स ! तू इन्हें नमस्कार कर और क्षण-भर में अपने हृदय को पवित्र कर।

७. कुल मिलाकर जैनशासन में ध्वजा के वर्णन में भिन्न-भिन्न वर्ण की ध्वजाओं के प्रमाण मिलते हैं। इस विषय में सन् १९७४ से प्रचलित हुई पंचरंगी ध्वजा के संदर्भ में मैंने पूज्य गणिनी प्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी से वार्ता की, उनसे प्राप्त उत्तर यहाँ यथानुरूप प्रस्तुत है —

“सन् १९७२ में मैं दिल्ली के अनेक प्रतिष्ठित महानुभावों (परसादी लाल जी पाटनी, पारसदास जी मोटर वाले आदि) के विशेष आग्रह पर राजस्थान से दिल्ली आई। वहाँ परमपूज्य भारतगौरव आचार्यश्री देशभूषण महाराज ने मुझे भगवान महावीर का २५००वाँ निर्वाण महोत्सव को राष्ट्रीय और शासन स्तर पर मनाने की सम्पूर्ण रूपरेखा से परिचित कराया। सन् १९७३ में मुनिश्री विद्यानंद महाराज दिल्ली पधारे, सन् १९७४ में पूज्य आचार्य श्री धर्मसागर जी का भी ससंघ पदार्पण हुआ और निर्वाण महोत्सव सम्बन्धी सभी मीटिंगों में हम सभी साधुगण भाग लेते थे। एक बार जैनध्वज के सम्बन्ध में जब पंचरंगी ध्वज का प्रारूप आया तो आचार्य श्री धर्मसागर महाराज ने पहले तो उसे पूर्णरूपेण अस्वीकृत कर दिया, क्योंकि तब तक परम्परागतरूप से केशरिया ध्वज ही जैनशासन के ध्वजरूप में मंदिरों के शिखरों पर एवं महोत्सवों के प्रारंभ में किये जाने वाले ध्वजारोहण में फहराया जाता था इसलिए दोनों आचार्य इसे सहज स्वीकार नहीं कर पाए। बात कुछ और आगे बढ़ी, तब दोनों आचार्यभगवंतों ने मुझे आदेशित किया कि ज्ञानमती जी ! क्या कहीं आगम में पंचरंगी ध्वज का कोई प्रमाण आया है.... आदि। मैंने २ दिन का समय माँगा और दिगम्बर जैन आगम ग्रंथों का आलोडन किया तो जम्बूद्वीप-पण्णत्ति ग्रंथ में सुमेरु पर्वत के मंदिरों के वर्णन में एक जगह

वर्णन मिला, उसे यहाँ ज्यों की त्यों प्रस्तुत किया जा रहा है —

रयणमए जगदीए रयदणमयापीढैतंगसिहरेसु।

मणिमयखंभेसु तहा धयणिवहा होति णिहिट्ठा।।३१।।

सीहगयहंसगोवहसयवत्तमऊरमयरधयणिवहा।

चक्कायवत्तगरुढा दसविहसंखा गुणेयव्वा।।३२।।

अट्टसयं अट्टसयं एगेगधयाण होति परिवारा।

वरपंचवण्णदिक्खा मुक्तामणिदामकयसोहा।।३३।। (पंचम अधिकार)

रत्नमय पृथिवी पर स्थित रजतमय पीठ के ऊपर ऊँचे शिखरों वाले मणिमय खम्भों के ऊपर ध्वजासमूह निर्दिष्ट किये गये हैं।

सिंह, गज, हंस, गोपति (वृषभ), कमल, मयूर, मकर, चक्र, आतपत्र और गरुड़, इन दश प्रकार की ध्वजाओं के समूह जानना चाहिए।

इनमें से एक-एक ध्वजा के मोतियों व मणियों की मालाओं से शोभायमान उत्तम पाँच वर्णवाली एक सौ आठ-एक सौ आठ दिव्य परिवारध्वजाएँ होती हैं।

अर्थात् परिवार ध्वजाओं में यहाँ पंचरंगी लघु ध्वजाएँ ग्रहण की गई हैं। लेकिन वहाँ महाध्वजा के वर्ण का कोई स्पष्टीकरण नहीं आया है।

इस प्रमाण को देखकर आचार्यद्वय ने इस पंचरंगी ध्वज के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान की थी।

इन सबसे तात्पर्य यह निकलता है कि आगम में जिनमंदिरों के शिखरों पर श्वेत ध्वजा, फहराने के उदाहरण तो मिलते हैं किन्तु पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, विधि-विधानों के प्रारंभ में केशरिया ध्वज लहराने की ही प्राचीन परम्परा रही है। सन् १९७४ से पूर्व तो पूर्णरूपेण केशरिया ध्वज से ही ध्वजारोहण किया जाता था और सन् १९७४ के बाद से भी अधिकतम महोत्सवों में केशरिया ध्वज से तथा कतिपय स्थानों पर पंचरंगी ध्वज से भी ध्वजारोहण किया जाता है एवं कहीं-कहीं दक्षिण भारत में विद्वानों द्वारा सफेद ध्वजा लहराने की सूचना भी प्राप्त हुई है।

८. २४ फरवरी २०१० को हस्तिनापुर पधारे एक प्रतिष्ठित महानुभाव से चर्चा हुई तो उन्होंने चर्चा के मध्य बताया कि “सन् १९७४ से पूर्व सभी मंदिरों में केशरिया ध्वज ही लहराने की परम्परा थी, उसके बाद से अब कहीं-कहीं पंचरंगी ध्वज भी लगाते हैं किन्तु ध्वजारोहण में सर्वत्र आज भी केशरिया ध्वज ही लगाने की परम्परा दक्षिण भारत में है।”

इसी प्रकार पूज्य मुनिश्री अमितसागर महाराज (आचार्य श्री धर्मसागर महाराज के शिष्य) ने फरवरी २०१० में बताया कि मैंने स्वयं दक्षिण भारत में अनेक स्थानों पर पंचकल्याणक महोत्सव में केशरिया ध्वज से ही ध्वजारोहण होते देखा है।

९. फरवरी २०१० में जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में विराजमान तीर्थंकरत्रय महामस्तकाभिषेक में दक्षिण भारत से पधारे क्षुल्लक श्री निर्वाणसागर जी (शिष्य-मुनि श्री नमिसागर महाराज) ने बताया कि दक्षिण भारत में ध्वजारोहण में अधिकतम केशरिया ध्वज ही प्रयोग किया जाता है, कहीं-कहीं मंदिर के ऊपर पंचरंगी ध्वज भी अब लगाया जाने लगा है।

१०. इसी प्रकार अन्य अनेक वरिष्ठ सन्तों, भट्टारकों एवं विद्वान् प्रतिष्ठाचार्यों से ज्ञात हुआ कि

ध्वजारोहण में तो सदा हम लोगों ने केशरिया ध्वज ही प्रयुक्त किया है क्योंकि केशरिया ध्वज ही प्राचीन समय से चला आ रहा है।

११. चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज की परम्परा के वरिष्ठतम ब्रह्मचारी थे बाबा सूरजमल जी प्रतिष्ठाचार्य, उन्हें भी हमने हमेशा (सन् १९७४ के बाद भी) केशरिया झण्डे से ही झण्डारोहण कराते देखा है।

१२. पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री-सोलापुर ने भी सन् १९७५ में हस्तिनापुर के पंचकल्याणक में केशरिया झण्डे से ही ध्वजारोहण कराया था, उस समय आचार्य श्री धर्मसागर महाराज, उपाध्याय श्री विद्यानंद महाराज एवं पूज्य गणिनी आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ससंघ विराजमान थे।

१३. आज भी भारत के अधिकतम मंदिरों के शिखरों पर या तो रेशमी केशरिया ध्वज लहरा रहे हैं अथवा धातुनिर्मित स्थिर ध्वजा भी लगाने की वर्तमान में परम्परा चल रही है।

उदाहरणस्वरूप हस्तिनापुर के प्राचीन दिगम्बर जैन मंदिर के ऊपर पीतल की ध्वजा लगी है वहाँ प्रायः सभी मंदिरों पर कहीं त्रिकोणाकार केशरिया ध्वजा है, कहीं द्वित्रिकोणाकार की ध्वजा है एवं कहीं कपड़े की केशरिया ध्वजा हैं।



प्राचीन दिगम्बर
जैन मंदिर, हस्तिनापुर





प्राचीन दिगम्बर
जैन मंदिर,
हस्तिनापुर



हस्तिनापुर के श्वेताम्बर मंदिरों पर लम्बी तीन पट्टी की ध्वजा है जिसमें बीच में सफेद और आजू-बाजू की पट्टी लाल है। ऐसी तीन पट्टी की लम्बी ध्वजा गुजरात में भी प्रायः सभी श्वेताम्बर मंदिरों में देखी जाती हैं।

१४. इन्दौर के एक सज्जन (राजकुमार जैन) ने बताया कि वहाँ कई मंदिरों पर लालरंग की आयताकार ध्वजा हैं।

१५. पहले बचपन में भी मैंने झण्डारोहण के समय विद्वानों को गीत गाते सुना है—



लहर लहर लहराए, केशरिया
झण्डा जिनमत का.....हो जी.....हो जी...।

दूसरा गीत भी आपने इसी प्रकार सुना होगा —

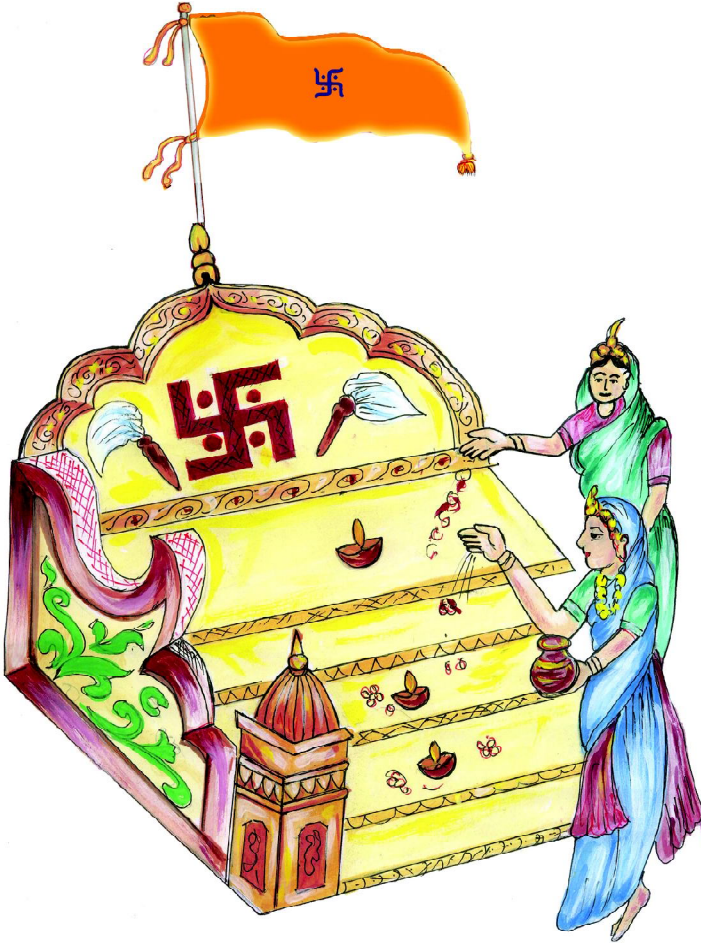
स्वस्तिकमय केशरिया प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा।

१६. पं. श्री गुलाबचन्द्र पुष्प-टीकमगढ़ द्वारा सम्पादित “प्रतिष्ठा रत्नाकर” ग्रंथ (जिसमें आचार्यश्री विमलसागर जी, आचार्य श्री विद्यानंद जी, आचार्य श्री कुंथुसागर, उपाध्यायश्री भरतसागर आदि के आशीर्वचन भी लिखे हैं) में पृ. ८७ पर ध्वजगान है—

मंगलमय केशरिया प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा।

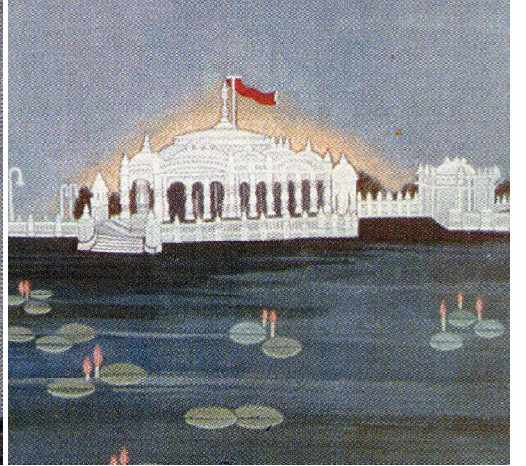
१७. इसी ग्रंथ में पृ. ९३ पर वेदी का चित्र बना है उस पर भी लहराती हुई त्रिकोणा-कार ध्वजा ही बनी है। पृ. ३०३ के बाद रंगीन

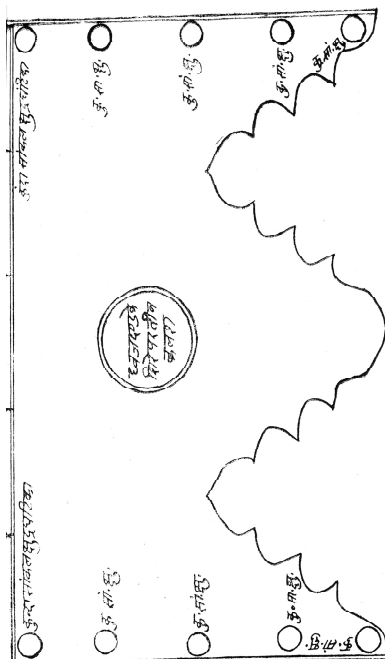
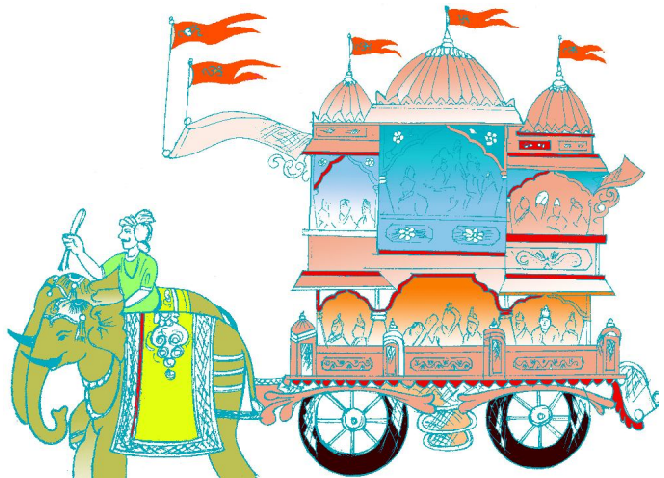




चित्रों में सर्वप्रथम मंदिर की वेदी के चित्र में ऊपर त्रिकोणाकार केशरिया ध्वजा हैं। इन्हीं रंगीन चित्रों में पृष्ठ ३०५ पर जन्मकल्याणक के पृष्ठों से पूर्व मोक्ष कल्याणक के प्रतीक में पावापुरी का जलमंदिर है उसके ऊपर भी लम्बी पट्टी वाली केशरिया ध्वजा है। इस ग्रंथ को खोलते ही सर्वप्रथम अस्तर के दो पृष्ठों में ध्वजारोहण से लेकर पाँचों कल्याणक के चित्र हैं उनमें ध्वजा त्रिकोणाकार एक रंग वाली ही है। ग्रंथ के अंत वाले अस्तर के २ पृष्ठों में छपे गजरथ के चित्र में भी त्रिकोणी ध्वजाएँ ही हैं।

१८. पं. गुलाबचन्द पुष्प के संयोजकत्व में प्रकाशित “प्रतिष्ठा पराग” नामक पुस्तक के पृ. ७१ पर प्रकाशित दो प्राचीन ध्वजगीत सभी के लिए दृष्टव्य हैं—





मंगलमय केशरिया प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा ।

लहर लहर लहराए, केशरिया झण्डा जिनमत का....हो
जी....हो जी....।

१९. पं. श्री नाथूलाल जी शास्त्री-इन्दौर भी केशरिया एवं पंचवर्णी दोनों प्रकार की ध्वजाओं को मान्यता प्रदान करते थे, तभी उन्होंने अपने “प्रतिष्ठा प्रदीप” ग्रंथ के पृ. २५ पर “प्रतिष्ठा मंडप आदि का निर्माण” हेडिंग के अन्दर लिखा है— मण्डप के आगे पीतवर्णी बड़े झण्डे का स्थान मण्डप से डेढ़ या दुगुना काष्ठ का या पाइप ऊँचा लगाने को तीन कटनी ईंटों से मजबूत बनाई जावे।”

२०. इन्होंने इसी प्रतिष्ठा प्रदीप में पृ. १२६ पर लिखा है—

“सित, रक्त, सित, पीत, सित, कृष्ण (नील) इस प्रकार पुनः मंदिर की दीर्घता के अनुसार रंगीन ध्वजा तैयार करावें ।” अर्थात् इस क्रम से छह पट्टी की रंगीन ध्वजा बनाने का प्रमाण पुष्ट होता है।

२१. पण्डित श्री शिवजीरामजी जैन पाठक — रांची द्वारा संपादित “श्री प्रतिष्ठा विधान संग्रह” अपरनाम, “प्रतिष्ठाचंद्रिका”

के पृ. १३७ पर बनाए गये ध्वजपट्ट का चित्र देखिये —

२२. श्रीभट्टाकलंक रचित “प्रतिष्ठाकल्प” में पृ. १३० पर देखें —

एवं सुधौतसुश्लिष्ट, श्वेतनूतनवाससा।

कल्पयित्वा ध्वजं तत्र, शिल्पिना लेखयेदिति ॥३७॥

अर्थात् इस श्लोक के अनुसार श्वेत नूतन वस्त्र से निर्मित ध्वजा से ध्वजारोहण करने का विधान स्पष्ट होता है। इसी में इस श्वेत महाध्वज के मूल में (नीचे) और चारों तरफ कौसुम्भ और लाल वस्त्र की अनेक क्षुद्र ध्वजाएँ स्थापित करने संबंधी श्लोक भी उल्लिखित हैं।

इसी ग्रंथ में पृ. ७० पर है कि — प्रतिष्ठामण्डप के समीप ही या शुद्ध नदी या सरोवर के तट पर खनिस्थान नियुक्त करके उस उर्वरा जमीन में १ लाल ध्वजा गड़वा दी जाए। पृ. ८० पर है — इसके साथ ही ऊपर चढ़ाने के लिए १ त्रिकोण पताका को बांस में पहनाकर सतिलक ससूत्र करें। इसमें पृ. १०२ पर नन्दावेदी में ध्वजास्थापन का सुंदर क्रम दिया है —

मध्य के कोठे के ऊपर पंचवर्णी ध्वजा को चंद्रोपक में लगा देना चाहिये — अष्टकोटी सिद्धमंडल पर सफेद रंग की, छत्तीस कोटी आचार्यमण्डल पर लाल रंग की, पच्चीस कोटी उपाध्यायमण्डल पर हरे रंग की, अट्ठाईस कोटी साधुमण्डल पर पीले रंग की, २५ कोटी जिनवाणीमण्डल पर सफेद रंग की, १६ कोटी भावनामण्डल पर लाल रंग की, १० कोटी धर्ममण्डल पर हरे रंग की और २९ कोटी रत्नत्रय मण्डल पर पीले रंग की ध्वजाएँ स्थापित करनी चाहिए। इस नव कोटी मण्डल के दक्षिण भाग में रखकर कलशों की और उत्तर भाग में रखकर ध्वजा की प्रतिष्ठा करनी चाहिये।

२३. श्री वसुविन्दु आचार्य रचित “प्रतिष्ठा पाठ” के पृ. ९९-१०० पर निम्न श्लोक दृष्टव्य हैं —

चीनश्लक्ष्ण मृदूत्तरीय पटलैश्छन्नं पुरा निर्मितं,

मस्तोपर्यनुयोग सूचिकलशं लंबत्पताकापटं ।

चातुर्दिश्य तिरस्करिण्यधिवृतं गोपानसीभिर्युतं,

द्वारोपांतविशोभियक्षयुगलं प्रांशुं मनोल्हादकं ॥३१९-३२१॥

अर्थात् चीन का कोमल सिचक्कण सुंदर आच्छादन वस्त्रनि करि ढक्या हुआ पूर्व निर्मापित किया अरु लम्बायमान है पताका का पट जामै..... अरु कोण में उद्भूत है छोटी ध्वजा जामै, अरु उछलती अरु दृढ देदीप्यमान रज्जून करि बंधननै प्राप्त भयो..... तीनलोकपति जिनेन्द्र का पूजन करणेवारेन के हस्तन करि नित्य स्थापन किये, ऐसैं मंडप के अग्र ध्वजारोहण करना॥३१९-३२१॥

२४. ब्र. शीतलप्रसाद जैन द्वारा रचित “प्रतिष्ठासार संग्रह” के पृ. १९६ पर ध्वजा का प्रमाण लिखा है — १२ अंगुल लंबी व ८ अंगुल चौड़ी हो, कपड़ा लाल या पीला हो। उसमें चंद्रमा, माला, नक्षत्र आदि के चिन्ह हों।

ध्वजा कहाँ लगाई जाती हैं ?

जैन शास्त्रों में वर्णन है कि तीनों लोकों के अकृत्रिम चैत्यालयों के शिखरों पर रंग-बिरंगी ध्वजाएँ फहराती रहती हैं जो कि रत्नों की होते हुए भी कोमलवस्त्र के समान लहराती हैं। जैसे — मध्यलोक के ४५८ चैत्यालयों पर अलग-अलग चिन्ह सहित भिन्न-भिन्न रंग की ध्वजाएँ आरोपित करते हुए इन्द्रगण जो पूजा

करते हैं उसका नाम है इन्द्रध्वज पूजा ।
संस्कृत के इन्द्रध्वज विधान में कहा है—

यत्र-यत्र कृता पूजा, तत्र तत्र विडौजसा ।

ध्वजा प्रस्थापिता नित्यं, तस्मादिन्द्रध्वजं स्मृतम् ।।

अर्थात् इन्द्रों ने जहाँ-जहाँ पर पूजा की, वहाँ-वहाँ पर अर्थात् उन-उन चैत्यालयों पर ध्वजा आरोपित करते गए इसलिए इस विधान का “इन्द्रध्वज” यह सार्थक नाम है ।

इस इन्द्रध्वज मण्डल की चार दिशा एवं चार विदिशाओं में ८ महाध्वजाएँ आरोपित की जाती हैं एवं मण्डल के ऊपर ४५८ ध्वजाएँ आरोपित की जाती हैं जिन पर निम्न प्रकार के दश चिन्ह बनाये जाते हैं—

यथा - “मालामृगेन्द्रकमलांबरवैनतेय मातंगगोपतिरथांगमयूरहंसाः”

अर्थ—माला, सिंह, कमल, वस्त्र, गरुड़, हाथी, चकवा-चकवी, मयूर और हंस ये दश प्रकार के चिन्ह उन ध्वजाओं में बनवाये जाते हैं।

ये अलग-अलग चिन्ह वाली ध्वजाएँ किन मंदिरों पर कौन सी लगती हैं इसका वर्णन इन्द्रध्वज विधान की पुस्तक में प्रस्तावना से द्रष्टव्य है ।

आदिपुराण में भगवान ऋषभदेव के समवसरण में द्वितीय कटनी पर आठ दिशाओं में आठ चिन्हों से युक्त महाध्वजाओं का बहुत ही सुन्दर वर्णन है। यथा—“द्वितीय पीठ पर आठ दिशाओं में आठ बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ सुशोभित हो रही थीं, जो बहुत ऊँची थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो इन्द्रों के आठ लोकपाल ही हों। चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड़ और माला चिन्ह से सहित तथा सिद्ध भगवान के आठ गुणों के समान वे ध्वजाएँ बहुत अधिक सुशोभित हो रही थीं ।”

“प्रत्येक जिनमंदिर की चारों दिशाओं में ध्वजभूमि के अन्दर सिंह, हाथी, वृषभ, गरुड़, मयूर, चंद्र, सूर्य, हंस, कमल और चक्र के चिन्हों से चिन्हित, १०८-१०८ मुख्य ध्वजाएँ हैं । सभी मिलाकर ४७०८८० ध्वजाएँ हैं। वे ध्वजाएँ प्रथम और द्वितीय कोट में अंतराल में हैं ।”

सिंह, हंस, गज, कमल, वस्त्र, वृषभ, मयूर, गरुड़, चक्र और माला के चिन्हों से सुशोभित दश प्रकार की पंचवर्णी महाध्वजाओं से उन चैत्यालयों की दशों दिशाएँ ऐसी जान पड़ती हैं मानों लहलहाते हुए नूतन पत्तों से ही युक्त हों^१।

यह तो अकृत्रिम चैत्यालयों एवं भगवान के समवसरण की ध्वजाभूमि में स्थित महाध्वजाओं का वर्णन हुआ है इसी प्रकार से इस धरती पर मनुष्यों द्वारा बनाए जाने वाले कृत्रिम मंदिरों पर शिखर बनाने, उन पर स्वर्ण कलशारोहण करने की एवं कलश से ऊँची ध्वजा आरोपित करने की प्राचीन परम्परा चली आ रही है, जिसके प्रमाण मैंने प्रतिष्ठा ग्रंथों के आधार से दिये हैं ।

इसके साथ ही पंचकल्याणक महोत्सवों एवं वृहत्पूजा विधानों के प्रारंभ में जो ध्वजारोहण किया जाता है वह महोत्सव की निर्विघ्न सम्पन्नता एवं सर्वजन कल्याणकारी होता है । ऐसे ध्वजारोहण (झण्डारोहण) कार्यक्रमों में प्रायः ध्वजा फहराने के बाद उसकी उड़ती नोक की दिशा देखकर विद्वान् प्रतिष्ठाचार्यगण उसका शुभाशुभ फल बताते देखे जाते हैं । इस विषय में प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रंथ के अध्याय-५, पृ. ११५ पर लेखक पं.

१. सिंहहंसगजाम्भोजदुकूलवृषभध्वजैः। मयूरगरुडाकीर्णश्चक्रमालामहाध्वजैषः ॥३६९॥

दशार्धवर्णभासदिभर्दभेदैर्दिशो दश। साशीतिक सहस्रान्तैर्भान्ति पल्लविता इव ॥३७०॥ (हरिवंशपुराण सर्ग ५, पृ. ९५)

आशाधरजी ने लिखा है —

मुक्ते प्राचीं गते केतौ, सर्वकामानवाप्नुयात् ।
 उत्तराशां गते तस्मिन्, स्वस्थारोग्यं च संपदः ॥७१॥
 यदि पश्चिमतो याति, वायव्ये वा दिशाश्रये ।
 ऐशाने वा ततो वृष्टिः, कुर्यात् केतुः शुभानि सा ॥७२॥
 अन्यस्मिन् दिग्विभागे तु, गते केतौ मरुद्वशात् ।
 शांतिकं तत्र कर्तव्यं, दान पूजा विधानतः ॥७३॥

अर्थात् ध्वजा छोड़ने पर यदि वह पूर्वदिशा की तरफ जाए तो सब इष्ट मनोरथ सिद्ध होते हैं । पश्चिम, वायव्य व ईशान दिशा में ध्वजा की नोक जावे तो सभी के लिए कल्याणकारी होती है अथवा हवा के निमित्त से शेष अन्य दिशाओं में ध्वजा की नोक जाने से दान-पूजा-विधान से शांतिकर्म करना चाहिए।

यहाँ ध्वजा के प्रकरण में साररूप में यह समझना है कि जैन शासन में श्वेत, केशरिया, पंचवर्णी आदि रंग की त्रिकोणाकार एवं आयताकार ध्वजाओं से ध्वजारोहण करने की परम्परा है तथा मंदिरों के ऊपर जो स्थाईरूप से अष्टधातु की ध्वजा या कपड़े की ध्वजा लगाई जाती हैं वे मात्र त्रिकोणाकार द्वित्रिकोणाकार अथवा केशरिया वस्त्र की ही देखी जाती हैं ।

देश के विभिन्न प्रान्तों के मंदिरों की ध्वजाओं के जो वर्तमान प्रमाण प्राप्त हुए हैं उनमें सभी ध्वजाएँ केशरिया त्रिकोणाकार ही हैं। कतिपय तीर्थों के मंदिरों पर लहराती ध्वजाओं के चित्र यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं —



बोहरीबंद
(म.प्र.)



लखनादौन (म.प्र.)

प्रिय बन्धुओं! इस विषय में राग-द्वेष की भावनाओं से दूर होकर जिनधर्म की प्रभावना का प्रमुख लक्ष्य रखते हुए प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों परम्पराओं का निर्वाह करके श्वेत, केशरिया अथवा पंचरंगी ध्वजाओं से ध्वजारोहण करके एवं जिनमंदिरों पर ध्वजाओं को लहराकर विश्वशांति की मंगल भावना करना चाहिए तथा किसी पर छींटाकशी न करके अनेकांत मतानुसार



बीनाबरहा
(म.प्र.)

जिनेन्द्रदेव के जिनमत की प्रभावना करना चाहिए क्योंकि सन् १९७४ से पूर्व तो एकमत से पूरे देश की जैनसमाज द्वारा केशरिया ध्वज ही फहराया जाता था और वर्तमान में ९० प्रतिशत स्थानों पर केशरिया एवं १० प्रतिशत स्थानों पर केशरिया तथा पंचरंगी दोनों प्रकार की ध्वजाओं के चित्र प्राप्त हुए हैं।



सेरोन जी
(म.प्र.)



गोलाकोट
(म.प्र.)



सिहोनियां (म.प्र.)



थुवोन जी (म.प्र.)

ऋषभदेव
केशरिया
जी (राज.)



पनागर (म.प्र.)



ऋषभदेव केशरिया जी (राज.)

दिगम्बर मुनि भगवान हैं

भिक्षुं वक्कं हिययं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।

एसो सुद्धि साहू भणिओ जिणसासणो भयवं।।

जो साधु नित्य ही आहार, वचन और मन का शोधन करके चारित्र का पालन करते हैं, वे सर्वगुण सम्पन्न हैं। जिनशासन में उन्हें भगवान कहा है।

भावार्थ—जो दिगम्बर मुनि आगम के अनुसार 46 दोष और 32 अन्तराय टाल कर निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं, भाषा-समिति के अनुसार हित-मित और प्रिय पथ्य वचन बोलते हैं तथा दुर्ध्यान को, क्रोधादि कषायों को दूर करके मन को सदा धर्मध्यान में लगाते हैं, वे ही साधु भिक्षा, वाक्य और मन की शुद्धि करने वाले हैं। वे मोक्षमार्ग में स्थित हैं, सर्वगुणों से समन्वित हैं। अतः ऐसे वे निर्ग्रन्थ साधु ही इस संसार में चलते-फिरते भगवान माने गये हैं। ऐसा जिनागम का कथन है।

(श्री कुंदकुंददेव कृत मूलाचार)

४०. कल्याणालोचना

(मूल-श्रीअजितब्रह्मदेवकृत)

पद्यानुवाद-गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

-शंभु छंद-

वृद्धिगत ज्ञान-सहित परमात्मा को परमेष्ठी को प्रणमूँ।

निज पर की सिद्धी हेतु मैं, यह कल्याणालोचना भणूँ॥

रे जीव ! अनंतभवों में तू, भव भव में बहु संसरण किया।

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय निमित्त, नहीं बोधि लाभ को प्राप्त किया॥१॥

संसार भ्रमण करते करते, नहीं आराधा जिनधर्म कभी।

जिन धर्म बिना बहु दुःख अनंतों, बार प्राप्त कर रहा दुःखी॥

संसार में रहते मरण, अनंतानंत बार कीया तूने।

केवलि प्रभु बिन उन मरणों की, संख्या नहीं कह सकता जग में॥२॥

छ्यासठ हजार अरु तीन शतक, छत्तीस क्षुद्रभव माने हैं।

तूने अंतर्मुहूर्त में ही, ये सब भव धरे निगोदों में।

दो त्रय चउ इंद्रिय के क्रम से, अस्सी व साठ चालिस भव हैं।

पंचेन्द्रिय के चौबीस कुभव, अन्तर्मुहूर्त में होते हैं॥३॥

बहु जीव परस्पर में क्रोधित, होकर दारुण दुख पाते हैं।

जिनधर्म बुद्धि से रहित जीव, कैसे उनसे छुट सकते हैं॥

माँ पिता कुटुम्बी स्वजन आदि, कोई भी साथ न आते हैं।

तू सदा अकेला भ्रमें न कोई, दूजा तेरा इस जग में॥४॥

आयू क्षय होने पर समर्थ, नहीं कोई आयू देने में।

देवेन्द्र नरेन्द्र मंत्र मणि औषधि, नहीं बचा सकते जग में॥

अब जिनवर धर्म मिला तुमको, मन वच तन को तुम शुद्ध करो।

प्रति समय सावधानीपूर्वक, सब जीवों पर तुम क्षमा करो॥५॥

सम्यग्दर्शन के शत्रु त्रय, सौ त्रेसठ मिथ्या दर्शन जो।

अज्ञान से इन पर श्रद्धा की, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥

मधु मांस मद्य अरु जुआ आदि, सातों व्यसनो का सेवन जो।

नहीं इनका त्याग किया मैंने, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥६॥

अणुव्रत महाव्रत यम नियम शील, मुनिवर गुरुवर ने दीये जो।

उन-उनमें विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥

नित्य अनित्य चउ धातू भी, सात-सात लक्ष तरु दश लक्षा।

विकलेन्द्रिय छह लख सुर नारक, तिर्यक् चउ चउ नर चौदह लक्षा॥७॥

इन सब चौरासी लाख योनियों में सब जीव भ्रमें दुख सो।
 उन-उन की विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 पृथ्वी जल अग्नी वायु वनस्पति, अरु विकलत्रय प्राणी जो।
 उन-उनकी विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥८॥

सम्यक्त्व व्रतों में जिनवर ने, सत्तर अतिचार बताये जो।
 सामायिक क्षमादि में हानि की, सब दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 फल फूल छाल अरु लता अनछने, जल से स्नान आदि भी जो।
 उन-उनकी विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥९॥

नहिं शील क्षमा नहिं विनय व तप संयम उपवास न कीये हों।
 नहिं किया भावना भी इनकी, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 फल मूल बीज अरु कंद सचित, अज्ञान से इनको खाया हो।
 रात्री भोजन भी किया कराया, दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥१०॥

जिनचरणों की पूजा नहिं, पात्रदान नहिं ईर्या शुद्धी जो।
 नहिं किया भावना नहिं भायी, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 आरंभ परिग्रह बहुत प्रमाद, दोष से पाप उपार्जे जो।
 जीवों की विराधना करके, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥११॥

इक सौ सत्तर क्षेत्रों के भूत, भविष्यत वर्तमान जिन जो।
 उन-उनकी विराधना की हो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय-साधु पंचपरमेष्ठी जो।
 उन-उनकी विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥१२॥

जिन वचन धर्म जिनगृह जिनवर, प्रतिमा कृत्रिम अकृत्रिम जो।
 उन-उनकी विराधना की हो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 दर्शन सुज्ञान चारित में क्रम से, आठ-आठ पण दोष भी जो।
 उन-उनसे विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥१३॥

मति श्रुत अवधी मनपर्यय केवल-ज्ञान पाँच माने हैं जो।
 उन-उनकी विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 आचारादी अंगों पूर्वों, व प्रकीर्णक में जिन वर्णित जो।
 उन-उनकी विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥१४॥

मुनि पाँच महाव्रत सहित अठारह, सहज शील से शोभित जो।
 उन-उनकी विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 इस जग में पितासदृश ऋद्धी-से सहित महागणधर गुरु जो।
 उन-उनकी विराधना की हो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥१५॥

मुनिराज-आर्यिका श्रावक और श्राविका संघ चतुर्विध जो।
 उन-उनकी विराधना की हो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 सुर असुर मनुज नारक तिर्यक्, योनी में रहते प्राणी जो।
 उन-उनकी विराधना की जो, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥१६॥

जो क्रोध मान माया व लोभ, अरु राग द्वेष दोषादिक हों।
 अज्ञान से मैंने किया इन्हें, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥
 परवस्त्र ग्रहण परमहिला राग, से पाप प्रमादयोग से जो।
 जो अन्य अकार्य किये मैंने, वह दुष्कृत मेरा मिथ्या हो॥१७॥

जो एक स्वभावसिद्ध आत्मा, सम्पूर्ण विकल्प विवर्जित है।
 नहीं अन्य शरण मेरा कोई, वह एक शरण परमात्मा है॥
 जो अरस अरूप अगंध व अव्या-बाध अनन्त ज्ञानमय है।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥१८॥

सब ज्ञेयप्रमाण ज्ञान एक, समय से स्वभाव में है।
 नहीं अन्य शरण-मेरा कोई, यह एक शरण परमात्मा है॥
 जो एक-अनेक विकल्प प्रसाधन, निजस्वभाव में विशुद्ध है।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥१९॥

ज्ञान अपेक्षा लोकमात्र भी, नित्य व स्वतनुमात्र जो है।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥
 इक समय में केवलदर्शन, केवलज्ञान द्वि उपयोगमय है।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥२०॥

निजरूप सहजसिद्ध है विभावगुण, कर्म रहित शुद्धात्मा हैं।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥
 नो कर्म कर्म से रहित शून्य, है ज्ञानपूर्ण से अशून्य है।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥२१॥

ज्ञान से नहीं भिन्न विकल्प से, भिन्न निज स्वभाव से सुखमय है।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥
 अच्छिन्न अवच्छिन्न है प्रमेय-रूप अगुरुलघूमय है।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥२२॥

शुभ-अशुभ भाव से रहित शुद्ध, निज भावों से ही तन्मय है।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥
 नहीं स्त्री नहीं नपुंसक नहीं ये, पुरुष न पुण्य-पापमय है।
 नहीं अन्य शरण कोई मेरा, वह एक शरण परमात्मा है॥२३॥

नहिं कोई तेरा स्वजन न तू, भी बंधु व स्वजन किसी का है।
 यह आत्मा एकाकी ज्ञायक, है शुद्ध आत्मा चिन्मय है॥
 जिनदेव सदा हो देव मेरे, जिनशासन में मति रहे सदा।
 भव-भव में हो संन्यास मरण, निजसंपत्ति मुझको मिले सदा॥२४॥

जिन एव देव जिन एव देव, जिन एव देव जिन हैं जिन नित।
 है दयाधर्म है दयाधर्म, है दयाधर्म है दया सतत॥
 हैं महासाधु हैं महासाधु, हैं महासाधु हैं दिगम्बर जो॥
 ये सभी तत्त्व नित मिले मुझे, जब तक नहिं मुक्ति मिले मुझको॥२५॥

इस विध दुःख के संग में मेरा, यह काल अनंत व्यतीत हुआ।
 जिनवर भाषित संन्यास में मैंने, यत्न से आरोहण न किया॥
 जिनभाषित आराधना मुझे, अब प्राप्त हुई पुण्योदय से।
 अब क्या क्या मुझे मिलेगी नहिं, सिद्धी समूह संपत्ति इससे॥२६॥

हे धर्म अहो हे धर्म अहो, मुझको निर्मल उपलब्धि मिली।
 अब इससे मुझे सर्वस्व मिला, अनुपम सुख कलियाँ आज खिली॥
 इस विध आलोचन वंदन प्रतिक्रमण, को आराधन करते।
 उनको फल मिलता मोक्ष सौख्य, श्री 'अजित ब्रह्म' ऐसा कहते॥२७॥

-दोहा-

गणिनी आर्या 'ज्ञानमती', किया पद्य अनुवाद।
 यह कल्याणालोचना, पढ़ो मिले निजस्वाद॥२८॥



दिगम्बर मुनि और आर्यिकाएं ही करपात्र में आहार लेते हैं

णिच्चेल पाणिपत्तं उवइड्डं परमजिणवरिदेहिं।

एक्को वि मोक्ख मग्गो सेसा य अमग्गया सत्त्वे॥१०॥

अर्थ—तीर्थंकर परमदेव ने गगन मुद्रा के धारी निर्ग्रंथ मुनि को ही पाणिपात्र में आहार लेने का उपदेश दिया है। यह एक निर्ग्रंथ मुद्रा ही मोक्षमार्ग है, इसके सिवाय सब अमार्ग हैं-मोक्ष के मार्ग नहीं हैं।

लिंगं इच्छीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्भि।

अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेई॥१२॥

अर्थ—एक लिंग स्त्रियों का होता है, इस लिंग—आर्यिका वेष को धारण करने वाली स्त्री दिन में एक ही बार करपात्र से आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका एक वस्त्र—साड़ी धारण करती है और वस्त्रावरण सहित ही आहार ग्रहण करती है।

—भगवान् कुंदकुंद देव, सूत्र पाहुड

४१. यतिभावनाष्टक

(श्री पद्मनंदि आचार्य विरचित)

पद्यानुवाद-गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

मुनिव्रत लेकर निर्मल स्वतत्त्व, को जान विपिन में जा करके।
मोहोदय जनित विविध विध के, सम्पूर्ण विकल्पों को तजके।।
जो मन वायु से अचल एक, चिन्मय में प्रमुदित हो तिष्ठे।
वे सर्व परिग्रह रहित मुनि, निष्कंप अचल इव जयवन्ते।।१।।

मन का व्यापार रोक इंद्रिय, विषयों को जीत धैर्यपूर्वक।
उच्छ्वासगती संकोचित कर, सूने नग आदिक में विधिवत्।।
पर्यकासन से मुक्ति हेतु, मैं कब अन्तर्मुख होऊँगा।
चेतन आत्मा में रत होकर, निज में कब स्थित होऊँगा।।२।।

प्राप्ती स्वतत्त्व की होने पर, धूली धूसरित वस्त्र विरहित।
पर्यकासन में शांतचित्त, निर्वचन निमीलित नेत्र सहित।।
जब पत्थर में उत्कीर्ण मूर्ति, सम समझ मुझे वन के मृग गण।
यदि देखें विस्मय हो तब ही, हो पुण्यवान मुझ जैसा जन।।३।।

हो किसी शून्य मठ में निवास, यदि मेरे वस्त्र दिशा ही हों।
उन्नत धन हो सन्तोष क्षमा, भार्या औ तप ही भोजन हो।।
सब जीवों से मैत्री सुतत्त्व-चिंतन सुख हो नित पुनः कहो।
अतिशांत मुझे क्या नहीं ? अतः पर से किंचित् नहिं कार्य अहो।।४।।

सुकृत से उत्तम कुल में लेकर जन्म श्रेष्ठ तनु श्रुत पढ़कर।
वैराग्य पाय शुचि तप करते, वे जग में एक महाकृतिवर।।
यदि वे ही गर्व रहित साधू, जन ध्यानामृत को पीते हैं।
समझो तब स्वर्ण महल ऊपर, वे मणिमय कलश चढ़ाते हैं।।५।।

ग्रीष्म ऋतु पर्वत चोटी पर, वर्षा ऋतु में तरु के नीचे।
अति शीत तुषार समय बाहर, चौपथ में जो स्थित होते।।
उन ध्यानप्रशांतात्मक यथोक्त, तपयुत मुनियों के मारग में।
मैं शांतचित्त संचरण करूँ, वह दिन कब आएगा प्रभु! मे।।६।।

यदि शिर पर वज्र गिरे भी या, त्रिभुवन में अग्नी लग जावे।
नहिं किंचित् विकृती हो जिनके, चहे प्राण भले ही नश जावें।।

अद्भुत तेजो नित शांति धन्य, किन ही को ऐसा श्रेष्ठ ध्यान।
अति निश्चल मन की प्रवृत्ति रोक, होता विशेष जब भेदज्ञान॥७॥

जिन यति ने परम ज्योति निरुपाधिक 'अहं' शब्द से वाच्य श्रेष्ठ।
निज तत्त्व समझ आश्रय लीना, जिनका स्वतत्त्व ही भवन श्रेष्ठ॥
वह ही शय्या वह ही संपत्, वह सुख वह वृत्ति वही वल्लभ।
वह अखिल श्रेष्ठ वस्तु साधक, वे यति हों हमको शांतिप्रद॥८॥

चिच्चेतन आनंदी श्रीमन्, मुझ पद्मनंदि से यह विरचित।
पापारिक्षयंकर राज्यश्री, औ स्वर्ग मोक्ष लक्ष्मी फलप्रद॥
जो यतिभावनाष्टक यह भवि, भक्त्या त्रिसमय में पढ़ते हैं।
इस जग में उस पुण्यात्मा के, क्या-क्या वांछित नहीं फलते हैं॥९॥

-दोहा-

पद्मनंदि यतिवर रचित, यतीभावना सारा।
'ज्ञानमती' वर आर्यिका, किया पद्य सुखकार॥१०॥
पढ़ो सुनो भवि भाव से, धरो कंठ में नित।
ज्ञान विराग निधी मिले, क्रम से निज संपत्ति॥११॥



पुण्य की महिमा

श्रेयः श्रेय-निबन्धनोऽसुखहरः श्रेयं श्रयन्त्युत्तमाः।
श्रेयेनात्र च लभ्यतेऽखिल सुखं श्रेयाय शुद्धा क्रियाः॥
श्रेयाच्छ्रेयकरोऽपरो न च महान् श्रेयस्य मूलं सुदृक्।
श्रेये यत्नमनारतं बुधजनाः कुर्वन्तु दृक् चिद्व्रतैः॥

श्रेय-पुण्य, श्रेय-कल्याण को प्राप्त कराने वाला और दुःखों को हरने वाला है इसलिए सज्जन पुरुष पुण्य का आश्रय लेते हैं। पुण्य से ही सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति की है अतः पुण्य अर्जन के लिए शुद्ध क्रियाएं करना चाहिए। पुण्य से अधिक कल्याणकारी और कोई महान् नहीं है। पुण्य की जड़ सम्यग्दर्शन है। इसलिए बुद्धिमानों को रत्नत्रय धर्म के द्वारा पुण्य के अर्जन में अनवरत प्रयत्न करना चाहिए।

यहाँ पर इस लोक में आचार्यदेव ने 'श्रेय' शब्द में षट्कारक घटित किये। इस श्रेय का अर्थ पुण्य भी होता है और कल्याण भी होता है। अतः श्रेय अर्थात् पुण्य श्रेय अर्थात् कल्याण की, सुख की प्राप्ति होती है, ऐसा समझना।

-श्री सकलकीर्ति आचार्य-सिद्धांतसार दीपक

४२. णमोकार मंत्र का माहात्म्य

(श्री उमास्वामि आचार्यविरचित)

हिन्दी पद्यानुवाद-आर्यिका चंदनामती

विष्लिष्यन् घनकर्मराशिमशनिः संसारभूमीभृतः।
स्वर्निर्वाणपुरप्रवेशगमने, निःप्रत्यवायः सतां॥
मोहांधावटसंकटे निपततां, हस्तावलम्बोर्हतां।
पायान्नः स चराचरस्य जगतः संजीवनं मन्त्रराट्॥१॥

(१)

णमोकार यह मंत्रराज, घनकर्म समूह हटाता है।
यह संसार महापर्वत, भेदन में वज्र कहाता है॥
सत्पुरुषों को स्वर्ग मोक्ष दे, संकट दूर भगाता है।
मोह महान्धकूप में डूबे, को अवलम्बन दाता है॥

दोहा — जीवनदाता मंत्र यह, करे जगत उद्धार।

मेरी भी रक्षा करो, णमोकार सुखकार॥

अर्थ — अर्हन्त आदि पंचपरमेष्ठियों का वाचक णमोकार मंत्रराज ज्ञानावरण आदि कर्म समूह को आत्मा से हटाने वाला है, अतएव संसाररूपी पर्वत को तोड़ने के लिए वज्र के समान है। सत्पुरुषों को स्वर्ग-मोक्ष जाने में सहायक है, मोहरूपी अंधकूप में गिरे हुए प्राणियों को उससे बाहर निकालने के लिए हस्तावलम्बन (हाथ के सहारे) के समान है, चर (त्रस) और अचर (पृथ्वी, वनस्पति आदि स्थावर) जगत को जीवन दाता है, ऐसा यह णमोकार महामंत्र हमारी रक्षा करे।

एकत्र पंचगुरुमंत्रपदाक्षराणि, विश्वत्रयं-पुनरनन्तगुणं परत्र।

यो धारयेत्किल तुलानुगतं तथापि, वंदे महागुरुतरं परमेष्ठिमन्त्रं॥२॥

(२)

एक तराजू के पलड़े पर, णमोकारपद मंत्र रखो।
लोकत्रय के गुण अनन्त, पुंजों को भी इक ओर रखो॥
परमेष्ठी के मंत्रों का, फिर भी पलड़ा भारी होगा।
गौरवशाली महामंत्र को, नमन करूँ शिवसुख देगा॥

दोहा — णमोकार यह मंत्र है, जग में गुरुतर मंत्र।

नमूँ इसे सर्वत्र मैं, पाऊँ सौख्य स्वतंत्र॥

अर्थ — यदि कोई व्यक्ति तराजू में एक ओर पंचपरमेष्ठी के णमोकार मंत्र के पद — अक्षरों को और दूसरी ओर अनंत गुणात्मक तीन लोकों को रखकर तुलना करे, तो भी वह णमोकार मंत्र को अधिक वजनदान (भारी) अनुभव करेगा, उस महान गौरवशाली णमोकार मंत्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

ये केचनापि सुषमाद्यरका अनन्ता, उत्सर्पिणीप्रभृतयः प्रययुर्विवर्त्ताः।
तेष्वप्ययं परतरं प्रथितं पुरापि, लब्ध्वैनमेव हि गताः शिवमत्र लोकाः॥३॥

(३)

उत्सर्पिणि अवसर्पिणी के, सुषमादिक काल अनन्त रहे।
णमोकार यह महामंत्र ही, हुआ प्रसिद्ध सदा उनमें॥
काल अनादी से अनन्त तक, मंत्रराज यह शाश्वत है।
भव से पार मुक्ति हेतू, वंदन कर लूँ भव सार्थक है॥

दोहा — अपराजित यह मंत्र है, पंचपदों से युक्त।

अंजन तस्कर हो गया, इसके बल पर मुक्त॥

अर्थ — उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि काल के जो सुषमा, दुःषमा आदि अनन्त युग पहले व्यतीत हो चुके हैं, उनमें भी यह णमोकार मंत्र सबसे अधिक महत्त्वशाली प्रसिद्ध हुआ है। मैं संसार से बहिर्भूत (बाहर) मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस णमोकार मंत्र को नमस्कार करता हूँ।

उत्तिष्ठन्निपतञ्जलन्नपि धरा-पीठे लुठन् वा स्मरेत्-
जाग्रद्वा प्रहसन् स्वपन्नपि वने विभ्यन्निषीदन्नपि।
गच्छन् वर्त्मनि वेश्मनि प्रतिपदं, कर्म प्रकुर्वन्नपि
यः पंचप्रभुमंत्रमेकमनिशं किं तस्य नो वाञ्छितम्॥४॥

(४)

जो नर इस णमोकार मंत्र को, सदा-सदा स्मरण करे।
उठते-गिरते-चलते-पृथ्वी, पर भी लुढ़कते मन में धरे॥
जगते-सोते-हंसते अथवा, वन में भी जब डर लगता।
मंत्रराज को जपने से हर, मन वाञ्छित फल है मिलता॥

दोहा — मूलमंत्र जिनधर्म का, पढ़ो करो नित जाप।

देखो ग्वाला भी हुआ, सेठ सुदर्शनराज॥

अर्थ — जो व्यक्ति उठते हुए, गिरते हुए, चलते हुए, पृथ्वी तल पर लोटते — लुढ़कते हुए, जागते हुए, सोते हुए, हंसते हुए, वन में डरते हुए, बैठते, मार्ग में चलते, घर में रहते व कोई कार्य करते हुए पग-पग पर सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता है, उसकी सभी इच्छा पूर्ण होती हैं।

संग्रामसागरकरीन्द्रभुजंगसिंह-दुर्व्याधिवन्हिरिपुबंधनसंभवानि।
चौरग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनां, नश्यन्ति पंचपरमेष्ठिपदैर्भयानि॥५॥

(५)

युद्धक्षेत्र में या समुद्र में, मृत्यु सामने दिखती हो।
हाथी-सर्प-सिंह-दुर्व्याधि, तन में या अग्नी भी हो॥

शत्रु तथा बंधन एवं, चौरादि दुष्ट ग्रह दुख देते।
शाकिनि डाकिनि आदिकभय, परमेष्ठि पाँच सब हर लेते॥

दोहा — इसी मंत्र के श्रवण से, श्रान हुआ यक्षेन्द्र।

पठन श्रवण और नमन से, निज मन करो पवित्र॥

अर्थ — णमोकार मंत्र जपने से युद्ध, समुद्र, गजराज (हाथी) सर्प, सिंह, भयानक रोग, अग्नि, शत्रु, बंधन (जेल आदि) के तथा चोर, दुष्टग्रह, राक्षस चुड़ैल आदि का भय दूर हो जाता है।

यो लक्षं जिनलक्षबद्धहृदयः, सुव्यक्तवर्णक्रमम्।
श्रद्धावान्विजितेन्द्रियो भवहरं, मन्त्रं जपेच्छ्रावकः॥
पुष्पैः श्वेतसुगन्धिभिः सुविधिना, लक्षप्रमाणैरमुम्।
यः संपूजयते स विश्वमहितस्तीर्थाधिनाथो भवेत्॥६॥

(६)

जो श्रद्धालु जितेन्द्रिय श्रावक मन में प्रभु सुमिरन करके।
शुद्ध शब्द उच्चारणपूर्वक णमोकार का जप करते॥
एक लक्ष मंत्रों को जपकर पुष्प सफेद चढ़ाते हैं।
णमोकार पूजन से वे तीर्थाधिनाथ बन जाते हैं॥

दोहा — श्वेत सुगन्धित पुष्प ले, पूजँ मंत्र महान।

जगत्पूज्य पद प्राप्त कर, बन जाऊँ भगवान॥

अर्थ — जो जितेन्द्रिय श्रद्धालु श्रावक हृदय में जिनेन्द्र भगवान का लक्ष्य रखकर स्पष्ट शुद्ध उच्चारण सहित णमोकार मंत्र को एक लाख बार जपता है तथा विधिपूर्वक एक लाख सुगन्धित सफेद फूलों से णमोकार मंत्र को पूजता है। अर्थात् णमोकार मंत्र शुद्ध स्पष्ट पढ़कर सुगन्धित सफेद फूल चढ़ाता जाता है, वह जगत्पूज्य तीर्थकर पद प्राप्त करता है।

इन्दुर्दिवाकरतया रविरिंदुरूपः, पातालमंबरमिला सुरलोक एव।
किं जल्पितेन बहुना भुवनत्रयेपि, यन्नाम तन्न विषमं च समं च तस्मात्॥७॥

(७)

णमोकार के मंत्र नाम से, चन्द्र सूर्य सम बन सकता।
शशि सम सूरज बने तथा, पाताल भी नभ सम बन सकता॥
धरती स्वर्ग समान सुखद बन, इच्छित फल दे सकती है।
और कहें क्या ? तीन लोक की, हर वस्तु मिल सकती है॥

दोहा — सुखदायक इस मंत्र से, मिलते सभी पदार्थ।

दुख भी सुख में बदलते, प्राणी होंय कृतार्थ॥

अर्थ — णमोकार मंत्र के प्रभाव से चन्द्रमा सूर्य के समान, सूर्य चन्द्रमा की तरह, पाताल आकाश के समान और पृथ्वी स्वर्ग के समान हो जाती है। बहुत क्या कहें ? तीन लोक में ऐसी कोई भी विषम

(दुःखदायक—अनिष्ट) वस्तु नहीं है जो णमोकार मंत्र के प्रभाव से सम (सुखदायक—इष्ट) न हो सके। अर्थात् सभी अनिष्ट वस्तुएँ णमोकार मंत्र के प्रभाव से इष्टरूप परिवर्तित हो सकती हैं।

जग्मुर्जिनास्तदपवर्गपदं तदैव, विश्वं वराकमिदमत्र कथं विनास्मान्।
तत्सर्वलोकभुवनोद्धरणाय धीरैर्मन्त्रात्मकं निजवपुर्निहितं तदत्र॥८॥

(८)

धीर वीर जिनवर ने तब ही, शीघ्र मुक्ति पद प्राप्त किया।
जब निज तन को मंत्ररूप कर, आत्म तत्त्व में रमा लिया॥
त्रिभुवन के उद्धार हेतु जो, परमेष्ठी का ध्यान करें।
वे ही जग में क्रम-क्रम से, परमेष्ठी बन विश्राम करें॥

दोहा — परमेष्ठी पद प्राप्ति का, यही मूल आधार।

णमोकार का ध्यान ही, करता भव से पार॥

अर्थ — कषाय विजेता योगी तब ही मुक्ति पद प्राप्त कर सके, जबकि उन धीर वीरों ने समस्त जगत का उद्धार करने के लिए अपना शरीर मंत्ररूप कर लिया। इसके बिना बेचारा संसार (संसारी जीव समूह) किस तरह कल्याण प्राप्त करता। यानी साधु आदि परमेष्ठी णमोकार मंत्र के ध्यान से मुक्त होते हैं तथा उनका पाँच परमेष्ठीरूप होना इस णमोकार मंत्र का मूल आधार है।

हिंसावाननृतप्रियः परधनं हर्त्ता परस्त्रीरतः।
किंचान्येष्वपि लोकगर्हितमतिः पापेषु गाढोद्यतः॥
मन्त्रेशं सपदि स्मरेच्च सततं, प्राणात्यये सर्वदा।
दुःकर्माहितदुर्गतिक्षतचयः स्वर्गी भवेन्मानवः॥९॥

(९)

जो नर हिंसा झूठ व चोरी, तथा परस्त्री में रत है।
लोक निंद्य होकर महान, पापों में रहता तत्पर है॥
वह भी उन्हें तज यदी कदाचित्, मन्त्रराज सुमिरन कर ले।
तो कुकर्म से अर्जित दुर्गति, बंध बदल दिवगति वर ले॥

दोहा — णमोकार मंत्रेश यह, कुगति निवारक जान।

सुगति प्रदाता है इसे, शत शत करो प्रणाम॥

अर्थ — जो मनुष्य हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, परस्त्री सेवन करने वाला हो तथा लोकनिन्दित होकर अन्य महान पाप कर्मों में तत्पर रहता हो, वह भी यदि (पापों को छोड़कर) निरन्तर—सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता रहे, तो कुकर्मों से उपार्जित अपनी नरक आदि दुर्गति को बदल कर मरने पर देवगति प्राप्त करता है।

अयं धर्मः श्रेयान्नयमपि च देवो जिनपति-
व्रतं चैष श्रीमान्नयमपि तपः सर्वफलदं।

किमन्यैर्वाग्जालैर्बहुभिरपि संसारजलधौ,
नमस्कारात्तत्किं यदिह शुभरूपो न भवति॥१०॥

(१०)

नमस्कार यह मंत्र जगत में, सर्व हितैषी धर्म कहा।
यही मंत्र जिनरूप व व्रतमय फलदायक शिवशर्म कहा।।
अधिक कथन से क्या मतलब है, केवल सार समझ लीजे।
इसी मंत्र की महिमा से हर अशुभ कार्य भी शुभ कीजे।।

दोहा — है अचिन्त्य महिमामयी, णमोकार यह मंत्र।

इसको जपते ही मिलें, भौतिक सौख्य असंख्य।।

अर्थ — यह पंचनमस्कार मंत्र ही कल्याणकारी धर्म है, यह मंत्र ही जिनेन्द्र भगवानरूप है, यह मंत्र ही समस्त शुभ फलदायक व्रतरूप है। दूसरी बहुत सी बातें करने से क्या लाभ है। संक्षेप में यों समझ लीजिए कि संसार में यह णमोकार मंत्र ऐसा महत्वशाली है, जिसके प्रभाव से ऐसी कोई चीज नहीं, जो शुभरूप न हो सके।

स्वपन् जाग्रत्तिष्ठन्नथ पथि चलन् वेश्मनि स्खलन्।
भ्रमन् क्लिश्यन् माद्यन् वनगिरि-समुद्रेष्ववतरन्॥
नमस्कारान् पंच स्मृतिखनिनिखातानिव सदा।
प्रशस्तौ विन्यस्तान्निव वहति यः सोत्र सुकृतिः॥११॥

(११)

जो मनुष्य सोते जगते, पथ में चलते यह मंत्र पढ़ें।
घर में भी स्खलन समय, इस मंत्रराज को सदा पढ़ें।।
भ्रमण-खिन्न-उन्मत्त अवस्था, वन पर्वत या सागर हो।
हृदय पटल में णमोकार यह, मंत्र ही सदा उजागर हो।।

दोहा — पत्थर पर उत्कीर्ण सम, धरो हृदय में मंत्र।

पुण्यवान मानव जनम, पाकर बनो स्वतंत्र।।

अर्थ — जो मनुष्य सोते, जागते, मार्ग में चलते, घर में लड़खड़ाते, घूमते, खेदखिन्न होते, उन्मत्त होते, वन पर्वत में चलते, समुद्र में तैरते हुए, यानी प्रत्येक दशा में पंच नमस्कार मंत्र को अपने हृदय पटल पर (स्मृति में) पाषाण प्रशस्ति में उत्कीर्ण (खुदे हुए) अक्षरों के समान धारण किए रहता है, वह पुण्यवान है।

दुःखे सुखे भयस्थाने, पथि दुर्गे रणेपि वा।

श्रीपंचगुरुमन्त्रस्य, पाठः कार्यः पदे पदे॥१२॥

अर्थ — मनुष्य को दुख में, सुख में, भयभीत स्थान में, मार्ग में, वन में युद्ध में पग-पग पर पंचनमस्कार मंत्र का पाठ करना चाहिए।

(१२)

दोहा — दुख-सुख भयप्रद मार्ग या, वन हो युद्धस्थान।
 पंचनमस्कृति मंत्र को, पढ़ो लहो सुखखान।।
 णमोकार माहात्म्य यह, उमास्वामिकृत स्तोत्र।
 उसका ही अनुवाद यह, पढ़ो लहो सुखस्रोत।।१।।
 ज्ञानमती गणिनीप्रमुख, मात जगतविख्यात।
 उनकी शिष्या चन्दना-मती आर्थिका मात।।२।।
 किया पद्य अनुवाद यह, गुरु आज्ञा सिर धार।
 भौतिक आत्मिक सुख मिलें, पढ़ो मंत्र हितकार।।३।।



पुण्य से क्या-क्या मिलता है?

पुण्यात् सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्यात्,
 बीजाद्धिना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः।
 पुण्यं च दानदमसंयमसत्यशौच-
 त्यागक्षमादि शुभचेष्टितमूलमिष्टम्॥
 पुण्यात् सुरा सुरनरोरग भोगसाराः,
 श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
 साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठम्,
 आर्हन्त्यमन्त्यरहिताखिल सौख्यमग्रयम्॥

इस संसार में पुण्य से ही सुख प्राप्त होता है। जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार पुण्य के बिना सुख नहीं हो सकता। दान देना, इंद्रियों को वश में करना, संयम धारण करना, सत्य बोलना, लोभ नहीं करना और क्षमाभाव धारण करना आदि शुभ चेष्टाओं से अभिलषित पुण्य की प्राप्ति होती है।

सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र के अभिलषित भोग, लक्ष्मी, दीर्घायु, अनुपमरूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्री का साम्राज्य, इन्द्रपद जिसे पाकर फिर संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता, ऐसा अरहंत पद और अंतरहित समस्त सुखदायी श्रेष्ठ निर्वाणपद, इन सभी की प्राप्ति एक पुण्य से ही होती है।

— भगवज्जिनसेनाचार्य

प्रशस्ति

-गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

श्री शांतिनाथ श्री कुंथुनाथ, अरनाथ प्रभू को नमन करूँ।
तीर्थकर चक्री कामदेव, त्रयपद धर का संस्तवन करूँ।
जिनके शासन में ज्ञान मिला, उन महावीर प्रभु को प्रणमूँ।
श्री गौतम स्वामी गणधर गुरु, उनकी वाणी को नित्य नमूँ॥१॥

षट्खण्डागम के मूलस्रोत, धरसेनाचार्य गुरु मानें।
श्री पुष्पदन्त श्री भूतबली, आचार्य ग्रन्थकर्ता मानें॥
श्री कुंदकुंद आचार्यवर्य की, परम्परा अक्षुण्ण रहे।
आचार्यों की मणिमाला को, नित नमूँ भक्ति अक्षुण्ण रहे॥२॥

श्री मूलसंघ में कुंदकुंद, आमनाय जगत में मान्य रहे।
सरस्वतीगच्छ गण बलात्कार सम्पूर्ण विश्व में ख्यात रहे॥
इस परम्परा में सदी बीसवीं-में गुरु प्रथमाचार्य हुए।
चारित्रचक्रवर्ती यतिपति, श्री शांतिसागराचार्य हुए॥३॥

इनके जो प्रथम शिष्य ही प्रथमहि पट्टाधीश मान्य मुनिवर।
श्री वीरसागराचार्य गुरु, उनको नित वन्दूँ अंजलिकर॥
वैशाख वदी द्वितिया उनसे, आर्यिका व्रतों को प्राप्त किया।
गुरुद्वय को प्रणमूँ बार-बार जिनसे शिवमार्ग प्रशस्त किया॥४॥

ईसवी सन् उन्नीस सौ छप्पन में बनी आर्यिका ज्ञानमती।
इस पूर्व उन्नीस सौ बावन में, श्री शरदपूर्णिमा जन्मतिथी॥
इस दिन गृहत्याग दिया मैंने, अतएव बनी यह त्याग तिथी।
माँ मोहिनी का अवलंब मिला, फिर धन्य हो गई जन्म तिथी॥५॥

ईसवी सन् उन्नीस सौ त्रेपन, में चैत्र वदी तिथि थी एकम्।
श्री देशभूषणाचार्य गुरु, श्री महावीर जी तीर्थ उत्तम॥
मैं वीरमती क्षुल्लिका बनी, अतिशायी ज्ञानाभ्यास किया।
माँ सरस्वती का ही प्रसाद, फिर नाम 'ज्ञानमति' सार्थ किया॥६॥

वीराब्द पचीस शतक सैंतीस, तिथि ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी धन्य।
ईसवी सन् दो हजार ग्यारह, यह 'ज्ञानामृत' है ग्रन्थ मान्य॥
नाना ग्रंथों के अमृत कण, संचय कर कर यह ग्रंथ बना।
यह ज्ञानामृत का द्वितीय भाग, जिनवचनमृतमय पूर्ण घना॥७॥

यह ग्रंथ युगों युग तक भव्यों, को ज्ञानामृत से पुष्ट करे।
जब तक इस हस्तिनागपुर में, श्रीशांतिनाथ के गुण उचरें॥
जब तक यहाँ जम्बूद्वीप, सुमेरु तेरहद्वीप तीर्थ उत्तम।
यहाँ तीनलोक रचना सुंदर, तब तक यह ग्रंथ रहे शुभतम॥८॥

-दोहा-

नमूँ नमूँ जिनवर वचन, करूँ सतत अभ्यास।
ज्ञानमती कैवल्य हो, पाऊँ मोक्ष निवास॥९॥



जीव का अकालमरण किन कारणों से होता है

विसवेयणरत्तक्खय भयसत्थाग्गहणसंकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ॥२५॥
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुहणपडया भंगेहिं।
रसविज्जजोय धारण अणणपसंगेहिं विविहेहिं॥२६॥
इय तिरिय मणुय जम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त॥२७॥

विष भक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रक्त अर्थात् रुधिर के क्षय से, भय से, शस्त्र के घात से, संक्लेश परिणाम से आहार तथा श्वास के निरोध से इन कारणों से आयु का क्षय होता है।

हिम अर्थात् शीत पाले से, अग्नि से, जल से, बड़े पर्वत पर चढ़कर गिरने से, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने से, शरीर का भंग होने से, रस अर्थात् पारा आदि की विद्या उसके संयोग से धारण करके भक्षण करे इससे और अन्याय कार्य, चोरी, व्यभिचार आदि के निमित्त से इस प्रकार अनेक प्रकार के कारणों से आयु का व्युच्छेद होकर कुमरण होता है।

इसलिए कहते हैं कि हे मित्र! इस प्रकार तिर्यच, मनुष्य जन्म में बहुत काल बहुत बार उत्पन्न होकर अपमृत्यु अर्थात् कुमरण संबंधी तीव्र महादुःख को प्राप्त हुआ।

—भगवान् कुंदकुंद भावपाहुड़

सम्मोदशिखर टोंक वंदना

रचयित्री-आर्यिका चन्दनामती

तीर्थराज सम्मोदशिखर है, शाश्वत सिद्धक्षेत्र जग में।
एक बार जो करे वन्दना, वह भी पुण्यवान सच में॥
ऊँचा पर्वत पार्श्वनाथ हिल, नाम से जाना जाता है।
जिनशासन का सबसे पावन, तीरथ माना जाता है॥१॥

जब प्रत्यक्ष करें यात्रा, उस पुण्य का वर्णन क्या करना।
लेकिन प्रतिदिन भी परोक्ष में, गिरि का ध्यान किया करना॥
आँख बन्दकर करो कल्पना, मेरी यात्रा शुरू हुई।
प्रातःकाल चले सब यात्री, जय जयकारा शुरू हुई॥२॥

एक हाथ में छड़ी दूसरे, में चावल की झोली है।
ज्यादातर सब पैदल हैं, पर किसी-किसी की डोली है॥
कभी न चलने वाले भी, हिम्मत कर पर्वत चढ़ते हैं।
पारस प्रभु के पास पहुँचने, हेतु कदम बढ़ चलते हैं॥३॥

चढ़ते-चढ़ते आठ किलोमीटर, का पथ जब तय होता।
दायें हाथ तरफ तब इक, चौपड़ा कुंड दर्शन होता॥
वहाँ दिगम्बर जिनमंदिर, संस्कृति की अमिट धरोहर है।
पार्श्वनाथ चन्द्रप्रभु बाहुबलि की मूर्ति मनोहर हैं॥४॥

उस मन्दिर में रुककर अपने, प्रभु का दर्शन कर लेना।
सुन्दर बनी धर्मशाला में, इच्छा हो तो ठहर लेना॥
मंदिर दर्शन करके फिर, यात्रा प्रारंभ करो अपनी।
बायें हाथ चलो चढ़ कर जहाँ, गौतम स्वामी टोंक बनी॥५॥

यहाँ पहुँचकर ठंडी-ठंडी, हवा थकान मिटाती है।
गणधर चरण वन्दना से, यात्रा की शक्ति आती है॥
प्रथम टोंक यह हुई पास में, दुतिय टोंक कुंथु जिन की।
तीर्थकर क्रम में यह पहली, टोंक नमूँ कुंथु प्रभु की॥६॥

इन टोंकों के दर्शन से, उपवास का फल प्रारंभ हुआ।
त्रय प्रदक्षिणा देने से, आगे शुभ गति का बंध हुआ॥
शुभ भावों से आगे बढ़कर, टोंक तीसरी आती है।
श्रीनमिनाथ जिनेश्वर की, वन्दना सहज हो जाती है॥७॥

चौथा नाटक कूट तीर्थकर, अरहनाथ का आया है।
जहाँ करोड़ों मुनियों ने भी, तपकर शिवपद पाया है॥
वन्दन कर आगे बढ़ने से, मल्लिनाथ के चरण मिले।
आगे छठे टोंक पर श्री, श्रेयांसनाथ पदकमल मिले॥८॥

इन सबका वन्दन कर मैंने, सिद्धशिला को नमन किया।
वहाँ विराजे सिद्धों को, अपने मन में स्मरण किया॥
थकना नहीं अब पुष्पदंत की, सप्तम टोंक पे चलना है।
आगे चढ़ने हेतु वहीं से, आतमशक्ती भरना है॥९॥

पुष्पदंत प्रभु के चरणों में, अर्घ्य चढ़ाकर नमन किया।
और चले आठवीं टोंक पर, पदमप्रभू का शरण लिया॥
नवमीं टोंक विराजे श्री, मुनिसुव्रत जिन के चरणकमल।
इन सबके पावन पद में, श्रद्धा से मैंने किया नमन॥१०॥

हे भव्यात्मन् ! अब दसवीं चन्द्रप्रभ टोंक पे चलना है।
पहले दौड़-दौड़ कर उतरो, फिर ऊँचाई चढ़ना है॥
चन्द्रप्रभ मंदिर में जाकर, चरणवन्दना करना है।
अपने सारे सुख-दुख को, प्रभु चरण बैठकर कहना है॥११॥

अब ग्यारहवीं टोंक पे चलकर, ऋषभदेव को नमन करो।
गिरि कैलाश से मुक्त हुए, यहाँ उनके चरण चिन्ह प्रणमो॥
श्री शीतल जिनवर की है, बारहवीं टोंक प्रसिद्ध कही।
मन-वच-तन से वन्दन कर, पाओ यात्रा का पुण्य सही॥१२॥

श्री अनंत तीर्थकर का, तेरहवाँ कूट स्वयंभू है।
उनके चरणों में श्रद्धायुत, शीश झुकाकर वन्दूँ मैं॥
संभव जिनवर का चौदहवाँ, धवलकूट माना जाता।
वासुपूज्य जिनका पन्द्रहवाँ, टोंक सभी को सुखदाता॥१३॥

इनको वन्दन कर आगे, अभिनन्दन प्रभु के पास चलो।
बन्दर चिन्ह सहित उन प्रभु की, टोंक पे बन्दर से न डरो॥
अभिनन्दन के चरणों में, कर नमन चलो जलमंदिर तक।
चढ़ो वहाँ से जहाँ है गौतम, गणधर प्रभु की त्रेक प्रथम॥१४॥

फिर सत्रहवीं टोंक से अपनी, अगली यात्रा करना है।
 धर्मनाथ प्रभु के चरणों में, नमन सभी को करना है॥
 सुमतिनाथ का अट्टारहवाँ, टोंक है अविचल कूट कहा।
 नौ करोड़ बत्तीसलाख, उपवास का फल मिलता है यहाँ॥१५॥
 उन्निसवाँ है टोंक शांतिजिन, का जो यहाँ से मोक्ष गये।
 नौ करोड़ से अधिक मुनी, इस कुंदकूट से मोक्ष गये॥
 शांतिनाथ के संग सब मुनियों, को श्रद्धा से नमन किया।
 पुनः बीसवीं टोंक पे जाकर, वीरप्रभू की शरण लिया॥१६॥
 श्री सुपार्श्व तीर्थकर इक्कीसवीं टोंक पर राजे हैं।
 कहते हैं यहाँ की मिट्टी से, रोग सभी नश जाते हैं॥
 इनका वंदन करके पास में, विमल नाथ की टोंक चलो।
 बाइसवीं इस टोंक को नमकर, अजितनाथ के निकट चलो॥१७॥
 थके कदम से तेइसवीं इस, टोंक का वंदन कठिन तो है।
 लेकिन यात्रा पूरी करने, का शुभ भाव हृदय में है॥

धीरे-धीरे चढ़कर आखिर, अजितनाथ तक पहुँच गये।
 उन चरणों में नमन किया फिर, नेमिनाथ जी प्राप्त हुए॥१८॥
 इस चौबिसवीं टोंक पे नेमीनाथ चरण को नमन किया।
 पारसनाथ प्रभू पाने हेतू फिर मैंने गमन किया॥
 स्वर्णभद्र यह टोंक है अंतिम, यात्रा पूर्ण यहाँ होती।
 पार्श्वनाथ की पूजन करके, मन सन्तुष्टि यहाँ होती॥१९॥
 कुछ क्षण ध्यान करो फिर नीचे, गुफा में स्थित चरण नमो।
 खुशी-खुशी वन्दना पूर्ण कर, पर्वत से नीचे उतरो॥
 यही वन्दना आत्मा की, भव्यत्व शक्ति बतलाती है।
 तभी “चन्दनामती” सभी में, भक्ति स्वयं आ जाती है॥२०॥
 भगवन् ! इस सम्मोदशिखर का, पुनः पुनः दर्शन पाऊँ।
 यही भावना है मन में, सिद्धों के गुण में रम जाऊँ॥
 इसी क्षेत्र से कभी मुझे, निर्वाण धाम भी मिल जावे।
 सिद्ध भक्ति मेरे जीवन में, सिद्ध अवस्था दिलवाये॥२१॥

